

वसुनंदि सुरिविरड़यो तच्चवियार सारो

(वसुनन्दि सूरि रचित 'तत्त्व-विचार-सार')

मंगलाचरण

णमियं जिण पास पयं, विग्घ हरं पणय वंछियत्थ पयं।
बोच्छं तच्च वियारं, संखेवेणं निसामेह॥1॥
प्रणत जनों को इच्छित वस्तु, देने वाले हैं।
विघ्न विनाशी पार्श्वनाथ जी, प्रभू निराले हैं॥
तत्त्व विचार सार नामक यह, ग्रन्थ कहूँगा मैं।
सुनो ध्यान से जिन चरणों में, नमन करूँगा मैं॥1॥

अन्वयार्थ :- (पणय वंछि यत्थ पयं) प्रणतजनों को वांछित वस्तु देने वाले (विग्घ हरं) विघ्नों को हरण करने वाले (जिण पास पयं) पार्श्वनाथ जिनेन्द्र के चरणों को (णमियं) नमस्कार करके (तच्च विचारं) तत्त्व विचार नामक ग्रन्थ को (संखेवेणं) संक्षेप से (बोच्छं) कहूँगा। अतः (निसामेह) ध्यानपूर्वक सुनो!

अर्थ:- प्रणतजनों को वांछित वस्तु देने वाले, विघ्नों को दूर करने वाले पार्श्वनाथ जिनेन्द्र प्रभु के चरणों को नमस्कार करके तत्त्व विचार नामक ग्रन्थ को संक्षेप में कहूँगा। अतः ध्यान पूर्वक सुनो

“मंगलाचरण” क्या है?

आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों में प्रथम मंगलाचरण जरूर मिलता है, उसका कारण है, ग्रंथ लेखन करने वाला मंगल भावना हृदय में बसाता हुआ मंगल की कामना करता है, अपने परम आराध्य सच्चे देव को स्मरण कर नमस्कार करता है और भावना व्यक्त करता है कि निर्बाध रूप से कार्य की समाप्ति हो, और जो कार्य का लक्ष्य है वो भी शीघ्र प्राप्त हो। आचार्य यति वृषभ तिलोयपण्णत्ती ग्रंथ में कहते हैं-

मंगल कारण हेउ सत्थस्स, पमाण - णाम कत्तारा।

पढमं चिय कहिदव्वा, एसा आइरिय - परिभासा॥

(2)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

ग्रंथ के प्रारंभ में ही मंगलाचरण, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता इन छह अधिकारों का व्याख्यान पूर्व आचार्यों की पद्धति रही है। अर्थात् ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण अनिवार्य अंग है। कारण है कि मंग शब्द पुण्य की वृद्धि कराता है साथ ही पाप को गलाता है और परम आनन्द को देता है इसे पुण्य, भूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण शुभ आदि नामों से जाना जाता है आचार्यों ने मंगल के अनेक भेद कहे हैं।

गामाणि ठावणाओ, दव्व खेत्ताणि काल-भावा य।

इय छब्भेयं भणियं, मंगल-माणंद-संजणं॥

आनंद को उत्पन्न करने वाला मंगल नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छः प्रकार का है। (ति.प.अधि.1गा.7,18)

अथवा

धवला पुस्तक प्रथम के अनुसार -

मंगल सामान्य की अपेक्षा “एक प्रकार का” मुख्य और गौण की अपेक्षा दो प्रकार का है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हन्त के भेद से चार प्रकार का है। ज्ञान, दर्शन, और त्रय गुप्ति के भेद से पाँच प्रकार का है अथवा जिनेन्द्र देव को नमस्कार की अपेक्षा अनेक प्रकार का है। (ध.पु.1 पृ. 40)

मंगलाचरण ग्रंथ के आदि, मध्य और अन्त में अवश्य करणीय है ऐसा आगम में आया है, अगर कोई शंका करे कि आदि, मध्य और अन्त में मंगलाचरण क्यों करना चाहिए? तो आचार्य कहते हैं:-

आदिमहिभद्द वयणं, सिस्सा लहु पारया हवंतु त्ति।

मज्झे अव्वोच्छित्ती, विज्जा विज्जा फलं चरिमे॥

शिष्य शास्त्र में पारंगत हो, इसलिये आदि में भद्रवचन अर्थात् मंगलाचरण करना चाहिए। प्रारंभ में किये गये कार्य-व्युच्छित्ति न हो इसलिये मध्य में मंगलाचरण करना चाहिए। विद्या और विद्या के फल की प्राप्ति के लिये अन्त में मंगलाचरण करना चाहिए। (ध.पु.1 गा.20)

मंगलाचरण करने के अन्य कारण-

नास्तिकता परिहारस्तु शिष्टाचार प्रपालनं, पुण्य वाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौतेन संस्तुतिः

1. नास्तिकता का परिहार करने के लिये
2. शिष्टाचार का पालन करने के लिए
3. पुण्य की प्राप्ति के लिए
4. कार्य की निर्विघ्न सिद्धि के लिये

Y X Y

तत्त्व विचार सार

(3)

Y X Y

विशदार्थ :- मंगलाचरण में आचार्य वसुनन्दिजी ने भगवान पार्श्वनाथ को नमस्कार कर ग्रन्थ प्रारम्भ किया है। भगवान विघ्नों को हरने वाले हैं। इस सम्बन्ध में कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कुमुदचन्द्र आचार्य ने लिखा है कि—

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र!, रोद्रेरुपद्रव-शतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।

गोस्वामिनि स्फुरति तेजसि दृष्ट मात्रे, चौरैरिवाऽऽशु पशवः प्रपलायमानैः॥

अर्थ— हे नाथ! जिस तरह तेजस्वी राजा को देखते ही चोर चुराई हुई गायों को छोड़कर शीघ्र ही भाग जाते हैं, उसी तरह आपके दर्शन होते ही अनेक भयंकर उपद्रव अथवा पापकर्म मनुष्यों को छोड़कर भाग जाते हैं।

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनी-भूत-पन्नगाः।

विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे॥

अर्थ — भगवान जिनेन्द्र की स्तुति करने पर विघ्न समूह नष्ट हो जाते हैं। शाकिनी, भूत और पन्नगों का भय नहीं रहता और विष निर्विष हो जाता है।

कल्याण मन्दिर स्तोत्र के अन्तिम पद्यों में व्यक्त किया है कि— हे भगवन्! जो भक्ति से गद्-गद् चित्त होकर आपकी स्तुति करते हैं, वे स्वर्ग में सुख भोगकर बहुत जल्दी आठ कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

चौबीस तीर्थंकर पूजा में द्यानतराय जी ने इसी तरह चौबीस तीर्थंकरों को मुक्ति दाता अर्थात् मोक्ष सुख देने वाला तथा भुक्ति मुक्ति दाता अर्थात् संसार के समस्त सुखों को देने वाला कहा है।

विशदार्थ :- भगवान चिन्तामणि पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर हुये हैं। आप उग्रवंश के नागकुल में पिता अश्वसेन (विश्वसेन) तथा माता वामा (ब्रह्मादेवी) की कोख से उत्पन्न हुये। आपका रंग हरा (नीला) था। आपके शरीर की ऊँचाई 9 हाथ, आयु 100 वर्ष, छद्मस्थ काल 4 माह, केवली अवस्था का काल प्रमाण 4 महीने कम 70 वर्ष था। धव (ल) दीक्षा वृक्ष, देवदार बोधि वृक्ष तथा देवदार ही अशोक वृक्ष था। आपके 10 गणेश (गणधर), 16000 मुनि एवं 36000 आर्यिकायें थीं।

जब आपकी आयु में एक माह शेष रह गया था, तब आप 36 मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर जाकर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान हो गये। अन्त में श्रावण शुक्ल सप्तमी (मुकुट सप्तमी) विशाखा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय अघातिया कर्मों को क्षय करके सम्मेद शिखर के स्वर्णभद्र कूट से मुक्त हो गए।

Y X Y

(4)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

काल थोड़ा है, अतः सारभूत तत्त्व को धारण कर लेवें

सुय सायरो अपारो, आकंथोव्वं वयं च दुम्मेहा।

तं किंपि सिक्खि यव्वं, जं कज्ज करं च थोव्वं च॥2॥

शास्त्र रूप सागर अथाह है, काल अल्प हम हैं दुर्बुद्धि।

अतः कार्य कारी थोड़ा हो, सीखे करके मन की शुद्धि॥2॥

अन्यवार्थ :- (सुय सायरो) शास्त्ररूपी समुद्र (अपारो) अथाह – अपरिमित है (आकं थोव्वं) काल थोड़ा है (च) और (वयं दुम्मेहा) हम लोग दुर्बुद्धि हैं। अतः (तं जं किंपि) वह जो कुछ भी (कज्ज करं) कार्यकारी हो (च) भले ही (थोव्वं) थोड़ा हो (सिक्खि यव्वं) सीख लेना चाहिए।

अर्थ :- शास्त्र रूपी समुद्र अथाह अपरिमित है, काल थोड़ा है और हम लोग दुर्बुद्धि हैं। अतः वह जो कुछ भी कार्यकारी हो, भले ही थोड़ा हो, हमें सीख लेना चाहिए।

विशदार्थ :- परमार्थ रूप से तत्त्व एक ही प्रकार का है किन्तु व्यवहार रूप से एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दश, ग्यारह है आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रकार कहा गया है इसलिये आचार्य देवसेन ने उसे बहु भेदगत कहा है। एक अर्थात् आत्मा तत्त्व है दो अर्थात् सागर और अनगर धर्म, तीन अर्थात् सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यकचारित्र अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ रूप चार भेद हैं। पाँच अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से एक देश विरति रूप पाँच अणुव्रतों की अपेक्षा अथवा सर्वदेशविरति रूप पंच महाव्रतों की अपेक्षा वह पाँच प्रकार का है छह अर्थात् पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इनकी रक्षा करना अथवा देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान अथवा सामायिक, वंदना, स्तवन, प्रतिक्रमण, आलोचना और कायोत्सर्ग, मुनियों की अपेक्षा तथा सात अर्थात् जुआ, माँस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री गमन इनके त्याग रूप धर्म, आठ अर्थात् जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और शिल्प इन मर्दों के त्याग रूप धर्म। नौ अर्थात् मानुषी, तिर्यचनी, देवीरूप स्त्री, पर्यायों में मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना रूप नौ प्रकार के अब्रह्म त्याग रूप से धर्म दस अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य दस धर्मों के पालन रूप धर्म अथवा एकेन्द्रि, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इन 5 प्रकार के जीवों की रक्षा करने से तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग करने से दस

Y X Y

तत्त्व विचार सार

(5)

Y X Y
प्रकार का धर्म है। ग्यारह अर्थात् दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त परित्याग, रात्रिभुक्त त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग के परिपालन से वह धर्म ग्यारह प्रकार का है इस प्रकार तत्त्व या धर्म संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रकार के होते हैं।

पंचास्तिकाय टीका में इसी भाव को व्यक्त किया गया है—

अंतो णत्थि सुईणं, कालो थोवो वयं च दुम्मेहा।

तण्णवरि सिक्खि यव्वं, जं जर मरणक्खयं कुणई।।

अर्थ – श्रुतियों का अन्त नहीं है (शास्त्रों का पार नहीं है) काल अल्प है और हम दुर्बुद्धि हैं, इसलिये हमें वही मात्र सीखने योग्य है जो जन्म-जरा-मरण का क्षय करे। “चार दिना की चाँदनी फिर अँधेरी रात”

अनन्त पारं किल शब्द शास्त्रं, स्वल्पं तथायुर्बह्वश्च विघ्नाः।

सारं ततो ग्राह्य मपास्य फल्गु, हंसैर्यथाक्षीर-मिबाम्बु मध्यात्॥

अर्थ – शब्द शास्त्र अनन्त व अपार है, आयु अल्प है, विघ्न-बाधाएँ बहुत हैं। अतः व्यर्थ की बातें छोड़कर सार को ग्रहण करना चाहिए। जैसे – हंस दूध ग्रहण करके पानी को छोड़ देता है, उसी प्रकार हमें सारभूत तत्त्व को ग्रहण करना चाहिए।

णवकार पयरणं

णमोकार महामंत्र प्रकरण

संसार परिभ्रमण से मुक्ति दाता महामंत्र

घण घाईं कम्म मुक्का, अरहंता तह य सव्व सिद्धाय।

आइरिया उवज्झाया, पवरा य तह य सव्व साहू य॥3॥

एयाण णमोयारो, पंचण्हं पवर लक्खण धराणं।

भवियाण होइ सरणं, संसारे संसरं ताणं॥जुगवं॥4॥

श्रेष्ठ लक्षणों के धारी जिन, सघन घातिया कर्म विहीन।

घाति अघातिया कर्म रहित हैं, परम सिद्ध निज में लवलीन॥3॥

श्रेष्ठाचार्योपाध्याय साधू, परम पंच परमेष्ठि नमन।

भवि जीवों को शरण भूत हैं, मैटनहारे जगत भ्रमण॥4॥

Y X Y

(6)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अन्वयार्थ :- (पवर लक्खण धराणं) 1008 श्रेष्ठ लक्षणों को धारण करने वाले (घण घाड़ं कम्म मुक्का) सघन घातिया कर्मों से मुक्त (अरहंता) अरिहंतों को (तह) उसी तरह सम्पूर्ण घातिया – अघातिया कर्मों से मुक्त (सव्व सिद्धाय) सभी सिद्धों को (पवरा आइरिया) श्रेष्ठ आचार्यों को (उवज्झाया) उपाध्यायों को (य सव्व साहु) और सभी साधुओं को (एयाण पंचणहं णमोयारो) ऐसे पाँचों परमेष्ठियों को किया गया नमस्कार (संसारे संसरं ताणं) संसार में संसरण, परिभ्रमण करने वाले (भवियाण) भव्य जीवों को (सरणं होइ) शरणभूत होता है।। युगल गाथा॥

अर्थ :- 1008 श्रेष्ठ लक्षणों को धारण करने वाले, सघन घातियाँ कर्मों से मुक्त अरिहंतों को, उसी तरह सम्पूर्ण घातिया-अघातिया कर्मों से मुक्त सभी सिद्धों को, श्रेष्ठ आचार्यों को, उपाध्यायों को और सभी साधुओं को, ऐसे पाँचों परमेष्ठियों को किया गया नमस्कार संसार में परिभ्रमण करने वाले भव्य जीवों को शरणभूत होता है, संसार परिभ्रमण से रक्षा करता है।

विशदार्थ:-

णमोकार मंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहुणं॥

चार घातिया कर्म विनिर्मुक्त जीवन्मुक्त पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ एवं हित उपदेशक अर्हन्तों को नमस्कार हो। सर्व कर्म विनिर्मुक्त, पूर्ण मुक्त, अशरीर, लोकाग्रवासी सिद्धों को नमस्कार हो। मुनिसंघ के अधिपति निर्ग्रन्थ आचार्यों को नमस्कार हो, मुनि संघ के अध्यापक महाज्ञानी निर्ग्रन्थ उपाध्यायों को नमस्कार हो। अंतरंग बहिरंग परिग्रह से रहित जगत के समस्त निर्ग्रन्थ साधुओं को नमस्कार हो।

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। णमोकार मन्त्र में पंच परमेष्ठी का ही स्मरण किया गया है। पंच परमेष्ठी की शरण में जाने से उनकी स्मृति और चिन्तन से राग द्वेष रूप प्रवृत्ति रुक जाती है, पुरुषार्थ की वृद्धि होने लगती है तथा रत्नत्रय गुण आत्मा में आविर्भूत होने लगता है। आत्मा के गुणों को आच्छादित करने वाला मोह ही सबसे प्रधान है, इसको दूर करने के लिये एक मात्र रामबाण औषधि पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का मनन, चिंतन और स्मरण ही है। णमोकार मंत्र के उच्चारण मात्र से आत्मा में एक प्रकार की ऊर्जा (विद्युत) उत्पन्न हो जाती है, जिससे सम्यक्त्व की निर्मलता के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की भी वृद्धि होती है क्योंकि इस महामंत्र की आराधना किसी अन्य परमात्मा या शक्ति-विशेष की आराधना नहीं है, प्रत्युत अपनी आत्मा की उपासना है।

यह निवृत्ति मार्ग की ओर अथवा सत्प्रवृत्ति मार्ग की ओर जीवन की प्रवृत्ति होती है, जब वह रत्नत्रय रूप आत्म तत्त्व की आराधना करता है। णमोकार मंत्र में आराधना ही है। इस मंत्र का चिंतन, मनन और स्मरण करने से रत्नत्रय रूप आत्मा का अनुभव होता है, जिससे मन-वचन-काय की

Y X Y

तत्त्व विचार सार

(7)

Y X Y
सत्प्रवृत्ति होती है तथा कुछ समय के पश्चात् निवृत्ति मार्ग की ओर भी व्यक्ति अपने आप झुक जाता है। विषय कषायों से इसे अरुचि हो जाती है। इस महामंत्र के जप और मनन में ऐसी शक्ति है कि व्यक्ति जिन बाह्य पदार्थों में सुख समझता था, जिनके प्राप्त होने से प्रसन्न होता था, जिनके पृथक् होने से इसे दुःख का अनुभव होता था, इन सबको क्षण भर में छोड़ देता है। आत्मा के अहित कारक विषय और कषायों से भी इसकी प्रवृत्ति हट जाती है। इंद्रियों की पराधीनता, जो कि कुगति की ओर जीव को ले जाने वाली है, समाप्त हो जाती है। मंगल वाक्य का चिंतन समस्त पाप को गलाने-नष्ट करने वाला होता है और अनेक प्रकार के सुखों को उत्पन्न करने वाला है। अतः सुखाकांक्षी को णमोकार मंत्र जैसे महापावन मंगल वाक्यों का चिंतन, मनन और स्मरण करना आवश्यक है; जिससे उसकी राग-द्वेष से निवृत्ति हो जाती है। करणलब्धि की प्राप्ति में सहायक णमोकार मंत्र है, इससे अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व का अभाव होते ही आत्मा में पुण्याश्रव होने से बद्ध कर्म जाल विश्रृंखलित होने लगता है।

अरिहंत परमेष्ठी के मूलगुण

चौंतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुनि आठ।

अनंत चतुष्टय गुण सहित, यह छियालीसों पाठ॥

अर्थ – 34 अतिशय, 8 प्रातिहार्य और 4 अनन्त चतुष्टय ये 46 गुण हैं। 34 अतिशयों में से 10 अतिशय जन्म के होते हैं, 10 केवलज्ञान के होते हैं और 14 देवकृत होते हैं

नित्यं निर्मल निःस्वेदं, गौक्षीर निभ शोणितम्। दिव्य संहति संस्थान रूप सौरभ लक्षणम्॥

अनंत वीर्य पर्याप्तं, स्वहित प्रिय भाषणम्। स्वाभाविक पवित्रात्म दशातिशय शोभितम्॥

जन्म के दश अतिशय

नित्यं निःस्वेदत्वं, निर्मलता क्षीर गौर रुधिरत्वं च।

स्वाद्याकृति संहनने, सौरूप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम्॥

अप्रमित वीर्यता च, प्रिय हित वादित्व मन्यदमित गुणस्य।

प्रथिता दश विख्याता, स्वतिशय धर्मा स्वयं भुवो देहस्य॥

अतिशय रूप सुगन्ध तन, नाहिं पसेव निहार।

प्रियहित वचन अतुल्यबल, रुधिर श्वेत आकार॥

लच्छन सहस्र आठ तन, समचतुष्क संठान।

वज्रवृषभनाराचजुत, ये जनमत दश जान॥

Y X Y

(8)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

1. अत्यन्त सुन्दर शरीर 2. अति सुगन्धमय शरीर 3. पसेव रहित शरीर अर्थात् ऐसा शरीर जिसमें पसीना न आये 4. मल-मूत्र रहित शरीर 5. हितमितप्रियवचन बोलना 6. अतुल्यबल 7. दूध के समान सफेद खून 8. शरीर में एक हजार आठ लक्षण 9. समचतुरस्र संस्थान और 10. वज्रवृषभ नाराच संहनन ये दश अतिशय अरहन्त भगवान के जन्म से ही होते हैं अर्थात् अरहन्त भगवान का शरीर जन्म से ही बड़ा सुन्दर सुडौल होता है। उनमें से बड़ी अच्छी सुगन्ध आती है और उसमें न पसीना आता है, न मल-मूत्र होता है। उनके शरीर में अतुल बल होता है और उनका रक्त सफेद दूध के समान होता है। वे सबसे मीठे वचन बोलते हैं। उनके शरीर के हाड़ वगैरह वज्र के होते हैं और उनके शरीर में 1008 लक्षण होते हैं।

केवलज्ञान के दश अतिशय

गव्यूतिशत चतुष्टय सुभिक्षता, गगन गमन-मप्राणि वधः।

भुक्त्युपसर्गाभावश्-चतुरास्यत्वं, च सर्व विद्येश्वरता॥

अच्छायत्व-मपक्ष्म स्पन्दश्च, सम प्रसिद्ध नख केशत्वम्।

स्वतिशय गुणा भगवतो, घाति क्षयजा भवन्ति तेऽपि दशैव॥

योजन शत इक में सुभिख, गगन गमन मुख चार। नहिं अदया उपसर्ग नहिं नाही कवलाहार॥

सब विद्या-ईश्वरपनो, नाहिं बढै नख केश। अनिमिष-दृग छाया रहित, दश केवल के वेश॥

अर्थ – एक सौ योजन में सुभिक्षता, अर्थात् जिस स्थान में भगवान हों उससे चारों तरफ सौ-सौ योजन सुकाल होना 2. आकाश में गमन 3. चारों ओर मुखों का दिखना 4. अदया का अभाव 5. उपसर्ग का न होना 6. कवलाहार (ग्रास वाला आहार) न लेना 7. समस्त विद्याओं का स्वामीपना 8. नख-केशों का न बढ़ना 9. नेत्रों की पलकें न झपकना और 10. शरीर की छाया न पड़ना। जब अरहन्त भगवान के केवलज्ञान हो जाता है तो उस समय से जहाँ भगवान होते हैं, उस स्थान से चारों तरफ सौ-सौ योजन

तक सुकाल रहता है। पृथ्वी के ऊपर उनका गमन होता है। देखने वालों को चारों तरफ उनका मुँह दिखाई देता है। उन पर कोई उपसर्ग नहीं कर सकता और उनके शरीर से किसी भी जीव की हिंसा नहीं होती। न आहार लेते हैं, न उनकी पलकें झपकती हैं, न उनके बाल और नाखून बढ़ते हैं और न शरीर की परछाई पड़ती है। वे समस्त विद्या और शास्त्रों के ज्ञाता हो जाते हैं। ये दश अतिशय केवलज्ञान होने के समय प्रकट होते हैं।

देवकृत चौदह अतिशय

Y X Y

तत्त्व विचार सार

(9)

Y X Y
देवरचित हैं चारदश, अर्द्धमागधी भाषा। आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश॥

होत फूल फल ऋतु सबै, पृथ्वी काँच समान। चरण कमल तल कमलद्वै, नभतैं जय जय
ब । न ।

मन्द सुगन्ध बयारि पुनि, गन्धोदक की वृष्टि। भूमिविषै कण्टक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि॥
धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार। अतिशय श्री अरहन्त के, ये चौंतीस प्रकार॥

1. भगवान की अर्द्धमागधी भाषा का होना 2. समस्त जीवों में परस्पर मित्रता का होना 3. दिशाओं का निर्मल होना 4. आकाश का निर्मल होना 5. सर्व ऋतु के फल-फूल धान्यादि का एक ही स म य फलना 6. एक योजन तक की पृथ्वी का दर्पण की तरह निर्मल होना 7. चलते समय भगवान के चरण कमलों के तले स्वर्ण कमलों का होना 8. आकाश में जय जय ध्वनि का होना 9. मन्द सुगन्धित पवन का चलना 10. सुगन्धमय जल की वृष्टि होना 11. पवनकुमार देवों के द्वारा भूमि का कण्टक रहित होना 12. समस्त जीवों का आनन्दमय होना 13. भगवान के आगे धर्मचक्र का चलना 14. छत्र, चमर, ध्वजा, घंटा आदि आठ मंगल-द्रव्यों का साथ रहना। इस प्रकार सब मिलकर 34 अतिशय अरहन्त भगवान के होते हैं।

आठ प्रतिहार्य

रुक्खो असोगो सिंहपीठ छत्तं, दिवज्झुणी चामर पभा विसुद्धं।

पुप्फं च विट्ठिं च दुंदुहि वादं, अट्ठा पडिहारि जिणं च जुत्तं॥

तरु अशोक के निकट में सिंहासन छविदार। तीन छत्र सिरपै लसै, भामण्डल पिछवार॥
दिव्यध्वनि मुखतैं खिरै, पुष्पवृष्टि सुर होय। ढोरैं चौंसठ चमर जख, बाजैं दुन्दुभि जोय॥

1. अशोक वृक्ष का होना 2. रत्नमय सिंहासन 3. भगवान के सिर पर तीन छत्र का होना 4. भगवान की पीठ के पीछे भामण्डल का होना 5. भगवान के मुख से निरक्षरी (बिना अक्षर की) ॐ कार रूप दिव्यध्वनि का होना 6. देवों के द्वारा फूलों की वर्षा होना 7. यक्ष देवों द्वारा चौंसठ चमरों का बजना और दुन्दुभि बाजों का बजना, ये आठ प्रातिहार्य हैं।

अनंत चतुष्टय

अणंतणाणं च अणंतदंसणं, अणंतसोक्खं च बलं अणंतं।

सहाव एत्थं कहिदं च सत्थे, तं देवदेवं पणमामि णिच्चं॥

Y X Y

(10)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

ज्ञान अनंत अनंत सुख, दस अनंत प्रमान।

बल अनंत अरहंत सौं, इष्टदेव पहिचान॥

1. अनंतदर्शन 2. अनंतज्ञान 3. अनंतसुख 4. अनंतवीर्य। ये चार अनंत चतुष्टय कहे जाते हैं। इनसे भगवान का ज्ञान, दर्शन, सुख और बल अनंत होता है अर्थात् इतना होता है कि जिसकी कोई सीमा या हद नहीं होती है। इस प्रकार 34 अतिशय, 8 प्रातिहार्य, 4 अनंत चतुष्टय, सब मिलकर 46 गुण अरहन्त भगवान के होते हैं।

अठारह दोष

क्षुत्पिपासा जरातंक, जन्मांतक भयस्मयाः।

न रागद्वेष मोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥

जम्मो तितिकखो जर मिच्चु अरदो, छद्दा च खेदो भयचिंत रोगो।

सोगामदो विम्हय राग मोही, णिद्धादि दोसद्वस अट्टरित्तो॥

जन्म जरा तिरषा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।

रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद॥

रागद्वेष अरु मरणजुत, ये अष्टादश दोष।

नाहिं होत अरहन्त के, सो छवि लायक मोष॥

1. जन्म 2. जरा (बुढ़ापा) 3 तृषा (प्यास) 4. क्षुधा (भूख) 5. विस्मय (आश्चर्य) 6. अरति (पीड़ा) 7. खेद (दुःख) 8. रोग 9. शोक 10. मद 11. मोह (अज्ञान) 12. भय (डर) 13. निद्रा 14. चिन्ता 15. स्वेद (पसीना) 16. राग 17. द्वेष और 18. मरण। ये अठारह दोष अरहन्त भगवान के नहीं होते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी के मूलगुण

सिद्ध उन्हें कहते हैं, जो आठों कर्मों का नाश करके संसार के बन्धन से सदैव के लिए मुक्त हो गए हैं, अर्थात् जो फिर कभी संसार में न आयेगे। इनमें नीचे लिखे हुए आठ मूलगुण होते हैं—

सम्मत णाण दंसण, वीरिय सुहुमं अवगहणं।

अगुरुलघु—मव्वावाहं, अट्ट गुणा होंति सिद्धाणं॥

सोरठा

Y X Y

Y X Y

समकित दरसन ज्ञान, अगुरुलघू अवगाहना।

सूच्छम वीरजवान, निराबाध गुण सिद्ध के॥

1. सम्यक्त्व, 2. दर्शन 3. ज्ञान 4. अगुरुलघू 5. अवगाहनत्व 6. सूक्ष्मत्व 7. अनन्तवीर्य, 8. अव्याबाधत्व।

आचार्य परमेष्ठी के मूलगुण

आचार्य उन्हें कहते हैं, जिनमें नीचे लिखे हुए 36 मूलगुण हों। ये मुनियों के संघ के अधिपति होते हैं, उनको दीक्षा तथा प्रायश्चित्त वगैरह दण्ड देते हैं।

द्वादश तपो धर्म दशं त्रिगुप्ती, आवश्यकं षट् अचारपंच।

गुणाचार्य षट्त्रिंशत् पालयन्ति, निर्ग्रन्थ साधू विशदं नमामि॥

द्वादश तप दश धर्मजुत, पालें पंचाचार।

षट् आवशि त्रयगुप्ति गुण, आचारज पद सार॥

तप 12, धर्म 10, आचार 5, आवश्यक 6, गुप्ति 3। आचार्य इन मूल गुणों का पालन करते हैं।

बारह तप

अनशन ऊनोदर करें, व्रतसंख्या रस छोरे। विविक्तशयनासन धरें, कायक्लेश सुठोरे॥

प्रायश्चित्त धर विनयजुत, वैयाव्रत स्वाध्याय। पुनि उत्सर्ग विचारकें, धरें ध्यान मन लाय॥

1. अनशन (भोजन का त्याग करना) 2. ऊनोदर (भूख से कम खाना) 3. व्रतपरिसंख्यान (भ त ज न के लिए जाते हुए घर वगैरह का नियम करना) 4. रस परित्याग (छहों रस या एक दो रस का छोड़ना) 5. विविक्तशय्यासन (एकांत स्थान में सोना-बैठना) 6. कायक्लेश (शरीर को कष्ट देना) 7. प्रायश्चित्त (दोषों का दण्ड लेना) 8. रत्नत्रय व उसके धारको की विनय करना 9. वैयाव्रत्य अर्थात् रोगी वृद्ध मुनि की सेवा करना 10. स्वाध्याय करना (शास्त्र) पढ़ना 11. व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना) और ध्यान करना।

दश धर्म

क्षमा मार्दवं आर्जवं, शौच सत्यं संयमाः।

तप त्यागाचाकिन्चिन्यं, धर्मो विशद उत्तमाः॥

छिमा मारदव आरजव, सत्यवचन चित्पाग।

Y X Y

(12)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
संजम तप त्यागी सरव, आकिञ्चन तियत्याग॥

1. उत्तम क्षमा (क्रोध न करना) 2. उत्तम मार्दव (मान न करना) 3. उत्तम आर्जव (कपट न करना) 4. उत्तम सत्य (सच बोलना) 5. उत्तम शौच (लोभ न करना, अंतःकरण को शुद्ध रखना) 6. उत्तम संयम (छह काय के जीवों की दया पालना और पाँचों इन्द्रियों व मन को वश में रखना) 7. उत्तम तप 8. उत्तम त्याग (दान करना) 10. उत्तम ब्रह्मचर्य (स्त्री मात्र का त्याग करना)।

छह आवश्यक

समता वन्दन स्तोत्रं, प्रतिक्रम स्वाध्याय च।

कायोत्सर्ग चावश्यक, आचार्यः षट् पालयेत्॥

समता धर वंदन करें, नाना थुती बनाय।

प्रतिक्रमण स्वाध्याय जुत, कायोत्सर्ग लगाय॥

1. समता (समस्त जीवों से समता भाव रखना) 2. वंदना (हाथ जोड़ मस्तक से लगाकर नमस्कार करना) 3. पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना 4. प्रतिक्रमण (लगे हुए दोषों पर पश्चाताप करना) 5. स्वाध्याय (शास्त्रों का पढ़ना) 6. कायोत्सर्ग करके अर्थात् खड़े होकर ध्यान करना।

पञ्च आचार और तीन गुप्ति

दर्शन ज्ञान चरित्रं, तपः वीर्य च पंचकं।

कायवांग मनःगुप्ति, विशदाचार्याः पालयेत्॥

दर्शन ज्ञान चरित्र तप, वीरज पंचाचार।

गोप्ये मन वच काय को, गिन छत्तिस गुण सार॥

1. दर्शनाचार 2. ज्ञानाचार 3. चरित्राचार 4. तपाचार 5. वीर्याचार ये पाँच आचार हैं।

1. मनोगुप्ति (मन को वश में करना) 2. वचनगुप्ति (वचन को वश में करना) 3. कायगुप्ति (शरीर को वश में करना) ये तीन गुप्ति हैं।

इस प्रकार सब मिलाकर आचार्य के 36 मूलगुण हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी के 25 मूलगुण

अंग एकादशां एवं, पूरव च चतुर्दशां।

पंचवीस गुणं प्राप्तं, उपाध्याय यःपाठकः॥

चौदह पूरव को धरें, ग्यारह अंग सुजान।

Y X Y

Y X Y

उपाध्याय पंचवीस गुण, पढ़ें पढ़ावें ज्ञान॥

उपाध्याय उन्हें कहते हैं, जो 11 अंग और 14 पूर्व के पाठी हों। वे स्वयं पढ़ते और अन्य पास में रहने वाले भव्य जीवों को पढ़ाते हैं। 11 अंग और 14 पूर्व का पढ़ना-पढ़ाना ही उपाध्याय के 25 मूलगुण हैं।

ग्यारह अंग

प्रथमहिं आचारंग गनि, दूजौ सूत्रकृतांग। ठाणअंग तीजौ सुभग, चौथौ समवायांग॥
व्याख्यापणति पांचमौ, ज्ञातृकथा षट् जान। पुनि उपासकाध्ययन है, अंतःकृतदश ठान।
अनुत्तरण उत्पाददश, सूत्रविपाक पिछान, बहुरि प्रश्नव्याकरण जुत, ग्यारह अंग प्रमान।

1. आचारंग 2. सूत्रकृतांग 3. स्थानांग 4. समवायांग 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति 6. ज्ञातृकथांग 7. उपासकाध्ययनांग 8. अंतःकृतदशांग 9. अनुत्तरोत्पादकदशांग 10. विपाकसूत्र 11. प्रश्नव्याकरणांग, ये ग्यारह अंग हैं।

चौदह पूर्व

उत्पादपूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद। अस्तिनास्तिपरवाद पुनि, पंचम ज्ञानप्रवाद॥
छट्टो कर्मप्रवाद है, सतप्रवाद पहिचान। अष्टम आत्मप्रवाद पुनि, नवमौ प्रत्याख्यान॥
विद्यानुवाद पूरब दशम, पूर्वकल्याण महन्त। प्राणवाद किरिया बहुल, लोकबिन्दु है अन्त॥

1. उत्पादपूर्व 2. अग्रायणीपूर्व 3. वीर्यानुवादपूर्व 4. अस्तिनास्तिप्रादपूर्व 5. ज्ञानप्रवादपूर्व 6. कर्मप्रवादपूर्व 7. सत्यप्रवादपूर्व 8. आत्मप्रवादपूर्व 9. प्रत्याख्यानपूर्व 10. विद्यानुवादपूर्व 11. कल्याणवादपूर्व 12. प्राणानुवादपूर्व 13. क्रियाविशालपूर्व 14. लोकबिन्दु पूर्व ये चौदह पूर्व हैं।

सर्वसाधु के 28 मूलगुण

साधु उन्हें कहते हैं जिनमें नीचे लिखे हुए 28 मूलगुण हों। वे मुनि तपस्वी कहलाते हैं, उनके पास कुछ भी परिग्रह नहीं होता और न वे कोई आरम्भ करते हैं। वे सदा-ज्ञान ध्यान में लवलीन रहते हैं।

पंचम महाव्रत

1. अहिंसा महाव्रत (हिंसा त्याग) 2. सत्य महाव्रत (झूठ त्याग) 3. अचौर्य महाव्रत (चोरी त्याग)
4. परिग्रह त्याग महाव्रत (परिग्रह त्याग) 5. ब्रह्मचर्य महाव्रत (विषय त्याग)

पंच समिति

Y X Y

(14)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

1. ईर्या समिति (आलस्य रहित चार हाथि आगे जमीन देखकर चलना) 2. भाषा समिति (हितकारी प्रामाणिक मीठे वचन बोलना) 3. एषणा समिति (दिन में एक बार शुद्ध निर्दोष आहार लेना) 4. आदान निक्षेपण समिति (अपने पास के शास्त्र पीछी-कमण्डलु आदि को भूमि देखकर सावधानी से धरना) उठाना 5. प्रतिष्ठापन समिति (साफ भूमि देखकर जिसमें जीवन जन्तु न हों मल-मूत्र त्याग करना।)

पञ्चेन्द्रियजय—1. स्पर्श 2. रसना 3. घ्राण 4. चक्षु 5. श्रोत्र (कान) इन पाँच इन्द्रियों को वश में करना **षडावश्यक**—6. समता 7. वन्दना 8. स्तुति 9. प्रतिक्रमण 10. स्वाध्याय 11. कायोत्सर्ग **शेष गुण**—12. स्नान का त्याग करना 13. स्वच्छ भूमि पर सोना 14. वस्त्र त्याग करना 15. बालों को उखाड़ना 16. एक बार थोड़ा भोजन करना 17. दन्तधावन अर्थात् दाँतों न करना 18. खड़े-खड़े आहार लेना, इस प्रकार सब मिलाकर 28 मूलगुण सर्व सामान्य मुनियों के होते हैं। मुनिजन इनका पालन करते हैं।

मोक्ष सुख देने वाला महामंत्र

उड्ढ महो तिरियम्मि य, जिण णवकारो पहाणओ णवरं।

णर सुर सिव सुक्खाणं, कारणं इत्थ भुवणम्मि॥5॥

ऊर्ध्व मध्य अरु अधोलोक में, नमस्कारक है मंत्र प्रधान।

महामंत्र संसार में सुर नर, और मोक्ष सुख करे प्रदान॥5॥

अन्वयार्थ :- (उड्ढ महो तिरियम्मि य) उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में (जिण णवकारो पहाणओ) जिन नमस्कार मंत्र प्रधान है। (णवरं) विशेषता यह है कि णमोकार महामंत्र (इत्थ भुवणम्मि) इस संसार में (णर सुर सिव सुक्खाणं) मनुष्य, देव और शिव (मोक्ष) के सुखों का (कारणं) कारणभूत है अर्थात् देने वाला है।

अर्थ :- उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में जिन नमस्कार मंत्र प्रमुख है। णमोकार महामंत्र इस संसार में मनुष्य, देव और मोक्ष के सुखों को देने वाला है।

विशदार्थ :- तीनों लोकों में एकदेश व सर्वदेश जिनों को नमस्कार करना विशेष प्रधान है। वह मानवीय सुखों व देवीय सुखों का निमित्त होता हुआ शैव सुख (मोक्ष) का भी परम्परा से कारण है। सम्यक्त्वी जीव मोक्ष की कामना से निरन्तर पंच परमेष्ठी का ध्यान-वन्दन-नमस्कार आदि करते हैं। आत्मा भी पंचदेव स्वरूप (शक्ति रूप से) है। जब यह जीव आत्म शक्तियों पर दृष्टिपात कर आत्म ध्यान

Y X Y

(15)

एसो मंगल-निलओ भयविलओ सयलसंघसुहजणओ।
नवकारपरममंतो चिंतिय अमित्तं सुहं देई॥
नवकारओ अन्नो सारो, मंतो न अत्थि तियलोए।
तम्हा हु अणुदिणं चिय, पठियव्वो परमभत्तीए॥
हरइ दुहं कुणइ सुहं, जणइ जसं सोसए भवसमुदं।
इहलोय-परलोइय-सुहाण मूलं णमोक्कारो॥

दुःखों का विनाशक, सुखों का उत्पादक

तेण इमो णिच्चम्मि य, पढिज्जइ सुत्तु द्विएहिं अणवरयं।
होहंचि य दुह दलणो, सुह जणओ भविय लोयस्य॥६॥
आगमाभ्यासी पुरुष निरंतर, तीन काल में करें सुपाठ।
भवि जीवों के दुःख नाश हों, सुखी जीव हों ऊँचे ठाठ॥६॥

अन्वयार्थ :- (सुत्तु द्विहं) आगमाभ्यासी पुरुषों को (इमो) इस नमस्कार मंत्र को (अणवरयं) निरंतर (य णिच्चम्मि पढिज्जइ) और सभी कालों में पढ़ना चाहिए, (तेण) उससे (भविय लोयस्स) भव्य जीवों के (दुह दलणो) दुःखों का विनाश (य) और (सुह जणओ) सुखों की उत्पत्ति (होहंचि) होती है।

अर्थ :- आगमाभ्यासी पुरुषों को इस नमस्कार मंत्र को निरंतर और सभी कालों में पढ़ना चाहिए, उससे भव्य जीवों के दुःखों का विनाश और सुखों की उत्पत्ति होती है।

विशदार्थ :- किसी मन्त्र या मंगल वाक्य का चिन्तन आर्त और रौद्र ध्यान से हटाकर धर्मध्यान

Y X Y

(16)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
में स्थित करता है। अतः धर्मध्यान के प्रधान कारण णमोकार मन्त्र के स्मरण और चिन्तन की परम आवश्यकता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

णमोकार मन्त्र के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने मन को प्रभावित कर सकता है। यह मन्त्र मनुष्य के चेतन, अवचेतन और अचेतन तीनों प्रकार के मनो को प्रभावित कर अचेतन और अवचेतन पर सुन्दर स्थायी भाव का ऐसा संस्कार डालता है, जिससे मूल प्रवृत्तियों का परिष्कार हो जाता है और अचेतन मन में वासनाओं को अर्जित होने का अवसर नहीं मिल पाता इस मन्त्र की आराधना में ऐसी विद्युत शक्ति है, जिससे इसके स्मरण से व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व शान्त हो जाता है। नैतिक भावना का उदय होता है, जिससे अनैतिक वासनाओं का दमन होकर नैतिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। अभ्यन्तर में उत्पन्न विद्युत, बाहर और भीतर में इतना प्रकाश उत्पन्न करती है, जिससे वासनात्मक संस्कार भस्म हो जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश व्याप्त हो जाता है। इस मन्त्र का निरन्तर उच्चारण, स्मरण और चिन्तन से आत्मा में एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है। जिसे आज की भाषा में विद्युत शक्ति कह सकते हैं। इस शक्ति द्वारा आत्मा का शोधन कार्य तो किया ही जाता है, साथ ही इससे अन्य आश्चर्यजनक कार्य भी सम्पन्न किए जा सकते हैं।

हथिनी की काया से कैसे, हुई सती सीता नारी। जिसने नारी युग में पायी, पतिव्रत पदवी भारी॥

नमस्कार ही महामन्त्र है, भव सागर की नैया। सदा भजोगे पार करेगा, बन पतवार खिवैया॥

पार्श्वपुराण में बताया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ ने अपनी छद्मस्थ अवस्था में जलते हुये नाग-नागिनी को णमोकार महामन्त्र का उपदेश दिया था, जिसके प्रभाव से वे धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। इसी प्रकार जीवन्धर स्वामी ने कुत्ते को णमोकार महामन्त्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से कुत्ता स्वर्ग में देव हुआ।

सुदर्शन सेठ के पूर्व भव की कथा

चम्पानगरी के सेठ वृषभदत्त के यहाँ एक ग्वाला नौकर था। एक दिन वह वन से अपने घर आ रहा था। शीतकाल का समय था, कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। उसे रास्ते में ऋद्धिधारी मुनि के दर्शन हुये, जो एक शिलातल पर बैठकर ध्यान कर रहे थे। ग्वाले को मुनिराज के ऊपर दया आयी और घर जाकर अपनी पत्नि सहित लौट आया तथा मुनिराज की शीतोपचार रूप वैयावृत्य करने लगा। प्रातःकाल होने

Y X Y

Y X Y
 पर मुनिराज का ध्यान भंग हुआ और ग्वाले को निकट भव्य समझकर उसे णमोकार मंत्र पढ़ने का उपदेश दिया। अब तो उस ग्वाले का यह नियम बन गया कि वह प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ करने पर णमोकार मन्त्र का बार-बार उच्चारण करता। एक दिन वह भैंस चराने के लिए गया था। भैंसें नदी में कूदकर उस पार जाने लगीं, अतः ग्वाला उन्हें लौटाने के लिए अपने नियमानुसार णमोकार मन्त्र पढ़कर नदी में कूद पड़ा। पेट में एक नुकीली लकड़ी चुभ जाने से उसका प्राणान्त हो गया। णमोकार मन्त्र के प्रभाव से उसी सेठ के यहाँ सुदर्शन नाम का पुत्र हुआ। सेठ सुदर्शन ने उसी भव से निर्वाण प्राप्त किया। अतः प्रतिसमय णमोकार का उच्चारण करते रहना चाहिए। जिससे अपने जीवन में पुण्याजन कर सुख शांति प्राप्त कर सकें।

अभीष्ट फल प्रदायक

एगो वि णमोयारो, जेण कओ भत्ति णिब्भर मणेण।

खविऊण कम्म रासी, पत्ता-मुख फलं ते वि॥7॥

भक्ति भाव से पूरित मन से, एक बार जो करता जाप।

मुक्ती का फल पाता है वह, जन्म-जन्म के कटते पाप॥7॥

अन्वयार्थ :- (जेण) जो (भत्ति णिब्भर मणेण) भक्ति भाव से भरे मन से (एगो वि) एक बार भी (णमोयारो) णमोकार महामन्त्र का (कओ) जाप करते हैं (ते वि) वे भव्य जीव भी (कम्म रासी खविऊण) कर्मों के समूह का नाशकर (मुख फलं पत्ता) मोक्षरूपी फल को प्राप्त करते हैं।

अर्थ :- जो भक्ति भाव से भरे मन से एक बार भी णमोकार महामन्त्र का जाप करते हैं, वे भव्य जीव भी कर्मों के समूह का नाशकर मोक्ष रूपी फल को प्राप्त करते हैं

विशदार्थ :-

णमोकार मंत्र की साधना अभीष्ट फलों को किस प्रकार देती है?

इस मंत्र का धर्म कार्य और मोक्ष प्राप्ति के लिए अंगुष्ठ और तर्जनी से, शांति के लिए अंगुष्ठ और मध्यमा अंगुली से, विशेष सिद्धि के लिए अंगुष्ठ और अनामिका से एवं सर्व सिद्धि के लिये अंगुष्ठ और कनिष्ठा से णमोकार महामन्त्र की जाप करना चाहिए

सभी कार्यों की सिद्धि के लिए पंच वर्ण पुष्पों की माला से, दुष्ट और व्यंतरो के स्तंभन के लिए मणियों की माला से, रोग शान्ति और पुत्र प्राप्ति के लिये मोतियों की माला या कमलगट्टों की माला से एवं शत्रूच्चाटन के लिए रुद्राक्ष की माला से णमोकार मन्त्र का जाप करना चाहिए।

Y X Y

(18)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

हाथ की अंगुलियों पर इस महामंत्र का जाप करने से दसगुना पुण्य, रेखा खींचकर जाप करने से आठ गुणा पुण्य, मूंगा की माला से जाप करने पर हजार गुना पुण्य, लवंगों की माला से जाप करने से पाँच हजार गुणा पुण्य, स्फटिक की माला से जाप करने से दस हजार गुणा पुण्य, मोती की माला से जाप करने पर लाख गुणा पुण्य, कमलगट्टों की माला से जाप करने पर दस लाख गुणा पुण्य और सोने की माला से णमोकार महामन्त्र का जाप करने पर करोड़ गुणा पुण्य होता है। माला के साथ साथ भावों की शुद्धि भी अपेक्षित है।

मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन आदि सभी प्रकार के कार्य इस मंत्र की साधना के द्वारा साधक कर सकता है। यह मन्त्र तो सभी का हित साधक है, पर साधन करने वाला अपने भावों के अनुसार मारण, मोहनादि कार्यों को सिद्ध कर लेता है। मन्त्र साधना में मन्त्र की शक्ति के साथ साधक की शक्ति भी कार्य करती है। एक ही मन्त्र का फल विभिन्न साधकों को उनकी योग्यता, परिणाम, स्थिरता आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न मिलता है अतः मन्त्र के साथ साधक का भी महत्वपूर्ण सम्बन्ध है।

वास्तविक बात यह है कि मन्त्र ध्वनिरूप है और भिन्न भिन्न ध्वनियाँ 'अ' ले लेकर 'ज्ञ' तक भिन्न शक्ति स्वरूप हैं। प्रत्येक अक्षर में स्वतन्त्र शक्ति निहित है। भिन्न-भिन्न अक्षरों के संयोग से भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न की जाती है। जो व्यक्ति उन ध्वनियों का मिश्रण करना जानता है, वह उन मिश्रित ध्वनियों के प्रयोग से उसी प्रकार के शक्तिशाली कार्य को सिद्ध कर लेता है। णमोकार मन्त्र का ध्वनि समूह इस प्रकार का है कि इसके प्रयोग से भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं। ध्वनियों के घर्षण से दो प्रकार की विद्युत उत्पन्न होती है— एक धन विद्युत और दूसरी ऋण विद्युत। धन-विद्युत -शक्ति द्वारा बाह्य पदार्थों पर प्रभाव पड़ता है और ऋण-विद्युत-शक्ति अंतरंग की रक्षा करती है। आज का विज्ञान भी मानता है कि प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार की शक्तियाँ निवास करती है। मन्त्र का उच्चारण और मनन इन शक्तियों का विकास करता है। जिस प्रकार जल में छिपी हुई विद्युत-शक्ति जल के मंथन से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार मंत्र के बार-बार उच्चारण करने से मन्त्र के ध्वनि-समूह में छिपी हुई शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। भिन्न-भिन्न मन्त्रों से यह शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है तथा शक्ति का विकास भी साधक की क्रिया और उसकी शक्ति पर निर्भर करता है। अतः एव णमोकार मंत्र की साधना सभी प्रकार के अभीष्टों को सिद्ध करने वाली और अनिष्टों को दूर करने वाली है।

सुगति दायक

Y X Y

Y X Y

जाए वि जो पढिजइ, जेण विजायस्स होइ फल रिद्धि।

अवसाणे हि पढिजइ, जेण मओ सुगइं जाइ॥८॥

जब भी महामंत्र पढ़ता जो, उससे हो समृद्धीवान।

मरण काल में पढ़ने से वह, सुगति पाए स्वर्गादि विमान॥८॥

अन्वयार्थ :- (जाए वि जो) जब भी जो णमोकार महामंत्र को (पढिजइ) पढ़ता है (जेण) उससे (विजायस्स) उस ज्ञानी पुरुष के (फलरिद्धि) समृद्धि रूप फल की (होइ) प्राप्ति होती है तथा (अवसाणे हि पढिजइ) जो मरण काल में पढ़ता है (जेण मओ) उससे मरण को प्राप्त होता हुआ भी (सुगइं जाइ) सुगति अर्थात् स्वर्गादि में जाता है।

अर्थ :- जब भी णमोकार महामन्त्र को पढ़ता है, उससे उस ज्ञानी पुरुष को समृद्धि रूप फल की प्राप्ति होती है तथा जो मरणकाल में पढ़ता है, उससे मरण को प्राप्त होता हुआ भी सुगति अर्थात् स्वर्गादि में जाता है।

दृढसूर्य चोर की कथा

उज्जयिनी नगरी में एक दिन बसन्तोत्सव के समय धनपाल राजा की रानी बहुमूल्य हार पहनकर वन विहार के लिए जा रही थी, जब उसके हार पर बसन्तसेना वेश्या की दृष्टि पड़ी तब वह उस पर मोहित हो गयी। अपने प्रेमी दृढसूर्य से कहने लगी कि 'इस हार के बिना तो मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं है। अतः किसी भी तरह हो, इस हार को ले आओ।' दृढसूर्य राजमहल में गया और उस हार को चुराकर ज्यों ही निकला, त्यों ही पकड़ लिया गया। दृढसूर्य सूली पर लटकाया जा चुका था, पर अभी उसके शरीर में प्राण अवशेष थे। संयोगवश उसी मार्ग से धनदत्त सेठ जा रहा था। दृढसूर्य ने उससे पानी पिलाने को कहा। सेठ ने उत्तर दिया – 'मेरे गुरु ने मुझे णमोकार मन्त्र दिया है। अतः मैं जब तक पानी लाता हूँ, इसे स्मरण रखो।' इस प्रकार दृढसूर्य को णमोकार मन्त्र सिखाकर धनदत्त पानी लेने चला गया। दृढसूर्य ने णमोकार मन्त्र का जोर-जोर से उच्चारण आरम्भ किया। आयु पूर्ण होने से उस चोर का मरण हो गया और वह णमोकार मन्त्र के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।

आपदा निवारक

अवइहिं पि पढिजइ, जेण लंघेइ आवइ सयाइं।

रिद्धिहिं पि पढिजइ, जेण वि सो जाइ वित्थारं॥९॥

Y X Y

(20)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

आपत्ती में पढ़े मंत्र जो, विघ्न सैकड़ों से हो पार।

समृद्धि में पढ़ने वालों, के समृद्धि हो विस्तार॥१॥

अन्वयार्थ :- (आवइहिं पि पढिजइ) जो आपदाओं में णमोकार महामंत्र को पढ़ता है (जेण) उसके प्रभाव से (आवइ सयाइं लंघेइ) सैकड़ों विघ्न बाधाओं को लाँघ जाता है तथा (रिद्धिहिं पि पढिजइ) जो समृद्धियों में भी पढ़ता है (जेण) उससे (सो) वह (वित्थारं जाइ) समृद्धि के विस्तार को प्राप्त होता है अर्थात् और अधिक समृद्धि हासिल कर सुखी हो जाता है।

अर्थ :- जो आपदाओं में णमोकार महामंत्र को पढ़ता है, उसके प्रभाव से सैकड़ों विघ्न बाधाओं को लाँघ जाता है तथा जो समृद्धियों में भी पढ़ता है, उससे वह समृद्धि के विस्तार को प्राप्त होता है अर्थात् और अधिक समृद्धि हासिल कर सुखी हो जाता है और स्वर्ग मोक्ष का राही बनता है। कहा भी है—

कृत्वा पाप सहस्राणी, हन्त्वा जन्तू शतानि च।

अमुं मंत्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि शिवं गत॥

विशदार्थ :- आत्मानुशासन में भी धर्म के विषय में गुणभद्राचार्य ने इसी भाव को दर्शाया है—

सुखितस्य दुःखितस्य च, संसारे धर्म तव कार्यः।

सुखितस्य तदभिवृद्धयै, दुःख भुजस्तदुपघातयः॥

अर्थ - हे भव्यात्मन्! तुम चाहे सुखी हो, चाहे दुखी हो; संसार में दोनों समय तुम्हारे लिए धर्म ही करना चाहिए। यदि तुम सुखी हो तो और भी वास्तविक सुख की वृद्धि होगी तथा यदि दुखी हो तो पंच नमस्कार मन्त्र का ध्यान पाठ आदि धर्मध्यान आगामी दुःख दर्दों के नाश के लिए होगा।

भील-भीलनी दम्पति की कथा

पुष्करावर्त द्वीप के भरत क्षेत्र में सिद्धकूट नाम का नगर था। उसमें एक दिन शान्त तपस्वी वीतरागी सुव्रत नाम के आचार्य पधारे। वर्षा ऋतु आरम्भ हो जाने के कारण चातुर्मास उन्होंने वहीं ग्रहण किया। एक दिन मुनिराज ध्यानस्थ थे कि भील-भीलनी दम्पति वहाँ आये। मुनिराज का दर्शन करते ही उनका चिरसंचित पाप नष्ट हो गया, उनके मन में अपूर्व प्रसन्नता हुई और दोनों मुनिराज का धर्मोपदेश सुनने के लिए वहीं पर ठहर गये। जब मुनिराज का ध्यान टूटा तो उन्होंने भील-भीलनी को नमस्कार करते हुए देखा। मुनिराज ने धर्मवृद्धि हो! का आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद प्राप्त कर वे दोनों अत्यन्त आह्लादित

Y X Y

Y X Y
हुए और हाथ जोड़कर कहने लगे— ‘प्रभो! हमें कुछ धर्मोपदेश दीजिए।’ मुनिराज ने णमोकार मन्त्र उनको सिखलाया। उन दोनों ने भक्ति भाव पूर्वक णमोकार मन्त्र का जाप आरम्भ किया। श्रद्धापूर्वक सर्वदा त्रिकाल इस महामन्त्र का जाप करने लगे। भील ने मृत्यु के समय भी भक्ति भाव पूर्वक इस महामन्त्र की आराधना की, जिससे वह मरकर राजपुत्र हुआ। भीलनी ने भी सुगति पायी।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मणिमन्दिर नाम का नगर था। उस नगर के निवासी अत्यन्त धर्मात्मा, दानपरायण, गुणग्राही और सत्पुरुष थे। इस नगर के राजा का नाम मृगांक था और उसकी रानी का विजया। इन्हीं दम्पति का पुत्र णमोकार मन्त्र के प्रभाव से उस भील का जीव हुआ। इस भव में उसका नाम राजसिंह रखा गया। बड़े होने पर राजसिंह मन्त्री पुत्र के साथ भ्रमण के लिए गया। रास्ते में थककर एक वृक्ष की छाया में विश्राम करने लगा। इतने में एक पथिक उसी मार्ग से आया और राजपुत्र के पास आकर विश्राम करने लगा। बातचीत के सिलसिले में उसने बतलाया कि पद्मपुर में पद्म नामक राजा रहता है, इसकी रत्नावती नाम की अत्यन्त सुन्दर पुत्री है। जब उसका विवाह सम्बन्ध हो रहा था, तब एक नट के नृत्य को देखकर उसे जाति स्मरण हो गया। अतः उसने निश्चय किया कि जो मेरे पूर्वभव के वृत्तान्त को बतलायेगा, उसी के साथ मैं विवाह करूँगी। अनेक देशों के राजपुत्र आये, पर सभी निराश होकर लौट गये। राजकुमारी के पूर्वभव के वृत्तान्त को कोई नहीं बतला सका। अब इस राजकुमारी ने पुरुष का मुँह देखना ही बन्द कर दिया और वह एकान्त स्थान में रहकर समय व्यतीत करने लगी।

पथिक की उपर्युक्त बातों को सुनकर राजकुमार का आकर्षण राजकुमारी के प्रति हुआ और उसने मन ही मन उसके साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा की। वहाँ से चलकर मार्ग में मन्त्री पुत्र और राजकुमार ने णमोकार मन्त्र के प्रभाव की कथाओं का अध्ययन, मनन और चिन्तन किया; जिससे राजकुमार ने अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को अवगत कर लिया। पास में रहने वाली मणि के प्रभाव से दोनों कुमारों ने स्त्री वेष बनाया और राजकुमारी के पास पहुँचे। राजसिंह ने राजकुमारी के पूर्वभव का समस्त वृत्तान्त बतला दिया तथा अपना वेष बदलकर वहाँ तक आने की बात भी कह दी। राजकुमारी अपने पूर्वभव के पति को पाकर बहुत प्रसन्न हुई। उसे मालूम हो गया कि णमोकार मन्त्र के माहात्म्य से मैं भीलनी से राजकुमारी हुई हूँ और यह भील से राजपुत्र। अतः हम दोनों पूर्वभव के पति-पत्नि हैं। उसने अपने पिता से भी यह सब वृत्तान्त कह दिया। राजा ने रत्नावती और राजसिंह का विवाह कर दिया।

कुछ दिनों तक सांसारिक भोग भोगने के उपरान्त राजसिंह अपने पुत्र प्रतापसिंह को राजगद्दी देकर धर्मसाधन के लिए रानी के साथ वन में चला गया। राजसिंह जब बीमार होकर मृत्यु शैय्या पर पड़ा जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था, उसी समय उसने जाते हुये उन मुनिराज को देखा और अपनी

Y X Y

(22)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
स्त्री से कहा कि वह उस साधु को बुला लाये। जब मुनिराज उसके पास आये तो राजसिंह ने धर्मोपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की। मुनिराज ने णमोकार मन्त्र का व्याख्यान किया और इसी महामन्त्र का जप करने को कहा। समाधिमरण भी उसने धारण किया और आरम्भ परिग्रह का त्याग कर इस महामन्त्र के चिन्तन में लीन होकर प्राण त्याग दिये। णमोकार महामन्त्र के प्रभाव से वह ब्रह्म लोक में दस सागर की आयु वाला एक भवावतारी देव हुआ। भीलनी के जीव राजकुमारी ने भी णमोकार महामन्त्र के प्रभाव से स्वर्ग में जन्म ग्रहण किया।

मन्त्र को कंठ में धारण करने का प्रभाव

नर सिरि हुंति सिराणं, विज्जा हरणेइ सुर वरिन्दाणं।

जाण इमो णवकारो, सा सुव्वए इट्ठिओ कंठे॥10॥

इष्ट रूप से कंठ में धारण, णमोकार जो करे महान।

वह नर सुर खचरों की लक्ष्मी, मंत्र के फल से पाए प्रधान॥10॥

अन्वयार्थ :- (सा) जो (इमो णवकारो) इस णमोकार महामन्त्र को (सुव्वए) अच्छे व्रतों के साथ (कंठे इट्ठिओ) कंठ में इष्ट रूप से धारण करता है (सा) वह (नर सिरि) मनुष्यों की लक्ष्मी (विज्जा हरणेइ) विद्याधरों की लक्ष्मी (सुर वरिन्दाणं) देवेंद्रों की लक्ष्मी का (सिराणं हुंति) प्रधान स्वामी होता है। यह सब णमोकार महामन्त्र का प्रभाव (जाण) जानो।

अर्थ :- जो इस णमोकार महामन्त्र को अच्छे सुव्रतों के साथ कंठ में इष्ट रूप से धारण करता है वह मनुष्यों की लक्ष्मी, विद्याधरों की लक्ष्मी, देवेंद्रों की लक्ष्मी का प्रधान स्वामी होता है। यह सब णमोकार महामन्त्र का प्रभाव जानो।

विशदार्थ :- अनेक पुण्य संतान कारणं स्वर्निबन्धनम्।

पापघ्नं च क्रमादेतत् व्रतं मुक्तिवशीकरम्॥

यो विधत्ते व्रतं सारमेतत्सर्वसुखावहम्।

प्राप्य षोडशमं नाकं स गच्छेत् क्रमशः शिवम्॥

व्रत अनेक पुण्य की सन्तान का कारण है, संसार के समस्त पापों को नाश करने वाला है एवं मुक्ति-लक्ष्मी को वश में करने वाला है। जो महानुभाव सर्वसुखोत्पादक श्रेष्ठ व्रत धारण करते हैं, वे सोलहवें स्वर्ग के सुखों का अनुभव कर अनुक्रम से अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं। अतएव यह

Y X Y

Y X Y
स्पष्ट है कि व्रतों के सम्यक् पालन करने के लिये णमोकार मन्त्र का जाप, पाठ, स्मरण, पूजन, विधान, ध्यान करना अति आवश्यक है।

वसुभूति ब्राह्मण की कथा

वसुभूति ब्राह्मण ने लोभ से आकृष्ट होकर दिगम्बर मुनिव्रत धारण किये थे तथा दया मित्र के अष्टाद्विक पर्व के सम्पन्न कराने के लिए दक्षिणा प्राप्ति के लोभ से उसने केशलुंच एवं द्रव्यलिंगी साधु के अन्य व्रत धारण किये थे। दयामित्र जब जंगल में जा रहा था तो एक दिन रात को जंगली लुटेरों ने दयामित्र सेठ के साथ वाले व्यापारियों पर आक्रमण किया। दयामित्र वीरता पूर्वक लुटेरों के साथ युद्ध करने लगा। उसने अपार बाण वर्षा की, जिससे लुटेरों के पैर उखड़ गये और वे भागने पर मजबूर हो गये। युद्ध के समय वसुभूति दयामित्र के तम्बू में सो रहा था। लुटेरों का एक बाण आकर वसुभूति को लगा और वह घायल होकर पीड़ा से तड़फड़ाने लगा। यद्यपि दयामित्र के उपदेश से उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी थी, तो भी असाधारण सा कष्ट उसे था।

दयामित्र ने उसे समझाया कि आत्मा का कल्याण समाधि मरण के द्वारा ही संभव है। अतः उसे समाधिमरण धारण कर लेना चाहिए। सल्लेखना से आत्मा में अहिंसा की शक्ति उत्पन्न होती है। अहिंसक ही सच्चा वीर होता है। अतः मृत्यु का भय त्याग कर णमोकार मन्त्र का चिन्तन करें। इस मन्त्र की महिमा अद्भुत है। भक्ति भाव पूर्वक इस मन्त्र का ध्यान करने से परिणाम स्थिर होते हैं तथा सभी प्रकार की विघ्न बाधाएँ टल जाती हैं। मनुष्य की बात ही क्या, तिर्यञ्च भी इस महामन्त्र के प्रभाव से स्वर्गादिक सुखों को प्राप्त हुए हैं। हाँ, इस मन्त्र के प्रति अटूट श्रद्धा होना चाहिए। श्रद्धा के द्वारा ही इसका वास्तविक फल प्राप्त होगा। यों तो इस मन्त्र के उच्चारण मात्र से आत्मा में असंख्यातगुणी विशुद्धि उत्पन्न होती है।

दयामित्र के इस उपदेश को सुनकर वसुभूति स्थिर हो गया। उसने अपने परिणामों को बाह्य पदार्थों से हटाकर आत्मा की ओर लगाया और णमोकार मन्त्र का ध्यान करने लगा। ध्यानावस्था में ही उसने शरीर का त्याग किया, जिसके प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग के मणिप्रभा विमान में मणिकुण्ड नामक देव हुआ। स्वर्ग के दिव्य भोगों को देखकर वसुभूति के जीव मणिकुण्ड को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। तत्काल ही भवप्रत्यय अवधिज्ञान के उत्पन्न होते ही उसने अपने पूर्वभव की सब घटना अवगत कर ली और णमोकार मन्त्र के दृढ़ श्रद्धान का फल समझकर अपने उपकारी दयामित्र के दर्शन करने को आया और उसकी भक्ति कर अपने स्थान को चला गया। वसुभूति का जीव स्वर्ग से चयकर अभयकुमार नामक

Y X Y

(24)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
राजा श्रेणिक का पुत्र हुआ। इसने वयस्क होते ही दीक्षा ले ली और कठोर तपश्चरण कर समाधि के साथ शरीर त्याग दिया। जिससे सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ से चयकर निर्वाण प्राप्त करेगा। णमोकार मन्त्र के दृढ़ श्रद्धान द्वारा व्यक्ति सभी प्रकार के सुख प्राप्त कर सकता है। संसार का कोई भी कार्य उसके लिए दुर्लभ नहीं होता है।

सर्व पापरूपी विष नाशक

जह अहिणा दद्धानं, गारुड मंतो विसं पणासेइ।

तह णवकारो मंतो, पाव विसं णासये असेसं॥11॥

सर्प दंश के विष को जैसे, गारुण विद्या करे विनाश।

महामंत्र णमोकार पाप का, उसी तरह कर देता नाश॥11॥

अन्वयार्थ :- (जह) जैसे (अहिणा दद्धानं) सर्प के द्वारा डसे गए प्राणी के (विसं) विष को (गारुड मंतो) गारुड विद्या सम्बन्धी मंत्र (पणासेइ) नष्ट कर देता है (तह) उसी प्रकार (णवकारो मंतो) नमस्कार महामंत्र (असेसं पाव विसं) सम्पूर्ण पाप रूपी विष को (णासये) नाश कर देता है।

अर्थ :- जैसे सर्प के द्वारा डसे गये प्राणी के विष को गारुड विद्या सम्बन्धी मन्त्र नष्ट कर देता है, उसी प्रकार नमस्कार महामन्त्र सम्पूर्ण पाप रूपी विष का नाश कर देता है।

विशदार्थ :- सुखाभिलाषानल दाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः।

व्यदिध्यपस्त्वं विषदाह मोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम्॥

स्वजीविते कामसुखे च तृष्ण्या दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।

त्वमार्य नक्तंदिवम प्रमत्तवान जागरे वात्म विशुद्धवर्त्मनि॥

जैसे वैद्य या मन्त्रविद् मन्त्रों के उच्चारण, मनन और ध्यान से सर्प के विष से सन्तप्त मूर्च्छा को प्राप्त अपने शरीर को विष रहित कर देता है, वैसे ही प्रभु आपने इन्द्रिय-विषय सुख की तृष्णारूपी अग्नि की जलन से मोहित, हेयोपादेय के विचार शून्य अपने मन को आत्मज्ञानमय अमृत की वर्षा से शान्त कर दिया है। संसार के प्राणी अपने इस जीवन को बनाये रखने और इन्द्रिय सुख को भोगने की तृष्णा से पीड़ित होकर दिन में तो नाना प्रकार के परिश्रम कर थक जाते हैं और रात होने पर विश्राम करते हैं; किन्तु हे प्रभो! आप तो रात-दिन प्रमाद रहित होकर आत्मा को शुद्ध करने वाले मोक्ष मार्ग में जागते ही रहते हैं।

Y X Y

Y X Y

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पंच परमेष्ठी का स्वरूप शुद्धात्माम है और शुद्धात्मा की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। इनकी समस्त क्रियाएँ आत्माधीन होती हैं। स्वावलम्बन इनके जीवन में पूर्णतया आ जाता है क्योंकि कर्मादिमल से छूटकर अनन्त ज्ञानादि गुणों के स्वामी होकर आत्मानन्द में नित्य मग्न रहना उनके जीवन का सच्चा प्रयोजन होता है। पंचपरमेष्ठी की आत्माएँ इन प्रयोजनों को सिद्ध कर लेती हैं या इनकी सिद्धि के लिये प्रयत्नशील हैं। आत्मा अनादि, स्वतः सिद्ध, उपाधिहीन एवं निर्दोष है।

अरस-मरुव-मगंधं, अव्वक्तं चेयणा गुण-

म स द ।

जाण अलिंग-गहणं, जीवो-मणिदिट्ठ संठाणं॥

अस्त्र-शस्त्र से इसका छेदन नहीं हो सकता, जलप्लावन से यह भीग नहीं सकती, आग से जल नहीं सकती, पवन से सूख नहीं सकती और धूप से कभी निस्तेज नहीं हो सकती है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, अगुरुलघुत्व आदि आठ गुण इस आत्मा में विद्यमान हैं। ये गुण इस आत्मा के स्वभाव हैं, आत्मा से अलग नहीं हो सकते हैं। णमोकार मन्त्र में प्रतिपादित पंचपरमेष्ठी उक्त गुणों को प्राप्त कर लेते हैं अथवा पंच परमेष्ठियों में से जिन्होंने उन गुणों को प्राप्त नहीं भी किया है, वे प्राप्त करने का उपक्रम करते हैं, इस स्थूल शरीर के द्वारा वे अपनी आत्म साधना में सर्वदा संलग्न रहते हैं।

महा महिमाशाली रत्न

किं एस महा रयणं, किं वा चिंता मणिव्व णवकारो।

कप्प दुम सरिसा ण हु, ण हु ताण वि अहिय यरो॥12॥

णमोकार है कल्पवृक्ष सम, महारत्न चिंतामणि रत्न।

नहीं! नहीं!! इनसे भी बढ़कर, महिमाशाली पावन रत्न॥12॥

अन्वयार्थ :- (किं एस) क्या यह (णवकारो) नमस्कार मंत्र (कप्प दुम सरिसा) कल्पवृक्ष के समान है, (महा रयणं) महारत्न है (किं वा) अथवा क्या (चिंता मणिव्व) चिंतामणि रत्न है (ण हु ण हु) नहीं नहीं (ताण वि) इनसे भी (अहिय यरो) बढ़कर है अर्थात् महा महिमाशाली रत्न है।

अर्थ :- क्या यह नमस्कार मन्त्र कल्पवृक्ष के समान है, महारत्न है अथवा क्या चिंतामणि रत्न है? नहीं! नहीं!! इनसे भी बढ़कर है अर्थात् महामहिमा शाली रत्न है।

Y X Y

तत्त्व विचार सार

विशदार्थ :- इत्थं ज्ञात्वा महाभव्यैः, कर्तव्यः परया मुदा।

स त ा म , । ।

यह मंत्र – 84 लाख मंत्रों का राजा अर्थात् विश्व का सर्वोत्तम मंत्र है।

चिंतामणि रयणाइ, कप्पतरु एग जम्म सुह हेउ।

णवयारो पुणु पवरो, सग्ग पवग्गाण दायारो॥१३॥

कल्पतरु अथवा चिंतामणि, एक जन्म में है सुखकार।

महामंत्र नवकार स्वर्ग अरु, मोक्ष लक्ष्मी का दातार॥13॥

अन्वयार्थ :- (चिंतामणि रयणाइ) चिन्तामणि रत्न तथा (कप्पतरु) कल्पवृक्ष (एग जम्म सुह हेउ) एक जन्म में ही सुख के कारण हैं (पुणु) परन्तु (पवरो णवयारो) श्रेष्ठ नमस्कार महामंत्र (सग्ग पवग्गाण दायारो) स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी को देने वाला है।

अर्थ :- चिंतामणी रत्न तथा कल्पवृक्ष एक जन्म में ही सुख के कारण हैं परन्तु श्रेष्ठ नमस्कार महामन्त्र स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी को देने वाला है।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् णमोकार महामंत्र का माहात्य बताते हुए कहते हैं-

एक बार कुछ ब्राह्मण मिलकर यज्ञ कर रहे थे कि एक कुत्ते ने आकर उनकी हवन-सामग्री जूँठी कर दी। ब्राह्मणों ने क्रुद्ध हो उस कुत्ते को इतना मारा कि वह कण्ठगत प्राण हो गया। संयोग से महाराज सत्यन्धर के पुत्र जीवन्धर कुमार उधर आ निकले, उन्होंने कुत्ते को मरते हुए देखकर उसे णमोकार मन्त्र सुनाया। मन्त्र के प्रभाव से कुत्ता मर कर यक्ष जाति का इन्द्र हुआ। अवधिज्ञान से अपने उपकारी का स्मरण कर वह कुमार जीवन्धर के पास आया और नाना प्रकार से स्तुति प्रशंसा कर उन्हें इच्छित रूप बनाने और गाने की विद्या देकर अपने स्थान पर चला गया। इस आख्यान से स्पष्ट है कि कुत्ता भी इस महामन्त्र के प्रभाव से देवेन्द्र हो सकता है, फिर मनुष्य जाति की बात ही क्या ? इसके अलावा और भी अनेक पशु जैसे- बैल, तोता, सर्प, बकरा, मेंढक, शेर, हाथी आदिक कई पशु णमोकार में श्रद्धा करके

Y X Y

Y X Y
स्वर्ग में देवों के सुख प्राप्त किए।

सारभूत परम तत्त्व

जं किंचि परम तत्तं, परमण्य कारणं पि जं किंपि।

तत्थ इमो णवयारो, झाइज्जइ परम जोइहिं॥14॥

सारभूत जो परम तत्त्व है, श्रेष्ठ मोक्ष का कारण जान।

णमोकार का श्रेष्ठ योगियों, द्वारा उसमें करना ध्यान॥14॥

अन्वयार्थ :- (जं किंचि परम तत्तं) जो कुछ भी सारभूत परम तत्त्व है (परमण्य कारणं पि) परम श्रेष्ठ मोक्षपद का कारण (जं किंपि) जो कुछ भी है (तत्थ) उसमें (इमो णवयारो) इस णमोकार मंत्र का (परम जोइहिं) श्रेष्ठ योगियों के द्वारा (झाइज्जइ) ध्यान किया जाता है।

अर्थ :- जो कुछ भी सारभूत परम तत्त्व है, परम श्रेष्ठ मोक्ष पद का कारण जो कुछ भी है उसमें इस णमोकार मन्त्र का श्रेष्ठ योगियों के द्वारा ध्यान किया जाता है।

विशदार्थ :- यह णमोकार मन्त्र समस्त हितों को सिद्ध करने वाला है। इस कारण इसे सर्वोत्कृष्ट भाव-मंगल कहा गया है। 'मङ्गयते साध्यते हितमनेनेति मङ्गलम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसके द्वारा समस्त अभीष्ट कार्यों की सिद्धि होती है। इसमें इस प्रकार की शक्ति विद्यमान है, जिससे इसके स्मरण से आत्मिक गुणों की उपलब्धि सहज में हो जाती है। यह मन्त्र रत्नत्रय धर्म तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव आदि दस धर्मों को आत्मा में उत्पन्न कराता है। अतः 'मङ्गं धर्मं लातीति मंगलम्' यह व्युत्पत्ति की जाती है।

णमोकार मन्त्र का भावपूर्वक उच्चारण संसार के चक्र को दूर करने वाला है तथा संवर और निर्जरा के द्वारा आत्मस्वरूप को प्राप्त कराने वाला है। आचार्यों ने इसी कारण बताया है कि 'मं भवात् संसारात् गालयति अपनयतीति मंगलम्' अर्थात् यह संसार चक्र से छुड़ाकर जीवों को निर्वाण देता है और इसके नित्य मनन-चिन्तन और ध्यान से सभी प्रकार के कल्याणों की प्राप्ति होती है। इस पंचम काल में संसार में त्रस्त जीवों को सुन्दर सुशीतल छाया प्रदान करने वाला कल्पवृक्ष यह महामन्त्र ही है। दुर्गति, पाप और दुराचरण से पृथक् सद्गति, पुण्य और सदाचार के मार्ग में यह लगाने वाला है। इस महामन्त्र के जप से सभी प्रकार की आधि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं और सुख-सम्पत्ति की वृद्धि होती है। अतः अहितरूपी पाप या अधर्म का ध्वंस कर यह कल्याण रूपी धर्म के मार्ग में लगाता है। बड़ी से बड़ी विपत्ति का नाश णमोकार मन्त्र के प्रभाव से हो जाता है।

Y X Y

(28)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अन्जन चोर के कष्ट का दूर होना, सेठ सुदर्शन का शूली से उतरना, सीता के लिये अग्नि कुण्ड का जल कुण्ड बनना, श्री पाल के कुष्ठ रोग का दूर होना, अन्जना सती के सतीत्व की रक्षा होना, सेठ के घर का दारिद्र्य नष्ट होना आदि समस्त कार्य णमोकार मन्त्र और पंच परमेष्ठी की भक्ति के द्वारा ही सम्पन्न हुए हैं।

परमेष्ठी नमस्कार स्तोत्र में भी कहा है—

भुवणे वि मंगलाणं, मणुआसुर अमर खचर महियाणं।

सव्वेसिमिमो पढमो, हवई महा मंगलं पढमं॥

अर्थात् मनुष्य, देव, असुर विद्याधरों द्वारा पूजित तीनों लोकों में णमोकार मंत्र सभी मंगलों में प्रथम और उत्कृष्ट महामंगल है।

एक लाख बार मंत्र पढ़ने का फल

जो गुणइ लक्ख मेगं, पूइविही जिण णमोक्कारं।

तित्थयर नाम गोत्तं, सो बंधइ णत्थि संदेहो॥15॥

पूजा विधि से लाख बार जिन, णमोकार का करता जाप।

ना संदेह सुनाम गोत्र पद, तीर्थकर का बाँधे आप॥15॥

अन्वयार्थ :- (जो पूइविही) जो पूजा विधि पूर्वक (लक्ख मेगं) एक लाख (जिण णमोक्कारं गुणइ) जिन-णमोकार महामन्त्र जपता है (सो) वह (तित्थयर नाम गोत्तं) तीर्थकर नाम गोत्र को (बंधइ) बाँधता है, इसमें (संदेहो णत्थि) संदेह नहीं है।

अर्थ :- जो पूजा विधि पूर्वक एक लाख बार जिन-णमोकार महामन्त्र को जपता है, वह तीर्थकर नाम गोत्र को बाँधता है, इसमें संदेह नहीं है और भी शास्त्रों में कहा है।

विशदार्थ— अट्टेव व अट्टसया, अट्टसहस्स, अट्टलक्ख अट्टकोडीओ।

जो गुणइ भतिजुत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं॥

जो भक्ति से युक्त होकर 8 बार, 8 सौ बार, 8 हजार बार, 8 लाख बार, 8 करोड़ बार णमोकार महामन्त्र का जाप करता है, वह शाश्वत मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है।

मन्त्र जपने की विधि

णमोकार मन्त्र का जाप करने के लिए सर्वप्रथम आठ प्रकार की शुद्धियों का होना आवश्यक है।

Y X Y

Y X Y

1. द्रव्य-शुद्धि :- पंचेन्द्रिय तथा मन को वश में कर, कषाय और परिग्रह का शक्ति के अनुसार त्याग कर, कोमल और दयालु चित्त हो, जाप करना चाहिए। यहाँ द्रव्य-शुद्धि का अभिप्राय पात्र की अन्तरंग शुद्धि से है। जाप करने वाले को यथा शक्ति अपने विकारों को हटाकर ही जाप करना चाहिए। अन्तरंग से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, माया आदि विकारों को हटाना आवश्यक है।

2. क्षेत्र-शुद्धि :- निराकुल स्थान, जहाँ हल्ला-गुल्ला न हो तथा डाँस, मच्छर आदि बाधक जन्तु न हों। चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले उपद्रव एवं शीत-उष्ण की बाधा न हो ऐसा एकान्त निर्जन स्थान जाप करने के लिए उत्तम होता है।

3. समय-शुद्धि :- प्रातः, मध्याह्न और संध्या समय कम से कम 48 मिनिट तक लगातार इस महामन्त्र का जाप करना चाहिए। जाप करते समय निश्चित रहना एवं निराकुल होना चाहिए।

4. आसन-शुद्धि :- काष्ठ शिला, भूमि, चटाई या शीतल पट्टी पर पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके पद्मासन, खड्गासन या अर्ध पद्मासन होकर क्षेत्र तथा काल का ध्यान रखकर जाप करना चाहिए। जिस आसन पर बैठकर जाप करना हो, उस आसन को सावधानी पूर्वक ईर्यापथ शुद्धि के साथ साफ करना चाहिए।

5. विनय-शुद्धि :- जाप करने के लिए नम्रतापूर्वक अन्तर का अनुराग रहना आवश्यक है। जब तक जाप करने के लिए भीतर का उत्साह नहीं होगा, तब तक सच्चे मन से जाप नहीं किया जा सकता है।

6. मन-शुद्धि :- विचारों की स्वच्छता अर्थात् विचारों की गन्दगी का त्याग कर मन को एकाग्र करना, चंचल मन इधर-उधर भटकने न पावे, इसकी चेष्टा करना चाहिए। मन को पूर्णतया पवित्र बनाने का प्रयास करना ही इस शुद्धि में अभिप्रेत है।

7. वचन-शुद्धि :- धीरे धीरे साम्य भाव पूर्वक इस मन्त्र का शुद्ध उच्चारण करते हुए जाप करना चाहिए। उच्चारण करने में अशुद्धि न होने पाये तथा उच्चारण मन ही मन में या बोलकर भी कर सकते हैं। यथायोग्य अन्य मंत्रों का उच्चारण भी कर सकते हैं।

8. काय-शुद्धि :- शौचादि शंकाओं से निवृत्त होकर यत्नाचार पूर्वक शरीर शुद्ध करके, हलन-चलन क्रिया से रहित स्थिर होकर जाप करना चाहिए। जाप के समय शारीरिक शुद्धि का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

Y X Y

(30)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

इस महामन्त्र का जाप यदि खड़े होकर करना हो तो तीन श्वासोच्छ्वासों में एक बार पढ़ना चाहिए। 108 बार के जाप में कुल 324 श्वासोच्छ्वास (साँस) लेना चाहिए।

कमल जाप, हस्तांगुली जाप, माला जाप विधि

कमल जाप विधि :- अपने हृदय में आठ पाँखुड़ियों के एक श्वेत कमल का विचार करें। उसकी प्रत्येक पाँखुड़ी पर पीतवर्ण के बारह-बारह बिन्दुओं की कल्पना करें तथा मध्य के गोल वृत्त-कर्णिका में बारह बिन्दुओं का चिन्तन करें। इन 108 बिन्दुओं के प्रत्येक बिन्दु पर एक-एक मन्त्र का जाप करते हुए 108 बार इस मन्त्र का जाप करें।

बीच वाले गोल वृत्त में बारह बिन्दु हैं और आठ दलों में से प्रत्येक में बारह-बारह बिन्दु हैं। इन 12 $8 = 96$, $96+12=108$ बिन्दुओं पर 108 बार यह मन्त्र पढ़ा जाता है।

प्रतिदिन व्यक्ति 108 प्रकार के पाप करता है। अतः 108 बार मन्त्र का जाप करने से उस पाप का नाश होता है। समारम्भ, समारम्भ और आरम्भ इन तीनों को मन, वचन और काय से गुणा किया तो $3 \times 3 = 9$ हुआ। इनको कृत, कारित, अनुमोदना एवं चार कषायों से गुणा किया तो $9 \times 3 \times 4 = 108$ ।

हस्तांगुली जाप विधि :- अपने हाथ की अंगुलियों पर जाप करने की प्रक्रिया यह है कि - मध्यमा अंगुलि के बीच के पोर पर से इस मन्त्र को प्रारम्भ कर, फिर उसी अंगुलि के ऊपरी पोर पर चलते हुए, फिर तर्जनी के ऊपरी पोर से, नीचे के पोर पर उतरते हुए, तीसरे पोर से पुनः मध्यमा के नीचे के तीसरे पोर होते हुए, अनामिका अंगुलि के अन्तिम पोर से ऊपर की ओर चलते हुए, अन्तिम पोर तक पहुँचना चाहिए। इस प्रकार नौ-नौ बार मन्त्र जपते हुए, बारह बार में 108 बार में एक पूरा जाप होता है। इस विधि में अंगुलियों पर प्रत्येक बार ॐ की आकृति बनने से पंचपरमेष्ठी का ध्यान सिद्ध शिला पर विराजमान रूप में होता है।

माला जाप विधि :- एक सौ आठ दाने की माला द्वारा जाप करें। इन तीनों जाप की विधियों में उत्तम कमल जाप विधि है, इसमें उपयोग अधिक स्थिर रहता है। कर्म-बन्धन को क्षीण करने के लिए यही जाप विधि अधिक सहायक है। सरल विधि- माला जाप विधि है। इसमें किसी भी तरह का झंझट नहीं है। सीधे माला लेकर जाप करना होता है। जाप करने के पश्चात् भगवान का दर्शन करना चाहिए।

ततः समुत्थाय जिनेन्द्रबिम्बं, पश्येत्परं मंगलदानदक्षम्।

पाप प्रणाशं परपुण्यहेतुं, सुरासरैः सेवित पादपदम्॥

Y X Y

Y X Y

प्रातः काल की जाप के पश्चात् चैत्यालय में जाकर सब तरह के मंगल करने वाले पापों को क्षय करने वाले, सातिशय पुण्य के कारण एवं सुरासुरों द्वारा वंदनीय श्री जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करना चाहिए। इस णमोकार मन्त्र का जाप विभिन्न प्रकार की इष्ट सिद्धियों और अनिष्टों के विनाश के लिए अनेक प्रकार से किया जाता है।

श्रेष्ठ विजयाद्धों में भी जिन नमस्कार मंत्र का पाठन

सट्टि सयं विजयाणं, पवराणं जत्थ सासओ कालो।

तत्थ वि जिण णवकारो, एसो वि पढिज्जए णवरं॥16॥

एक सौ साठ श्रेष्ठ विजयाद्धों, में शाश्वत हो चौथा काल।

णमोकार जिन मंत्र वहाँ भी, श्रेष्ठ पढ़ा यह जाए त्रिकाल॥16॥

अन्वयार्थ :- (सट्टि सयं) एक सौ साठ (पवराणं) श्रेष्ठ (विजयाणं) विजयाद्धों में (जत्थ) जहाँ (सासओ कालो) शाश्वत् चतुर्थ काल रहता है, (तत्थ वि) वहाँ भी (एसो) यह (जिण णवकारो) जिन नमस्कार मंत्र (णवरं) विशेष रूप से (पढिज्जए) पढ़ा जाता है।

अर्थ :- एक सौ साठ श्रेष्ठ विजयाद्धों में जहाँ शाश्वत् चतुर्थ काल रहता है, वहाँ भी यह जिन नमस्कार मंत्र विशेष रूप से पढ़ा जाता है।

विशदार्थ :- सट्टि सयं की जगह सट्टि सहस्र कहीं-कहीं पाया जाता है, उससे अर्थ बदल कर निम्न भाव पैदा होता है-

भगवान ऋषभ देव महाराज के प्रथम पुत्र भरत चक्रवर्ती द्वारा छह खण्ड की वजह हेतु महामात्य बुद्धिसागर के निर्देशन में नौ दिन तक, नौ दुर्गों को जीतने के लिए णमोकार मंत्र की विशेष आराधना (विधान-पूजा-हवन) की गयी थी। विजयादशमी के दिन विजयपर्वत गजेन्द्र (हाथी) के ऊपर जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा करते हुये विजय प्रयाण किया। प्रसन्नता के प्रतीक, चन्द्रमा के समान शरद ऋतु में प्रयाण किया। 60 हजार वर्ष तक दिग्विजय काल में महामन्त्र की उपासना करके ही परिवार दुर्ग, भ्रात दुर्ग आदि को जीता था।

शाश्वत शिव सुख प्रदायक

ऐरावहिं पंचहि, पंचहि भरहेहिं सुच्चय पठंति।

जिण णवकारो एसो, सासय सिव सुक्ख दायारो॥17॥

पंच भरत ऐरावत क्षेत्रों, में भवि जीवों का है वास।

Y X Y

(32)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
शाश्वत सुख पद मंत्र जाप से, हो जाती है पूरी आस॥17॥

अन्वयार्थ :- (पंचहि ऐरावएहिं) पाँच ऐरावत (पंचहि भरहेहिं) पाँच भरत क्षेत्रों में रहने वाले भव्य जीव (सासय सिव सुक्ख) शाश्वत् शिव सुख (दायारो) देने वाले (एसो जिण णवकारो) इस जिन नमस्कार महामंत्र को (सुच्चय पठंति) निरंतर पढ़ते हैं।

अर्थ :- पाँच ऐरावत, पाँच भरत क्षेत्रों में रहने वाले भव्य जीव, शाश्वत् शिव सुख देने वाले इस जिन नमस्कार मन्त्र को निरंतर पढ़ते हैं।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् णमोकार मंत्र की महिमा बताते हुए कहते हैं-

जो थुणह हु इक्कमणो भवियो भावेण पंच नवकारं।

सो गच्छह शिव लोए, उज्जोयंतो दश दिशाओ॥

जो भव्य जीव भाव पूर्वक एकाग्रचित्त होकर इस पंच नमस्कार मंत्र की दृढ़ता पूर्वक स्तुति करता है वह दशों दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

मरण समय में पढ़ने का फल

जेण मरंतेण इमो, णवकारो पाविओ कयत्थेण।

सो देव लोए गतुं, परम पयं तं च पावेइ॥18॥

जिस कृतार्थ ने मरण समय में, महामंत्र का ध्यान किया।

देव लोक में जाकर उसने, फिर मुनि बन निर्वाण लिया॥18॥

अन्वयार्थ :- (जेण) जिस (कयत्थेण) कृतार्थ पुण्यशाली भव्य जीव ने (मरंतेण) मरते समय (इमो णवकारो) इस णमोकार महामंत्र को (पाविओ) प्राप्त किया (सो देव लोए गतुं) वह देवलोक में जाकर (च) और (तं परम पयं) वहाँ से आकर मुनि बनकर उस परम पद मोक्ष को (पावेइ) प्राप्त करता है।

अर्थ :- जिस कृतार्थ-पुण्यशाली भव्य जीव ने मरते समय इस णमोकार महामन्त्र को प्राप्त किया, वह देवलोक में जाकर और वहाँ से आकर मुनि बनकर उस परम पद मोक्ष को प्राप्त करता है। और भी शास्त्रों में कहा है-

विशदार्थ- आचार्य भगवन् कहते हैं, मरण समय जो णमोकार का स्मरण, उच्चारण करता है उसको समाधि मरण प्राप्त होता है और समाधि मरण स्वर्ग मोक्षादि के विशद फल को प्रदान करता है। गंगा देवी ने वह फल प्राप्त किया।

Y X Y

(33)

काशी के राजा की लड़की का नाम सुलोचना था। वह जैनधर्म में अत्यन्त अनुरक्त थी। वह सतत् विद्याभ्यास में लीन रहती थी। अतः उसके पिता ने अपने मित्र की कन्या के साथ उसे रख दिया। दोनों सखियाँ बड़े प्रेम के साथ विद्याभ्यास करने लगीं। सुलोचना की सखी का नाम विन्ध्यश्री था। एक दिन विन्ध्यश्री फूल तोड़ने बगीचे में गई, तब वहाँ एक साँप ने उसे डस लिया जिससे वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। सुलोचना ने उसे णमोकार मन्त्र सुनाया, जिसके प्रभाव से वह मरकर गङ्गादेवी हुई तथा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगी।

णाणतुरंगम जुत्तो, ठाइ पुरं परूं णिव्वाणं॥

तप, नियम संयम रूपी रथ पंच नमस्कार रूपी सारथी ज्ञान रूपी घोड़ों से युक्त हुआ स्पष्ट ही परम निर्वाणपुर में लाता है जो 'विशद' सुख में रमण कराने वाला है।

एसो अणाइ कालो, अणाइ जीवो अणाइ जिण धम्मो।

तइआ वि ते पढंता, एसोच्चिय जिण णमोक्कारो॥१९॥

काल अनादी रहा जीव यह, धर्म अनादी रहा महान।

भव्य जीव इस महामंत्र को, भाव सहित कई पढ़ें. प्रधान॥१९॥

अन्वयार्थ :- (एसो अणाइ कालो) यह काल अनादि है (अणाइ जीवो) अनादि समय से जीव हैं (अणाइ जिणधम्मो) अनादिकाल से जिनधर्म है (तइआ वि) तब भी भव्य जीव (एसोच्चिय जिण णमोक्कारो) इस जिन नमस्कार महामंत्र को (ते पढंता) वे निरंतर पढ़ते हैं।

अर्थ :- यह काल अनादि है, अनादि समय से जीव हैं, अनादि काल से जिन धर्म है, तब भी भव्य जीव इस जिन नमस्कार महामन्त्र को निरंतर पढ़ते हैं।

विशदार्थ :- णमोकार महामन्त्र अनादि है। प्रत्येक कल्पकाल में होने वाले तीर्थंकरों के द्वारा उसके अर्थ का और उनके गणधरों के द्वारा इसके शब्दों का निरूपण किया जाता है। पूजन-पाठ के आरम्भ में इस महामन्त्र को अनादि कह कर स्मरण किया जाता है। पूजन का प्रारम्भ ही इस महामन्त्र से होता है। पाँचों परमेष्ठियों को एक साथ नमस्कार होने से यह मन्त्र पंचपरमेष्ठी मन्त्र भी कहलाता है। पंचपरमेष्ठी अनादि काल से होने के कारण यह मन्त्र अनादि अनिधन माना जाता है। इस महामन्त्र से नमस्कार किये पात्र आदि के नदी प्रवाह की तरह अनादि हैं और इनको स्मरण करने वाला जीव भी

Y X Y

(34)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
अनादि है। वास्तविकता यह है कि णमोकार मन्त्र आत्मा का स्वरूप है, आत्मा अनादि है। अतः यह मन्त्र भी अनादि काल से गुरु परम्परा द्वारा प्रतिपादित होता चला आ रहा है। अभीष्ट सिद्धि कारक यह मन्त्र तीर्थकरों की परम्परा और गुरु परम्परा से अनादि काल से चला आ रहा है। आत्मा के समान यह अनादि और अविनश्य है। प्रत्येक काल में होने वाले तीर्थकरों के द्वारा इसका प्रवचन होता है।

नमस्कार महामंत्र एक मात्र मोक्ष प्रदायक मंत्र

जे के वि गया मोक्खं, गच्छंति य जे केइ कम्म मलमुक्का।

ते सव्वं वि य जाणसु, जिण णवकारण्य भावेण॥20॥

मुक्त कर्म से हुए भव्य कई, होंगे आगे कई विशेष।

महामंत्र का है प्रभाव यह, ऐसा कहते वीर जिनेश॥20॥

अन्वयार्थ :- (कम्म मल मुक्का जे केइ) कर्ममल से मुक्त होकर जो कोई भव्य जीव (मोक्खं गया) मोक्ष गए हैं (जे के वि गच्छंति) जो कोई भव्य जीव इस समय मोक्ष जा रहे हैं (य) या जायेंगे (ते सव्वं वि) वे सब (जिणणवकारण्यभावेण) जिन नमस्कार महामंत्र के प्रभाव से ही मोक्ष गए हैं (जाणसु) ऐसा जानो।

अर्थ :- कर्म मल से मुक्त होकर जो कोई भव्य जीव मोक्ष गए हैं, जो कोई भव्य जीव इस समय मोक्ष जा रहे हैं या आगे जायेंगे, वे सब जिन नमस्कार महामंत्र के प्रभाव से ही मोक्ष गए हैं या जायेगे, ऐसा जानो।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् पंच नमस्कार मंत्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं-

सयलु ज्जोहय भुवणं, विद्दविय सेस सत्तु संघायं।

नासिय निच्छत्त तमं, वियलिय मोहं हय तमोहं॥

अर्थ :- यह नमस्कार मंत्र समस्त भुवनों को प्रकाशित करने वाला सम्पूर्ण शत्रुओं को दूर भगाने वाला, मिथ्यात्वरूपी अंधकार का नाशक मोह को दूर करने वाला और अज्ञान के समूह का हनन करने वाला है तथा विशद मोक्ष सुख प्रदान करने वाला है अतः निरन्तर ध्यान करना चाहिए।

जिन भव्य जीव ने निर्वाण सुख को प्राप्त किया है उन्होंने पूर्व जन्म में पंच परमेष्ठी मंत्र की आराधना की थी और जो निर्वाण सुख के अभिलाषी हैं उन्हें हर क्षण पंच परमेष्ठी मंत्र की आराधना करना चाहिए।

Y X Y

Y X Y

शाश्वत स्थान मोक्ष दाता

इह एसो णवकारो, भणिओ सुर सिद्ध खयर पमुहेहिं।

जो पढई भक्तिजुत्तो, सो पावई सासयं ठाणं॥21॥

विद्याधर सुर असुरेन्द्रों से, कहा गया जो यह णमोकार।

मोक्ष प्राप्त करते वे अनुपम, जो गाते हैं बारम्बार॥21॥

अन्वयार्थ :- (इह) इस लोक में, (जो) जो (एसो णवकारो) यह णमोकार महामंत्र, (भणिओ) कहा है (सो) वह (सुर सिद्ध खयर पमुहेहिं) सुरों, सिद्धों, खेचरों के प्रमुखों द्वारा (भक्तिजुत्तो पढई) जो भक्तिपूर्वक पढ़ा जाता है उससे वे (सासयं ठाणं) शाश्वत शिव स्थान मोक्ष को (पावई) प्राप्त करते हैं।

अर्थ :- इस लोक में यह जो णमोकार महामन्त्र कहा है। वह देवेन्द्रों, असुरेन्द्रों विद्याधरणेन्द्रों के द्वारा भक्ति पूर्वक पढ़ा जाता है और वे शाश्वत स्थान मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

विशदार्थ :- राष्ट्रीय संत आचार्य भगवन् अपनी विशद देशना में कहते हैं—

सोलससु अक्खरेसु, इक्किक्कं अक्खरं जगज्जोय।

भव-सय सहस्स-महणो, जंमि ठिओ पंच नवकारो॥

लाखों जन्म मरणों को दूर करने वाले णमोकार मंत्र की शक्ति जिनमें स्थित है, उन सोलह अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर जगत् का उद्योत करने वाला है।

भयनाशक मंत्र

अडवि गिरि रण मज्झे, भयं पणासेइ चिंतिदं संतो।

रक्खइ भविय सयाइं, माया जह पुत्त डिंभाई॥22॥

महामंत्र का चिंतन भय का, गिरि वन युद्ध में करे विनाश।

सुत का ज्यों माँ रक्षा करती, महामंत्र त्यों करे विकाश॥22॥

अन्वयार्थ :- (अडवि गिरि रण मज्झे) जंगल, पर्वत और युद्ध के बीच में (संतो चिंतउं) णमोकार महामन्त्र का चिंतवन (भयं पणासेइ) भय को नष्ट करता है, (जह) जैसे (माया) माता (पुत्तडिंभाई) पुत्र स्नेह से शिशु की रक्षा करती है उसी तरह णमोकार महामंत्र (भविय सयाइं रक्खइ) भव्य जीवों की सदा रक्षा करता है।

Y X Y

(36)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अर्थ :- जंगल, पर्वत और युद्ध के बीच में णमोकार महामन्त्र का चिंतवन भय को नष्ट करता है, जैसे माता पुत्र स्नेह से शिशु की रक्षा करती है, उसी तरह णमोकार महामन्त्र भव्य जीवों की सदा रक्षा करता है।

विशदार्थ :- अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् णमोकार मंत्र की विशद विवेचना करते हुए कहते हैं कि पंच नमस्कार मंत्र को जो भी जीव स्मरण करते हैं उनके समस्त प्रकार के भय नष्ट हो जाते हैं और महान् सुख को प्राप्त करते हैं।

थंभेइ जलं जलणं, चित्तिय मित्तो वि पंच नवकारो।

अस्मारि-चोर-राउल-घोरुवसगं पणासेइ॥

अर्थात् इस णमोकार मंत्र के चिंतन मात्र से जल और अग्नि स्तंभित हो जाते हैं तथा शत्रु, महामारी, चोर और राजकुल द्वारा होने वाले घोर उपद्रव नष्ट हो जाते हैं।

अब्दुल रज्जाक मुसलमान की सत्यकथा

जखौरा (झाँसी) निवासी अब्दुल रज्जाक नामक मुसलमान की सारी विपत्तियाँ दूर हो गयी थी। उसने अपना एक पत्र जैन दर्शन वर्ष 3 अंक 5-6 पृ. 31 में प्रकाशित कराया है। वहाँ से इस पत्र को ज्यों का ज्यों उद्धृत किया जाता है। पत्र इस प्रकार है- “मैं ज्यादातर देखता या सुनता हूँ कि हमारे जैन भाई धर्म की ओर ध्यान नहीं देते और जो थोड़ा बहुत कहने सुनने को देते भी हैं, तो सामायिक और णमोकार-मन्त्र के प्रकाश से अनभिज्ञ हैं, यानि अभी तक वे इसके महत्व को नहीं समझते हैं। रात-दिन शास्त्रों का स्वाध्याय करते हुए भी अन्धकार की ओर बढ़ते जा रहे हैं। अगर उनसे कहा जाये कि भाई, सामायिक और णमोकार मन्त्र आत्मा की शान्ति पैदा करने वाला और आये हुए दुःखों को टालने वाला है, तो वे इस तरह जवाब देते हैं कि यह णमोकार मन्त्र तो हमारे यहाँ के छोटे छोटे बच्चे जानते हैं, इसको आप क्या बताते हैं। लेकिन मुझे अफसोस के साथ लिखना पड़ता है कि उन्होंने सिर्फ दिखाने की गरज से मन्त्र को रट लिया है। उस पर उनका दृढ़ विश्वास न हुआ न उसके महत्व को समझे। मैं दावे के साथ कहता हूँ कि इस मन्त्र पर श्रद्धा रखने वाला हर मुसीबत से बच सकता है क्योंकि मेरे ऊपर ये बातें बीत चुकी हैं।

मेरा नियम है कि जब मैं रात को सोता हूँ तो णमोकार मन्त्र को पढ़कर ही सोता हूँ। एक मरतबे जाड़े की रात का जिक्र है कि मेरे साथ चारपाई पर एक बड़ा साँप लेटा रहा, पर मुझे उसकी खबर नहीं। स्वप्न में जरूर ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई कह रहा है कि उठ साँप है। मैं दो चार मरतबे उठा भी और

Y X Y

Y X Y
उठकर लालटेन जलाकर नीचे ऊपर देख कर फिर लेट गया। लेकिन मन्त्र के प्रभाव से जिस ओर साँप लेटा था, उधर से एक मरतबा भी नहीं उठा। जब सुबह हुआ मैं उठा और चाहा कि बिस्तर लपेट लूँ, तो देखता हूँ कि बड़ा मोटा साँप लेटा हुआ है मैंने जो पल्ली (रजाई) खीचीं तो वह झट उठ बैठा और पल्ली के सहारे नीचे उतरकर अपने रास्ते चला गया।

दूसरे अभी दो तीन माह का जिक्र है कि जब मेरी बिरादरी वालों को मालूम हुआ कि मैं जैनमत पालने लगा हूँ तो उन्होंने एक सभा की उसमें मुझे बुलाया गया। मैं जखौरा से झाँसी जाकर सभा में शामिल हुआ। हर एक ने अपनी अपनी राय के अनुसार बहुत कुछ कहा सुना और बहुत से सवाल पैदा किये, जिनका मैं जवाब भी देता गया। बहुत से महाशयों ने यह भी कहा कि आदमी को मार डालना ठीक है, लेकिन अपने मजहब से दूसरे मजहब में न जाने पावे। इस तरह जिसके दिल में जो बात आयी, कही। अन्त में सब लोग अपने अपने घर की ओर चले गये और मैं भी अपने कमरे में चला आया। क्योंकि जब मैं अपने माता पिता के घर आता हूँ एक दूसरे कमरों में ठहरता हूँ और अपने हाथ से भोजन पकाकर खाता हूँ। उनके हाथ का पकाया हुआ भोजन नहीं खाता। जब शाम का समय हुआ— यानी सूर्यास्त होने लगा तो मैंने सामायिक करना आरम्भ किया और सामायिक से निवृत्त होकर आँखें खोली तो देखता हूँ कि एक बड़ा साँप मेरे आस पास चक्कर लगा रहा है और दरवाजे पर एक बरतन रखा हुआ मिला, जिससे मालूम हुआ कि कोई इसमें बन्द करके यहाँ छोड़ गया है। छोड़ने वाले की नीयत एक मात्र मुझे हानि पहुँचाने की थी।

लेकिन इस साँप ने मुझे कोई नुकसान नहीं पहुँचाया। मैं वहाँ से डर कर आया और लोगों से पूछा कि यह काम किसने किया है, परन्तु कोई पता न लगा। दूसरे दिन सामायिक समय जब साँप ने पास वाले पड़ौसी के बच्चे को डस लिया, तब वह रोया और कहने लगा कि हाय मैंने बुरा किया कि दूसरे के वास्ते चार आने पैसे देकर वह साँप लाया था, उसने मेरे बच्चे को काट लिया। तब मुझे पता चला, बच्चे का इलाज हुआ, मैं भी इलाज कराने में लगा रहा, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। वह बच्चा मर गया। उसके 15 दिन बाद वह आदमी भी मर गया, उसके वही एक बच्चा था। देखिए सामायिक और णमोकार मन्त्र कितना जबरदस्त है कि आगे आया हुआ काल प्रेम का बरताव करता हुआ चला गया। इस मन्त्र के ऊपर दृढ श्रद्धा होना चाहिए। इसके प्रताप से सभी कार्य सिद्ध होते हैं।”

जल अग्नि आदि उपसर्गों का नाशक

थंभेई जलं जलणं, चित्ति य मेत्तो य पंच णवकारो।

Y X Y

(38)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अरि मारि चोर राउल, घोरुवसगं पणासेइ॥23॥

पंच नमस्कार मंत्र का चिंतन, नीर अग्नि का रक्षाकार।

शेरादि शत्रु लोक में नृप, चोरादिक भय करता क्षार॥23॥

अन्वयार्थ :- (पंच णवकारो) पंच नमस्कार महामंत्र का (चिंतिय मेत्तो) चिंतवन मात्र (जलं जलणं थंभेइ) जल और अग्नि को रोक देता है, स्तम्भित कर देता है (अरिमारि) शत्रु, महामारी प्लेग (चोर राउल घोरुवसगं) चोर राजा आदि के द्वारा किए गये भयंकर उपसर्गों को (पणासेइ) नष्ट कर देता है।

अर्थ :- पंच नमस्कार महामन्त्र का चिंतवन—मात्र जल और अग्नि को रोक देता है, स्तम्भित कर देता है, शत्रु महामारी, प्लेग, चोर, राजा आदि के द्वारा किये गये भयंकर उपसर्गों को नष्ट कर देता है।

रक्षामन्त्र :- किसी भी कार्य के प्रारम्भ में इन रक्षा मन्त्रों के जप से उस कार्य में विघ्न नहीं आता है:-

ॐ णमो अरिहंताणं हां हृदयं रक्ष रक्ष हूं फट् स्वाहा।

ॐ णमो सिद्धाणं हीं सिरो रक्ष रक्ष हूं फट् स्वाहा।

ॐ णमो आइरियाणं हूं शिखा रक्ष रक्ष हूं फट् स्वाहा।

ॐ णमो उवज्झायाणं हौं एहि एहि भगवति वज्रकवचवज्जिणी रक्ष रक्ष हूं फट् स्वाहा।

ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं हः क्षिप्रं साधय साधय वज्रहस्ते शूलिनी दुष्टान् रक्ष रक्ष हूं फट् स्वाहा।

अग्नि निवारक मन्त्र :- ॐ णमो ॐ अहं अ सि आ उ सा णमो अरिहंताणं नमः।

राक्षस डाकिनी भय निवारक

ण य किंचि तस्स पह वह, डाइणि वेयाल रक्ख मारि भयं।

णवकार पभावेण, णासंति सयल दुरियाइं॥24॥

णमोकार का करें स्मरण, उसे मारि राक्षस वेताल।

डाकिन के भय होय कभी न, नश जाते हैं वे हर हाल॥24॥

अन्वयार्थ :- (तस्स पहवह) जो नमस्कार महामंत्र का स्मरण करता है, उस पथिक को (डाइणि वेयाल रक्ख मारि भयं) डाकिनी, वेताल, राक्षस, मारि के भय (ण किंचि) कुछ भी नहीं होते हैं (य) और (णवकार पभावेण) णमोकार महामंत्र के प्रभाव से (सयल दुरियाइं णासंति)

Y X Y

Y X Y
सम्पूर्ण पाप समूह नष्ट हो जाते हैं।

अर्थ :- जो नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करता है, उस पथिक को डाकनी, वेताल, राक्षस मारि के भय कुछ भी नहीं होते हैं और णमोकार महामन्त्र के प्रभाव से सम्पूर्ण पाप समूह नष्ट हो जाता है।

विशदार्थ :- इस महामन्त्र के एक एक पद का जाप करने में नवग्रहों की बाधा शान्त होती है। णमोकारादि मन्त्र संग्रह में बताया गया है कि 'ॐ णमो सिद्धाणं' के दस हजार जाप से सूर्य ग्रह, मंगल ग्रह एवं केतु ग्रह की पीड़ा, 'ॐ णमो अरिहंताणं' के दस हजार जाप से चन्द्र ग्रह, शुक्र ग्रह एवं राहू की पीड़ा, 'ॐ उवज्झायाणं' के दस हजार जाप से बुध ग्रह की पीड़ा, 'ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं' के दस हजार जाप से शनि ग्रह की पीड़ा दूर होती है एवं 'ॐ णमो आइरियाणं' के दस हजार जाप से गुरु ग्रह की पीड़ा दूर होती है।

आठों प्रकार के भय नष्ट करने वाला

वाहि जल जलण तक्कर, हरि करि संगाम विसहर भयाइं।

णासंति तक्खणेण, जिण णवकारप्प भावेण॥25॥

चोर अग्नि जल व्याधि शेर गज, युद्ध सर्प का भी जो होय।

णमोकार के शुभ प्रभाव से, पाप समूह पूर्णतः खोय॥25॥

अन्वयार्थ :- (वाहि) व्याधि (जल) जल (जलण) अग्नि (तक्कर हरि करि) चोर सिंह हाथी (संगाम विसहर भयाइं) युद्ध व सर्प से उत्पन्न भय (जिण णवकारप्प भावेण) जिन नमस्कार महामन्त्र के प्रभाव से (तक्खणेण) तत्काल ही (णासंति) नष्ट हो जाते हैं।

अर्थ :- व्याधि, जल, अग्नि, चोर, सिंह, हाथी, युद्ध व सर्प से उत्पन्न भय जिन नमस्कार महामन्त्र के प्रभाव से तत्काल ही नष्ट हो जाते हैं।

विशदार्थ :- प्रज्ञा श्रमण आचार्य भगवन् अपनी पीयूष देशना में णमोकार मंत्र की महिमा का विशद वर्णन करते हुए कहते हैं कि व्याधि, रोग, जल, अग्नि, चोर, सिंह, हाथी, युद्ध, सर्प इत्यादि अनेक प्रकार के दुर्धर से दुर्धर भय भी इस मंत्र के प्रभाव से क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है—

वेयाल रुद्ध दानव, नरिंद कुस्माण्डि रैवईणं च।

सव्वेसिं सत्ताणं, पुरिसो आपराजिओ होई॥

अर्थात् इस मंत्र का स्मरण करने से पुरुष वेताल, रुद्र, राक्षस, राजा, कुष्माण्डी, रेवती तथा

Y X Y

(40)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
सम्पूर्ण प्राणियों से अपराजित होता है यानी कहीं पर किसी भी परिस्थिति में णमोकार मंत्र जीवों के लिए सदा सहायी रक्षक होता है इसीलिए इस मंत्र के अनेक पर्यायवाची नाम कहे हैं जो सार्थक हैं।

अनादि निधन मंत्र— अर्थात् इस मंत्र के आराध्य पंच परमेष्ठी अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु अनादिकाल से भारत भू पर हैं और आगे भी होते रहेंगे अतः अनादि निधन मंत्र कहा जाता है।

अपराजित मंत्र— अर्थात् यह मंत्र सर्व मंत्रों में श्रेष्ठ है सर्वोपरि है इस मंत्र को कोई भी पराजित नहीं कर सका है और ना ही कर सकता है अतः अपराजित मंत्र है।

मंत्रराज— अर्थात् यह मंत्र सभी लोगों के हृदय में बसने वाला है सभी के दिल में राज करता है। 84 लाख मंत्रों का राजा है संसार के सर्व मंत्र इसी मंत्र से उद्भूत है अतः मंत्रराज कहा जाता है।

नमस्कार मंत्र— अर्थात् इस मंत्र में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है जो ॐ के अन्दर समाहित हैं यथा— अ-अरहन्त + अ-अशरीर+आ-आचार्य+उ-उपाध्याय+म-मुनि = सभी को मिलाने पर ॐ की रचना होती है तो वही ॐ के अन्दर तीनों लोक समाहित है। अ-अधोलोक+उ-ऊर्ध्वलोक+म-मध्यलोक। इससे सिद्ध है कि ॐ के अन्दर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाया है जो नमस्कार मंत्र में है। इत्यादि मंत्र का समावेश होने से पूज्यता को प्राप्त है तथा णमोकार मंत्र का पाठ-जाप ध्यान-स्मरण करने से समस्त आपदा विपदाएँ समाप्त होती ही हैं यहाँ तक कि अष्ट कर्म नाश कर मोक्ष प्राप्ति के लिए साधक पुण्य का वर्धन करने वाला है जो जीव विशद भाव से स्मरण करते हैं वे जीव मोक्ष पथ के राही बनकर शिव पद प्राप्त करते हैं।

अष्ट प्रकार के कर्मों का नाशक

हिङ्ग गुहाये णवकार, केसरी जाण संढिओ णिच्चं

कम्मट्ट तु गंठिओ, वड्ढव्वयं ताण पण्णट्ठं॥26॥

जिसकी हृदय गुफा में स्थित, णमोकार रूपी यह शेर।

अष्ट कर्म रूपी ग्रन्थी जो, हो जाती है उनके ढेर॥26॥

अन्वयार्थ :- (जाण) जिसके (हिङ्ग गुहाये) हृदयरूपी गुफा में (णवकार केसरी) णमोकार मंत्र रूपी सिंह (णिच्चं) हमेशा (संढिओ) विराजमान रहता है (ताण) उसके (कम्मट्ट गंठिओ) अष्टकर्मरूपी ग्रन्थी की (तु) वह (वड्ढव्वयं) वृद्धि का होना (पण्णट्ठं) नष्ट हो जाता है अर्थात् रुक जाता है।

अर्थ :- जिसके हृदय रूपी गुफा में णमोकार मन्त्र रूपी सिंह हमेशा विराजमान रहता है, उसके अष्टकर्म रूपी ग्रन्थि की वृद्धि का होना नष्ट हो जाता है अर्थात् रुक जाता है।

Y X Y

Y X Y

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् णमोकार मंत्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं गुफा एक सुरक्षा स्थल है, जंगल में कोई शिकारी शिकार करने जाते हैं तब सिंह, बाघ, चीता आदि जानवर जान बचाने के लिए गुफा में छिप जाते हैं। अगर कदाचित् सिंह रूका हो तो क्षत्रिय जीवनहार है अर्थात् जिसके हृदय रूपी गुफा में णमोकार मंत्र रूपी सिंह निरंतर विराजमान रहता है उसके अष्ट कर्मों की वृद्धि होना नष्ट हो जाता है अर्थात् कर्मों की गति रूक जाती है। कर्मों की गति जैसे ही रूक जाती है वह जीव मुक्ति रानीको शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

निर्वाण पथ का श्रेष्ठ सारथी

तव संजम णियम रहो, पंच णमोकार सारहि णिउत्तो।

णाण तुरंगम जुत्तो, णेइ फुडं परम णिव्वाणं॥27॥

संयम नियम सुतप से विरहित, महामंत्र जो सारथीवान।

रहित ज्ञान रूपी अश्वों से, पहुँचा देता है निर्वाण॥27॥

अन्वयार्थ :- जो भव्य जीव (तव संजम णियम रहो) तप, संयम, नियम से रहित, किन्तु (पंच णमोकार सारहि णिउत्तो) पंच नमस्कार मंत्र रूपी सारथी से नियुक्त (णाण तुरंगं जुत्तो) ज्ञान रूपी घोड़ों से रहित होने पर भी (फुडं) स्पष्ट रूप से (परम णिव्वाणं) परम निर्वाण ॥मोक्ष॥ को (णेइ) ले जाता है।

अर्थ :- जो भव्य जीव तप, संयम, नियम से रहित, किन्तु पंच नमस्कार मंत्र रूपी सारथी से नियुक्त ज्ञान रूपी घोड़ों से रहित होने पर भी स्पष्ट रूप से परम निर्वाण को ले जाता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् णमोकार मंत्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो भी जीव शक्तिहीन है, न तो पूजन, उपवास, व्रत, नियम, संयम का पालन करते हैं और न ही दान, त्याग की जिनकी भावना होती है न ही श्रावक के कर्तव्यों का पालन करते हैं किन्तु निरंतर ही णमोकार मंत्र की आराधना और जाप करते हैं वे अपार पुण्य का संचय करके मुक्तिपुरी के वासी बनते हैं। जिस प्रकार रथ में एक सारथी होता है जो रथ के घोड़ों को इधर उधर जाने से रोकता है और गंतव्य स्थान पर पहुँचा देता है उसी प्रकार से यह मंत्र भी निर्वाण सुख को जाने के लिए किन्तु ज्ञान रूपी घोड़ों से रहित होने पर भी परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

जिन शासन का सार

जिण सासणस्स सारो, चउदस पुव्वाण जो समुद्धारो।

जस्स मणे णवकारो, संसारो तस्स किं कुणइ॥28॥

Y X Y

(42)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
चौदह पूर्वों का निचोड़ जिन, शासन का णमोकार है सार।

णमोकार मन में है जिसके, क्या कर सके उसका संसार॥28॥

अन्वयार्थ :- (जो) जो नमस्कार मंत्र (जिण सासणस्स सारो) जिनशासन का सार है (चउदस पुव्वाण समुद्धारो) चौदह पूर्वों का निचोड़ है, (जस्स मणे) जिस भव्य जीव के मन में (णवकारो) णमोकार मन्त्र है, (तस्स) उसका (संसारो किं कुणइ) संसार क्या कर सकता है? अर्थात् उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है।

अर्थ :- जो नमस्कार मन्त्र जिन शासन का सार है, चौदह पूर्वों का निचोड़ है, जिस भव्य जीव के मन में णमोकार मन्त्र है उसका संसार क्या कर सकता है? अर्थात् उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है

विशदार्थ :- प्राचीन और आधुनिक अनेक उदाहरण इस प्रकार के विद्यमान हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि णमोकार मन्त्र की आराधना से सभी प्रकार के अनिष्ट दूर हो जाते हैं और सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इस मन्त्र के जाप से पुत्रार्थी पुत्र, धनार्थी धन और कीर्तिार्थी कीर्ति प्राप्त करते हैं। यह समस्त प्रकार की ग्रह बाधाओं को तथा भूत-पिशाचादि व्यन्तरो की पीड़ाओं को दूर करने वाला है। णमोकार महामन्त्र से ही सभी मन्त्रों की उत्पत्ति हुई है तथा उन मन्त्रों के जाप द्वारा सभी अभीष्ट कार्यों को सिद्ध किया जा सकता है।

‘तिलोयपण्णति’ के प्रथम अधिकार में पंच परमेष्ठी के नमस्कार को समस्त विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाला, ज्ञानावर्णादि द्रव्य कर्म, राग-द्वेषादि भाव कर्म एवं शरीरादि नो कर्मों को नाश करने वाला बताया है। समस्त पाप का नाशक होने के कारण यह इष्ट साधक और अनिष्ट विनाशक है। क्योंकि तीव्र पापोदय से ही कार्य में विघ्न उत्पन्न होते हैं तथा कार्य सिद्ध नहीं होता है। अतः पाप विनाशक मंगल वाक्य होने से ही यह इष्टसाधक है।

॥ इमि णमोकार प्रकरण॥

बुझी लालटेन

कोई अंधा आदमी रात को अपने मित्र के यहाँ से घर लौटने लगा तो मित्र ने जलती लालटेन उसके हाथ में थमा दी।

अंधा हँसा और बोला – “यह मेरे किस काम आयेगी?”

मित्र ने कहा “लालटेन देखकर लोग तुम्हारे लिये रास्ता छोड़ देंगे इसलिये इसे ले जाओ।”

अन्धा लालटेन लेकर चल पड़ा और रास्ते में जब एक आदमी उससे टकरा गया तो वह अन्धा झल्लाया – “आँख मूँद कर चल रहे हो क्या, दिखती नहीं मेरे हाथ में लालटेन?”

Y X Y

Y X Y

इस पर उस आदमी ने उत्तर दिया – “पर भाई लालटेन तो बुझी हुई है।”

सच है, लालटेन जल रही है या नहीं, इसे देखने के लिये भी आँख चाहिये।

सबसे बड़ा भगवान

अहो आत्मन्! लोग भगवान की बात करते हैं किन्तु भगवान को आज तक किसी ने नहीं देखा है। लोग मंदिर में मूर्ति स्थापित करके उनका नहवन कराते हैं पूजन करते हैं और खुश हो लेते हैं कि हमने पुण्य कमाया है जिसका फल हमको प्राप्त होगा और लोग अनेक लोगों को उपदेश देते हैं। भगवान का दर्शन करो कुछ पूजा भक्ति करो लेकिन जो अत्यन्त निर्धन है जिनके पास खाने को रोटी नहीं पहनने को वस्त्र नहीं रहने को झोपड़ी नहीं उनसे धर्म पूजा की बात करें जिनके बच्चे भूख से छटपटा रहे हैं चीख चिल्ला रहे हैं, पत्नी बच्चों की पीड़ा से रुदन कर रही है उनके लिए मंदिर के भगवान नजर नहीं आएंगे। उन दुखी दीन दरिद्री लोगों को तो जो उस समय सहारा देता है उनके लिए तो सबसे बड़ा भगवान वही होता है। क्योंकि सुनते हैं भगवान दीन-दुखी जीवों की फरियाद सुनता है और भूखे को भोजन प्यासे को नीर की व्यवस्था देता है। हो सकता वह सहायता देने वाला भगवान का ही दूत अथवा प्रतिनिधि बनकर आया हो। अतः ओ भव्य प्राणियों दीन-हीन की सहायता देकर सहयोग देकर भगवान का दर्जा प्राप्त कर विशद जीवन को मंगलमय बनाएं।

धम्मपयरण – धर्म प्रकरण

धर्म का स्वरूप

धम्मो वत्थु-सहावो, खमादि-भावो य दस विहो

ध म म ।

रयणतयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥प्रवचनसार॥

अर्थ:- वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमादिभावों को धर्म कहते हैं। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

विशदार्थ :- यहाँ आचार्य महाराज ने धर्म के विविध स्वरूपों को बताया है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है और यह भलीभाँति ज्ञात है कि वस्तु की अपेक्षा देखा जाए तो जीव भी वस्तु है। पुद्गल भी वस्तु है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल प्रत्येक भी वस्तु है। सभी का अपना-अपना स्वभाव ही उनका धर्म है। अधर्म द्रव्य का भी कोई न कोई धर्म है, तो आज हम कौन से धर्म का पालन करें, कि जिसके द्वारा कम से कम दस दिन के लिए हमारा कल्याण हो। तब आचार्य कहते हैं कि स्वभाव तो हमेशा धर्म रहेगा ही लेकिन इस स्वभाव की प्राप्ति के लिए जो किया जाने वाला धर्म है वह –

Y X Y

Y X Y
 'खमादिभावो या दसविहो धम्मो' – क्षमादि भाव रूप दस प्रकार कर धर्म है।

यह दस प्रकार का धर्म रत्नत्रय के धारी मुनिराज ही पालन करते हैं। इसलिये गाथा में आगे कहा गया कि 'रयणत्तयं च धम्मोः' रत्नत्रय भी धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप आत्मा की जो परिणति है उसका नाम भी धर्म है। लेकिन इतना कहकर ही बात पूरी नहीं की। इस रत्नत्रय की सुरक्षा किस तरह, किस माध्यम से होगी यह भी बताना आवश्यक है। इसलिये कहा कि 'जीवाणं रक्खणं धम्मो' जीवों की रक्षा करना धर्म है। जीव का परम धर्म यही अहिंसा है, जो उसे अपने आत्म स्वभाव-रूप धर्म तक पहुँचायेगा। इस अहिंसा धर्म के बिना कोई भी जीवात्मा अपने आत्म स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता।

उस धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए तार्किक चूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र कहते हैं- “जो संसार के दुःखों से बचाकर इस जीव को उत्तम सुख प्राप्त करावे, वह धर्म है।” वैदिक दार्शनिक कहते हैं- “जिससे सर्वांगीण उदय-समृद्धि तथा मुक्ति की प्राप्ति हो वह धर्म है।” श्री विवेकानन्द मनुष्य में विद्यमान “देवत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं।” राधाकृष्णन् 'सत्य तथा न्याय की उपलब्धि एवं हिंसा के परित्याग को' धर्म मानते हैं। इस प्रकार जीवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को प्रतिष्ठित करने वाले धर्म के विषय में और भी विद्वानों के अनुभव पढ़ने में आते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने धर्म पर व्यापक दृष्टि डालते हुए लिखा है-

'वत्थु सहावो धम्मो' – आत्मा की स्वाभाविक अवस्था धर्म है। इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्वभाव-प्रकृति का नाम धर्म है। विभाव, विकृति का नाम अधर्म है, इस कसौटी पर लोगों द्वारा आक्षेप किये गये। हिंसा, दम्भ, विषय-तृष्णा आदि धर्म नामधारी पदार्थ को कसौटी पर कसते हैं तो वे पूर्णतया खोटे सिद्ध होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि जघन्य वृत्तियों के विकास से आत्मा की स्वाभाविक निर्मलता और पवित्रता का विनाश होता है। इनके द्वारा आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है जो आत्मा के आनन्दोपवन को स्वाहा कर देती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि की अभिवृद्धि एवं अभिव्यक्ति से आत्मा अपनी स्वाभाविकता के समीप पहुँचते हुए स्वयं धर्ममय बन जाता है। हिंसा आदि को जीवनोपयोगी अस्त्र मानकर यह पूछा जा सकता है कि अहिंसा, अपरिग्रह आदि को अथवा उनके साधनों को धर्म संज्ञा प्रदान करने का क्या कारण है?

राग-द्वेष-मोह आदि को यदि धर्म माना जाय तो उनका आत्मा में सदा सद्भाव पाया जाना चाहिये किन्तु अनुभव उन क्रोधादिकों के अस्थायित्व विकृतपने को ही बताता है। अग्नि के निमित्त से जल में होने वाली उष्णता जल का स्वाभाविक परिणामन नहीं कहा जा सकता, उसे नैमित्तिक विकार

Y X Y

Y X Y
 कहेंगे। अग्नि का सम्पर्क दूर होने पर वही पानी अपनी स्वाभाविक शीतलता को प्राप्त हो जाता है। शीतलता के लिये जैसे अन्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती और वह सदा पायी जाती है। उसी प्रकार अहिंसा, मृदुता, सरलता आदि गुण युक्त अवस्थाएँ आत्मा में स्थायी रूप में पाई जा सकती हैं। इस स्वाभाविक अवस्था के लिए बाह्य अनात्म पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती, क्रोधादि विभावों अथवा विकारों की बात दूसरी है। इन विकारों को जाग्रत तथा उत्तेजित करने के लिए बाह्य सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। बाह्य साधनों के अभाव में क्रोधादि विकारों का विलय हो जाता है। कोई व्यक्ति चाहने पर भी निरन्तर क्रोधी नहीं रह सकता। कुछ काल के पश्चात् शान्त भाव का आविर्भाव हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा के स्वभाव में ऐसी बात नहीं है। यह आत्मा सदा क्षमा, विनय, सरलता, ब्रह्मचर्य, संयम आदि गुणों से भूषित रह सकता है। इसलिये क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष-मोह आदि को अथवा उनके कारणभूत साधनों को अधर्म कहना होगा। आत्मा के क्षमा, अपरिग्रह, आर्जव आदि भावों तथा उनके साधनों को धर्म मानना होगा, क्योंकि वे आत्मा के निजी भाव हैं।

सात्विक आहार-विहार, सत्पुरुषों की संगति, वीरोपासना आदि कार्यों से आत्मीय पवित्रता का प्रादुर्भाव होता है, इसलिये उन्हें भी उपचार से धर्म कहा जाता है। यहाँ धर्म के साधनों में साध्य रूप धर्म का उपचार किया जाता है। उस आत्म धर्म की अथवा उस आत्म निर्मलता की उपलब्धि के लिए आत्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द के विषय में अखण्ड आत्मश्रद्धा, अनात्म पदार्थों से आत्मज्योति का विश्लेषण करने वाला आत्म-बोध तथा अपने स्वभाविक आनन्द स्वरूप में तल्लीनता से आत्मनिष्ठा की हमें नितान्त आवश्यकता है। इन तीन गुणों के पूर्ण विकसित होने पर यह आत्मा सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त हो जाती है। इस अवस्था को ही निर्वाण या मुक्ति कहते हैं। महापंडित आशाधर जी ने बड़े मार्मिक शब्दों में धर्म के स्वरूप को चित्रित किया है- “आत्मा की विशद मनोवृत्ति-सत्य श्रद्धा, सत्य ज्ञान तथा सत्याचरण रूप परिणति धर्म है।”

धर्म के नाम से रुष्ट होने वाले व्यक्तियों को इस आत्म निर्मलता रूप पुण्य तथा परिपूर्ण जीवन की ओर व्यक्ति तथा समाज को पहुँचाने वाले धर्म के विरुद्ध आवाज उठाने का कोई कारण नहीं रहता। ऐसा धर्म जिस आत्मा में, जिस जाति में, जिस देश में अवतीर्ण होता है, वहाँ आनन्द का सुधांशु अपनी अमृतमय किरणों से समस्त संतापों को दूर कर अत्यन्त उज्ज्वल तथा आह्लादप्रद अवस्था को उत्पन्न करता है। ऐसे धर्म की अवस्थिति में शत्रुता नहीं रहती। स्वतन्त्रता स्नेह, समृद्धि, शान्ति सभी आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिवैदिक आदि सर्वतोमुखी अभिवृद्धि से वह व्यक्ति अथवा राष्ट्र पवित्र होता है। जब इस पुराण्य भू-भारत में धर्ममय जीवन वाली उज्ज्वल विभूतियों का सर्वत्र विहार होता

Y X Y

(46)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
था, तब यही देश सर्वांगीण विकास और अभ्युत्थान का केन्द्र स्थल बना हुआ था और मनु के शब्दों में
'इस भारत की गुणगाथा देवगण भी गाया करते थे तथा यहाँ जन्म-धारण करने की कामना करते थे।'
आज के भौतिकवाद के आतंक से भ्रांत भारत में पुनः समीचीन धर्म के संस्थापन के लिए सत्पुरुषों को
सर्व प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए। तब ही सुखी मानव-समाज सच्ची शांति और सुख को पा सकेगा।
कहा भी है- धर्मः सर्व सुखा करो हित करो, धर्मं बुधः चिन्वते।

उत्तम क्षमा

कोहेण जो ण तप्पदि, सुर णर तिरिहं कीरमाणे वि।

उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होइ॥29॥

सुर नर पशुओं द्वारा कोई, घोर भयंकर हो उपसर्ग।

फिर भी क्रोध करे ना उनके, क्षमा धर्म दायक अपवर्ग29॥

अन्वयार्थ :- (सुर णर तिरिहं) देव, मनुष्य और तिर्यचों के द्वारा (रउद्दे उवसग्गे) भयंकर
उपसर्ग के (कीरमाणे वि) किये जाने पर भी (जो कोहेण ण तप्पति) जो क्रोध के द्वारा संतप्त नहीं
होता अर्थात् क्रोध नहीं करता। (तस्स णिम्मला खमा होई) उसके उत्तम क्षमा धर्म होता है।

अर्थ :- देव, मनुष्य और तिर्यज्चों के द्वारा भयंकर उपसर्ग किये जाने पर भी जो क्रोध के द्वारा
संतप्त नहीं होता अर्थात् क्रोध नहीं करता, उसके उत्तम क्षमा धर्म होता है।

विशदार्थ:- जो स्वेच्छा से चला कर सहे जाते हैं वे परीषह कहे जाते हैं और जो अचानक आ
पड़ने पर समता भाव पूर्वक सहे, जाएँ, वे उपसर्ग हैं। जो घोर क्षुधा आदि बाईस परीषह एवं चार प्रकार
के उपसर्गों के आने पर भी क्रोध अग्नि से नहीं तपता, वह उत्तम क्षमा है।

उपसर्ग के चार भेद हैं- देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यज्चकृत और अचेतनकृत। जो मुनि इन चारों ही
प्रकार के भयानक उपसर्गों से विचलित न होकर अपने मन में भी क्रोध का भाव नहीं लाता है, वही मुनि
उत्तम क्षमा का धारी होता है। शास्त्रों में ऐसे क्षमा शील मुनियों के अनेक कथानक पाए जाते हैं।

श्री दत्त मुनि व्यंतर देव के द्वारा किये गये उपसर्ग को जीतकर वीतराग निर्विकल्प ध्यान के द्वारा
चार घातिया कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान को प्राप्त हुए और फिर मुक्त हो गये। विद्युतचर मुनि
चामुण्डा नाम की व्यन्तरी के द्वारा किये गये घोर उपसर्गों को सहन कर वीतराग निर्विकल्प समाधि के
द्वारा सर्वार्थ सिद्धि में गये। राजा श्रेणिक की रानी चिलाती पुत्र व्यन्तरी के द्वारा किये गये उपसर्ग सहन
कर उत्कृष्ट ध्यान के बल से मर कर सर्वार्थ सिद्धि में गया। स्वामी कार्तिकेय मुनि ने क्रौंच राजा के द्वारा

Y X Y

Y X Y
 किये गये उपसर्गों को साम्य भाव से सहन कर देवलोक प्राप्त किया। गुरुदत्त मुनि कपिल ब्राह्मण के द्वारा किये गये घोर उपसर्गों को क्षमा भाव से सहन कर शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों का क्षय कर के मोक्ष गये। दण्डक राजा ने पाँच सौ मुनियों को कोल्हू में पेल दिया था, वे सभी समाधि मरण करके मुक्त हुए। गजकुमार मुनि ने पांसुल सेठ के द्वारा किये गये घोर उपसर्गों को सहन कर मुक्ति प्राप्त की। चाणक्य आदि पाँच सौ मुनि मंत्री द्वारा किये गये उपसर्गों को सहन कर शुक्ल ध्यान के द्वारा मुक्त हुए।

सुकुमाल मुनि श्रृंगाली के द्वारा खाये जाने पर शुभ ध्यान से मर कर देव हुए। सुकौशल मुनि सिंहनी के द्वारा, जो पूर्व भव में उनकी माता थी, खाये जाने पर शान्त भावों से प्राण त्याग कर सर्वार्थ सिद्धि (मोक्ष) गये। श्री वणिक मुनि जल का उपसर्ग सह कर मुक्त हुए। बत्तीस श्रेष्ठिपुत्र नदी में बहने पर शुभ ध्यान से मर कर स्वर्ग में देव हुए।

इस प्रकार घोर उपसर्ग आने पर भी जो क्षमा भाव से विचलित नहीं होते हैं, वे ही उत्तम क्षमा भाव के धारी होते हैं। आशय यह है कि मुनिजन शरीर को बनाए रखने के लिए आहार की खोज में गृहस्थों के घर जाते हैं, उस समय दुष्ट मनुष्य उन्हें देखकर हँसते हैं, गाली बकते हैं, अपमान करते हैं, किन्तु क्रोध उत्पन्न होने के इन सभी कारणों के होते हुए भी वे मन में जरा भी कलुषता का भाव नहीं आने देते, इसी का नाम उत्तम क्षमा है। ऐसे समय में मुनियों को विचार करना चाहिए, कि उत्तम क्षमा धर्म, मोक्ष की ओर ले जाने वाला प्रथम उपादान है तथा क्रोध, नरक-निगोद आदि में ले जाता है; उत्तम क्षमा, व्रत व शील की रक्षा करता है, इस लोक तथा परलोक में दुःखों से बचाता है। उत्तम क्षमाशील मनुष्य का सब लोग सम्मान करते हैं। इसके विपरीत क्रोध, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाशक है। ऐसा सोचकर मुनि को क्षमा धारण करना चाहिए।

यदि कोई मनुष्य अपशब्द कहता है तो उस समय यह विचारना चाहिए कि यह मनुष्य मुझमें जो दोष बतलाता है, वे दोष मुझमें हैं या नहीं? यदि हैं तो वह झूठ क्या कहता है? यदि नहीं है तो वह अज्ञान में ऐसा कहता है, ऐसा सोचकर उसे क्षमा कर देना चाहिए। यदि कोई पीठ पीछे गाली देता है, मूर्ख लोग तो मुँह पर ही गाली बकते हैं, अतः वह क्षमा के योग्य है। यदि कोई मुँह पर ही गाली या अपशब्द कहे तो विचारना चाहिए कि चलो यह गाली ही बक रह जाता है, मारता तो नहीं है। मूर्ख लोग तो मार भी बैठते हैं, अतः वे क्षम्य हैं। यदि कोई जान लेने लगे तो विचारें, यह मेरी जान ही तो लेता है, धर्म तो भ्रष्ट नहीं करता। फिर यह सब मेरे पूर्वकृत कर्मों का ही फल है, दूसरा मनुष्य तो केवल इसमें निमित्त मात्र है। अतः इसको सहना ही चाहिए।

यदि कोई अपनी कमजोरी के कारण क्षमा का भाव धारण करता है और हृदय में बदला लेने की

Y X Y

(48)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
भावना रखता है तो वह क्षमा नहीं है।

उत्तम मार्दव

उत्तम णाण पहाणो, उत्तमतवयरण करण सीलो वि।

अप्पाणं जो हीयदि, मद्दवरयणं हवे तस्स॥30॥

उत्तम ज्ञान तपस्या पावे, फिर भी निज को माने हीन।

मान हीन मार्दव का धारी, होवे पावन ज्ञान प्रवीण॥30॥

अन्वयार्थ :- (उत्तम णाण पहाणो) उत्तम ज्ञान में प्रधान (उत्तम तवयरण करण सीलो वि) उत्तम तपस्या के स्वभाव वाले तपस्वी होते हुए भी (जो अप्पाणं) जो अपने आप को (हीयदि) हीन व्यक्त करते हैं अर्थात् घमण्ड नहीं करते हैं (तस्स) उन मुनि के (मद्दवरयणं हवे) उत्तम मार्दव धर्म रूपी रत्न होता है।

अर्थ :- उत्तम ज्ञान में प्रधान उत्तम तपस्या के स्वभाव वाले तपस्वी होते हुए भी जो अपने आप को हीन व्यक्त करते हैं अर्थात् घमण्ड नहीं करते हैं, उन मुनि के उत्तम मार्दव धर्म होता है।

विशदार्थ :- जो मुनि सकल शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी मद नहीं करता है कि मैं सकल शास्त्रों का ज्ञाता हूँ, कवि हूँ, वादी हूँ, गमक हूँ, चतुर हूँ, मेरे समान दूसरा विद्वान या कवि नहीं है, प्रत्युत यह विचारता है कि मुझसे बड़े अनेक ज्ञानी हैं; क्योंकि श्रुत ज्ञानियों से अवधि ज्ञानी बड़े होते हैं, उनसे बड़े मनः पर्यय ज्ञानी होते हैं और उनसे बड़े सर्वोत्कृष्ट केवल ज्ञानी होते हैं। मैं तो अल्पज्ञ हूँ, इनके सामने मेरा ज्ञान कुछ भी नहीं है, ऐसा विचार करने वाला मुनि मार्दव धर्म का धारी होता है और जो मुनि अनशन आदि बारह प्रकार के तपों को और तेरह प्रकार के चारित्र को पालता हुआ भी अपने तपश्चरण का गर्व नहीं करता है, वह मुनि मार्दव धर्म का धारी होता है।

सारांश यह है कि उत्तम जाति, उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम ज्ञान, उत्कृष्ट ऐश्वर्य और शक्ति से युक्त होते हुए भी मद न करना उत्तम मार्दव है। मान के दूर होने का नाम मार्दव है। जो शिष्य विनयी होता है उस पर गुरु की विशेष कृपा रहती है। साधु जन भी उसकी प्रशंसा करते हैं, अतः वह सम्यग्ज्ञान का पात्र होता है और सम्यग्ज्ञान का पात्र होने से उसे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत मान से मलिन-चित्त में व्रत, शील वगैरह नहीं ठहर सकते। साधु जन घमण्ड से दूर रहते हैं क्योंकि अहंकार सब विपत्तियों का मूल है।

घमण्ड के कारण रावण लक्ष्मण के द्वारा मारा जाकर अधोगति का पात्र हुआ। वह सीता के लिए

Y X Y

Y X Y
 राम को देना चाहता था, मगर अभिमान के कारण ऐसा सोचता था कि यदि ऐसे सीता को वापस करेगा तो लोग कहेंगे कि रावण राम से डर गया। अतः मिथ्या अभिमान में फँस कर विचारता था कि राम को जीत कर सीता लौटा देंगे किन्तु दर्प के कारण दब कर चक्रवर्त्तन से स्त्री हरण के दोष से मारा गया। इतिहास साक्षी है जिसने भी अहंकार किया उसका निश्चित रूप से पतन हुआ, चाहे वह रावण हो, कौरव हो या कंस हो।

मान करन ते मर गये, रहा न जिनका वंश।

तीनन को तुम देख लो, रावण कौरव कंस॥

गंगा और गंधवती नदियों के संगम पर जहर कौशिक नामक तपसी की कुटी पर वशिष्ठ नामक तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा था। उसने गुणभद्र चारण मुनि से उपदेश सुनकर दीक्षा ले ली। इसके बाद मासोपवास सहित आतापन योग तप से उन्हें सात व्यन्तर ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। राजा उग्रसेन ने मुनिराज को आहार देने के विचार से नगर में घोषणा करवा दी कि इन मुनिराज को मेरे अलावा और कोई आहार न दे।

पारणा के दिन मुनिराज नगर में आहार हेतु आये, मगर उस दिन नगर में अग्नि का उपद्रव हो जाने के कारण राजा पड़गाहने खड़ा नहीं हो सका। महाराज वापिस चले गये। फिर मासोपवास के बाद पारणा के दिन नगर में आये पर उस दिन हाथी का उपद्रव हो गया, जिससे राजा फिर पड़गाहने को खड़ा नहीं हो पाया। महाराज पुनः बिना आहार किये वापिस चले गये। फिर से मासोपवास किया पारणा के दिन नगर में आये, तब राजा जरासंध के पत्र से राजा का चित्त व्यग्र था, इसलिये फिर से मुनिराज का पड़गाहन नहीं हो सका। मुनिराज जब लौटकर वापिस जा रहे थे तो उन्होंने लोगों को कहते सुना कि राजा स्वयं मुनिराज को आहार नहीं दे रहा और दूसरे देने वालों को मना कर दिया है। लोगों के ऐसे वचन सुनकर मुनिराज को राजा पर क्रोध आ गया और उन्होंने यह निदान बंध कर लिया कि इस राजा का पुत्र होकर राजा का निग्रह कर मैं राज करूँ।

इस प्रकार राजा उग्रसेन की रानी पद्मावती से वह पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ जिसकी क्रूर दृष्टि देखकर उन्होंने संदूक में रखकर उसे यमुना नदी में बहा दिया जो कौशाम्बीपुर में मन्दोदरी नामक कलाली को प्राप्त हो गया और कंस नाम रखा गया।

बड़ा होने पर इसके उत्पाद से दुःखित होकर मन्दोदरी ने उसे घर से निकाल दिया। तब वह शौर्यपुर के राजा वसुदेव का सेवक बन गया। राजा जरासंध प्रतिनारायण के पत्र आने पर उसने पोदनपुर के राजा सिंहस्थ को बाँधकर जरासंध को सौंप दिया।

Y X Y

(50)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

जरासंध ने खुश होकर उसका विवाह अपनी पुत्री जीवद्यशा से कर दिया और उसे आधा राज्य दे दिया। इस प्रकार कंस ने मथुरा का राज्य प्राप्त कर राजा उग्रसेन और माता पद्मावती को बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया। वह बड़ा अभिमानी था और उसने श्रीकृष्ण को मरवाने के लिये अनेक प्रयास किये, पर अन्ततः श्रीकृष्ण द्वारा अपमानित होना पड़ा और प्राण गँवाये।

यह लोक बहुत विशाल है। समस्त लोक के आगे यह दो हजार मील की पृथ्वी जिसमें हम अपनी कीर्ति बढ़ाने की इच्छा रखते हैं, इसकी माप इतनी भी नहीं है जितनी माप बड़े समुद्र में एक बूँद की है और यदि किसी की थोड़ी बहुत कीर्ति होती भी है तो वह कितने दिन रहती है। कौन जानता है कि अतीत काल में 24 तीर्थकरों का नाम क्या है? उनका नाम थोड़े ग्रंथों में लिखा है सो पढ़कर सुना दें किन्तु उससे पहले के चौबीस तीर्थकरों का नाम क्या है? कुछ पता नहीं सभी यश, चंद ही वर्षों में मिट जाता है। अतः यश की वाँछा करना व्यर्थ है। अहंकार करने से सदा पतन होता है मुक्त वही हो सकता है जिसने इस मानकषाय को छोड़कर मार्दव धर्म को जीवन में धारण किया। जो विनयवान होता है उसी के अंदर मार्दव धर्म आ सकता है। जिनके अन्दर मार्दव धर्म होता है उन्हें कभी भी नाम की चाह नहीं होती है। अतः मार्दव धर्म धारण कर विशद शिव पथ के राही बनें।

उत्तम आर्जव

जो चिंतइ ण वंकं, ण कुणदि वंके ण जंपए वंकं।

ण वि गोवदि णियदोसं, अज्जव धम्मो हवे तस्स॥31॥

कुटिल वचन चिन्तन से विरहित, कुटिल नहीं जो करता काम।

नहीं छिपाए दोष स्वयं के, पाए आर्जव धर्म प्रधान॥31॥

अन्वयार्थ :- (जो चिंतइ ण वंकं) जो मुनि कुटिल चिंतवन नहीं करता (ण कुणदि वंके) न कुटिल कार्य करता है (ण जंपए वंकं) न कुटिल बोल ही बोलता है (वि ण णियदोसं गोवदि) और न ही अपने दोषों को छिपाता है (तस्स अज्जव धम्मो हवे) उस (मुनि) के आर्जव धर्म होता है।

अर्थ :- जो मुनि कुटिल चिंतवन नहीं करता, न कुटिल कार्य करता है, न कुटिल बोल ही बोलता है और न ही अपने दोषों को छिपाता है, उन मुनि के आर्जव धर्म होता है।

विशदार्थ :- जिसके मन में मायाचार नहीं है, जिसके कर्म में मायाचार नहीं है और जिसकी बातों में मायाचार नहीं है अर्थात् जो मन से विचारता है वही वचन से कहता है और जो वचन से कहता है वही काय से करता है, ऐसा व्यक्ति आर्जव धर्म का धारी होता है। मन, वचन और काय की सरलता का नाम आर्जव है। जो अपने अपराध को नहीं छिपाता, व्रतों में जो अतिचार लगते हैं, उनके लिए

Y X Y

Y X Y
 अपनी निन्दा करता है और प्रायश्चित के द्वारा उनकी शुद्धि करता है, वह ही आर्जव धर्म का धारी है। वास्तव में सरलता ही गुणों की खान है जो मायावी होता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता तथा ऐसा व्यक्ति मरकर तिर्यञ्च गति में या स्त्री पर्याय में जन्म लेता है।

निष्कपट व्यवहार के समान इस विश्व में कोई भी प्रशंसनीय नहीं है और मायाचार के समान निन्दनीय नहीं है। कपटी का व्रत पालन, दान, पूजा, तीर्थाटन आदि करना निष्फल है। जो दूसरों को मायाजाल में फँसाने का प्रयत्न करता है, वह स्वयं उसमें फँस जाता है। जो दूसरों के लिये गड़ढा खोदता है, वह स्वयं उस गड़ढे में गिरता है। दूसरों को धोखा देने के लिये यदि हमने किसी व्यूह की रचना की है, तो निश्चित ही हम मकड़ी की तरह स्वयं उसमें फँसकर रह जायेंगे। और भोले के तो भगवान हुआ करते हैं? जो सरल होता है, उसके जीवन में भले ही कोई न हो, पर भगवान उसका साथ हमेशा देता है। कहा भी है— ‘सरल स्वभावी होय ताके घर बहु सम्पदा’

एक गाँव के ठाकुर साहब का दूसरे गाँव के एक व्यापारी से लेन-देन रहा करता था। एक दिन व्यापारी के मन में आया उधारी बहुत हो गई है, ठाकुर साहब के यहाँ से पैसा ले आये तो अच्छा रहेगा और व्यापारी अपने गाँव से पैदल चलकर ठाकुर साहब के गाँव आया। रात ज्यादा हो जाने से व्यापारी ने सोचा सुबह-सुबह जल्दी में निकल जायेंगे। अभी रात ज्यादा हो गई है अतः यहीं आराम कर लेता हूँ। वह सारे पैसे रखकर के सो गया। ठाकुर साहब के मन में पाप आया और उसने सोचा कि व्यापारी सुबह-सुबह मुँहन्दरे अपने गाँव जायेगा क्यों न इसे रास्ते में ही खत्म करवा दिया जाये। ठाकुर साहब ने अपने नौकर के लिये समझा दिया कि देख मुँहन्दरे ये व्यापारी सारे पैसे लेकर जायेगा, रास्ते में छिपकर बैठना है। जैसे ही वह रास्ते से निकले सीधा निशाना साध देना और सारे पैसे वापस लेकर आना। ध्यान रखना, देरी नहीं होना चाहिये और नौकर रात में जाकर झाड़ियों में छुपकर बैठ गया। इसी रास्ते से व्यापारी के लिये निकलना था। व्यापारी सुबह उठा, भगवान का नाम लिया, पैसों का थैला उठाया और आगे बढ़ गया। पता नहीं व्यापारी के मन में आज सुबह कुछ अलग भाव ही आया। व्यापारी जब भी गाँव जाता था उस एक ही रास्ते से जाया करता था। पर आज जैसे ही वह हवेली के बाहर निकला, उसे अन्तः प्रेरणा सी हुई। उसे ऐसा लगा कि कोई अदृश्य शक्ति उसके साथ काम कर रही है और वही उसकी रक्षा कर रही थी। व्यापारी के मन में भाव आया कि बहुत दिन हो गये इसी रास्ते से आते-जाते चलो आज रास्ता बदल कर चलते हैं। और वह व्यापारी उस रास्ते को बदलकर दूसरे रास्ते से आगे बढ़ गया।

नौकर निशाना साधे हुये बैठा था, प्रतीक्षा कर रहा था, पर अभी तक कोई निकला ही नहीं। यहाँ

Y X Y

(52)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
ठाकुर साहब के लिये बैचेनी बढ़ रही थी कि अभी तक नौकर नहीं आया, आखिर बात क्या है? ठाकुर साहब का इकलौता जवान बेटा था। ठाकुर साहब ने उस बेटे से कहा कि जरा देख, नौकर अभी तक नहीं आया, आ रहा कि नहीं क्या देरी है? जरा पता लगाओ। और वह बेटा सुबह-सुबह झुरमुटे में नौकर को देखने के लिये गया। पहचान में कोई भी नहीं आ रहा था। और जैसे ही उसके आने की पगचाप सुनाई दी, नौकर सावधान हो गया और जैसे ही बेटा आगे बढ़ा कि उस नौकर ने समझा कि व्यापारी को आज आने में देरी हो गई है, कोई बात नहीं, उसने आव देखा न ताव और बन्दूक का घोड़ा चटका दिया। उठकर देखा तो बेटा धराशायी हो गया था। और व्यापारी सही सलामत अपने घर पहुँच गया। ठाकुर साहब को जब मालुम हुआ तो छाती पीटकर रोने के अलावा उसके पास बचा ही क्या था सच ही कहा है दूसरों के बारे में सोचा गया अहित स्वयं का ही अहित करता है। माया कषाय से इस जीव का अनर्थ ही होता है, ज्ञानार्णव ग्रंथ में कहा- “इहा कीर्ति समादत्तेः, मृतो यात्येव दुर्गतिम्। माया प्रपंच दोषेण, जनोप्यं जिह्मिताशयः॥” जिसका कुटिल अभिप्राय है हृदय छोटा है, उसको इस लोक में भी बदनामी है अपयश है और मरकर दुर्गतियों में जायेगा। लोग वैभव संपदा के लिये अनेक प्रकार से मायाचारी करते हैं। नाम ही कपट रख दिया है इस माया में कुछ भी सार नहीं है। अतः मायाचारी को छोड़कर उत्तम आर्जव धर्म धारण करना चाहिए।

उत्तम शौच

सम संतोष जलेणं, जो धोवदि तिव्व लोह मल पुंजं।

भोयण गिद्धि विहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं॥32॥

सम संतोष रूप जल द्वारा, लोभ रूप मल धोय प्रधान।

भोजन की गृद्धी से विरहित, उत्तम शौच धर्मधर मान॥32॥

अन्वयार्थ :- (जो सम संतोष जलेणं) जो समभाव और संतोष रूपी जल से (तिव्व लोह मल पुंजं धोवदि) तीव्र लोभ रूपी मल के समूह को धोता है (भोयण गिद्धि विहीणो) तथा भोजन की गृद्धता रहित होता है (तस्स विमलं सउच्चं हवे) उस (मुनि) के उत्तम शौच धर्म होता है।

अर्थ :- जो सम भाव और संतोष रूपी जल से तीव्र लोभ रूपी जल के समूह को धोता है तथा भोजन की गृद्धता रहित होता है, उस मुनि के उत्तम शौच धर्म होता है।

विशदार्थ :- तृण, रत्न, सोना, शत्रु, मित्र आदि इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं में राग और द्वेष न होने को साम्य भाव कहते हैं। जो कर्म के उदय से प्राप्त वस्तुओं में ही संतुष्ट रहता है, उसको संतोष कहते हैं।

Y X Y

Y X Y
 पदार्थों की अभिलाषा रूप तृष्णा और प्राप्त पदार्थों की लिप्सा रूप लोभ ये सब मानसिक मल हैं, गन्दगी हैं; इस मल को जो समता और सन्तोष रूपी जल से धो डालता है, अर्थात् समता भाव और सन्तोष को धारण कर, तृष्णा और लोभ को अपने अन्दर से निकाल फेंकता है, वह शौच धर्म का पालक है।

कंचन और कामिनी का त्याग तो मुनि पहले ही कर देते हैं, शरीर की स्थिति के लिये केवल भोजन ग्रहण करते हैं। अतः भोजन की तीव्र लालसा नहीं होना भी शौच धर्म का लक्षण है। असल में लोभ कषाय के त्याग का नाम शौच है। लोभ के चार प्रकार हैं— जीवन का लोभ, निरोगता का लोभ, इन्द्रिय सुख का लोभ और उपभोग का लोभ। इनमें से भी प्रत्येक के दो भेद हैं— अपने जीवन का लोभ, अपने पुत्रादिक के जीवन का लोभ; अपनी निरोगता का लोभ, अपने पुत्रादिक की निरोगता का लोभ; अपनी इन्द्रियों का लोभ, परायी इन्द्रियों का लोभ, अपने उपभोग का लोभ एवं पर के उपभोग का लोभ, इनके त्याग का नाम ही शौच धर्म है।

शौच धर्म से युक्त मनुष्य का इस लोक में सम्मान होता है, उसमें दानादि अनेक गुण पाए जाते हैं। इसके विपरीत लोभी मनुष्य के हृदय में कोई भी सद्गुण नहीं ठहरता है। अतः लोभ का त्याग कर शौच धर्म का पालन करना चाहिए।

तृष्णा और संतोष

एक सेठ था; अतुल सम्पत्ति थी उसके पास। जगह-जगह उसकी हवेलियाँ, कोठियाँ और बाग बगीचे आदि थे। कारोबार भी खूब फैला हुआ था। सेठ ने विवाह भी कई कर रखे थे और हर एक पत्नी के लिये अलग-अलग महल बने हुये थे, जिनमें ऐश और आराम की सामग्री मौजूद थी। बुढ़ापा न आये तथा उसकी भोग भोगने की शक्ति क्षीण न हो इसके लिये सेठ ने अनेक वैद्य अपने पास रखे थे; जिनकी सलाह से वह भाँति-भाँति रस, धातु, भस्म आदि कीमती दवाओं का सेवन करता रहता था। लेकिन इस तरह बुढ़ापा टले तो कितने दिन टले। भोगों से तृप्ति तो कभी होती नहीं। आग में जितना घी डालो उतनी ही वह प्रज्ज्वलित होगी।

इतना धन होने पर भी सेठ का मन नहीं भरा था। सेठ तो यही सोचता रहता कि अगली पीढ़ी का क्या होगा? और उससे अगली पीढ़ी का क्या होगा? सोचते सोचते वह सात पीढ़ी का हिसाब लगा लेता और जब हिसाब के अनुसार सेठ को यह लगता कि अमुक पीढ़ी में जाकर तो यह सारा धन खत्म हो जायेगा, तब वह उदास हो जाता। जिस नगर में सेठ रहता था, वहाँ पर एक बार ज्ञानी महात्मा का आगमन हुआ। सेठ ने उनकी प्रशंसा सुनी तो सोचा, एक दिन उनके पास चलना चाहिए। देखें! महाराज

Y X Y

(54)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
की कृपा हो जाये और वह अटूट सम्पत्ति दे देवें तो मन को चैन पड़े, नहीं तो आज-कल मन बहुत उद्विग्न रहने लगा। यह सोचकर सेठ महात्मा जी के पास पहुँचा और प्रणाम करके बैठ गया तथा अपनी इच्छा कह सुनाई।

महाराज ने कहा, “जैसा तुम चाहते हो, वैसा ही हो जायेगा, लेकिन तुम्हें एक काम करना होगा।”

सेठ ने पूछा, “महाराज जी बताइये, वह काम क्या है?”

ज्ञानी महाराज ने कहा, “तुम्हारे घर के नजदीक ही एक टूटी सी झोंपडी है। उसमें सास-बहू दो कुलीन और भगवद्भक्त स्त्रियाँ रहती हैं। तुम स्वयं प्रातःकाल एक थाली में दोनों के खाने जितना आटा दाल ले जाकर उन्हें दे आना। ऐसा करने से तुम जो अटूट संपत्ति चाहते हो, वह तुम्हें मिल जायेगी। उस सम्पत्ति का अंत कभी नहीं होगा।”

सेठ तो निहाल हो गया और अपने घर चला गया। रात को सेठ को नींद नहीं आई। सारी रात बैठा रहा और दिन होने का इंतजार करता रहा। बड़ी बेसब्री के बाद दिन की रोशनी दिखाई पड़ी। दिन निकला और सेठ शौचादि से निवृत्त होकर जल्दी से जल्दी स्नान-आदि करके आटे दाल की थाली लिये हुए ब्राह्मणी के घर जा पहुँचा।

सेठ ने वहाँ जाकर देखा कि सास तो पूजा में बैठी है और बहू लीपना पोतना आदि कार्य कर रही है। झोंपडी थी तो छोटी सी ही और टूटी हुई भी, लेकिन इतनी स्वच्छ कि देवता रमा करें। सेठ यह सब देखकर स्तम्भित रह गया कि कितनी शांति है यहाँ! कितना मनोहर और सुरम्य दृश्य है यह!

सेठ ने कहा, “आप लोगों के लिये एक थाली आटा दाल, घी-चीनी आदि लेकर आया हूँ, इसे स्वीकार कीजिए।”

सास तो कुछ नहीं बोली, क्योंकि वह एकाग्र मन से पूजा और जाप में लगी हुई थी, किन्तु बहू ने कहा, “सेठ जी, आज के खाने भर का हमारे पास है, इसलिये हम आपका यह सामान स्वीकार नहीं कर सकते।”

सेठ ने कहा, “तो इससे क्या हुआ! कल काम आ जायेगा।”

बहू ने कहा, “हम लोग कल के लिये कभी परिग्रह संग्रह नहीं करते हैं। भगवान पर विश्वास रखते हैं, वह अपने आप ही नित्य खाने को भेज देता है। हर प्राणी को उसकी जरूरत के अनुसार मिल ही जाता है ‘कीड़ी को कण और हाथी का मण’।”

Y X Y

Y X Y

सुनकर सेठ दिग्मूढ़ हो गया। उसने मन में विचार किया कि अरे! एक तो ये लोग हैं, जो कल के खाने की चिंता नहीं करते और एक मैं हूँ जिसके पास इतनी बड़ी सम्पत्ति है, फिर भी तृप्ति नहीं! सदा ही 'हाय घोड़ो, दिन थोड़ो' लगा रहता है।

सेठ की आँखे खुली की खुली रह गईं। सचमुच ही उसे तो अब सच्चा धन, सच्ची अटूट संपत्ति प्राप्त हो गई थी— यानी संतोष धन।

शौच धर्म से—

सन्तोषाऽमृत-तृप्तानां, यत्सुखं शान्तचेतसाम्।

न च तद् धनलुब्धाना-मितश्चेतश्च धावताम्॥

अर्थ – जो व्यक्ति संतोष-रूपी अमृत से तृप्त है, मन से शांत रहता है, उसको जो सुख होता है, वह धन की प्राप्ति के लिए इधर उधर दौड़-धूप करने से प्राप्त नहीं हो सकता।

सन्तोषस्त्रिषु कर्तव्यः, स्वदारे भोजने धने।

त्रिषु चैव न कर्तव्यो, ऽध्ययने तपदानयोः।

अर्थ – अपनी पत्नी, भोजन और धन इन तीनों के प्रति मनुष्य को संतोष रखना चाहिए, परन्तु विद्या अध्ययन, तप और दान के प्रति कभी संतोष नहीं करना चाहिए।

उत्तम सत्य

जिण वयणमेव भासदि, तं पालेदुं असक्कमाणो वि।

ववहारेण वि अलियं, जो ण वददि सच्चवाई सो॥33॥

जैनागम में कथित चरित का, पालन करने में असमर्थ।

यही सत्य व्यवहार में भी ना, झूठ बोलते साधु समर्थ॥33॥

अन्वयार्थ :- (तं पालेदुं असक्कमाणो वि) जैन शास्त्रों में कहे हुए आचार/चारित्र को पालने में असमर्थ होते हुए भी जो (जिण वयणमेव भासदि) जिन वचन का ही कथन करता है, (ववहारेण वि अलियं ण वददि) व्यवहार में भी झूठ नहीं बोलता है (सो सच्चवाई) वह सत्यवादी (साधु) है।

अर्थ :- जैन शास्त्रों में कहे हुए आचार/चारित्र को पालने में असमर्थ होते हुए भी जो जिन वचन का ही कथन करता है, व्यवहार में भी झूठ नहीं बोलता है, वह सत्यवादी साधु है।

विशदार्थ :- जैन सिद्धान्त में आचार आदि का जैसा स्वरूप कहा है, वैसा ही कहना चाहिए।

Y X Y

(56)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
लोक निन्दा के भय से अन्यथा कथन नहीं करना तथा लोक व्यवहार में भी सदा ठीक-ठीक प्रवृत्ति करना सत्य धर्म है। सत्य वचन के दस भेद हैं- नाम सत्य, रूप सत्य, स्थापना सत्य, प्रतीत्य सत्य, संवृत्ति सत्य, संयोजना सत्य, जनपद सत्य, देश सत्य, भाव सत्य और समय सत्य।

सचेतन अथवा अचेतन वस्तु में नाम के अनुरूप गुणों के न होने पर भी लोक व्यवहार के लिये जो इच्छानुसार नाम की प्रवृत्ति की जाती है, उसे नाम सत्य कहते हैं। जैसे कि- मनुष्य अपने बच्चों का इन्द्र आदि नाम रख लेते हैं। मूल वस्तु के न होते हुए भी वैसा रूप होने से जो व्यवहार किया जाता है, उसे रूप सत्य कहते हैं। जैसे- पुरुष के चित्र में पुरुष के चैतन्य आदि धर्मों के न होने पर भी पुरुष की तरह उसका रूप होने से चित्र को पुरुष कहते हैं। मूल वस्तु के न होते हुए भी प्रयोजन वश जो किसी वस्तु में किसी की स्थापना की जाती है, उसे स्थापना सत्य कहते हैं जैसे:- पाषाण की मूर्ति में चन्द्र प्रभु की स्थापना करना आदि। एक दूसरे के अपेक्षा से जो वचन कहा जाता है, वह प्रतीत्य सत्य है जैसे:- अमुक मनुष्य लम्बा है। जो वचन लोक में प्रचलित व्यवहार के आश्रय से कहा जाता है, वह संवृत्ति सत्य है जैसे:- पृथ्वी आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होने पर भी कमल को पंकज (कीचड़ से पैदा होने वाला) कहा जाता है। रंगोली वगैरह से जो माण्डना वगैरह की स्थापना की जाती है उसमें जो यह कहा जाता है कि यह अमुक द्वीप है यह अमुक जिनालय है इसे संयोजना सत्य कहते हैं। जिस देश की जो भाषा है वैसा ही कहना जनपद सत्य है। ग्राम-नगरादि का कथन करने वाले वचन को देश सत्य कहते हैं जैसे: जिसके चारों ओर बाढ़ हो वह गाँव है। छद्मस्थ का ज्ञान वस्तु का यथार्थ दर्शन करने में असमर्थ होता है, फिर भी श्रावक अपना मुनि धर्म पालने के लिए जो प्रासुक और अप्रासुक का व्यवहार करते हैं, वह भाव सत्य है। जो वस्तु आगम का विषय है, उसे आगम के अनुसार ही कहना समय सत्य है जैसे:- पत्थ और सागर वगैरह के प्रमाण का कथन करना।

इन सत्य वचनों को बोलने वाले मनुष्य में ही गुणों का वास रहता है। जो मनुष्य झूठ बोलता है, उस पर बन्धु बान्धव और मित्र गण भी विश्वास नहीं करते हैं। इसी लोक में उनकी जीभ कटवा दी जाती है, राजा उनका सर्वस्व छीन लेते हैं। अतः सत्य वचन ही बोलना चाहिए।

प्रिय वचन

एक राजा, एक आँख वाला था। किन्तु वह बड़ा विवेकी एवं बुद्धिमान था उसने अपने राज्य के तीन श्रेष्ठ चित्रकारों को बुलाकर कहा कि- 'तुम एक-एक सुन्दर चित्र तैयार करो, जो चित्र मुझे पसंद आयेगा, उस चित्रकार को भारी पुरस्कार दिया जायेगा।' चित्रकारों ने अपने अपने चित्र बनाकर तैयार कर दिये। निर्धारित समय पर राजा अपने मंत्रियों के साथ चित्र देखने पहुँचा।

Y X Y

पहले वाले चित्रकार ने राजा को दोनों आँख वाला चित्र में दिखाया। दूसरे चित्रकार ने राजा को

Y X Y

(58)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
प्रकार संयम भी चलता है और आगे बढ़ जाता है। हम महाव्रती न बन सकें तो कम से कम देशव्रत अवश्य धारण करना चाहिये।

राजा श्रेणिक भगवान महावीर स्वामी के समोशरण में पहुँचे। वहाँ उन्होंने दिव्यध्वनि में सुना कि संसार में सभी जगह ठसाठस जीव विद्यमान हैं। जल, थल, नभ में जीव जन्तु भरे पड़े हैं अतः जीव अपने कृत्यों से जीवों का घात कर पापोपार्जन करता है, जैसे ही राजा ने सुना चिंतन मग्न हो गये कि सभी जगह जीव हैं, हमारे कृत्यों से पापोपार्जन नियम से होता है तो किस प्रकार पापों से मुक्त हुआ जाये यह उपाय पूछने पर प्रभु ने उत्तर दिया।

कथं चरे कथं चिट्ठे, कथमासे कथम् सये।

कथं भासेज्ज भुंजेज्ज, जधं पावं ण वज्झइं।।

हे प्रभु! तीन लोक में जीव भरे हैं। हम पाप से, असंयम से मुक्त होने कैसे चलें? कैसे बैठें? कैसे बोलें? कैसे सोयें? कैसे खायें? ताकि पाप कर्म का बन्ध न हो। भगवान के उत्तर को आचार्य बट्टकर स्वामी ने मूलाचार ग्रन्थ में लिखा है—

जदं चरे जदं चिट्ठे, जदमासे जदं सये।

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज, एवं पावं ण वज्झइं।।

भगवान महावीर स्वामी ने कहा— तीन लोक में जीव भरे हैं। उनकी सुरक्षा के भाव अगर तुम्हारे मन में हैं तो यत्न पूर्वक चलो, यत्न पूर्वक बैठो, यत्न पूर्वक उठो, यत्न पूर्वक सोओ, यत्न पूर्वक खाओ, यत्न पूर्वक बोलो जिससे पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा। हम लोग होश पूर्वक जीने लगें तो पचास प्रतिशत पाप अपने आप समाप्त हो जायें। इस अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य शरीर का सदुपयोग संयम धारण करने में ही है।

संयम दो प्रकार का होता है—

इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम। स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण और मन पर नियन्त्रण करना इन्द्रिय संयम है तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय के जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है। पाँचों इन्द्रियों के विषय आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले धर्म से परान्मुख कर दुर्गतियों में ले जाने वाले हैं। सारा संसार इन्द्रियों का दास बना हुआ है। बड़े बड़े बलवान् योद्धा और विचारशील विद्वान भी इन्द्रियों के गुलाम बने हुये हैं। वे अपना अधिकतर समय इन्द्रियों को तृप्त करने में लगाया करते हैं पर ध्यान रखना ये पंचेन्द्रिय के भोग संसार रूपी रोग को बढ़ाने वाले जगत् के शत्रु हैं।

Y X Y

एक ब्रह्मगुलाल नामक कलाकार था। वह स्वांग बनाने का खेल खेलता था, कभी वह राम का, कभी कृष्ण का, कभी सीता का, कभी रुक्मणी आदि का मन मोहने वाला, लोगों को चकित करने वाला रूप धारण करता था। जवानी का जोश और यह रूप देखकर लोग चकित हो जाते। एक दिन राजा अपने महल में सभी को जोड़कर बैठे थे। उस सभा में यह चर्चा चली कि शेर की भाँति गरजने वाला शक्ति सम्पन्न शेर का रूप कौन धारण कर सकता है? ब्रह्मगुलाल ने कहा कि वह स्वांग बनाना कठिन नहीं है लेकिन किसी को चोट न लग जाये इससे मैं डरता हूँ। राजा ने एक खून माफ करने की इजाजत दे दी। थोड़े ही दिनों में ब्रह्मगुलाल शेर का रूप धारण करके गरजता हुआ आया। वहीं पर आँगन में एक बकरी का बच्चा बँधा था। राजकुमार ने कहा— अरे शेर! आँगन में कौन खड़ा है? तू उसे भी नहीं मार सकता तो वन में क्या करता होगा? तू तो शेर नहीं कोई गीदड़ है। तेरे जन्म दाता को धिक्कार है। राजकुमार के इन वचनों को सुनकर शेर के मन में क्रोध आ गया। गुस्से में पूँछ हिलाने लगा और आँखों में खून खौलने लगा। उसने पंजा उठाकर राजकुमार पर छलाँग लगा दी। आस पास के लोग भय के कारण भाग गये। पंजा लगते ही राजकुमार गिर कर मर गया।

राजा विचार करने लगा, जो कर्म में लिखा था, वह हो गया। संसार तो वृक्ष की छाया के समान है। 'अब तुम जैन मुनि बनकर कोई हितकर उपदेश दो।' ब्रह्मगुलाल घर पर पहुँचे, सबको बताया कि पापरूपी कर्मों के रोगों को काटने का अब समय आ गया है। उसने मित्र मथुरालाल से भी कहा अब हम महाव्रत धारण कर मुनिराज का वेश धरेंगे। सबने सोचा कि भोगों का त्याग कठिन है। उसने मन में बारह-भावना भायी और प्रातः जिन प्रतिमा के सामने मुनिव्रत ग्रहण कर लिया अर्थात् हाथ से केशलोंच करके कमण्डलु और पिच्छि लेकर जहाँ सभा बैठी थी, वहाँ पहुँच गया। राजा उस वेष को देखकर हैरान रह गये और सिर झुकाकर बोले— हे मुनिराज! हमें ऐसी शिक्षा दें जिससे हम शोक रहित हो जायें।

ब्रह्मगुलाल जी कहते हैं कि लाख यत्न करने पर भी कोई सुख व दुःख नहीं दे सकता। मन की शंका को छोड़ कर अपने हित के लिये परिश्रम करो। राजा क्रोध मत करो। इस संसार का रूप अनोखा है। यह संसार दुःखों का सागर है। यहाँ सुख नहीं, इसलिये मन की दुविधा को छोड़कर इस संसार के क्षणभंगुर रूप को विचारो। हमारे हाथ से राजकुमार मर गया, अज्ञानता वश घोर पाप हो गया। अब तन की ममता को छोड़कर आत्मिक त्याग करेंगे। मुनिराज के रूप को देखकर राजा ने बैर त्याग दिया और प्रकट रूप में कहा— तुम्हें जो चीज अच्छी लगे, माँग लो। मुनिराज बोले— हमारा मन तो वैराग्य भावना में लीन हो गया है। हे राजन्! हमें क्षमा कीजिये। हम वनवासी हैं, हमने इच्छाओं का दमन कर दिया है। राजा बोले— तुमने तो यह सिर्फ स्वांग किया था, जैसे अन्य—अन्य रूप धारण करते थे। ब्रह्मगुलाल

Y X Y

(60)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
बोला- राजन्! यह मुनिवेष अन्तिम वेश होता है। इसे ग्रहण करने के बाद छोड़ा नहीं जाता।

इधर सारे नगर में चर्चा फैल जाती है कि ब्रह्मगुलाल मुनि हो गये। आगे-आगे मुनिवेष में ब्रह्मगुलाल और पीछे पीछे नगर वासी, माता-पिता और पत्नी शोकरत होकर चलने लगे। वन में पहुँचकर मुनिराज मोह का नाश करने के लिए तपस्या करने लगे। वन में परिवार जनों ने अपनी अपनी तरह से ब्रह्मगुलाल मुनि को समझाने का प्रयत्न किया। बेटा घर चलो, तुम वन में क्यों बैठे हो? तुमने तो हँसी-हँसी में स्वांग रचाया था। अब मन में क्या सोचकर मुनिवेष धारण किया? इस प्रकार माँ व्याकुल होकर बोली। मुनिराज बोले- किसके घर जाऊँ, जब यह शरीर ही मेरा नहीं है, तब घर कैसे मेरा हो सकता है?

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।

घर सम्पत्ति पर प्रगट हैं, पर हैं परिजन लोय॥

माँ बोली- मेरे जिगर के टुकड़े! मैंने तुझे दुःख झेलकर इसलिये नहीं पाला था कि तू मुझ दुखियारी को छोड़कर वैराग्य धारण करेगा-

मुनिराज ने कहा- हम अनेक बार मिले हैं, अनेक बार बिछुड़े हैं। न कोई किसी की माता है, न कोई किसी का बेटा है। यह संसार एक अनोखा स्वांग है। माता बोली- मैं इस दिन को नहीं जानती थी। क्या तू इस भरी जवानी में जोग लेकर कुल का नाम लेने वाली कोई निशानी नहीं छोड़ेगा?

मुनिराज बोले - जिस वैभव तथा पुद्गल को तुम अपना समझती हो, वही एक दिन पराया हो जायेगा माटी बनकर माटी में मिल जायेगा।

पत्नी कहती है- हे प्रियतम! तुम मुझे मझधार में छोड़कर मत जाओ! मैं किसके सहारे जीवन व्यतीत करूँगी? अब मेरे दिन किस प्रकार कटेंगे?

मुनिराज बोले- यह नारी पर्याय बुरी है, दूसरों के पराधीन है, तुम धर्म की शरण में जाओ। जिससे यह स्त्रीलिंग समाप्त हो जाये।

उत्तम तप

इह परलोय सुहाणं, णिरविकखो जो करेदि समभावो।

विविहं काय कलेसं, तव धम्मो णिम्मलो तस्स॥35॥

उभय लोक सुख की वांछा से, विरहित होते समतावान।

विविध प्रकार काय कृष करते, वे मुनि पावें सुतप महान॥35॥

Y X Y

अन्वयार्थ :- (जो इह परलोय सुहाणं) जो इस लोक परलोक सम्बन्धित सुखों की

अर्थ :- जो इस लोक-परलोक सम्बन्धी सुखों की अपेक्षा न करके समता भाव धारण करता है, विविध प्रकार से काय क्लेश/काय कृष करता है, उस मुनि के निर्मल तप धर्म होता है।

इच्छाओं के समाप्त होते ही कषाय किस पर नखरे करेगी इच्छायें बंधन हैं जो जीवों को बाँध रखती हैं कोई किसी से बाँधा हुआ नहीं है केवल इच्छाओं ने बाँध रखा है। सुकौशल कुमार विरक्त हो गये लोगों ने खूब समझाया कि अभी शादी को कुछ वर्ष हुए है पत्नि को गर्भ है बच्चे को राज्यतिलक करके फिर तप कर लेना। सुकौशल पिंड छुड़ाने को कहते हैं मैं अभी राजतिलक कर देता हूँ और गर्भस्थ शिशु का राजतिलक करके दीक्षा धारण कर ली। सुकौशल को बंधन में बंधने की इच्छा नहीं थी तो उनके कोई बंधन नहीं था गृहस्थी में क्या बंधन है? अरे! नहीं गृहस्थी में बंधन कहाँ है, केवल इच्छाओं के कारण ही फँसे हुये हैं हमें तो बाल बच्चों की फिक्र है, घर द्वार कुटुंब परिवार की फिक्र है इसी से हम फँसे हुये हैं। हम तो स्वतन्त्र हैं, परन्तु बाल बच्चों में मोह होने से ही फँस गये हैं। क्या उम्मीद है कि हम इन बन्धनों से निकल पायेंगे? जो व्यवस्था हम सोचे हुये हैं क्या इनको पूरा करके विश्राम कर लेंगे? देखो, मेंढकों को कोई तौल सकता है क्या? नहीं। अरे! वे तो उछल जावेंगे। कोई इधर उछलेगा तो कोई उधर उछलेगा। वे तौले नहीं जा सकते। इसी प्रकार क्या अपने परिग्रह में रहकर अपनी व्यवस्था बना सकते हो? कितनी ही व्यवस्था बन जायेगी तो फिर कोई नई बात खड़ी हो जायेगी। क्योंकि बात बाहर में खड़ी नहीं होती, अन्दर में खड़ी होती है, सो अन्दर उपादान अयोग्य है ही। इसलिये सदा इच्छायें बनी ही रहती हैं। इच्छा ही अशान्ति का कारण है। जिसके अन्दर इच्छाएँ हैं, वे सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर

Y X Y

Y X Y
सकते।

कथा- एक समय की बात है। एक राजा का बेटा बहुत बीमार था। उसने अनेक डॉक्टर-वैद्यों को दिखाया लेकिन आराम नहीं हुआ। राजा ने ज्योतिषियों से उपचार पूछा तो उन्होंने बताया कि यदि इसे किसी सुखी व्यक्ति के कपड़े पहना दिये जाये तो यह ठीक हो जायेगा। राजा सोचने लगा कि मेरे से बड़े राजा बहुत सुखी हैं चलों उनसे कपड़े लाकर पहना दूँ। वह उन बड़े राजा के पास जाकर बोला- सुखी व्यक्ति के कपड़े पहना देने से मेरा लड़का ठीक हो जायेगा अतः आप अपने कपड़े दे दीजिये। तो वह राजा बोला- मैं तो तुमसे भी ज्यादा दुःखी हूँ। इसलिये तुम मुझसे भी बड़े राजा के पास जाओ। वह और बड़े राजा के पास गया। वहाँ भी उसे वही जवाब मिला। वह हताश होकर लौट रहा था तो मार्ग में उसे कोई ज्ञानी पुरुष मिला। उसने राजा से हताश होने का कारण पूछा राजा ने सब वृत्तान्त कह सुनाया और प्रार्थना की कि आप किसी सुखी व्यक्ति का पता बता दीजिये। ज्ञानी पुरुष ने कहा हे राजन्! जंगल में एक दिगम्बर मुनि बैठे ध्यान लगा रहे हैं उनके समान इस संसार में कोई सुखी नहीं है। राजा ने जंगल में जाकर देखा कि एक दिगम्बर मुनि ध्यान में लीन है उनके मुख पर तेज चमक रहा है, उन्हें देखते ही राजा प्रसन्न हो गया और अपने लड़के को ले आया और महाराज को नमस्कार करके बोला महाराज आप बहुत सुखी हैं। मुनिराज बोले हाँ मैं बहुत सुखी हूँ। राजा ने कहा महाराज मेरा यह पुत्र बीमार है ज्योतिषी ने बताया कि यह किसी सुखी व्यक्ति के कपड़े पहनने से ठीक हो सकता है। महाराज बोले देखो मैं तो कपड़ा पहनता नहीं राजन् सच्चा सुख तो इच्छाओं को घटाने में है। जिसने इच्छाओं को घटाकर उन्हें जीत लिया वही सुखी बना है। अतः तप त्याग के माध्यम से इच्छाओं को जीतने का प्रयास करो। महाराज ने लड़के को आशीर्वाद दिया और वह ठीक हो गया। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने कहा- जब भी मुक्ति मिलेगी तप के माध्यम से ही मिलेगी। विभिन्न प्रकार के तपों का आलंबन लेकर जो आत्मा की आराधना में लगा रहता है उसे ही मुक्ति प्राप्त होती है।

भगवान ऋषभदेव के तप का वर्णन आया है। तप के माध्यम से जिस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने आत्मानंद प्राप्त किया था वही आनंद प्राप्त करने की सामर्थ्य हम सभी में है। यदि वैसा आनन्द चाहिये तो इन इच्छाओं का निरोध करो। जीव की दो परिस्थितियाँ होती हैं। (1) इच्छा सहित और (2) इच्छा रहित। अब सोचो! इच्छा सहित वाली स्थिति में आनन्द है या इच्छा रहित वाली स्थिति में आनन्द है? तो स्पष्ट है कि आनन्द तो इच्छा रहित स्थिति में है। इच्छा सहित स्थिति तो आत्मा के लिये दुःख रूप है। आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है- **‘मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति, इत्युक्तवा - द्वितान्वेषी कांक्षा न क्वापि योजयेत्।’** अर्थात् जिसके मोक्ष में भी इच्छा है, वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। इस कारण हित चाहने वाला पुरुष कहीं भी इच्छा न करे। इसकी रीति यह है कि पहिले तो इच्छा

Y X Y

Y X Y
 होती है मोक्ष के लिये, वह अभ्यस्त हो जाता है और अपने ब्रह्मस्वरूप के अनुभव में पारगामी हो जाता है उस समय उसे कोई भी इच्छा नहीं रहती। केवलज्ञानस्वरूप आनन्दमय आत्म तत्त्व का भान रहता है ऐसे योगी को मोक्ष होता है।

समस्त परिस्थितियों में समताभाव रखो। अपने लिये किसी से कुछ न चाहो, यह एक बड़ा तप है। अपने लिये घर न चाहो, इज्जत न चाहो जन्म मरण के चक्र में रुलने वाले किसी पुरुष ने आपसे कह दिया कि बाबू साहब तो बड़े अच्छे हैं इससे कौन सी उन्नति होगी? सर्व प्रकार की इच्छाओं का निरोध करो और ऐसी निगाह रखो कि जो कुछ भी होता है वह भले के लिये ही होता है।

एक राजा और मंत्री थे। मंत्री को यह कहने की आदत थी कि जो कुछ होता है वह भले के लिये होता है। एक बार राजा मंत्री के साथ जंगल में गया, मंत्री से पूछता है कि मेरे 6 अंगुली हैं सो यह कैसा है? मंत्री ने कहा बहुत अच्छा है, यह भी भले के लिये हैं। उस राजा को गुस्सा आ गया। सोचा कि मैं तो छिंगा हूँ और यह कहता है कि बहुत अच्छा है। मंत्री को कुंएँ में ढकेल दिया और आप आगे बढ़ गया। अब क्या हुआ? एक स्थान पर राजा नरमेध-यज्ञ कर रहा था उसमें बलि देने के लिये सुन्दर निर्दोष मनुष्य चाहिए था। सो राजा ने चार पंडों को अच्छा मनुष्य खोजने के लिये छोड़ा। उन चारों पंडों को वही राजा जंगल में मिल गया, राजा सुन्दर था ही। उसे चारों पंडे पकड़ ले गये और पकड़कर उन्होंने यज्ञ के पास एक खूँटे में बाँध दिया। बलि देने की तैयारी हो रही थी कि एक पंडे ने देखा कि अरे! इसके एक हाथ में तो 6 अंगुली है। उस यज्ञ में निर्दोष शरीर वाला मनुष्य चाहिये था। राजा की 6 अंगुली देखकर वहाँ से धक्के मारकर उस राजा को भगा दिया। अब राजा रास्ते में सोचता है कि मंत्री ठीक कहता था कि मेरी 6 अंगुली हैं तो बड़ा अच्छा है, उसकी बात ठीक हुई। राजा प्रसन्न होकर उस कुंएँ के पास गया और मंत्री को उस कुंएँ से निकाल लिया। मंत्री से कहा कि तुम ठीक कहते थे कि जो होता है सो भले के लिये ही होता है। मंत्री ने पूछा क्या हुआ? राजा ने सारा किस्सा सुनाया, और कहा कि हमारे 6 अंगुली थीं इसलिये बच गये। अच्छा मंत्री! यह बताओ कि तुम्हें जो मैंने कुंएँ में पटक दिया सो भला कैसा हुआ? मंत्री बोला यह भी अच्छा हुआ। राजा बोले कैसे? मंत्री ने कहा— महाराज! यदि मैं साथ में होता तो मैं भी पकड़ा जाता। आप तो बच जाते 6 अंगुली की वजह से और मेरी बली चढ़ जाती। सो यह भी भले के लिये हुआ। इस जीवन में दुखी होने का कोई काम नहीं है, चाहे धन आवे, चाहे न आवे, इज्जत हो, चाहे न हो, परिवार रहे, चाहे न रहे, पर सदा प्रसन्नता से रहना चाहिये। ये सब पदार्थ हैं, परिणामते रहते हैं। यही इनका स्वभाव है, जो होता है सब भले के लिये होता है। तप के लिये पर वस्तुओं की चाह का संबंध नहीं होना चाहिये। सदैव समता भाव धारण करना चाहिए यही विशद जीवन का सार है।

Y X Y

उत्तम त्याग

जो चयदि मिट्टभोजं, उवयरणं रायदोसंजणयं।

वसदि य ममत्तहेदुं, चाय गुणों सो हवे तस्स॥36॥

मीठा भोजन राग द्वेषकर, उपकरणों का कर परित्याग।

ममकारी जो तजें वसतिका, उत्तम धर्म पावें मुनि त्याग॥36॥

अन्वयार्थ :- (जो मिट्ट भोजं) जो मिष्ट भोजन को (रायदोस संजणयं उवयरणं) राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले उपकरणों को (य) और (ममत्तहेदु वसदि) ममत्व / ममकार भाव को उत्पन्न होने में निमित्त भूत वसतिका को (चयदि) छोड़ते हैं (तस्स) उन (मुनि) के वह त्याग गुण होता है।

अर्थ :- जो मिष्ट भोजन को, राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले उपकरणों को और ममत्व भाव को उत्पन्न होने में निमित्त भूत वसतिका को छोड़ता है, उस मुनि के उत्तम त्याग गुण होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं संसार, शरीर और भोगों से विरक्त व्यक्ति ही मुनि पद का अधिकारी होता है। अतः इनका त्याग तो वह मुनिव्रत धारण करते समय ही कर देता है; यहाँ तो मुनि को जिन वस्तुओं से काम पड़ता है, उनके त्याग का ही निर्देश किया है। मुनि को जीने के लिये भोजन करना पड़ता है, किन्तु वह कामोत्पादक सरस आहार ग्रहण नहीं करता है। धर्म-साधन में सहायक पिच्छी-कमण्डलु आदि भी ऐसे नहीं रखता जिनसे मन में राग उत्पन्न हो। वह ऐसी जगह नहीं बसता या ठहरता जिससे उसको ममत्व पैदा हो, इसी का नाम त्याग है। तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में 'संयमी मुनि के योग्य ज्ञान, संयम और शौच के उपकरण, पुस्तक, पिच्छी और कमण्डलु देने को त्याग कहा है।'

राजा का त्याग

भारतीय वसुंधरा पर भोगों को त्याग कर योगी बनने की कहानी जितनी सुन्दर है, उतनी ही महान गौरव गाथा रण-बांकुरों वीर सपूतों के त्याग की कहानी भी है। एक राजा जिसका राज्य छिन गया है वह भिखारी के वेष में दर-दर की ठोकरें खाते हुए अपने ही राज्य में एक गाँव में पहुँचा। गाँव का हाल देखकर राजा हैरान हुआ, चारों ओर भुखमरी, बीमारी, चेहरों पर हताशा, इससे भी अधिक हैरानी राजा को यह हुई कि एक भी जवान आदमी गाँव में नहीं दिखा, सभी बूढ़े आदमी और बेवा स्त्रियाँ ही नजर आयीं। राजा से न रहा गया और एक दादाजी से पूछ लिया कि 'क्या इस गाँव में एक भी जवान व्यक्ति नहीं है।' इतना सुनते ही दादाजी बोले- 'तुम्हें नहीं मालूम मुसाफिर हमारे राज्य पर किसी बड़े राजा ने

Y X Y
 आक्रमण किया, चारों ओर देशभक्ति की लहर दौड़ गई और सभी वीर युवक रणभूमि में वीरगति को प्राप्त हुए।' राजा ने फिर पूछा- 'क्या कोई भी नहीं बचा।' वृद्ध कहने लगा- 'राहगीर जन्मभूमि की प्रतिष्ठा में ही हम सबकी प्रतिष्ठा छिपी है, जिसकी धूल में खेलकर हम बड़े हुये हैं, जिसने हमें पीने को पानी और खाने को अन्न के साथ-साथ सुन्दर मधुर फल दिये, उसकी सेवा और रक्षा से विमुख होना कृतघ्नता है। हे मुसाफिर! माता और मातृभूमि के ऋण से मानव कभी उऋण नहीं हो सकता, इसलिये जन्मभूमि की रक्षा के लिये हमारे देश के लोगों ने अपने प्राणों का भी त्याग कर दिया।'

राजा की आँखों में आँसुओं का सागर तैरने लगा, वह विचार करने लगा- मुझे जिंदा या मुर्दा उपस्थित करने वाले को मिथला नरेश ने एक हजार स्वर्ण मुद्रायें देने की घोषणा कर रखी है, क्यों न इन असहायों को लेकर मैं स्वयं हाजिर हो जाऊँ और पुरस्कार इन ग्रामीणों को दिलवा दूँ, ताकि ये सुखी जीवन जी सकें। दूसरे दिन राजा मिथलेश के सामने था, मिथलेश सकते में आ गया। जिसे मैं खोज रहा हूँ वह स्वयं मौत के मुँह में आ रहा है। मिथलेश अभी कौशल नरेश को देख ही रहा था कि कौशलेश बोला- हे मिथलेश! तुम्हें मेरा राज्य प्रिय था, वह तुम मुझसे छीन ही चुके हो, अब मेरी जान चाहते हो तो मैं हाजिर हूँ; लेकिन जो पुरस्कार आपने मेरे ऊपर घोषित किया है, वह पुरस्कार इन मेरे देशवासियों को दिया जाये, ताकि ये अपना दुःख दूर कर सकें। इतना सुनते ही ग्रामीण बुजुर्ग तो रोने ही लगे। पर मिथलेश भी राज्य सिंहासन पर बैठा न रह सका, ऐसा अभूतपूर्व प्रजा प्रेम देखकर वह सिंहासन से नीचे उतर कर कौशल नरेश के गले लिपट गया और गद् गद् कंठ से बोला- मुझे क्षमा करो राजन् और अपनी प्रजा का पालन करो, मैं तुम्हारा राज्य वापस करता हूँ। जिस देश का राजा अपनी प्रजा के कल्याण में अपना कल्याण समझता है, जो प्रजा के दुःख दर्द में साथ रहता है वही सच्चा शासक है। राजा प्रजा प्रेम के कारण अपने प्राणों को भी त्यागने पर उतारू हो गया तो वह अपना खोया राज्य पा गया। इसी प्रकार यदि हम विषय वासनाओं, कामनाओं, आकांक्षाओं का त्यागकर सकें तो अपनी आत्मा की भगवत्ता प्रकट कर सकते हैं।

उत्तम आर्किचन

तिविहेण चउ जो विवज्जदि, चेयणमियरं च सव्वहा संगं।

लोयववहार विरदो, णिगंथत्तं हवे तस्स॥37॥

लोक व्यवहार से विरहित परिग्रह, चेतनाचेतन मिश्र प्रधान।

तजें सर्वथा तीन योग से, वे मुनि हैं आर्किचन वान॥37॥

अन्वयार्थ :- (जो लोय ववहार विरदो) जो लोक व्यवहार से विरक्त (मुनि) (चेयणमियरं)

Y X Y

(66)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
चेतन-अचेतन (च) और मिश्र (संगं) परिग्रह को (तिविहेण) मन, वचन, काय से (सव्वहा) सर्वथा (विवज्जदि) छोड़ देता है (तस्स) उस मुनि के (णिग्गंथत्तं हवे) निर्ग्रथपना अर्थात् आकिंचन धर्म होता है।

अर्थ :- जो लोक व्यवहार से विरक्त मुनि चेतन-अचेतन और मिश्र परिग्रह को मन-वचन-काय से सर्वथा छोड़ देता है, उस मुनि के निर्ग्रथपना अर्थात् आकिंचन धर्म होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं मुनि दान, सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा, विवाह आदि लौकिक कार्यों से विरक्त होते ही हैं। अतः पुत्र, पुत्री, स्त्री, मित्र, बंधु-बान्धव आदि सचेतन परिग्रह तथा जमीन, जायदाद, सोना, चाँदी, मणि, मुक्ता आदि अचेतन परिग्रहों को तो पहले ही छोड़ देते हैं। मुनि अवस्था में भी शिष्य संघ आदि सचेतन परिग्रह से और पिच्छी कमण्डलु आदि अचेतन परिग्रह से भी ममत्व नहीं करते हैं, इसी का नाम आकिंचन है। मेरा कुछ भी नहीं है, इस प्रकार के भावों को आकिंचन कहते हैं। यह मेरा है इस प्रकार के संस्कार को दूर करने के लिए अपने शरीर वगैरह से भी ममत्व नहीं रखना आकिंचन धर्म है। शरीर वगैरह से भी निर्ममत्व होने से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है, किन्तु जो मुनि शरीर का पोषण करते हैं, उनका तपस्या में आदर भाव नहीं रहता, ऐसा मुनि सदा मोह के कीचड़ में ही फँसा रहता है।

जब हमारे विकल्पों के अनुसार बाह्य में परिणामन हो ही नहीं सकता, ऐसा निर्णय है तो फिर हमें उस बाह्य का ख्याल ही न रहे, ऐसा यत्न करें। जो होता हो, हो। उसके हम ज्ञातामात्र रहें। हमारा तो काम जानने भर का है। जो केवल ज्ञाता रहता है, वह आकुलित नहीं होता है और जो किसी बात में पड़ता है उसको आकुलता होती ही है। जैसे कोई कमेटी हो और उसके तुम केवल दर्शक हो तो तुम देखते ही तो जा रहे हो, कोई आकुलता तुम्हें नहीं रहती है और उस कमेटी के सदस्य हो गए तो कुछ न कुछ आकुलता हो जावेगी और कहीं उस कमेटी के अधिकारी बना दिए गए तो समझो आकुलता और बढ़ जायेगी। तो जैसे-जैसे अध्यवसान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे इस जीव के साथ आकुलता बढ़ती जाती है। इस कारण इस बात पर ऋषिजन जोर देते हैं कि हे आत्मन्! अपने आपके स्वभाव को अविनाशी जानकर, केवल आत्मस्वरूप जानकर, बाह्य पदार्थों से उपेक्षा कर इनमें राग मत कर। इनमें ममत्व बुद्धि न कर!

अपने ज्ञान दर्शन स्वरूप के बिना, अन्य किञ्चित मात्र भी मेरा नहीं है, ऐसे अनुभव को आकिंचन्य धर्म कहते हैं। इस आकिंचन्य धर्म को न समझ पाने के कारण ही मैं परिग्रह को अपना मानता रहा और कर्म का बंध ही किया। परिग्रह को महादुःख रूप तथा बंध का कारण जानकर छोड़ना आकिंचन्य धर्म है।

Y X Y

जिसे आकिंचन्यपना होता है, उसे परिग्रह में बांछा नहीं रह जाती है, आत्म ध्यान में लीनता होती

एक घनघोर जंगल था उस जंगल में एक राजा ने प्रवेश किया तो देखा एक शिला पर मुनिराज विराजमान है। मुनिराज को देखकर के वह राजा मन में विचार करने लगा कि ऐसी अल्पवय में जहाँ इनके खाने-पीने के दिन थे ये वन में कैसे पहुँच गये, उनको क्या किसी ने साथ नहीं दिया क्या वे अनाथ थे ? क्या इनका कोई स्वामी नहीं है।

महाराज ने राजा की बात सुनी और कहा— हाँ, राजन्! तुम बिल्कुल ठीक कह रहे हो, इस संसार में हमारा कोई नाथ नहीं है, मैं अनाथ हूँ। इस पर राजा बोले— मेरे होते हुए तुम अनाथ नहीं हो सकते। मैं यहाँ का राजा हूँ, मैं चक्रवर्ती हूँ, चलो तुम्हारे लिये 6-7 गाँव दे दूंगा, इसके अलावा और बोलो तुम्हें क्या चाहिये मेरे होते हुए तुम अनाथ नहीं हो सकते।

महाराज ने कहा— राजन्! तुम्हारे राज्य में ही मैं एक सानंद सम्पन्न सेठ के यहाँ जन्मा था। धीरे— धीरे में बड़ा हुआ, युवा होने पर मेरी शादी हो गई और फिर मेरे बच्चे हुये। एक दिन राजन्! ऐसा हुआ कि मुझे अत्यन्त भीषण रोग ने घेर लिया, मेरी आँखों में बहुत जोर से दर्द हुआ, बहुत वैद्य, हकीम बुलाये लेकिन फिर भी मेरा दर्द कम नहीं हुआ। जब मैं बहुत परेशान हो गया, असहनीय वेदना से ग्रसित हो गया तब मैंने विचार किया कि मेरे कारण से सारे के सारे लोग परेशान हो रहे हैं पर मेरे लिये जो दुःख हो रहा है, इसके बाँटने वाला कोई नहीं है, मैं अकेला ही इस दुःख को भोग रहा हूँ।

Y X Y

(68)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
को त्याग करके वन में प्रस्थान कर जाऊँगा, और ऐसे राज्य को प्राप्त करूँगा जो शाश्वत होगा, जहाँ पर रोग न हो, जहाँ पर कभी किसी प्रकार का कोई दुःख न हो, शाश्वत राज्य को प्राप्त करने की हम कोशिश करेंगे। ऐसा सोचते सोचते मेरी नींद लग गई और सुबह जब मेरी नींद खुली तो देखा कि मेरी आँखों में अब कोई दर्द नहीं था, पूर्व की भाँति सब सामान्य लग रहा था। तब मैंने परिवार के सदस्यों को अपना निर्णय सुनाते हुये कहा कि अब मैं वन में जा रहा हूँ, 'अप्पा शरणं गच्छामि।' इस संसार में मेरा अब कोई नहीं है, मैं आत्मा की शरण में जा रहा हूँ। मैंने संसार को देख लिया है, संसार में जीव अकेला ही आता है किसी प्रकार का सुख-दुःख व्यक्ति के लिये होता है, तो वो अकेला ही भोगता है, तुम लोगों ने बहुत कोशिश की हमारे दुःख को दूर करने की, लेकिन तुम किंचित मात्र भी हमारे दुःख में सहयोगी नहीं बन पाये। इसलिये अब मैंने विचार किया है कि हमें संसार के दुःखों को न उठाना पड़े, इस कारण से हम अब वन के लिये प्रस्थान करेंगे और वहाँ पर जाकर आत्म कल्याण करेंगे।

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।

यों कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय॥

इस संसार में जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मर जाता है। मरने के बाद वो अकेला ही जाता है कोई भी सगे-संबंधी उसके साथ नहीं जाते हैं, ये तो मात्र संयोग है इसलिये अब मुझे वन में जाना है- 'अप्पा शरणं गच्छामि।' मेरी आत्मा ही मेरी शरण है, इसके अलावा मुझे और कोई शरण नहीं दे सकता है। इस प्रकार हे राजन्! मैं वन में पहुँच गया और यहाँ आकर दिगम्बर भेष को धारण कर लिया।

मुनि महाराज ने अपनी बात को जारी रखते हुए राजा से कहा कि हे राजन्! ये तो मेरी कहानी रही, बताओं क्या तुम मुझे शरण दे सकते हो? मेरे नाथ बन सकते हो? यह सुनकर के राजा मुनि महाराज के सम्मुख नतमस्तक हो जाता है और विनम्र भाव से कहता है कि- हे महाराज! मेरा भी इस संसार में कोई नहीं है। मैं भले ही चक्रवर्ती हूँ, लेकिन इस संसार में मेरा कोई नहीं है।

“मम इवम् इति अभि सन्धिः निवृत्ति आर्किचन्यम्”

जिसकी आत्मा में इस प्रकार के परिणाम आ जाते हैं कि मेरा कुछ भी नहीं है इस संसार में तो समझ लेना उस ही की आत्मा में आर्किचन्य धर्म प्रकट हो जाता है और ऐसा आर्किचन्य धर्म उस राजा में प्रकट हो गया, उसने जाकर के मुनिधर्म को अंगीकार कर लिया।

Y X Y

Y X Y

राजा ने कहा— महाराज! मेरा भी इस संसार में कोई नाथ नहीं है, मैं भी अनाथ हूँ। मैंने मान रखा है कि मेरी प्रजा मेरे लिये सुख देगी, मेरी रानियाँ मेरे लिये सुख देंगी, मेरे पुत्र मेरे लिये सुख देंगे, लेकिन फिर भी इतना सब कुछ होते हुये भी हम अनाथ हैं, हमारे दुःख को कोई बाँटने वाला नहीं है, हमारे साथ कोई जाने वाला नहीं है।

“एगो में सासदो आदा” मात्र मेरी अकेली आत्मा ही एक शाश्वत है। “दंसण णाण मइयो” मैं मात्र दर्शन और ज्ञान वाला ही हूँ। जो मुनि होते हैं, जो दिगम्बर होते हैं, वे वन में जाकर के ऐसे ही आर्किचन्य धर्म को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे ही विचार किया करते हैं कि संसार में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

उत्तम ब्रह्मचर्य

जो परिहरेदि संगं, महिलाणं णेव पेक्खये रूवं।

काम कहाइणिवित्तो, णव विह बंभं हवे तस्स॥38॥

बचें सुमुनि स्त्री संगति से, नहीं निहारें स्त्री रूप।

काम भोग की कथा तजें जो, ब्रह्मचर्य ध्यायें स्वरूप॥38॥

अन्वयार्थ :- (जो महिलाणं संगं परिहरेदि) जो (मुनि) स्त्रियों की संगति से बचता है (रूवं णेव पेक्खये) उनके रूप को नहीं निहारता है (काम कहाइ णिवित्तो) कामभोग की कथा आदि नहीं करता (तस्स) उस (मुनि) के (णव विह बंभं हवे) नौ प्रकार (नव कोटि) का ब्रह्मचर्य होता है।

अर्थ :- जो मुनि स्त्रियों की संगति से बचता है, उनके रूप को नहीं निहारता है, काम भोग की कथा आदि नहीं करता है, उस मुनि के नौ प्रकार (नव कोटि) का ब्रह्मचर्य होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं ब्रह्म अर्थात् शुद्ध-बुद्ध आनंदमय परमात्मा में लीन होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। परमानन्दमय आत्मा के रस को आस्वादन करना ही ब्रह्मचर्य है। आत्मा को भूलकर जिन वस्तुओं में यह जीव लीन होता है, उनमें ‘स्त्री’ प्रधान है। अतः स्त्री मात्र का चाहे वह देवांगना ही क्यों न हो या मानुषी हो अथवा पशु योनी हो, संसर्ग जो छोड़ता है, उनके बीच उठता बैठता नहीं है, उनके जघन, स्तन, मुख, नयन आदि मनोहर अंगों को देखता नहीं है तथा उनकी कथा नहीं करता, उसी के मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना के भेद से नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य होता है।

Y X Y

(70)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

जिन शासन में शील के अठारह हजार भेद कहे हैं, जो इस प्रकार हैं— स्त्री दो प्रकार की होती है, अचेतन और चेतन। अचेतन स्त्री के तीन प्रकार हैं— लकड़ी की, पत्थर की और रंग वगैरह से बनाई गई चित्राम की। इन तीनों भेदों को मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना इन छह से गुणा करने पर अठारह भेद होते हैं, उनको पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर नब्बे भेद होते हैं। इनको द्रव्य और भाव से गुणा करने पर एक सौ अस्सी भेद होते हैं। उनको क्रोध-मान-माया और लोभ से गुणा करने पर सात सौ बीस भेद होते हैं। चेतन स्त्री के भी तीन प्रकार हैं— देवांगना, मानुषी और तिर्यञ्चनी। इनको कृत-कारित-अनुमोदना से गुणा करने पर नौ भेद होते हैं। इन्हें मन-वचन-काय से गुणा करने पर सत्ताईस भेद होते हैं। इन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैंतीस भेद होते हैं। इन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर दो सौ सत्तर भेद होते हैं। इनको आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओं से गुणा करने पर 1080 भेद होते हैं। इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ इन सोलह कषायों से गुणा करने पर 17280 भेद होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री के सात सौ बीस भेद जोड़ने से 18000 भेद होते हैं। ये सब विकार के भेद हैं। इन विकारों को त्यागने से शील के 18000 भेद होते हैं।

इन भेदों को दूसरे प्रकार से भी गिनाया गया है। मन-वचन-काय योग को शुभ मन, शुभ वचन और शुभ काय से गुणा करने पर 9 भेद होते हैं। उन्हें 4 संज्ञाओं से गुणा करने पर 36 भेद होते हैं। उन्हें 5 इन्द्रियों से गुणा करने पर 180 भेद होते हैं। उन्हें पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक धनस्पति, साधारण धनस्पति, दो इन्द्रिय, त्रय इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा रूप दस से गुणा करने पर 1800 भेद होते हैं, और उन्हें उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों से गुणा करने पर 18000 भेद होते हैं।

सच्चा शूरवीर

जो णवि जादि वियारं, तरुणी णयण कडक्ख वाण विद्धो वि।

सो चेव सूर सूरु, रणसूरु ण हवे सूरु॥39॥

नयन कटाक्ष रूप बाणों से, तरुणी के ना भेदा जाए।

रण का सूर सूर ना शाही, सच्चा सूर वही कहलाय॥39॥

अन्वयार्थ :- (रण सूरु ण हवे सूरु) संग्राम में शूर वास्तविक शूर नहीं है बल्कि (तरुणी णयण कडक्ख वाण विद्धो वि) जो तरुणी स्त्री के नयन एवं कटाक्ष रूपी बाणों से छेदा जाने पर भी (वियारं णावि आदि) विकार भाव को प्राप्त नहीं होता है, (सो चेव सूर्य सूरु) वही सच्चा शूरवीर

Y X Y

Y X Y
होता है।

अर्थ :- संग्राम में शूर वास्तविक शूर नहीं है, बल्कि जो तरुण स्त्री के नयन एवं कटाक्षरूपी बाणों से छेदा जाने पर भी विकार भाव को प्राप्त नहीं होता है, वही सच्चा शूरवीर होता है।

विशदार्थ :-

जो णवि जादि वियारं तरुणी णयण कडक्ख वाण विद्धो वि।

सो चेव सूर सूरु रणसूरु ण हवे सूरु॥ का.अ.404॥

अर्थ :- जो मनुष्य तरुणी के कटाक्ष बाण से विद्ध न होता हुआ विकार को प्राप्त नहीं होता वह इंसान ही सर्वसूरों में शूर है, युद्ध में वीरता दिखाने वाला सूर नहीं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं युद्ध स्थल में विजय प्राप्त करके आने वाला वास्तविक शूर अर्थात् शक्तिशाली नहीं है बल्कि शूरवीर तो वो है जो तरुण स्त्री के संपर्क में आने पर भी मन में विकार भाव को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् मन में किसी प्रकार की मलिनता नहीं आने देता है।

संचित पुण्य का क्षय

नयणाण मोकलाणं, खणि खणि जोवंति परकलत्ताणं।

गलइ सुसंचिय धम्मं, जल भरियं तस्स जज्जरियं॥40॥

जो स्वच्छन्द नयन से क्षण-क्षण, पर स्त्री को देखे जीव।

उसका धर्म गलित घट में जल, सम क्षय हो जाय शीघ्र अतीव॥40॥

अन्वयार्थ :- (मोकलाणं नयणाणं) जो स्वच्छन्द नेत्रों से (खणि खणि) क्षण-क्षण में (परकलत्ताणं जोवंति) परस्त्रियों का अवलोकन करता है, राग भाव से उन्हें निहारता है (तस्स) उसका (सुसंचिय धम्मं) अच्छी तरह से संचित किया हुआ धर्म (जज्जरियं जलभरियं) फूटे बर्तन में भरे जल के समान (गलई) नष्ट हो जाता है।

अर्थ :- जो स्वच्छन्द नेत्रों से क्षण-क्षण में परस्त्रियों का अवलोकन करता है, राग भाव से उन्हें निहारता है, उसका अच्छी तरह से संचित किया हुआ धर्म फूटे बर्तन में भरे जल के समान नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसका समस्त पुण्य का क्षय हो जाता है।

विशदार्थ :- तत्त्वार्थ सूत्र के छठवें अध्याय में साम्प्रदायिक आश्रव के भेद दर्शाये हुये पच्चीस क्रियाओं के अन्तर्गत दर्शन क्रिया का वर्णन किया है—

Y X Y

(72)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
'रागाद्रीकृतत्वात् प्रमादिनो रमणीय-रूपालोक नाभिप्रायो दर्शन क्रिया।'

अर्थ – राग से रंगीला होने से प्रमादी मोही व्यक्ति के जो स्त्री आदि रम्य रूप देखने का अभिप्राय (दुर्भाव) है, वह दर्शन क्रिया है। इससे पाप बंध होने से पुण्य भाव का नाश होता है जिससे पुण्य भाव रूप धर्म का नाश हो जाता है।

दस प्रकार के धर्म ही वास्तविक धर्म हैं

एसो दहप्पयारो, धम्मो दहलक्खणो हवे णियमा।

अण्णो ण हवइ धम्मो, हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि॥41॥

यह दश भेदों रूप धर्म से, नियम से है दश लक्षण वान।

सूक्ष्म भी हिंसा होवे जिसमें, नहीं धर्म वह कहा महान॥41॥

अन्वयार्थ :- (एसो दहप्पयारो धम्मो) यह दस प्रकार का धर्म ही (दहलक्खणो णियमा हवे) नियम से दशलक्षण धर्म है (अण्णो) इसके सिवाय (जत्थ) जिसमें (सुहमा वि हिंसा जत्थत्थि) सूक्ष्म भी हिंसा होती है (धम्मो ण हवइ) वह धर्म नहीं है।

अर्थ :- यह दस प्रकार का धर्म ही नियम से दशलक्षण धर्म है। इसके सिवाय जिसमें सूक्ष्म भी हिंसा होती है, वह धर्म नहीं है।

एसो दहप्पयारो धम्मो, दहलक्खणो हवे णियमा।

अण्णो ण हवइ धम्मो, हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि॥ क.अ. 405॥

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कार्तिकेय स्वामी ने भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में हुबहू यही गाथा दी है जिससे लगता है कि श्री वसुनन्दी जी स्वामी कार्तिकेय के अत्यधिक नजदीक रहे, उनके मुखारविन्द से जो उपदेश सुना उसे ही अपनी भाषा में अन्य ग्रन्थ की रचना में प्रयोग किया है जो पूर्व में सुना है आवश्यकता पड़ने पर वह विशद अनायास ही प्रकट हो जाया करता है। आचार्य महाराज ने धर्म का विशेष व्याख्यान किया है जीवों को प्रेरणास्पद है।

देखो, जिंदा भी हो या नहीं?

महाराज विक्रमादित्य कहीं जा रहे थे। एक अत्यंत वृद्ध आदमी को देखकर उन्होंने पूछा 'महाशय! आपकी उम्र कितनी होगी? सफेद दाढ़ी हिलाते हुए उसने उत्तर दिया, श्रीमान जी, केवल चार वर्ष की। यह सुनकर राजा को बड़ा क्रोध आया। वह बोला- तुम्हें शर्म आनी चाहिये; इतने बूढ़े होकर भी झूठ बोलते हो। तुम्हें अस्सी वर्ष से कम कौन कहेगा? बूढ़ा मुस्कराकर बोला- श्रीमान आप ठीक कहते हैं, किन्तु इन 80 वर्षों में से 76 वर्ष तक तो मैं पशु की तरह कुटुम्ब का बोझ ढोता

Y X Y

Y X Y
 रहा। अपनी ओर दृष्टि भी नहीं दी। अतः वह तो पशु का जीवन था। अभी 4 वर्ष से ही मैंने
 आत्मकल्याण की ओर दृष्टि दी है, इससे मेरी मनुष्य जीवन की आयु तो केवल 4 वर्ष की है।’

अहो आत्मन्! कहावत सिद्ध है कुत्ते की पूंछ पोंगरी में डाली जब निकाली तो टेढ़ी की टेढ़ी,
 वास्तव में इंसान की वृत्ति इसी प्रकार की होती जाती है अधिकांशतः लोगों को देखा जाता है उनके
 दिमाग में जो बात बैठी हो उसी को सत्य मानकर चलते हैं उन्हें कोई कितना भी समझाए उस समय
 तो सिर हिलाएंगे तो लगेगा यह सारी बात समझ रहा है और अब जैसे कह रहे समझा रहे हैं वैसा ही
 करेगा किन्तु जैसे ही अवसर आएगा वह करेगा वही ‘हमारा खूँटा वही गड़ेगा।’

प्यारे बंधु! आगम वचन है ‘वत्थु सहावोधम्मो’ अर्थात् वस्तु का स्वभाव है वह धर्म है वह कभी
 परिवर्तित नहीं होता। नीम का स्वभाव कटु और ईख का स्वभाव मिष्ठ है तो रहेगा। समय बीतने पर
 या विकृति आने पर स्वाद में परिवर्तन आ जाए वह अलग बात है। कभी-कभी देखा जाता है कोई
 भय या प्रीति के कारण परिवर्तन देखा जाता है किन्तु वह भय या प्रीति समाप्त होने पर पुनः वही उसी
 प्रकार से करने लगते हैं।

भगवान महावीर का सिद्धांत कहता है कि जो जैसा है वैसा रहेगा। वह अपने स्वभाव में
 परिवर्तन नहीं लाता है तो तुम क्यों अपने स्वभाव से चलायमान हो रहे वह अपने रहे तो आप भी
 अपने में रहे कषायादि से बचें तो “विशद” जीवन मंगलमय हो।

भावना पयरणं (भावना प्रकरण)

संसार में सुख नहीं

संसारम्मि असारे णत्थि, सुहं वाहि वेयणा पउरे।

जाणंतो य हु जीवो, ण कुणइ जिणदेसियं धम्मं॥42॥

व्याधि वेदना प्रचुर असारित, इस संसार में सुख ना लेश।

जान के जिनवर कथित धर्म को, पाले ना कोइ जीव विशेष॥42॥

अन्वयार्थ :- (वाहि वेयणा पउरे) व्याधि और वेदना से प्रचुर (असारे संसारम्मि) सार हीन
 संसार में (सुहं णत्थि) सुख नहीं है (य हु जाणंतो जीवो) ऐसा जानता हुआ भी जीव (जिण देसियं
 धम्मं) जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म को (ण कुणइ) नहीं करता है।

अर्थ:- व्याधि और वेदना से प्रचुर सार हीन संसार में सुख नहीं है, ऐसा जानता हुआ भी यह जीव
 जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट धर्म का पालन नहीं करता है।

विषयों में फँसे हुए संसारी जीव की कथा

Y X Y

(74)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

एक बार कोई मनुष्य एक भयानक वन में जा पहुँचा। वहाँ एक विकराल हाथी को देखकर डर के मारे भागा। भागते-भागते अचानक वह एक कुँये में गिर पड़ा। गिरते समय वृक्ष की दो जड़ें पकड़कर वह बीच में ही लटक गया। वृक्ष पर एक मधु का छत्ता था, जो उसी मनुष्य का पीछा करने वाले हाथी के धक्के से हिल गया। वृक्ष हिल जाने से मक्खियाँ उड़ गईं और छत्ते से मधु की बूँदें टपककर उस मनुष्य के मुँह में गिरने लगीं। उस समय कुँये में चार महा सर्प थे जो उसे निगलने के लिये नीचे से फुँकार रहे थे। जिस टहनी के साहरे वह बीच में लटका था उसे ऊपर से भी काले सफेद दो चूहे काट रहे थे। इस भयानक परिस्थिति में रहने पर भी मधु की बूँदों के लालच में पड़कर वह उनसे छुटकारा पाने का कोई यत्न नहीं कर रहा था।

उस मनुष्य को ऐसी भयंकर स्थिति में फँसे हुये, किसी विद्याधर ने देखा, उस मनुष्य की दशा देख उसे बड़ी दया आयी और उसने कहा— “भाई! आओ, इस विमान में बैठो, मैं तुम्हें बचा लेता हूँ।” इसके उत्तर में उस अभागे ने कहा— “आप जरा ठहरो, वह शहद की बूँद गिर रही है, मैं उसे पीकर निकलता हूँ।” वह बूँद गिर गयी। विद्याधर ने फिर उससे आने को कहा। तब भी उस मूर्ख ने पहले की तरह ही कहा— ‘हाँ! वह बूँद आई जाती है, मैं अभी आया। विद्याधर के बहुत समझाने पर भी’ “हाँ, उस गिरती हुई बूँद को पीकर आता हूँ” बराबर उसका यही जवाब रहा। लाचार हो विद्याधर चला गया। विषयों द्वारा ठगे गये जीवों की यही दशा होती है। उन्हें अपने हित-अहित का भी ज्ञान नहीं रहता।

जिस प्रकार मधु की लालच में पड़कर उस मनुष्य को विद्याधर के समझाने पर भी अपने हित अहित का भी ज्ञान नहीं रहा, उसी प्रकार विषयों में फँसे हुये जीव संसार रूपी कुँये में काल-रूपी हाथी द्वारा नाना-प्रकार के कष्ट पाकर भी होश में नहीं आते हैं। उन्हें क्या पता उनकी आयु रूपी डाली को क्रमशः दिन-रात रूपी काले और सफेद दो चूहे प्रतिपल काट रहे हैं। कुँये के चार सर्प रूपी चार गतियाँ उन्हें डसने के लिये मुँह बायें खड़ी हैं और दिगम्बर मुनि रूपी गुरु उन्हें हित का उपदेश दे रहे हैं; फिर भी वे अपने हित की ओर न देख शहद की बूँद रूपी विषय सुखों में लुब्ध हो रहे हैं। सच तो यह है कि जिसे दुर्गति भोगनी है, उसे सच्चा मार्ग क्यों अच्छा लगेगा?

इस प्रकार संसार की विचित्र दशा देखकर बुद्धिमान को उचित है कि संसार के असार विषय भोग रूपी विष को त्याग कर जिनेन्द्र भगवान के आदेशानुसार पवित्र जिन धर्म को अपने हृदय में भक्ति भाव से धारण करें, क्योंकि वह अनन्त सुख का देने वाला है।

संसार की माया से ठगाया जीव

अथिरं जीवं रिद्धि, चंचल जुव्वणं पि घणसरिसं।

Y X Y

Y X Y

पचक्खं पिक्खंतो, तह वि हु वंचिज्जए जीवो॥43॥

अस्थिर ऋद्धी और जवानी, चंचल गाई मेघ समान।

ऐसा देख जीव संसारी, माया से जो ठगे महान॥43॥

अन्वयार्थ :- (जीवं रिद्धि अथिरं) जीव की रिद्धि अर्थात् सम्पत्ति अस्थिर है, (जुव्वणं वि घण सरिसं चंचल) जवानी भी मेघ के समान चंचल है (तह पचक्खं पिक्खंतो वि) ऐसा प्रयच्छा देखता हुआ भी (जीवो वंचिज्जए हु) जीव संसार की माया से ठगाया ही जाता है।

अर्थ :- जीव की रिद्धि अर्थात् सम्पत्ति अस्थिर है, जवानी भी मेघ के समान चंचल है, ऐसा प्रयच्छा देखता जानता हुआ भी जीव संसार की माया से ठगाया ही जाता है।

विशदार्थ :- कवि बनारसी दास ने कहा है-

माया छाया एक है, घटे बड़े छिन मांहि।

इनकी संगति जे लगे, तिनही कछु सुख नाहि॥

संसार में जितना छाया के पीछे दौड़ोगे वह आगे आगे जायेगी और तुम्हारे हाथ नहीं आयेगी। जितना छाया से पीछे हटोगे, उतनी छाया तुम्हारे पीछे पीछे आयेगी। इसी प्रकार जो लक्ष्मी के प्राप्त करने के चक्कर में ही दिन रात लगे रहते हैं, उनसे लक्ष्मी दूर-दूर रहती है और जो त्याग करता है, दान देता है लक्ष्मी उसके पास रहती है तथा उसे धन-सम्पत्ति की कभी कमी नहीं रहती।

कहते दास कबीर हर प्राणी दुःखी है, कारण स्पष्ट है- यह प्राणी अपने शरीर को ही शाश्वत समझकर शरीर पोषण में लगा हुआ है और आत्म कल्याण व धर्म ध्यान की सुध ही नहीं है। परम सुख तो केवल आत्मा में है। अपनी छाया काली होती है तथा यह शिक्षा देती है कि मैं तुम्हारा पाप (अंधकार) हूँ। तुम जहाँ जाओगे मैं तुम्हारे साथ-साथ चलूँगी। जो पाप हमने किए हैं, वे ही हमें सताते हैं। शुभाशुभ कर्म ही हमें फल देते हैं। इसलिये अपनी छाया को शाश्वत मत करो। एक धर्म ही साथ जाने वाला है। तुम्हारा किया हुआ परोपकार, त्याग और दान ही भव-भवान्तर तक जाने वाला है। जैसा बीज बोओगे, वैसा ही फल तुम्हें मिलेगा, केसर बोने से सुगंध मिलेगी, तम्बाकू बोने से क्या मिलेगा। दुर्गन्ध ही मिलेगी। किसी कवि ने कहा है-

धर्म बढ़े धन बढ़े, धन बढ़े मन बढ़े।

मन बढ़ते सब बढ़त है, बढ़त बढ़त बढ़

ज । य । ।

Y X Y

Y X Y

धर्म घटे धन घटे, धन घटे मन घटे।

मन घटत सब घटत है, घटत घटत घट

ज । य । ।

इसलिये धर्म की संगति से अपने मन को स्वच्छ रखें संसार में सभी वस्तुएँ मलीन होती हैं। यह मन भी बड़ा पापी और कपटी है, जिसने इस मन को साफ कर लिया, वही मुक्त हो गया। शास्त्रों के अध्ययन से मन की शांति प्राप्त होती है।

आचार्य भगवन् संसार की असारता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह जीव अनंतकाल से दुखों को भोग रहा है। कभी तो वह नरक निगोद के दुख भोगता तो कभी तिर्यच आदि गतियों के दुख भोगता है। कभी झूठ बोलकर तो कभी मायाचारी या छल-कपट करके संसार को बढ़ाता है। मनुष्य मायाचार अनेकों कारणों से करता है। कभी अपने शत्रु से बदला लेने के लिये, कभी अपना बड़प्पन दिखाने के लिये, कभी दूसरों का धन विविध उपायों से छीनने के लिये और कभी वैभव वृद्धि के लिए मायाचार करता है। लोग कहते हैं जो सरल होता है, सीधा सादा होता है, वह ठगाया जाता है पर विचार करने की बात है कि सरल पुरुष ठगाया जाता कि मायाचारी पुरुष स्वयं ठगाया जाता है। सरल पुरुष का तो कुछ धन कम हो जाएगा पर जिसने ठगा वह तो खोटे कर्म का बंध करता है, संक्लेश परिणाम करके दुखी होता है। एक बार चिरोंजाबाई वर्णी जी से बोली कि तुम जहाँ चाहे ठगाये जाते हो, 10 आने सेर अनार मिलते हैं और तुम 12-13 आने सेर खरीदते हो। तब वर्णी जी बोले- माँ ठगाये जाते हैं दूसरों को तो ठगते नहीं है, दूसरों को ठगने में पाप है स्वयं ठगाये जाने में पाप नहीं है।

जिस पुरुष ने मायाचारी को ठगा है वह संसार से तिर गया, भव पार हो गया इसलिए आत्महित के इच्छुक जीवों को यह समझना चाहिए कि यह धन संपत्ति नष्ट होने वाली है। जवानी भी बिजली की भाँति नष्ट होती है इसलिए ऐसा जानकर माया का त्याग करना चाहिए। कहा भी है-

माया ठगनी ने ठगा, है यह सारा लोक।

जिसने माया को ठगा, उसकी होवे ढोक।।

यह सब माया का ही जाल है कि प्राणी मोह के वशीभूत होकर निज हित को भूल रहा है। माया के वश होकर ही हम संसार परिभ्रमण कर रहे हैं। भगवान महावीर ने, राम ने, मुनिराजों ने आदि जिस-जिसने भी माया को ठगा वह संसार से पार हो गया अर्थात् विशद मोक्ष को प्राप्त कर लिया है इसलिए आत्म हित के इच्छुक जीवों को यह विचारना चाहिए कि जीव की रिद्धि अर्थात् संपत्ति अस्थिर है वह धन-पैसा आदि संपत्ति जोड़-जोड़ कर रखता है, वह स्थिर अर्थात् सदैव साथ में रहने वाली नहीं है।

Y X Y

Y X Y
जवानी भी मेघ अथवा इन्द्रधनुष के समान चंचल है। एक तरफ बादल बनते जाते हैं दूसरी तरफ मिटते जाते हैं। ये अहसास ही नहीं होता कि कब बादल बन गये और कब मिट गये। ये सब जानता हुआ भी ये जीव माया से ठगाया जाता है।

आत्महित से वंचित प्राणी

घरवासे वामूढो, अच्छड़ आसासयाइं चिंततं।

तो ण कुणई परत्तहियं, जोण हओ मच्चुसीहेण॥44॥

मोहित जो गृहवास में शत् शत्, आशाओं का चिन्तन वान।

मृत्यु सिंह से मरण ना पाए, स्व हित फिर भी करे ना आन॥44॥

अन्वयार्थ :- (घरवासे वामूढो) गृहवास में मोहित हुआ (आसासयाइं चिंततं) सैकड़ों आशाओं का चिंतन करता हुआ (अच्छड़) स्पष्ट रूप से (मच्चुसीहेण) मृत्युरूपी सिंह के द्वारा (जो ण हओ) जो नहीं मारा जाता (तो ण कुणई परितहियं) तो भी उत्कृष्ट परलोक के हेतु आत्महित को नहीं करता है। अर्थात् उदासीन होकर पड़ा रहता है।

अर्थ :- गृहवास में मोहित हुआ सैकड़ों आशाओं का चिन्तन करता हुआ, स्पष्ट रूप से मृत्यु रूपी सिंह के द्वारा जो नहीं मारा जाता, तो भी उत्कृष्ट परलोक के हेतु आत्म हित को नहीं करता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् आत्म कल्याण के हेतु कहते हैं, संसारी जीव जब तक मन, वचन, काय आदि पर पदार्थों को अपना मानकर उनसे ममत्व करता है तब तक कर्मों के द्वारा बँधा होकर संसार रूपी जेल में पड़ा परतंत्रता के कष्ट उठाता है।

किंतु मन अलग है, मैं जीवात्मा अलग हूँ, वचन अलग है ऐसा भेद विज्ञान ही संसार परिभ्रमण से छुड़ाकर मुक्ति की ओर ले जाने वाला होता है। जीव अपनी आत्मा को पहचाने बिना ही अनंत कष्ट उठा रहे हैं अतः बाहरी दुनियाँ को छोड़कर अंतरंग में झाँकने का प्रयास करो। आत्म हित से वंचित जीव दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप तो करता है किन्तु धर्मात्मा जीव कभी भी दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता है। हमारे जीवन में प्रत्येक कार्य से, घटना से अभूतपूर्व परिवर्तन आ सकता है।

एक भिखारी सुबह-सुबह भिक्षा हेतु एक वैज्ञानिक के दरवाजे को खटखटा रहा था। वह ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक था, उसने सोचा आज कोई मेरा मित्र आया है तो दौड़कर दरवाजा खोलता है सामने एक भिखारी भिक्षा पात्र लेकर खड़ा हुआ है। भिखारी को देखकर उसे क्रोध आ जाता है और आवेश में आकर कहता है कि तुम समझते भी हो या नहीं? अभी सुबह के 6 बजे हैं, सुबह से ही दरवाजे पर आ गये। ये कोई भीख माँगने का समय है? कम से कम समय देखकर भीख माँगा करो। भिखारी यह

Y X Y

(78)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
सुनकर कहता है— ‘याद रखो, आपकी प्रयोगशाला में, मैं तो जाकर कभी भी ऐसा नहीं कहता कि ऐसा प्रयोग करो, इतने समय करो। जब मैं आपके दैनिक कार्यों में बाधक नहीं बनता तब आप मेरे कार्य में हस्तक्षेप कर सलाह देने वाले कौन होते हो?’

विचित्र भिखारी था वह, कह रहा था कि मेरे धंधे में मुझे सलाह देने वाले कौन हो तुम? मैं भिखारी हूँ। जब चाहूँगा तब आऊँगा, तब तुम्हें देना पड़ेगा। नहीं देना है तो मना कर दो लेकिन मेरे कार्य में तुम्हें सलाह देने का अधिकार नहीं है। उस वैज्ञानिक ने उसी क्षण उस भिखारी के चरण स्पर्श किये वह वैज्ञानिक आश्चर्य चकित हो कहता है— इतना अद्भुत भिखारी मैंने जीवन में प्रथम बार देखा है जो कहता कि मेरे धंधे में तुम्हें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

इसी प्रकार सच्चा श्रावक दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता है। जो दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता है वह आत्म हित के प्रति निरंतर सजग रहता है। इसलिए आत्म हित से वंचित प्राणी को आत्म कल्याण हेतु कदम बढ़ाते रहना चाहिये।

हम नीलाम हुए घर में आसियाँ नहीं बनाते। साफ-साफ कहते हैं बहाना नहीं बनाते॥

बिजलियों से तबाह हो गये हैं जो माकां। ऐसे खण्डहरों में अपना आसियाँ नहीं बनाते॥

महादुःखो में फँसा संसारी, धर्म क्यों नहीं करता?

वाही इट्ट विओगो, दारिद्रं तह जरा महा दुक्खं।

एण्हिं परिग्गहिओ, तई वि हू धम्मं किं करइ॥45॥

इष्ट वियोग हो रोग दरिद्रता, और बुढ़ापा दुःख महान।

घिरा हुआ तू महा दुखों से, क्यों ना करता धर्म प्रधान॥45॥

अन्वयार्थ :- (वाही इट्टविओगो) रोग, इष्ट वियोग (दारिद्रं) दरिद्रता (तह) तथा (जरा) बुढ़ापा (महादुक्खं) महादुःख हैं। (एण्हिं) इन महादुःखों से (परिग्गहिओ तई वि) घिरा होते हुए भी (हू धम्मं ण किं करइ) निश्चित रूप से धर्म को क्यों नहीं करता है?

अर्थ :- रोग, इष्ट वियोग, दरिद्रता तथा बुढ़ापा महादुःखों से घिरा होते हुये भी निश्चित रूप से धर्म को क्यों नहीं करता है?

विशदार्थ :- आचार्य वसुनन्दी विरचित तत्त्वविचार सार ग्रंथ के 46वें काव्य की व्याख्या करते हुये आचार्य भगवन् कहते हैं— यह मानव पर्याय बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुई है किन्तु यह संसारी प्राणी संसार के दुखों में फँसकर दुखी हो रहा है। कभी वह धर्म प्राप्ति की ओर अग्रसर नहीं होता है जिस प्रकार गहरे सागर में मोती को प्राप्त करना मुश्किल ही नहीं दुःसह्य कार्य है। वह तो फिर भी सरल हो सकता है

Y X Y

Y X Y
 किन्तु मनुष्य जन्म की प्राप्ति तो अत्यंत दुर्लभ है और इसे पाकर खो देना, अपने आपको दुखों के अथाह सागर में डूबा देना है। मनुष्य मात्र एक ऐसा प्राणी है जो व्रत नियम संयम धारण करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है किन्तु आज भौतिकता की चकाचौंध में फँसा प्राणी मात्र पेट और পেटी भरने की तो चिंता करता है लेकिन स्वयं के आत्म कल्याण हेतु जरा सा धर्म भी नहीं करता है। लोगों से कहना पड़ता है भैया थोड़ा सा धर्म कर लो तो लोग कहते हैं अभी कहाँ धर्म करने के दिन हैं, धर्म तो बुढ़ापे में करेंगे। अभी तो खाने खेलने के दिन हैं जो त्याग तपस्या जवानी में होती है वह शरीर शिथिल होने पर नहीं होती है। बुढ़ापे में न कानों से सुनाई देता, न आँखों से दिखाई देता, न पैरों से चला जाता है, हाथ से कोई वस्तु उठाओ तो हिलते हैं, मुँह से भोजन खाया नहीं जाता है, बाथरूम लैट्रिंग भी बिस्तर में हो जाती, अब ऐसी स्थिति में बोलो धर्म करो तो क्या धर्म कर पाओगे? नहीं ना। इसलिए समय रहते इन दुखों से छूटने का प्रयास करना चाहिए।

एक बार एक महानुभाव जब भी आते तो यही कहते महाराज मैं भी अपना कल्याण करना चाहता हूँ। दीक्षा लेकर साधना करूँगा। आप आशीर्वाद दें, मेरा मकान बिक जावे फिर पत्नी के नाम बैंक बैलेंस बना दूँगा और निश्चित होकर रहूँगा। इस बीच लकवा की बीमार होने से पड़े रहते थे कुछ भी नहीं कर पाए और मरण हो गया। जीवन में कुछ भी नहीं कर पाए अतः जिस समय कल्याण का भाव आये उसी समय कर लेना चाहिए।

आँखों से अंधे हो जाओगे, दर्श तुम कर नहीं पाओगे।

दर्श कर मस्त जवानी में, बुढ़ापा किसने देखा है॥1॥

कान से बहरे हो जाओगे, शास्त्र तुम सुन नहीं पाओगे।

शास्त्र सुन मस्त जवानी में, बुढ़ापा किसने देखा है॥2॥

पैर से लंगड़े हो जाओगे, तीर्थ फिर कर नहीं पाओगे।

तीर्थ कर मस्त जवानी में, बुढ़ापा किसने देखा है॥3॥

बीतने वाली घड़ी को कौन लौटा पायेगा।

इस धरा का इस धरा पर सब धरा रह जाएगा।

जिन्दगी भर का कमाया साथ में क्या जाएगा।

यह सुअवसर खो दिया तो अन्त में

प छ त ा ए ग ा ।

जिनधर्म इच्छित फल देने वाला चिंतामणि रत्न

Y X Y

लहिऊण माणुसत्तं, कहं वि अइदुल्लहं पि रे जीव।।

लङ्गसु जिणवर धम्मो, अचिंत चिंतामणि कप्पे॥४६॥

अति दुर्लभ हे जीव! मनुजता, किसी तरह से पाई प्रधान।

इच्छित फल दायक चिन्तामणि, रत्न समान धर्म कर मान॥४६॥

अन्वयार्थ :- (रे जीव! अइदुल्लहं पि) हे जीव! तूने अति दुर्लभ भी (माणुसत्तं) मनुष्य पर्याय को (कहं वि) किसी भी तरह (लहिऊण) प्राप्त कर करके (अचिंतं चिंतामणि कप्पे) बिना चाहे इच्छित फल को देने वाले चिंतामणि रत्न के समान (जिणवर धम्मे) जिनेन्द्र कथित धर्म में (लग्गसु) लगना चाहिए।

अर्थ :- हे जीव! तूने अति दुर्लभ मनुष्य पर्याय को किसी भी तरह प्राप्त किया। अतः बिना चाहे इच्छित फल को देने वाले चिंतामणि रत्न के समान जिनेन्द्र कथित धर्म में लगना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं हे जीव! जिस प्रकार से सागर का पानी कदाचित् मीठा हो सकता है। सूर्य पूर्व से पश्चिम दिशा में उदय हो सकता है, आकाश के तारे तोड़ना कदाचित् हो सकते हैं किन्तु जैन धर्म, जैन कुल और उसमें भी मनुष्य पर्याय का मिलना अत्यंत कठिन है। इस मानव पर्याय के जैसी कोई पर्याय नहीं है, चाहे तो भोग कर लें या चाहे तो योग धारण कर लें। भोग भोगने में तो अच्छे लगते हैं, बड़ा मजा आता है किन्तु इसका फल भोगने पर दुखी होकर रोता है मात्र पछताने के अलावा कुछ नहीं बचता है किन्तु योगी क्षण मात्र में भोगों को ठुकराकर योगों को धारण कर लेता है। वर्तमान में योगी को शारीरिक कष्टों का अनुभव होता है किन्तु भविष्य के लिए सुख ही सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार भिखारी को चिंतामणि रत्न का मिलना अत्यंत दुर्लभ है उसी प्रकार से जैन धर्म का मिलना दुर्लभ है। चिंतामणि रत्न के विषय में एक घटना आती है कि एक व्यक्ति को जंगल में चिंतामणि रत्न मिल गया किन्तु वह जानता नहीं था, अनभिज्ञ था कि यह चमकता पत्थर क्या है? उससे जो माँगें तुरंत मिल जाता था। जंगल में उसे प्यास लगी और उसने सोचा कि प्यास लगी है कहीं से पानी मिल जाता। उसके सामने तुरंत पानी आ जाता, पानी पीकर वह काम में लग जाता। थोड़ी देर बाद भूख लगती तो सोचा खाना मिल जाता तो खाना आ जाता। जो भी वह विचार करता उसके सामने वह वस्तु उपस्थित हो जाती। उसे नींद आने लगी उसने सोचा जंगल में कहीं भूत तो नहीं है और भूत भी आ जाता है। भूत के डर से कांपने लगता है और हाथ में जो रत्न था उसे मारकर भाग लेता है। रत्न के जाते ही भूत भाग गया और फकीर का फकीर हो गया। रत्न की कीमत ना जानने पर अर्थात् रत्न की कीमत नहीं जानने के समान है नहीं जानने के समान मानव भी जानो। वह उस रत्न को फेंक देता है वैसे ही स्थिति मानव की भी है। जैन धर्म और मनुष्य पर्याय पाकर उसे व्यर्थ ही गवां रहा है। रत्नों की कीमत तो बाजार में आँकी

Y X Y

Y X Y
जा सकती है किन्तु मनुष्य रूपी रत्न की कीमत आँकना संभव नहीं है। वह तो अमूल्य है। कहा है—

हम आए हैं निगोद से आशाएँ संजो के।

मानव जन्म को पाके फिर निगोद ना लौटें॥

अर्थात् निगोद से निकलकर सबसे श्रेष्ठ मानव पर्याय पाकर उसकी कीमत ना जानते हुए व्यर्थ ही भोगों में बिताकर नष्ट कर रहे हैं, हमारी यह विशद नादानी है, भूल है।

आया कहाँ से कहाँ है जाना, ढूँढ ले ठिकाना चेतन— ढूँढ ले।

सब कुछ तो जाना, निज को न जाना, ढूँढ ले ठिकाना चेतन— ढूँढ ले॥

गर्भकाल के नरक समान दुःख

जीव तुमं णवमासे, वसिओ असुहम्मि गब्भमज्झम्मि।

संकोडियंगवंगो, विसहंतो णारयं दुक्खं॥47॥

आंगोपांग संकुचित करके, अशुचि गर्भ के बीच विशेष।

दुःख नारकीय सहन करे तू, नौ महिने रे जीव! अशेष॥47॥

अन्वयार्थ :- (जीव तुमं) हे जीव! तूने (असुहम्मि गब्भमज्झम्मि) अशुचि गर्भ के बीच में (संकोडियंगवंगो) अंगोपांगों के संकुचित रहने से (णारयं दुक्खं विसहंतो) नारकीय दुःखों को सहन करते हुये (णवमासे) नौ मास पर्यन्त (वसिओ) निवास किया।

अर्थ :- हे जीव! तूने अशुचि गर्भ के बीच में अंगोपांगों के संकुचित रहने से नरक के समान दुःखों को सहन करते हुए नौ माह पर्यन्त तक निवास किया।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् वसुनन्दी जी गर्भ की वेदना का उल्लेख करते हुए कहते हैं जो विचारणीय है, छहढाला में भी कहा है— अंग सकुचते पाई त्रास।

कार्तिकेर्यानुप्रेक्षा में भी कहा है—

अह गब्भे वि य जायदि, तव्थ विणिवडीकयंग पज्जंगो।

विषहदि तिव्वं दुःखं, णिग्गममाणो वि जोणी दो॥45॥

यदि गर्मी में उत्पन्न होता है तो वहाँ पर शरीर के अंग उपांग संकुचित रहते हैं तथा योनि से निकलते हुए भी तीव्र दुःख सहना पड़ता है।

गर्भ के दुखों का चिन्तन करते हुए विचार करें। जिस प्रकार किसी मनुष्य को एक बोरे में भरकर उलटा करके गंदे गटर में लटका दिया जाए तो उसकी जो अवस्था होगी इसी प्रकार की कुछ स्थिति गर्भ

Y X Y

Y X Y
 में रहने वाले जीव की होती है बल्कि उससे भी अधिक पीड़ादायक है। जब गर्भ की अवस्था में गर्भणी अपनी जिह्वा की लोलुपता से मिर्च या नमकीन पदार्थ खाती है तो शरीर में स्पर्श होते ही कितना जलन देते हैं। इसकी कल्पना आप किसी घाव के स्थान पर नमक लगाने से कर सकते हैं। कितनी पीड़ा होती है साथ ही ठण्डा गर्म भोजन खाने से ठण्डे और गर्म की वेदना सहन करना पड़ती है। नरक दो प्रकार के हैं- (1) उष्ण वेदना (2) शीत वेदना वाला, शायद उस नरक का छोटा रूप ही गर्भ में ज्ञात हो जाता है। उस समय यह जीव भावना भाता है कि हे भगवन! एक बार यहाँ से निकल जावें तो फिर ऐसा काम नहीं करेंगे कि यहाँ पर पुनः आना पड़े। कहा भी है-

गर्भ समय में कौल किया का नाम रटूंगा मैं तेरा।

इस झूठे जंजाल में पड़कर भूल गया प्रभु नाम तेरा॥

वीतरागी गुरु आते हैं समझाने के लिए।

कुछ तो समय निकाल प्रभु गुण गाने के लिए॥

अतः हे भव्य जीव! गर्भ की इस दशा को जानकर यह काम करें कि पुनः उस गर्भ की अवस्था को प्राप्त ना होना पड़े। अगर गर्भ प्राप्त हो तो नर पशु गति में नारकीय गर्भ नहीं बल्कि गर्भ कल्याणक प्राप्त हो जाए जो अन्तिम गर्भ हो वह गर्भ मात्र नाम का गर्भ है वह तो स्वर्ग से भी सुन्दर है जब रत्नवृष्टि होती है। यह गर्भ कल्याणक की महिमा है-

गर्भ समय में रत्न वृष्टि हो, स्वर्ग सा रहे नजारा।

हमको भी यदि गर्भ मिले तो, अन्तिम होय हमारा॥

गर्भकाल के दुःखों का स्मरण कर

रे जीव! संपयं चिय, वीसरियं तुब्भ तं महा दुक्खं।

थोवं पि जे ण कुणहसि, जिणंदवरदेसियं धम्मं॥48॥

गर्भावास के महादुखों को, भूल गया तू क्या रे जीव!।

जिनोपदेशित धर्म के पालन, से होता है पुण्य अतीव॥48॥

अन्वयार्थ :- (रे जीव! संपयं चिय) हे जीव! इस समय तू (महादुक्खं) उस महादुःख को (वीसरियं) भूल गया है। (तुब्भ) जो तुझे गर्भ काल में सहन करने पड़े हैं (जो) जो कि तुम (जिणंदवरदेसियं धम्मं) जिनेन्द्र भगवन्तों के द्वारा उपदिष्ट धर्म को (थोवं पि) थोड़ा भी (ण कुणहसि) नहीं करते हो।

Y X Y

Y X Y

अर्थ :- हे जीव! तू इस समय उस महादुःख को भूल गया है, जो गर्भ में निवास करते समय तूने सहन किया है। तू जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेशित धर्म का थोड़ा भी पालन नहीं कर रहा है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् गर्भ की अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस जीव ने अनंत पर्यायों के व्यतीत होने के बाद ही मानव पर्याय को प्राप्त किया है। यह जीव सर्वप्रथम निगोद, एक इंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पंचेन्द्रिय पर्यायों को प्राप्त कर हर्ष पूर्वक जीवन के क्षणों को व्यतीत करता है और वह क्षण कब व्यतीत हो गये पता ही नहीं चलता है। जब यह जीव माँ के गर्भ में आया तो बहुत खुश हुआ था क्योंकि वह विचार करता है कि जब मैं इस गर्त से बाहर निकलूंगा तब धर्मध्यान करूंगा, मुनियों को दान दूंगा, पंचपरमेष्ठी की सेवा-पूजा, वंदना करूंगा क्योंकि जब वह गर्भ में था तो अनेक प्रकार से कष्टों को सहन करता है इसलिए जब वह बाहर आया तो रोते हुए नहीं बल्कि हँसते हुए अपनी खुशी प्रकट की किंतु जब बड़ा हुआ तो विषय भोगों की अग्नि ने उसे इस कदर झकझोर दिया कि वह धर्म को भूल ही गया, पुण्य कार्य से दूर रह के पाप कार्यों में ही रत रहा और अनंत संसार के परिभ्रमण में पुनः फँस गया। संसार में रह के 99वे के चक्कर में फँसकर अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर दी। 99वे का चक्कर कैसा होता है? इसकी घटना इस प्रकार है। एक बार एक नगर में एक गरीब ब्राह्मण परिवार रहता था। वह बेचारा दिन-भर जो कमाता था उससे एक दिन का गुजारा कर लेता था किंतु वह सुखी और संतुष्ट जीवन जीता था। सुबह-शाम भगवान की पूजन-आरती करता था जिससे वह अत्यंत सुखी था। उसकी इस प्रक्रिया को देखकर नगर सेठ की पत्नी ने सेठ से कहा देखो वो लोग दिनभर में जो कमाते हैं उससे गुजारा कर लेते हैं लेकिन आपको तो पेट के साथ-साथ पेटी भरने की पड़ी रहती है, ना मंदिर जाना ना कोई धार्मिक कार्य करना इत्यादि। सेठ ने युक्ति लगाई और एक पोटली में 99 रुपये भरकर ब्राह्मण के घर में फेंक दिये। सुबह ब्राह्मण ने देखा तो उसे पोटली में पैसे देखकर बहुत खुशी हुई कि आज तो परमात्मा ने हमारी सुन ली। पोटली में 99 रुपये देखकर विचार किया 100 रुपये हो जावें तो ठीक होगा। अब एक रुपया एकत्र करने के लिए अतिरिक्त कार्य करने लगा। अगले दिन से ब्राह्मण रोज रात को देर से घर आता और सुबह जल्दी चला जाता क्योंकि उसे 100 रुपये करना थे। ऐसा करते-करते काफी दिन हो गये। एक दिन सेठ ने जाकर पूछा- भाई क्या बात है? आज कल तुम्हारे यहाँ आरती, भजन, पूजा नहीं हो रही है तो उसने सारी घटना यथावत सुना दी। घर आकर अपनी पत्नी से कहा भाग्यवान 99वे के चक्कर में पड़ा मानव धर्म-कर्म को तो भूल ही जाता है इसलिए वह आत्म हित से भी वंचित रह जाता है। अतः हे जीव! जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेशित धर्म का थोड़ा सा भी पालन किया तो संसार सागर से पार हो जाओगे।

पारा में नहीं है दम, तो थर्मामीटर का क्या है दोष।

Y X Y

Y X Y

बुखार तो बढ़ेगा निश्चित, और तब बेटा! पड़ेगा वे-होश॥

निरापराध जीवों को मारने का फल

जं मारेसि रसंते, जीवा रे जीव णिरवराहे वा।

उवभुंजसि तं दुक्खं, पत्तो अइदारुणे णरए॥49॥

निरपराध जीवों को मारे, अरे जीव! वे करते रोष।

जीव पाप के फल से नरकों, के दुखों का पावें भोग॥49॥

अन्वयार्थ :- (रे जीव) अरे जीव! (जं) जो तुम (णिरवराहे) निरापराध (जीवा) जीवों को (मारे सि) मारते हो तो वे (रसंते) रोष करते हैं, चिल्लाते हैं (तं दुक्खं) उन निरापराध जीवों की हिंसा से उपार्जित पाप कर्म के उस दुःख रूप फल को (अइदारुणे णरये) अत्यंत भयंकर नरक में (पत्तो) पड़कर (उवभुंजसि) भोगते हो।

अर्थ :- अरे जीव! जब तू निरापराध जीवों को मारता है तो वे चिल्लाते हैं, रोष करते हैं। निरापराध जीवों की हिंसा से अर्जित पाप कर्म के उस दुःख रूपी फल को अत्यंत भयंकर नरक में पड़कर भोगना पड़ता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् भावों का कथन करते हुए कहते हैं कि जिस जीव का जैसा भाव होता है वैसा ही उसे फल मिलता है। अगर हमने निरापराध जीवों की हिंसा की, उन्हें सताया, उन्हें कष्ट दिया जिसके कारण उन्हें वेदना हुई, उनके परिणाम खराब हुये जिसके फलस्वरूप उन्हें अत्यंत भयंकर नरक की वेदना को सहन करना पड़ता है। नरक गति नाम कर्म के उदय से जीव की अवस्था विशेष को नरक गति कहते हैं अथवा जो नर अर्थात् प्राणियों को काटता है अर्थात् गिराता है, पीसता है, उसे ना रत अर्थात् नरक कहते हैं। नरक यह आयु कर्म है जिससे इनकी उत्पत्ति होती है उनको नरक कहते हैं और उनकी गति को नरक गति कहते हैं। नरक 7 होते हैं- 1. घम्मा, 2. वंशा, 3. मेघा, 4. अंजना, 5. अरिष्टा, 6. मघवा, 7. माघवी।

अधोलोक में सबसे पहले रत्नप्रभा पृथ्वी है, उसके तीन भाग हैं- खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। रत्नप्रभा के नीचे क्रम से शर्करा प्रभा आदि छः नरक चारों ओर एवं ऊपर नीचे छः दिशाओं में घनोदधिवातवलय से लगी हुई है परन्तु आठवी पृथ्वी दशों दिशाओं में ही घनोदधि वातवलय को छूती है उपर्युक्त पृथ्वियाँ पूर्व और पश्चिम दिशा के अंतराल में वेत्रासन के सदृश आकार वाली है तथा उत्तर और दक्षिण में समान रूप से दीर्घ एवं अनादि निधन है अधोलोक के मुख का विस्तार जगत्

Y X Y

Y X Y
 श्रेणी का सातवाँ भाग (1 राजू) भूमि का विस्तार जगत श्रेणी प्रमाण (7 राजू) ही है। मंदराचल के मूल से नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। चार राजू मोटा और जगत प्रतर प्रमाण लंबा चौड़ा अधोलोक है। नरक में 4 प्रकार के दुख होते हैं— 1. **शारीरिक दुख**— वह जीव (पर्याप्ति पूर्ण करते ही) भय से काँपता हुआ बड़े कष्ट से चलने के लिए प्रस्तुत होकर 36 आयुधों के मध्य में गिरकर वहाँ से 7 धनुष 3 हाथ 6 अंगुल ऊपर उछलता है इससे आगे शेष छः पृथिवियों में उछलने का प्रमाण क्रम से उत्तरोत्तर दूना-दूना है। 2. **परस्परकृत दुख**— उसको वहाँ उछलता देखकर पहले नारकी उसकी और दौड़ते हैं, शस्त्रों, भयंकर पशुओं व वृक्ष आदि का रूप धरकर उसे मारते हैं व खाते हैं हजारों यंत्रों में पेलते हैं, साँकलों से बाँधते हैं व अग्नि में फेंकते हैं, करोंत से चीरते हैं व भालों से बींथते हैं, पकते तेल में फेंकते हैं, शीतल जल समझकर यदि वह वैतरणी नदी में प्रवेश करता है तो भी वे उसे छेदते हैं, सर्प आदि का रूप धरकर उसे भक्षण करते हैं, जब आश्रय ढूँढने के लिए बिलों में प्रवेश करता है तो वहाँ अग्नि की ज्वालाओं का सामना करना पड़ता है। शीतल छाया के भ्रम से असि पत्र वन में जाते हैं वहाँ उन वृक्षों के तलवार के समान पत्तों से अन्य शस्त्रास्त्रों से छेदे जाते हैं, गृद्ध आदि पक्षी बनकर उसे खा जाते हैं। आंगोपांग चूर्णकर उसमें क्षार जल डालते हैं फिर खंड-खंड करके चूल्हों में डालते हैं, तप्त लोहे की पुतलियों से आलिंगन कराते हैं, उसी के माँस को काटकर उसके मुख में देते हैं। गलाया हुआ लोहा, ताँबा उसे पिलाते हैं पर फिर भी वे मरण को प्राप्त नहीं होते हैं। नारकियों को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है जिसके कारण दूर से ही दुखों के कारणों को जानकर उनको दुख उत्पन्न हो जाता है और समीप में आने पर एक-दूसरे को देखने से उनकी क्रोधाग्नि भभक जाती है। पूर्व भव का स्मरण होने से कुत्ता और गीदड़ के समान एक-दूसरे का घात करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी विक्रिया से अस्त्र-शस्त्र बनाकर उनसे तथा अपने हाथ-पाँव और दाँतों से छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदि के द्वारा परस्पर अति दुख उत्पन्न करते हैं। वे कुत्ते आदि जीवों की विष्टा से भी अधिक दुर्गांधित मिट्टी का भोजन करते हैं और वह भी उनको अत्यंत अल्प मिलती है जबकि उनकी भूख अधिक होती है। 3. **भूख प्यास संबंधी दुख**— नरक में नारकी जीवों को भूख ऐसी लगती है कि समस्त पुद्गलों का समूह भी उसको शमन करने में समर्थ नहीं तथा वहाँ पर-तृष्णा बड़वाग्नि के समान इतनी उत्कृष्ट होती है कि समस्त समुद्रों का जल भी पी ले तो भी नहीं मिटती है। रोग संबंधी दुख भी और शीत-उष्ण आदि वेदना के दुख भी अत्यंत होते हैं। 4. **क्षेत्रकृत दुख**—वहाँ का क्षेत्र स्पर्श होते ही हजारों बिच्छुओं के काटने जैसा कष्ट होता है।

असुर कुमार जाति के देव परस्पर में बैरभाव याद करके भी लड़ाते रहते हैं। मानसिक दुख भी उन्हें

(86)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
अधिक होता है। जिसके कारण दुखी होते हुए आर्त्त-रौद्ध रूप भावों के द्वारा अनेक कर्मों का आस्रव करता है। नारकी जीवों के शरीर में निगोद राशि नहीं होती है, उनका शरीर आयु पूर्ण होने पर कपूर की भांति उड़ जाता है। पहली पृथ्वी से लेकर पाँचवीं पृथ्वी के तीन चौथाई भाग में अत्यंत उष्ण वेदना तीव्र गर्मी होती है। पाँचवीं पृथ्वी के अवशिष्ट चतुर्थ भाग में तथा छठवीं, सातवीं पृथ्वी में स्थित नारकियों के बिल अत्यंत शीत वेदना वाले होते हैं। नारकियों के उपर्युक्त 84 लाख बिलों में से 82 लाख 25 हजार बिल उष्ण और 1 लाख 75 हजार बिल अत्यंत शीत है। किन्हीं शास्त्रों में पाँचवीं पृथ्वी के ऊपरी दो भागों में उष्ण वेदना एवं एक भाग में शीतल वेदना होती है। इस प्रकार अपने परिणामों को सम्हालते हुए आत्म कल्याण की ओर कदम बढ़ाना चाहिए।

परधन, परस्त्री की चाह रखने का फल

जं हरसि परधणाइं जं च वियारेसि पर कलत्ताइं।

तं जीव पाव णरए अइघोरे सहसि दुक्खाइं॥50॥

अरे जीव! पर धन को हरते, पर में रखें बुरे विचार।

जिसके फल से घोर नरक में, जाके ढोते दुख का भार॥50॥

अन्वयार्थ :- (जीव) हे जीव! (जं) जो तुम (परधणाइं) दूसरों के धन को (हरसि) हरते हो, चुराते हो (च) और (जं) जो तुम (पर कलत्ताइं) दूसरों की स्त्रियों के विषय में (वियारे सि) बुरे विचार करते हो (तं पाव दुक्खाइं) तब हे पापी! जीव तुम उस पाप के दुःख रूपी फलों को (अइघोरे) अत्यंत भयंकर (णरए) नरक में (सहसि) सहन करते हो।

अर्थ :- अरे जीव! जब तुम दूसरों के धन को चुराते हो, जब दूसरे की स्त्रियों के बारे में बुरे विचार करते हो, तब तुम उस पाप के फलस्वरूप अत्यंत भयंकर नरक में जाकर दुःखों को सहन करते हो।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि जो जीव धन के लोभ में आकर दूसरों के धन को हरण करता है वह अनेक प्रकार के कष्टों को प्राप्त करता है। सत्यघोष ने परधन के लोभ में आकर अनेक कष्ट पाएँ। इसकी कथा इस प्रकार है।

जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र संबंधी सिंहपुर नगर में राजा सिंहसेन रहता था। उसकी रानी रामदत्ता थी। उसी राजा का एक श्रीभूति नाम का पुरोहित था। वह हमेशा बोला करता था कि अगर मैं झूठ बोलूँ तो कैंची से अपनी जिह्वा का छेद कर लूँगा। ऐसा करने से वह सत्यघोष घोषित हो गया। लोग उसके ऊपर विश्वास करके अपना धन सुरक्षित रखने लगे। सत्यघोष और के धन को पाकर लोभी हो गया। वह कुछ

Y X Y

Y X Y
 धन तो रखने वालों को दे देता था और बाकी स्वयं ग्रहण कर लेता था।

एक बार पद्मखंड नगर से एक समुद्रदत्त नाम का सेठ आया। वह सत्यघोष के पास अपने पाँच बहुमूल्य रत्न रखकर धन उपार्जित करने के लिये समुद्र के दूसरे पार चला गया और वहाँ धनोपार्जन करके जब लौट रहा था तब उसका जहाज फट गया। किसी तरह से समुद्र को पार करते हुए सिंहपुर नगर में सत्यघोष के पास आया और अपने रत्न माँगने लगा। प्रणाम करके निवेदन पूर्वक बोला— धनोपार्जन करने के बाद मेरे ऊपर बड़ा संकट आ पड़ा है। इसलिए मैंने तुम्हें जो रत्न दिये थे वे रत्न कृपाकर मुझे दे दीजिए। जिससे जहाज फट जाने के कारण निर्धनता को प्राप्त हुए अपने आपका उद्धार कर सकूँ। उसके वचन सुनकर सत्यघोष ने पास बैठे लोगों से कहा— देखो मैंने पहले ही कहा था कि यह आदमी पागल हो गया है, इसे स्थान नहीं देना चाहिए और उसे घर से निकाल दिया। सेठ दिन भर रोता हुआ नगर में घूमने लगा और यही कहता कि सत्यघोष ने मेरे रत्न ले लिये। राजमहल के पास इमली के पेड़ पर चढ़कर वह पिछली रात में रोता हुआ यही कहता था, पुरोहित ने मेरे रत्न ले लिए ऐसा करता हुआ उसे 6 माह लग गये।

एक दिन रानी ने राजा से कहा कि यह पुरुष पागल नहीं है। रानी ने उसकी परीक्षा करना चाही। राजाज्ञा पाकर रानी ने सत्यघोष से पूछा कि आप बहुत देर से क्यों आये हैं? सत्यघोष ने कहा— आज मेरी पत्नी का भाई आया था उसे भोजन कराते हुए बहुत देर लग गई। रानी ने कहा— आज हमारी जुआ खेलने की इच्छा हो रही है जुआ खेलते हैं।

रानी यहाँ जुआ खेल रही है तब उसने दासी को भेजकर कहा कि तुम सत्यघोष के घर जाकर बोलना कि पुरोहित रानी के पास बैठे हैं उन्होंने रत्न मंगाये हैं। दासी ने रत्न मंगाये किंतु उसने नहीं दिये क्योंकि सत्यघोष ने पहले ही मना कर रखा था कि किसी के माँगने पर भी रत्न नहीं देना। रानी ने पुरोहित की अंगूठी जीत ली। अंगूठी लेकर दासी को भेजा तब भी उसने रत्न नहीं दिये। अब की बार रानी ने पुरोहित का जनेऊ जीत लिया उसे लेकर दासी को भेज दिया। अब तो पुरोहित की पत्नी मना नहीं कर सकी और उसने रत्न दे दिये। राजा ने अन्य रत्नों में मिलाकर सेठ से कहा— तुम अपने रत्न पहचान लीजिए। सेठ ने अपने रत्नों को पहचान लिया तब राजा ने यह मान लिया कि वह पागल नहीं है बल्कि वणिक पुत्र है। राजा ने जब यह सब वृत्तांत सत्यघोष से पूछा कि तुमने सेठ के धन को हरण किया था तो उसने मना कर दिया। इससे कुपित होकर राजा ने उसके लिए तीन दण्ड निर्धारित किये— 1. तीन थाली गोबर खाओ। 2. पहलवानों के मुक्के खाओ। 3. समस्त धन देओ।

इस प्रकार प्रथम गोबर खाना शुरू किया। जब वह खाने में असमर्थ हुआ तब पहलवानों के

Y X Y

(88)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
मुक्के सहन करना शुरू किया, जब उसमें भी असमर्थ रहा तब सब धन देना स्वीकार किया। अन्त में मरकर नरक में गया। जो दूसरों को गड़ढा खोदता है वह स्वयं गड़ढा में गिरता है। रावण ने परस्त्री पर नियत रखी थी तो देखो अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करना पड़ा। जो परस्त्री के त्यागी हैं वे संसार में निर्भीक हो जाते हैं। उनकी कीर्ति सब जगह फैल जाती है। आज उस वीर पुरुष की परस्त्री हरण के पाप से यह दशा हुई तो और साधारण पुरुष परस्त्री का सेवन करते हैं वह कौन-कौन से कष्टों को उठायेंगे इसमें संदेह नहीं है।

क्षणभंगुर इन्द्रिय जनित सुख भोग

अथिराण चंचलाण य, खणमित्तसुहंकराण पावाणं।

दुग्गइ णिबंघणाणं, विरमसु एयाण भोयाणं॥51॥

अस्थिर चंचल क्षणिक सुखों को, दुर्गति के कारण हैं पाप।

पंचेन्द्रिय के भोग जीव रे!, इनसे करो विरक्ती आप॥51॥

अन्वयार्थ :- (अथिराण) अस्थिर, क्षण-भंगुर (चंचलाण) चंचल (य) और (खणमित्त सुहंकराण) क्षण मात्र सुख को करने वाले (दुग्गइ णिबंघणाणं) दुर्गति के कारण (पावाणं) पापों से और (एयाण भोयाणं) इन पंच इन्द्रियों के भोगों से अरे जीव! (विरमसु) तू विरक्त हो।

अर्थ :- अस्थिर, क्षण-भंगुर, चंचल और क्षण मात्र सुख को करने वाले दुर्गति के कारण भूत पापों से और इन पंच इन्द्रियों के भोगों से हे जीव! तू अपने आप को विरक्त कर।

विशदार्थ :- परम पूज्य आचार्य भगवन् वात्सल्य पूर्वक कहते हैं, इन्द्रिय किसे कहते हैं? जो इन्द्र के समान अपने-अपने विषय में स्वतंत्र होती हैं उसे इन्द्रियाँ कहते हैं। इन्द्रियाँ 5 होती हैं- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण। **स्पर्शन इन्द्रिय-** जिसके द्वारा छूने का ज्ञान होता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। इसमें हाथी प्रसिद्ध हुआ। हाथी कामवासना के वशीभूत होकर अपने प्राण को गँवा देता है। शिकारी गड़डे में कागज की हथनी रखकर उसे पकड़ने के लिए जाल फैलाते हैं, कामांध हाथी जब उसके सामने आता है तो घास-फूस से भरे गड़डे में गिर जाता है और कई दिनों तक उसी में पड़ा-पड़ा अपने प्राणों को गवां देता है। **रसना इन्द्रिय-** जिसके द्वारा खट्टा-मीठा आदि रसों का स्वाद आता है। इसमें मछली प्रसिद्ध हुई। मछुवारे कांटे में आटा लगाकर जाल नदी में फेंकते हैं जिससे रसना के वशीभूत होकर मछलियाँ जैसे ही खाने को दौड़ती हैं वे जाल में फँस जाती हैं और प्राण गवां बैठती है। **घ्राण इन्द्रिय-** जिसके द्वारा सुगंध दुर्गंध का ज्ञान होता है। इसमें भौंरा प्रसिद्ध हुआ है। भौंरा बगीचे में फूलों के ऊपर

Y X Y

Y X Y
बैठकर पराग सूंघता है किन्तु वह सूंघने में इतना अधिक मस्त हो जाता है कि उसे पता ही नहीं चलता कि सूर्य कब अस्त हो गया और कमल बंद होने पर अपने प्राण गवाँ देता है।।

चक्षु इंद्रिय— जिसके द्वारा देखने का ज्ञान होता है। इसमें पतंगा प्रसिद्ध हुआ। बारिश के दिनों में जब पानी गिरने के बाद धूप निकलती है तब बहुत कीड़े उत्पन्न होते हैं। रात में लाईट जलने से बहुत कीट पतंगे लाईट के पास आकर मरते हैं लेकिन उसके पास आना बंद नहीं करते हैं।

कर्ण इंद्रिय— जिसके द्वारा सुना जाता है उसे कर्ण इंद्रिय कहते हैं। इसमें सर्प और हिरण प्रसिद्ध हुआ। सपेरे सर्प को पकड़ने के लिए बीन बजाते हैं। बीन की आवाज सुनकर सर्प भागता हुआ आता है और अपने प्राणों की परवाह नहीं करता और सपेरे के जाल में फँस जाता है। इस प्रकार एक-एक इंद्रिय के विषयों में अटका प्राणी अपने प्राणों को गंवा देता है तो फिर पंचेन्द्रिय के विषयों में अटके प्राणी की क्या दशा होगी? इन्द्रिय से उत्पन्न सुख थोड़ी देर तो सुख लगता है किन्तु कुछ समय बाद वही सुख दुखदायी होने लगता है। जिस प्रकार से शरीर में फोड़ा हो जाय तो फूल लगाने पर कष्ट का अनुभव होगा किन्तु शरीर में फोड़ा ना हो तो फूल लगाने पर सुख का अनुभव होगा। इसी प्रकार इंद्रिय से उत्पन्न सुख क्षणिक, विनाशीक, बिजली की भाँति चंचल कब आये और कब चला जाय? दुर्गति के कारणभूत पापों से बचकर हे भव्य आत्मन्! अपने आपको विरक्त कर सांसारिक मोह माया ममता को छोड़कर वैराग्य वर्धनी माँ जिनवाणी की शरण को प्राप्त होओ जिससे आत्मा का विशद कल्याण होगा।

माथा रगड़ने मात्र से, खूबी नहीं पाओगे 'विशद'।

खूबी के लिये इंद्रिय, दमनकर सदराह पर बढ़ना होगा।।

बन्ध के कारणों की निर्जरा करने का निर्देश

कोहो माणो माया, लोहो तहेव पंचमो मोहो।

ए-ए णिज्जरिऊणं, वच्चसि अजरामरं ठाणं॥52॥

क्रोध मान माया लोभादिक, मोहबन्ध के हेतू जान।

करो निर्जरा अरे जीव! तुम, अजर अमर पाओ स्थान॥52॥

अन्वयार्थ :- (कोहो माणो माया लोहो) क्रोध, मान, माया व लोभ (तहेव) उसी तरह (पंचमो मोहो) पाँचवें मोह मिथ्यात्व (ए-ए) इन पाँचों बन्ध के कारणों की (णिज्जरिऊणं) निर्जरा करके - अरे जीव! तुम (अजरामरं ठाणं) अजर अमर स्थान मोक्ष को (वच्चसि) जाओ।

अर्थ :- क्रोध, मान, माया व लोभ उसी तरह पाँचवें मोह-मिथ्यात्व इन पाँचों बंध के कारणों की

(90)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
निर्जरा करके, अरे जीव! तुम अजर अमर स्थान अर्थात् मोक्ष को जाओ।

विशदार्थ :- परम पूज्य आचार्य भगवन् कहते हैं यह प्राणी मिथ्यात्व के वशीभूत होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। मिथ्यात्व की वजह से हिताहित का ज्ञान नहीं होता है, स्व को भूल पर में ही बुद्धि लगाता है। नरक निगोद जैसी खोटी गतियों में जाकर असहनीय दुख सहन करता है मिथ्यात्व के कारण। एक नगर में एक राजा था। उसका नाम अरविन्द था। अचानक उसे ताप ज्वर हो गया। एक दिन वह ज्वर से पीड़ित होकर बिस्तर पर लेटा था कि दीवार पर दो छिपकली झगड़ रहीं थीं। आपस में दोनों की खींचातानी से एक छिपकली की पूँछ कटकर गिर गई और उसके रक्त की बूँद राजा के शरीर पर पड़ गई जिससे शीतलता का अनुभव होने से उसे अच्छा लगा। क्या कहीं जानवर के रक्त से या मनुष्य के रक्त से शरीर में शीतलता उत्पन्न होती? किन्तु मिथ्यात्व की वजह से राजा की विपरीत बुद्धि चलने लगी।

राजा

ने

पुत्र

से कहा— रक्त की बूँद से हमें शीतलता मिलती है इसलिए एक कुंड में रक्त की व्यवस्था की जाए। पुत्र ने सोचा कि कैसे इतने रक्त की व्यवस्था हो? बेटा परेशान हो कर जानवर मारने के लिए जंगल गया था

क

उसे एक मुनिराज मिले। मुनिराज से बेटे ने निवेदन किया कि हमारे पिताजी को ताप ज्वर हो गया है उन्हें रक्त की एक बूँद से शीतलता मिली तो उन्होंने आदेश दिया कि रक्त का कुण्ड बनाया जाए। मुनिराज ने समझाया— बेटा जीवों की हिंसा करके रक्त के कुण्ड में रहने से कभी ज्वर शांत नहीं होता है बल्कि जीवों की हिंसा से अनेक प्रकार का पाप होता है अतः कभी भी जीव हिंसा नहीं करनी चाहिए। मुनिराज के वचनों से राजकुमार को जैनधर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है और उसने कृत्रिम रक्त कुण्ड की व्यवस्था की। राजा उसमें नहाता और सुख का अनुभव करता। एक दिन नहाते-नहाते कृत्रिम रक्त की कुछ बूँदें राजा के मुख में प्रवेश कर गई जिसका स्वाद रक्त जैसा न होकर अलग प्रकार से लगा। तब राजा को लगा कि मेरे पुत्र ने मेरे साथ धोखा किया। राजा उसे मारने के लिए दौड़ा किन्तु पैर फिसलने से उसकी मृत्यु हो गई और वह मरकर नरक गया। आचार्य वसुनंदि महाराज कहते हैं कि मिथ्यात्व इंसान के जीवन का घातक है। जो सद्गुण के उपवन को जलाकर खाक कर देता है। मिथ्यात्व के पाप से एक भव का नहीं कई भवों का नाश होता है।

दुर्लभ मनुष्य पर्याय

इय णाऊण असारे, संसारे दुल्लहं पि मणुयत्तं।

तह करि जिणवर धम्मं, जह सिद्धं पावए अजरा॥53॥

Y X Y

Y X Y

इस असार संसार में मानव, है दुर्लभ पर्याय महान।

ऐसा जान धर्मधारण कर, अजर सुपद पाओ निर्वाण॥53॥

अन्वयार्थ :- (असारे संसारे) इस असार संसार में (मणुयत्तं पि) मनुष्य पर्याय ही (दुल्लहं) दुर्लभ है। (इथ णाऊण) ऐसा जानकर (तह) उस तरह (जिणवर धम्मं करि) जिन धर्म को धारण करो। (जह) जिससे (अजरा) बुढ़ापा रहित (सिद्ध) मोक्ष को (पावए) प्राप्त करो।

अर्थ :- इस असार संसार में मनुष्य पर्याय ही दुर्लभ है, ऐसा जानकर उस तरह जिन धर्म को धारण करो, जिससे बुढ़ापा रहित मोक्ष को प्राप्त करो।

विशदार्थ :- परम पूज्य आचार्य भगवन् कहते हैं कि बारह भावना में मंगतरायजी ने कहा हैं-

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रसगति पानी।

नर काया को सुरपति तरसें, सो दुर्लभ प्राणी॥

उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना।

दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ संयम, पंचम गुण ठाना॥

दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षा का धरना।

दुर्लभ मुनिवर के व्रत पालन, शुद्ध भाव करना॥

दुर्लभ तैं दुर्लभ है चेतन, बोधि ज्ञान पावे।

पाकर केवलज्ञान नहीं फिर, इस भव में आवे॥

अर्थात् निगोद पर्याय से त्रस पर्याय का पाना अत्यंत कठिन है। एकेंद्रिय से दो इंद्रिय, दो इंद्रिय से तीन इंद्रिय, तीन इंद्रिय से चार इंद्रिय, चार इंद्रिय से पंचेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय में मनुष्य पर्याय को पाना अत्यंत कठिन है। मनुष्य पर्याय ही सर्वोत्तम है। इस पर्याय को पाने के लिए देवता भी तरसते हैं। भोग और सुख भोगने के लिए देव पर्याय अच्छी है किन्तु मनुष्य पर्याय में त्याग, संयम, व्रत का पालन करके आत्म कल्याण के लिए मुनिव्रत धारण करने से श्रेष्ठ है। मनुष्य पर्याय में उत्तम देश, संगति अच्छी, जैन कुल, सम्यक् दर्शन प्राप्त करना, संयम धारण करना, देशव्रती बनना, दीक्षा धारण करके रत्नत्रय प्राप्त कर साधना करना उससे भी दुर्लभ है रत्नत्रय प्राप्त करके रत्नत्रय रूप भाव बनाना। ये सभी अत्यंत दुर्लभ हैं, इसलिए हे भव्य जीव! मानव पर्याय कई जन्मों में प्राप्त की है किन्तु अब सम्हल जाओ पता नहीं कब जीवन का सूर्य अस्त हो जाय और हम यहीं पड़े रह जाएँ। समय का कोई भरोसा नहीं है जिस प्रकार सागर में गिरा हुआ रत्न पाना अत्यंत दुर्लभ है। उसी प्रकार संसार सागर में भटके हुए जीव को मनुष्य

Y X Y

(92)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
पर्याय प्राप्त करना अत्यंत दुर्लभ है ऐसा निश्चित करके तुम मिथ्यात्व और विषय कषाय को छोड़कर बस चेतनता का ही ध्यान करो। एक स्थान पर कहा गया है कि अयोध्या के राजा प्रजापाल पर राजगृह के जितपाल राजा ने एक बार चढ़ाई की और सारी अयोध्या को चारों तरफ से घेर लिया। राजा ने प्रजा से कहा— जिसके यहाँ धान के जितने बोरे हों उन सब बोरों को लाकर और गिनती करके मेरे कोठों में सुरक्षित रख दें। मेरी इच्छा है कि शत्रु को एक दाना भी ना प्राप्त हो। ऐसी स्थिति में उसे लौट जाना ही उचित लगेगा। सभी प्रजा ने राजाज्ञा का पालन किया। जब शत्रु राजा को अयोध्या से अन्न न मिला, तब थोड़े ही दिनों में उसकी अकल ठिकाने पर आ गई। उसकी सेना भूख के मारे मरने लगी आखिरकार जितपाल को लौट जाना ही पड़ा। जब शत्रु अयोध्या से चले गये तब प्रजा ने राजा से अपने-अपने धान को ले जाने की प्रार्थना की। राजा ने कहा— सभी अपना-अपना धान पहचान कर ले जायें। अब अपने-अपने धान को वो कैसे पहचान पायेंगे, पर कभी कर्मयोग से ऐसा हो जाना भी संभव है पर मनुष्य जनम एक बार नष्ट हो गया तो पुनः मिलना अत्यंत कठिन है इसलिए मनुष्य जन्म को प्राप्त कर धर्म को धारण करो जिससे बुढ़ापा रहित विशद निर्वाण की प्राप्ति हो सके।

जिन धर्म को धारण नहीं करता है, तो धिक्कार है

रे जीव! पावणिग्घिण, दुलहं लहिऊण माणुसं जम्मं।

जो ण कुणसि जिण धम्मं, हा पच्छा तं विसूरिहसि॥54॥

अरे! पाप में निग्घिण हो तू, दुर्लभ मानव पा पर्याय।

है धिक्कार जिनधर्म धरे ना, अन्त में धर्म हेतु पछताय॥54॥

अन्वयार्थ :- (रे जीव! पावणिग्घिण) अरे! पाप में ग्लानि रहित जीव! तू (दुलहं) दुर्लभ (माणुसं जम्मं) मनुष्य जन्म को (लहिऊण) प्राप्तकर (जिणधम्मं ण कुणसि) यदि तू जिन धर्म को धारण नहीं करता है तो (हा) कष्ट है, दुःख है (तं विसूरिहसि पच्छा) कि तू बाद में उस धर्म को पाने के लिए पछताएगा।

अर्थ :- अरे पाप में ग्लानि रहित जीव! तू दुर्लभ पुण्य रूप मनुष्य जन्म को प्राप्त कर भी यदि तू जिन धर्म को धारण नहीं करता है तो धिक्कार है। बाद में उस धर्म को पाने के लिए तू पछताएगा।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् धर्म की महिमा का विशद विवेचन करते हुए कहते हैं कि—

धर्म करत संसार सुख, धरम करत निरवान।

धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यच समान॥

Y X Y

Y X Y

धर्म करने से मोक्ष सुख प्राप्त होता है। धर्म करने से संसार का सुख भी मिलता है जैसे कि किसान अनाज के लिये खेती करता है लेकिन भूसा स्वयमेव ही मिल जाता है जितना भी हम उपाय करते हैं, सभी निर्वाण के लिये करते हैं लेकिन संसार के सुख तो भूसे की तरह स्वतः ही मिल जाते हैं। धर्म के बिना मनुष्य तिर्यच के समान है, धर्म जीवों को संसार के दुखों से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचाता है। धर्म कर्म का नाश करने वाला है। मोक्ष सुख प्रदान करने वाला है जो अबाधित अर्थात् बाधा से रहित है और सभी प्राणियों का कल्याण करने वाला है। धर्म रत्नत्रय रूप होता है। कोई कहता है 'वस्तु स्वभावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है, कोई कहता 'दंसण मूलो धम्मो', धर्म का मूल सम्यक्दर्शन है कोई कुछ कहता है, कोई कुछ समझ में नहीं आता है। कई बार चिंतन, मनन करने पर हमने ये निर्णय निकाला कि 'कर्तव्यमेव धर्मः'। कर्तव्य ही धर्म है। अब ये परिभाषा हर जगह सटीक बैठ जाती है क्योंकि प्रत्येक जीव का अपना-अपना कर्तव्य ही धर्म है। माँ का धर्म बच्चों का पालन पोषण करना, शिक्षक का धर्म पढ़ाना, डाक्टर का धर्म जान बचाना, चोर का धर्म चोरी करना, वकील का धर्म वकालत करना, आचार्य का धर्म दीक्षा देना आदि। उपाध्याय का धर्म शिक्षा देना जो जीव धर्म का थोड़ा सा भी पालन करते हैं उन्हें अटूट, अपार संपदा की प्राप्ति होती है। एक नगर में सोनू-मोनू नाम के दो भाई थे। मोनू धर्मात्मा था लेकिन सोनू धर्म से विहीन था, धनी था जो मोनू से कहता धर्म कर्म कुछ नहीं है। कुछ काम किया कर किन्तु सोनू को धर्म पर विश्वास था। एक दिन दोनों में बहस हुई इसका निर्णय किसी महात्मा जी से करना चाहिए। उनके पास जाने को हुए तभी रास्ते में मोनू के पैर में ठोकर लग गई और सोनू को 2 हजार का नोट रास्ते में पड़ा हुआ मिला। दोनों की आपस में चर्चा के दौरान सोनू ने कहा ले देख ले बड़ा धर्मात्मा बनता यहीं निर्णय हो गया मेरे लिए रास्ते में 2 हजार रुपये की प्राप्ति हुई और तेरा पैर टूट रहा है क्या फायदा महात्मा जी के पास जाने से किन्तु मोनू ने कहा नहीं हम तो निर्णय के लिए जायेंगे।

महात्मा जी के पास जाने पर उनसे धर्म-अधर्म के निर्णय की बात करने के पहले दोनों ने अपनी-अपनी घटना सुनाई तो निमित्त ज्ञानी महात्मा जी ने निमित्त ज्ञान से जानकर बताया- मोनू आज तेरी मृत्यु होने वाली थी किन्तु धर्म के फल से मृत्यु मात्र एक ठोकर में बनकर निकल गई और सोनू को आज राज्य प्राप्त होने वाला था किन्तु उसकी मस्ती ने उस राज्य को मात्र 2 हजार रुपये में सीमित कर दिया। अब उल्टी गिनती प्रारम्भ होगी। मोनू को विशेष फल प्राप्त होने वाला है और सोनू के बुरे दिन आने वाले हैं। यह सुनकर सोनू भी धर्म की राह पर चल पड़ा। धर्म का विशद फल व्यक्ति के जीवन में सुख शांति प्रदान करने वाला है।

जिन धर्म को नहीं पालने के कारण ही दुःखी

जो ण कयं अण्णभवे, धम्मं रे जीव! सुंदरं विमलं।

Y X Y

अणु हवसि ताइं पुरुओ, दुक्खाइं अणंत संसारे॥५५॥

अन्य भवों में सुन्दर निर्मल, जैन धर्म न धारे जीव।।

इस अनन्त संसार वास में, दुःख उठाए अतः अतीव॥५५॥

अन्वयार्थ :- (रे जीव) अरे जीव! (अण्णभवे जो सुंदरं विमलं धम्मं ण कयं) अन्य भव में तूने जो सुन्दर, निर्मल जिन धर्म को धारण नहीं किया, इसीलिए (अणंत संसारे) अनादि संसार में (ताइं पुरुओ दुक्खाइं) उन महान दुःखों को (अणुहवसि) अनुभव कर रहा है।

अर्थ :- अरे जीव! तूने अन्य भवों में जो सुन्दर, निर्मल जिन धर्म को धारण नहीं किया था, इसीलिए अनादि संसार में तू महान घोर दुःखों का अनुभव कर रहा है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि संसार में कोई भी व्यक्ति सुखी नहीं है। जब दुख या कष्ट आता है तो सब कुछ भूल जाता है। इस संसार की संक्लेशता, वेदना में अपने परमार्थ का ध्यान रखना, संसार की चकाचौंध में परमार्थ को भूल जाना ही सबसे बड़ी भूल है। सुख दुख तो परछाई की भांति निरंतर बदलते रहते हैं। सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख आता ही है। अगर शाश्वत सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न कर लिया तो दुख कभी होगा ही नहीं। जिस त्याग में, नियम, व्रत, धर्म, माला, पूजा, सामायिक आदि में वर्तमान में तो दुख हो सकता है किन्तु दुख में दुख को महसूस न करके समता धारण करके कर्तव्य करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है। सुख दुख में संतुलन बनाना ही अनिवार्य है दुख के समय जिस प्रकार आप परमात्मा को स्मरण करते हैं वैसे ही सुख के समय भी करना चाहिए। यदि सुख के दिनों में भी भगवान का स्मरण करते रहोगे तो कभी तुम्हारे जीवन में दुख नहीं आयेगा।

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय।

जो सुख में सुमिरन करे, तो दुख काहे को होय॥

दुख के आने पर व्यक्ति परमात्मा को स्मरण करता है तथा दुख के निकल जाने पर भगवान को भूल जाता है। सुख में यदि भगवान को याद कर लिया जाए तो फिर दुख कभी नहीं होगा। सुख में दुख के बीज बोये तो भविष्य में फल भी दुख के ही प्राप्त होंगे। एक घटना आती है— एक नगर सेठ का बेटा मरण को प्राप्त हो गया। सेठानी बहुत दुखी हो रही थी अब क्या करूं? कैसे जीवन का गुजारा करूंगी? मेरा सब कुछ लुट गया। इसी बीच नगर में एक फकीर का आगमन हुआ। उसने कहा कोई भी किसी भी समस्या से ग्रसित हो मेरे पास सबका उपचार है। सेठानी ने सुनते ही वह दुखी होकर बोली कि

Y X Y

Y X Y
 मेरे बेटे को प्राण दान दीजिये उसे बचा लीजिए। फकीर को सेठानी की मनःस्थिति जानने में देर नहीं लग। उसने कहा— माँ इस संसार में जो सबसे ज्यादा सुखी है उसकी ड्रेस लाकर अपने बेटे को पहना दीजिए, वह बच जायेगा। वह सुबह शाम तक हर चौखट पर गई लेकिन उसे कोई पूर्ण सुखी व्यक्ति नहीं नजर आया। अंत में हारकर वह जैन साधु के पास पहुँची। निवेदन पूर्वक कहा कि महाराज! मेरे बेटे को बचा लीजिए। उसने संपूर्ण घटना मुनिराज को सुना दी। मुनिराज ने कहा मैं दिगम्बर रहता हूँ मेरे कोई ड्रेस नहीं है। ड्रेस तो नहीं है किन्तु मेरे जैसे सुखी होने के लिए एड्रेस दे सकता हूँ जिसके पास ड्रेस है वह सुखी नहीं है और जिनके पास ड्रेस नहीं है वह पूर्ण सुखी है। इस प्रकार जो जैन धर्म में दृढ़ चित्त होकर उसका पालन करता है वह सुखी रहता है किन्तु जो जिनधर्म से विहीन होकर यत्र—तत्र देवी—देवताओं में अपनी बुद्धि लगाता है वह संसार में भी भटकता रहता है।

पूर्व संचित पुण्य – पाप ही सुख-दुख का कारण

ण परो करेइ दुक्खं, णेव सुहं कोइ कस्सइं वेह।

जं पुण सुचरियं दुचरियं, परिणवइ पुराकयं कम्मं॥56॥

सुखी दुखी ना करे कोई भी, पुण्य पाप के फल से जीव।

अच्छे बुरे कर्म के फल से, परिणमता है वेतरतीव॥56॥

अन्वयार्थ :- (इह) इस लोक में (ण परो कस्सइं दुक्खं कोइ) न कोई दूसरा किसी को दुखी करता है (व) और (णेव कस्सइं कोइ सुहं करेइ) ना ही कोई किसी को सुखी करता है। (पुण) किन्तु (जं) जो (पुराकयं) पूर्वकाल में किया हुआ (सुचरियं) समाचरित पुण्य व (दुचरियं) दुराचरित पाप (कम्मं) कर्म (परिणवइ) अच्छे बुरे फल रूप परिणमन करता है अर्थात् सुख-दुःख रूप फल देता है।

अर्थ :- इस लोक में न कोई किसी को दुखी करता है और न ही कोई किसी को सुखी करता है, किन्तु जो पूर्वकाल में किया हुआ पुण्य पाप कर्म है, वही अच्छे बुरे रूप परिणमन करता है, अर्थात् सुख-दुःख रूप फल देते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् प्रज्ञा बुद्धि का सदुपयोग करते हुए कहते हैं प्राणियों को जो कुछ भी सुख, धन, वैभव, संपदा, परिवार आज प्राप्त हुआ है वह सब पूर्वकृत पुण्य का ही फल है। आज कई बार देखा जाता है कि जो कुछ समय पहले अच्छा रहीस था, धन संपन्न था वही कुछ समय बाद रोड पर आ जाता है। एक पिता के दो बेटे हैं। अपने पुण्य पाप के फल से मरण कर एक राजा के घर जन्मा,

Y X Y
दूसरा नौकर के यहाँ जन्मा। एक अच्छी सर्विस करके करोड़पति बन रहा है, दूसरा रोड़ साफ कर रहा है। ये सब कर्मों की ही लीला है। जब तक पुण्य पाप रूपी झूलने में यह प्राणी झूलता है तब तक शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं होता है। पाप कर्म के कारण प्राणी जहाँ भी जाता है वहाँ वह तिरस्कार को पाता है।

एक नगर में एक सेठ रहता था। उसके दो बच्चे थे— एक बेटा और एक बेटी। अचानक सेठ का स्वास्थ्य खराब हो गया और वह मरण को प्राप्त हो गया। समय के साथ दोनों भाई—बहिन बढ़ रहे थे। सेठ के मित्र ने बेटे की शादी एक संपन्न परिवार में करा दी। समय बढ़ रहा था बेटे के कंधे पर बहिन की शादी का बोझ था उसने भी अच्छा परिवार देखकर बहिन की शादी संपन्न परिवार में कर दी। दोनों सुख पूर्वक जीवन बिताने लगे। अचानक भाई के कारखाने में आग लग गई, सब कुछ जलकर खाक हो गया, कर्जदार कर्ज लेने के द्वार पर दस्तक देने लगे। उसने मकान बेचकर कर्ज पूरा किया। अब रहने खाने की समस्या उत्पन्न हो गई। पत्नी ने सलाह दी हमारे घर जाकर भाईयों से सहयोग ले लीजिए।

पाप कर्म के उदय से इतनी गरीबी आ जाती है कि खाने के लाले पड़ जाते हैं। वह मदद माँगने के लिए भाई के पास जाता है किन्तु भाई सोचता है अगर किसी ने इस अवस्था में देख लिया तो नाक कट जाएगी और उसे हालचाल पूछना तो दूर की बात पास में भी नहीं आए। वह बेचारी बहुत दुखी हो रही थी कि आज हमारे पास धन पैसा नहीं है तो हमारे साले ने ऐसा किया। सहयोग करना तो दूर पास भी नहीं आए। वहाँ से आशा लेकर बहिन के पास जाता है नगर में प्रवेश करते ही बहिन ने छत से भाई को देखा तो नौकर को भेजकर पीछे के द्वार से अन्दर बुला लिया। भोजन कराने के बाद पूछ लिया भाई घर कब जाओगे तो मैं नाश्ता तैयार कर दूंगी, सुनते ही भाई निराश हो जाता है। प्रातः होते ही बहिन के द्वारा दिये गये नाश्ते को लेकर आगे बढ़ता तो एक स्थान पर पत्थर के नीचे दबा दिया। चल पड़ा घर की ओर घर पहुँचते ही मित्र मिला उसने हाल जानकर सहयोग किया कि आप पहले रहने के लिए मकान तैयार कीजिए फिर व्यापार हमारे साथ कीजिए।

मित्र के सहयोग से मकान कार्य प्रारम्भ करते ही पुण्य जागा और धन की प्राप्ति हो गई। देखते ही देखते पुनः कारखाना शुरू हो गया। इसी बीच भानजी की शादी का संदेश आया वह बहुत सी सामग्री लेकर शादी में गया। थालियों में सामान रखा उसी के ऊपर पुराना नाश्ता का पैकेट रख दिया। लोग पूछते यह क्या? तब उसने कहा मेरी बहिन से पूछो। बहिन देखते ही समझ जाती और अपनी गलती स्वीकार करती। मैंने भाई का दुख में सहयोग नहीं किया। कुछ दिनों बाद साले के यहाँ शादी थी सभी अतिथि आए थे भोजन के समय लोगों ने कहा सबसे पहले जवाई जी भोजन शुरू करेंगे तब जवाई जी ने हार उतारकर भोजन कराया, अंगूठी को कराया, लोग कहने लगे यह क्या कर रहे तब उसने कहा यह सम्मान मेरा नहीं, इस दौलत का हो रहा है। मैं तो पहले भी आया था तब साले जी ने पास में आकर पूछा भी नहीं था आप कैसे हैं? अन्त में सभी गलती स्वीकार करते हैं और यह संकल्प करते हैं कि सभी के

Y X Y

Y X Y
 दुख के दिनों में सहभागी बनेंगे और सहयोग करके उठाने की कोशिश करेंगे। दुख में सहयोग देने वाले गुरुदेव हुए। कहा है- 'मेरे दुख के दिनों में वो बड़े काम आते हैं, जब कोई नहीं आता मेरे बाबा आते हैं। मेरे दुख के दिनों में वो बड़े काम आते हैं।'

पूर्व संचित पाप कर्म पाताल में खोजकर भी फल देगा

जइ पइससि पायाले, अडविइं अह महासमुदं वा।

पुव्वकयाइं न छुट्टिसि, अप्पाणं घायसे जइवि॥57॥

अरे जीव! पाताल गुफाओं, महासिन्धु में करे प्रवेश।

तो भी पूर्व स्वयं कृत कर्मों, से न तू बच सके विशेष॥57॥

अन्वयार्थ :- अरे जीव! तू (जइ पायाले) यदि पाताल में (अह) और (अडविइं) अटवी में (वा) अथवा (महासमुदं) महासमुद्र में (पइससि) प्रवेश करता है, (जइवि अप्पाणं घायसे) और यद्यपि आत्मा का घात भी करता है, तो भी (पुव्वकयाइं न छुट्टिसि) पूर्वकृत पाप कर्म से छुटकारा नहीं पा सकता है।

अर्थ :- अरे जीव! यदि तू पाताल में, गुफाओं में अथवा महासमुद्र में भी प्रवेश कर ले, तो भी पूर्वकृत पाप कर्मों से छुटकारा नहीं पा सकता।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कर्म की विडम्बना बड़ी विचित्र है, वह कर्म, उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से अनेक प्रकार का है। यदि उत्तम अर्थात् निधत्ति, निकाचित् आदि कर्म का बंध हो जाता है तो वह भोगना ही पड़ना है। उस कर्म से कोई बचने का कितना ही प्रयास करे कहीं भी जाकर छुप जावे किन्तु छोड़ेगा नहीं।

गुफा और पाताल में जाकर, छुप जाए यदि कोई जीव।

महासिन्धु में हो प्रवेश यदि, तो भी पाए दुःख अतीव॥

किए पूर्वकृत कर्म जीव ने, उनका फल पाए निश्चय।

'विशद' ज्ञान के धारी कहते, करो भव्य कर्मों का क्षय॥

निधत्ति कर्म जिसमें उत्कर्षण और अपकर्षण तो संभव है किन्तु उपशम और उदीरणा नहीं होती है तथा निकाचित कर्म में कुछ भी संभव नहीं है। यह निधत्ति और निकाचित् कर्म का बंध देव, शास्त्र, गुरु की अवहेलना करने पर उनकी निंदा या अवर्णवाद करने पर होता है। इसीलिए आगम का भी कथन है, अपने बुजुर्ग लोग कहा करते हैं कि मिट्टी या घास-फूस के भी साधु की या भगवान की अवहेलना, भगवान मेरे द्वारा ना हो ऐसी भावना रखना चाहिए। यदि कदाचित् भूल से हो जावे तो तुरंत ही क्षमा

Y X Y

(98)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
याचना करना चाहिए और प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्म विशुद्धि करना चाहिए।

कहने का तात्पर्य है कि कर्मों के आस्रव में हेतु क्या है इस बात का निरंतर चिंतन करते हुए अशुभ आस्रव के हेतुओं से बचने का प्रयत्न करें। इससे 'विशद' जीवन मंगलमय होगा।

अपने कर्म का स्वयं भोगता

जं चैव कयं तं चैव, भुंजसि णत्थि एत्थ संदेहो।

अकयं कत्तो पावसि, जइवि समो देवराण॥58॥

किए कर्म जो पहले तूने, भोगे तू ही निःसन्देह।

यद्यपि इन्द्र समान हो तो भी, बिना किए का ना फल एह॥58॥

अन्वयार्थ :- (जं चैव कयं) अरे जीव! तूने जो पूर्व में कर्म किया है, (तं चैव भुंजसि) उसे ही तू भोगता है (एत्थ संदेहो णत्थि) इसमें संदेह नहीं है। (जइवि देवराण समो) यद्यपि इन्द्र के समान भी हो तो भी (अकयं कत्तो) बिना किये हुये कर्म के फल को (पावसि) पाता है? अर्थात् नहीं पाता।

अर्थ :- हे जीव! तूने जो पूर्व में कर्म किया है, उसे ही तू भोगता है इसमें संदेह नहीं है। यद्यपि इन्द्र के समान हो तो भी बिना किए हुए कर्म के फल को नहीं पाता है।

विशदार्थ :- स्वयंकृतं कर्मयदात्मनापुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभं।

परेण दत्ते यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥ 30॥ सा. पाठ

आचार्य श्री अमितगति स्वामी कर्म के विषय में विशद विवेचन करते हुए कहते हैं कि इस जीव ने पूर्व पर्याय में जो कुछ भी अच्छा बुरा कार्य किया था उसका फल तो उसे ही भोगना पड़ेगा। कर्म तो स्वयं करता है तो भोगना भी अकेले ही पड़ेगा कोई किसी का साथी नहीं है। सीता ने पूर्वभव में मुनिराज और आर्यिका को देखकर सारे नगर में उपहास किया था उसी समय कर्म बन्ध पड़ा जिसके फल से उन्हें भी अपने जीवन में अपवाद सहना पड़ा। कर्म किसी को भी नहीं छोड़ता है चाहे राजा हो या रंक सभी जानते हैं। सीता का राम के साथ 14 वर्ष का वनवास हुआ और रावण ने सीता का हरण किया। अग्नि परीक्षा ली गई और लंका से वापिस आने पर राम ने सीता का परित्याग कर दिया यहाँ तक कि गर्भावस्था में दर-दर की ठोकें खाने को मजबूर होना पड़ा। राम जैसा महापुरुष जिसे मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता था वह भी लोगों के कहने में इस प्रकार आ गये कि सीता को जिस समय परिवार की, पति की, सुख सुविधाओं की आवश्यकता थी उस समय उन्हें वन की सैर करवा दी।

Y X Y

Y X Y

जीव जो कुछ भी अच्छा-बुरा कर्म करता है उसका फल तो उसे ही भोगना पड़ता है बल्कि प्राणी को समझाते हैं कि खुद का किया कर्म खुद ही काटना पड़ता है चाहे फल इस भव में मिले या परभव में भोगना तो प्राणी को स्वयं ही पड़ेगा। कोई दूसरा हमारे कर्मों के फल में अच्छा या बुरा निमित्त तो बन सकता है मगर फल भोगने वाला नहीं। यदि एक सा दुख एक साथ अनेक प्राणियों को है तो इसका मतलब यह नहीं कि एक का दुख सब में बंट गया बल्कि प्राणी के पूर्वकृत कर्मों का उदय एक साथ आया है तभी तो वह एक जैसा दुख भोगने को एक ही समय प्राप्त हुये हैं। दुख ही नहीं सुख भी अनेक प्राणियों को एक ही समय एक जैसा हो सकता है मगर उसका आधार दूसरा नहीं स्वयं के पूर्वकृत शुभ कर्मों द्वारा अर्जित पुण्य के फल का उदय है। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने एक साथ दीक्षा ली और एक ही साथ मुक्ति पथ पर बढ़ गये। लेकिन इसमें किसी भी दूसरे के कर्म का नहीं बल्कि प्रत्येक के द्वारा अपने-अपने कर्मों का विनाश किया गया। द्वारिका का भस्म होना स्वयं तीर्थंकर नेमिनाथ बता तो सके मगर रोक न सके, यहाँ तक कि कर्मों की मार से द्वीपायन मुनि तो प्रयास करके भी न बच सके। तब फिर हे भव्य प्राणी! तू क्यों गाफिल है, उठ जाग इस कर्म के कुचक्र को संयम के द्वारा ही क्षय किया जा सकता है अतः उसे काट तथा संयम धारण कर आत्मा में लीन होकर शाश्वत सुख प्राप्त कर। कहा भी है-

अरे! जाग तू मुसाफिर, आँखे तो खोल।

जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र

ब । १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ ।

कौन है तू सोच तेरा, क्या है धरम।

किए तूने अब तक, क्या-क्या करम॥

अन्दर में झाँक तू, अपने को तोल। जय....

सुख पाने का मार्ग

किससि सुससि सूससि, दीहं णीससि वहसि संतावं।

धम्मणेण विणा सोक्खं, कत्तो रे जीव! पाविहसि॥59॥

कृष हो शोक करे करवाए, सोए सुलाए धर संताप।

छोड़े दीर्घ निश्वास जीव तू, धर्म रहित सुख पाए क्या आप?॥59॥

अन्वयार्थ :- अरे जीव! (किससि) तू कृष होता है, (सुससि सूससि) शोक करता है और

Y X Y

(100)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
शोक करवाता है (दीह णीससि) दीर्घ निःश्वास छोड़ता है (संताप वहसि) संताप को धारण करता है,
(रे जीव) अरे जीव! तू (धम्मेण विणा) धर्म के बिना (सोक्ख) सुख को (कत्तो) कैसे
(पाविहसि) पा सकता है? अर्थात् नहीं पा सकता है।

अर्थ :- अरे जीव! तू कृष होता है, सोता है-सुलाता है, शोक करता है - शोक करवाता है, दीर्घ
निःश्वास छोड़ता है, संताप को धारण करता है। अरे जीव! तू धर्म के बिना सुख को कैसे पा सकता है?
अर्थात् नहीं पा सकता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं धर्म से मजबूत आधार संसार में अन्य कोई भी वस्तु नहीं
है। धर्म के द्वारा ही बड़े-बड़े पापियों ने अपनी नैया भव समुद्र से पार कर ली किन्तु आश्चर्य है कि धर्म
को जानकर भी प्राणी अपने बचाव हेतु अन्य शरण में चला जाता है। जहाँ पर सिवाय दुख दर्द और
मृत्यु के अलावा कुछ भी प्राप्त नहीं होता। कोई प्राणी जब घर से कहीं बाहर निकलता है तो कुछ दूर
निकलने पर थक जाने से प्रियजनों द्वारा बनाकर रखा हुआ नाश्ता कर लेता है। मगर संसार के इतने बड़े
मार्ग में बार-बार थकता है, बार-बार विषय वासनाओं से ही थकान मिटाना चाहता है। गरम हाथों को
अग्नि दिखाकर शांत करना चाहता है तथा अपने हाथ जलाकर फड़फड़ाने लगता है। किसी के जीवन में
एक लंबे समय तक सांसारिक कार्य करते-करते शरीर की शक्ति क्षीण होने लगती है, इंद्रियाँ शिथिल
पड़ जाती हैं, चाहकर भी किसी इंद्रिय के विषय की पूर्ति संभव नहीं होती। ऐसी स्थिति में भी सुख की
अभिलाषा कम नहीं होती अपितु और बढ़ जाती है। उसी स्थिति में मूर्ख लोकलाज के विरुद्ध कार्य
करके स्वयं हँसी का पात्र बनता है। लोक में उम्र के अनुसार ही मनोरंजन शोभा को प्राप्त होते हैं फिर भी
विषयाभिलाषी स्वर्ग की तरह सदाबहार नौजवान दिखाने के लिए बालों को रंगवाता है, झुर्रियों की
प्लास्टिक सर्जरी करवाता है, मुँह में बत्तीसी लगवाता है, आँखों में लेंस लगवाता है, ऊपर से बाह्य
आवरण तो लगवा सकता है किन्तु अंदर से उम्र नहीं छुपती। ऊपर से ही संसार के अन्य प्राणियों की
तरह धर्म का प्रदर्शन खूब करता है। दान भी करता है, पूजा पाठ भी करता है आदि-आदि। सभी धार्मिक
क्रियाएँ करता है। धर्म से ही साँस लेता और छोड़ता है। किन्तु यह मूर्ख प्राणी शोक करता है, शोक
करवाता है, दीर्घ निःश्वास लेता है, संताप को धारण करता है। अरे जीव! तू धर्म के बिना सुख को कैसे
पा सकता है अर्थात् नहीं पा सकता है? कहा भी है-

धर्म के फल से सुख मिले, धर्म से हो निर्वाण।

धर्म हीन नर लोक में, गाये पशू समान॥

Y X Y

Y X Y

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुख से भयभीत है किन्तु बड़ी विचित्र बात है जो चाहता है वह प्राप्त नहीं कर पाता है और जिससे भयभीत है वह हाथ धोकर पीछे पड़ा है। 'जो त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुख से भयवन्त' इसका सबसे बड़ा कारण 'धर्म करत संसार सुख' आप क्या कौन सा सुख चाहते हैं। संसार के सारे सुख धर्म से ही प्राप्त होंगे और 'धर्म करत निर्वाण' संसार से मुक्ति धर्म से ही प्राप्त होगी। कितनी कटु बात कही 'धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यञ्च समान' संसार में जो धर्म से विहीन हैं वे तन से मनुष्य हैं किन्तु मन के पशु हैं। पशुता का फल तो पाशविकता ही है। इतना जानकर भी इस संसार के प्राणी अपने जीवन में परिवर्तन ना लाए तो फिर आचार्य कुन्दकुन्द के शब्द याद आते हैं— 'जं रुच्चह तं कुज्जा'।

धर्म के बिना सुख होता, तो संसार में कोई दुखी नहीं होता

धम्मेण विणा जइ चिंतियाइं लब्भंते जीव सोक्खाइं।

तो तिहुवणम्मि सयले, मणु को वि ण दुक्खिओ हुज्ज।।60।।

धर्म बिना यदि चिंतित सुख को, प्राप्त करे जग में कोइ जीव।

तीन लोक में दुखी कहाँ कोइ, अतः दिखेगा कहो सजीव।।60।।

अन्वयार्थ :- (जइ जीव धम्मेण विणा) यदि जीव धर्म के बिना (चिंतियाइं) चिंतित (सोक्खाइं) सुखों को (लब्भंते) प्राप्त करता है, (तो तिहुवणम्मि) तो तीनों लोकों में (सयले मणु को वि) सम्पूर्ण मनुष्यों में कोई भी (दुक्खिओ ण हुज्ज) दुःखी न होता। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है।

अर्थ :- यदि जीव धर्म के बिना चिंतित सुखों को प्राप्त करता है तो तीनों लोकों में सम्पूर्ण मनुष्यों में कोई भी दुःखी नहीं रहता, किन्तु ऐसा संभव नहीं है।

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुख ते भयवन्त।

तातें दुखहारी सुखकार कहे सीख गुरु करुणा धार।।

विशदार्थ :- छहढाला में पंडित दौलतराय जी कहते हैं तीनों लोक में जीव अनन्त है और सुख तो चाहते हैं किन्तु दुख से डरते हैं।

धर्म बिना यदि सुख मिले तो सुखी होय संसार।

दुखी कोई भी ना रहे पाए सौख्य अपार।।

ओ आत्मन्! जरा विचार करो यदि धर्म के अभाव में सुख मिलने लग जाए तो सारा संसार सुखी

Y X Y

Y X Y
 हो जाएगा क्योंकि सभी संसारी प्राणी धर्म से विहीन हैं। धर्म करने वाले तो हैं कितने से? जिस प्रकार धर्म करने वाले लोग थोड़े हैं उसी प्रकार सुखी जीव भी थोड़े से हैं। आचार्य कार्तिकेय स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं।

विरला णि सुणइ तच्चं, विरला जाणगो तच्चदो तच्चं।

विरला भावइ तच्चं विरलाणं-धारणा होई॥

अर्थात् संसार के सभी सुख धर्म से ही प्राप्त होते हैं और मोक्ष भी धर्म से होता है। धर्म हीन मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। पशु भी अपना पेट भर लेते हैं, बच्चे पैदा कर लेते हैं, उनके लिए भोजन इत्यादि कराकर पालन पोषण करके बड़ा कर देते हैं यहाँ तक कि चिड़िया अपने बच्चों के लिए घोंसला बना लेती है। अतः सिद्ध है कि धर्म अगर कर सकते हैं तो मनुष्य, और मोक्ष जा सकते हैं तो मनुष्य, धर्म करता है जो इन्सां वहीं इन्सान साही है, वही सम्मान के लायक विशद मुक्ती का राही है। वाल्मीक कभी बहुत बड़े डाकू थे, तब उनके नाम पर लोग थूकते थे, उनके नाम पर थर-थर काँपते थे किन्तु एक बार संत का उपदेश पाकर उनका जीवन बदल गया और स्वयं संत बनकर अनेकों संत बना दिए। स्वयं जग पूज्य हो गये। कहा भी है 'एक जलता हुआ दीपक अनेक बुझे दीपों को प्रकाशित कर देता है।'

अतः प्यारे भाईयों! हमेशा चिराग बनकर जलना आग बनकर नहीं। चिराग सारे जग को रोशन करता है और आग जन धन का विनाश करती है। इन्सान अपनी वृत्ति से लाचार हो रहा। कहा भी है—

पुण्य फल मिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवः।

ना पाप फल मिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

अर्थात् इन्सान पुण्य का फल सुख शांति आनन्द पाता है उसे पाने की इच्छा करता है किन्तु वह प्राप्ति का साधन पुण्य है उस पुण्य को करने की इच्छा नहीं करता। इसके विपरीत जो दुख असाता अशान्ति पीड़ा जो पाप के फल से प्राप्त होते हैं वह पाप की प्रवृत्ति राग द्वेष कषाय प्रवृत्तियाँ निरन्तर करता रहता, यत्नपूर्वक करता है। यह नहीं सोचता कि जो करेंगे सो भरेंगे। यदि ऐसा विचार कर ले तो स्वयं के जीवन में शांति रहेगी और संसार में शांति रहेगी। इसलिए शांति की प्राप्ति के लिए समता भाव धारण करना चाहिए।

धर्म से सम्पूर्ण लौकिक सुखों की प्राप्ति

धम्मेण कुलपसंसइ, धम्मेण य दिव्व रूपसंपत्ति।

Y X Y

Y X Y

धम्मेण धणसमिद्धि धम्मेण वि वित्थरा किन्ती॥61॥

धर्म से कुल की होय प्रशंसा, धर्म से पाए दिव्य शरीर।

धर्म से धन समृद्धी पाए, धर्म से कीर्ति हो हे धीर॥61॥

अन्वयार्थ :- (धम्मेण कुलपसंसइ) धर्म से कुल प्रशंसित होता है, (धम्मेण दिव्वरूपसम्पत्ति) धर्म से दिव्य-रूप की प्राप्ति होती है, (धम्मेण धणसमिद्धि) धर्म से धन की समृद्धि होती है और (धम्मेण वि किन्ती वित्थरा) धर्म से ही कीर्ति का विस्तार होता है।

अर्थ :- धर्म से कुल प्रशंसित होता है, धर्म से दिव्य-रूप की प्राप्ति होती है, धर्म से धन की समृद्धि होती है और धर्म से ही कीर्ति का विस्तार होता है।

विशदार्थ :- सिद्धांत विज्ञ, मुनियों में श्रेष्ठ आचार्य भगवन् अपनी विशद देशना में कहते हैं-

सुकुल प्रशंसित दिव्य तन, धर्म से पाए अपार।

धन समृद्धि धर्म से, होय कीर्ति विस्तार॥

धर्म और धर्मात्मा के जाति, कुल, वंश सभी प्रशंसनीय होते हैं। सम्पूर्ण विश्व में धर्म धर्मी और धर्मात्मा कुल में लोग जाकर अपना सम्बन्ध बनाने की भावना रखते हैं। विश्व में प्रशंसा धर्म की होती है, सत्कर्म की होती है किन्तु अधर्म और दुष्कृत्य के नाम से लोग दूर हटते हैं। आयु का कोई भरोसा नहीं है, बचपन भी न देखने दे, पचपन भी न देखने दे, इसी सूत्र को जीवन में उतारकर आत्म कल्याण के इच्छुक जीवों को धर्म की ही शरण लेना चाहिए। भव्यता को प्रगट करने की बजाय अज्ञानता के गहन अंधकार में उतरता चला जाता है। जिस जीवन के पल का कोई भरोसा नहीं उसे अनंत मानता है। एक कार्य पूर्ण नहीं होता सौ कार्य और आरंभ कर देता है। वह भी छोटे स्तर पर न ही बहुत बड़े स्तर पर। स्वप्न में छींका टूटने की तरह इसकी सोच भी आयु बीतने के साथ टूट जाती है, न काम पूर्ण हो पाते हैं और न ही विचार पूर्ण हो पाते हैं। हो भी कैसे? बचपन में ज्ञान नहीं होता जवानी आने तक ज्ञान प्राप्त करता है। संस्कार ग्रहण करता है तथा इस लोक में और परलोक की तैयारी हेतु अपने को तैयार करता है किन्तु जवानी में कदम रखते हुये अपने कदम लड़खड़ाने लगता है तथा घर, परिवार और संसार के भोग विलास के आनंद को भोगने की वितृष्णा इस कदर हावी होती है कि अपने निज स्वभाव के आनंद की तरफ ध्यान ही नहीं जाता। बस इतनी सी तसल्ली बार-बार मन को देता रहता है कि आयु ढलने के साथ-साथ जिम्मेवारियाँ कम होती जायेंगी। समय भी खूब मिलेगा, प्रभु भक्ति करने के लिए, जप, तप, स्वाध्याय करने के लिए। तीर्थ यात्राएँ भी खूब मिलती हैं जिससे घर संसार की अशांति से शांति मिलती है। समय निकलता जाता है, आयु क्षीण हो जाती है मन छटपटाने लगता है 'मगर अब पछताये

Y X Y

(104)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत।' अथवा शरीर ही धोखा दे जाता है इसीलिये अच्छा है धर्म कार्य करने के पहले बुढ़ापे का इंतजार न करो और धर्म की शरण को प्राप्त करो। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य भगवन् समंतभद्राचार्य कहते हैं—

ओजस्तेजोविद्या, वीर्ययशोवृद्धि विजय
वि भ व स न ा थ ा : ।

महाकुला महार्था, मानव तिलका भवन्ति दर्शन पूताः॥ र.श्रा.36॥

सम्यक्दर्शन या धर्म से जिनकी आत्मा पवित्र हुई है ऐसे मानव तिलक होते हैं जो ओज (उत्साह) तेज (कांति) विद्या, बल, कीर्ति, उन्नति, विजय और संपत्ति के स्वामी, महान कुल में उत्पन्न और मनुष्यों के शिरोमणि होते हैं। अर्थात् धर्म से ही कुल की प्रशंसा होती है, धर्म से ही दिव्य रूप की प्राप्ति होती है, धर्म से ही धन की समृद्धि होती है और धर्म से ही कीर्ति का विस्तार होता है। अतः धर्म प्राप्ति की विशद भावना रखना चाहिए।

एक स्थान पर भजन में कहा है—

धर्म की है बड़ी महिमा, ये लोगों को बताएँगे।
धर्म जो धारते पावन, जीव वे मोक्ष जाएँगे॥
इन्द्र चक्री व नारायण सभी ने धर्म को धारा।
गये हैं मोक्ष अब तक जो विशद आगे भी जाएँगे॥
धर्म की...

धर्म सब दुःखों को दूर करने की मूल औषध

धम्मो मंगल मूलं, ओसहमूलं च सव्व दुक्खाणं।
धम्मो धणं च विमलं, धम्मो ताणं च सरणं च॥62॥
धर्म मूल मंगल का जानो, दुःख विनाशी औषधिमूल।
शरण भूत रक्षक निर्मल धन, कर्म करे जो भी निर्मल॥62॥

अन्वयार्थ :- (धम्मो मंगल मूलं) धर्म मंगल का मूल (जड़) है, (च सव्व दुक्खाणं ओसह मूलं) और सब दुःखों को दूर करने की मूल औषधि है (च) और (धम्मो विमलं धणं) धर्म निर्मल धन है (च) तथा (धम्मो) धर्म (ताणं) त्राण, रक्षक (च सरणं) और शरणभूत है।

Y X Y

Y X Y

अर्थ :- धर्म मंगल का मूल है, सब दुःखों को दूर करने की मूल औषधि है, धर्म निर्मल धन है तथा धर्म ही रक्षक और शरणभूत है।

विशदार्थ :- साहित्य रत्नाकर आचार्य भगवन् कहते हैं दुख आने पर स्वाभाविक रूप से हम एक-दूसरे की तरफ बड़ी ही आशा अपेक्षा और हसरत भरी निगाहों से देखते हैं तथा हमारी आशाओं का केन्द्र या तो हमारे नजदीक रहने वाला नातेदार, रिश्तेदार होता है या फिर वह साधन जो हमने अपने बल पर जोड़ रखे हैं। मगर कर्मों की स्थिति इतनी विचित्र होती है कि जब हमें जिसकी जरूरत होती है वह हमारे पास नहीं होता। जिस व्यक्ति या वस्तु को हम नहीं चाहते वह बार-बार हमारे निकट आकर हमारे भावों को दुखी कर जाता है। जिसके पास धन दौलत, माल-खजाना होता है उसकी सहायता करने और उससे नजदीकी बढ़ाकर रिश्ते जोड़ने को भी सभी तैयार रहते हैं। मगर जिसके पास खाने को दाना नहीं, तन ढकने को वस्त्र नहीं उससे सगे संबंधी भी मुँह मोड़ लेते हैं। जिस पुत्र को खून पसीना एक कर ऊँची शिक्षा दिलाते हैं, खुद को बेचकर नौकरी दिलाते हैं तथा कड़ी मेहनत कर अपने पैरों पर खड़ा करते हैं, वहीं पुत्र हमें घर से बेघर कर देता है, रत्तीभर भी शर्म नहीं करता है। वैसे भी घर में रहते हुये भी लड़की को हम पराया मानकर दूसरों को सौंप देते हैं, मगर जिसे अपना बनाकर अपने घर बहू बनाकर बड़े ही साजबाज और समारोहपूर्वक ससम्मान लाते हैं तथा गृहलक्ष्मी और कुलवधू का दर्जा देते हैं वही गृहलक्ष्मी हमारी सारी लक्ष्मी छीन लेती है तथा रहने को नौकरों के कमरे देती है तथा भरपेट भोजन तो दूर बचे हुये भोजन का निवाला बना देती है तथा हमारी संपत्ति की स्वामिनी बनकर पल-पल अपमान भरा जीवन जीने को विवश करती है। ऐसी दुख की घड़ी में हमारा एक मात्र सहारा धर्म का ही होता है और जो धर्म को सच्चे मन से धारण करता है वह नाते रिश्तेदारों के मिथ्या भ्रम तोड़ देता है।

प्रतिक्रमण में आचार्य भगवन् कहते हैं-

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।

देवा वि तस्स पणमन्ति, जस्स धम्मे सया मणो॥८१॥

अर्थात् अहिंसा, संयम, तप, रूप धर्म मंगल कहा गया है जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है ऐसे जिनेन्द्र को नमस्कार करते हैं, जिस धर्म को देव भी नमस्कार करते हैं वह धर्म मेरे अन्तर में वास करे कितनी पवित्र भावना भाई गई है कि धर्म का मेरे हृदय में वास रहे।

जहाँ धर्म वहाँ सम्पत्ति नाना, जहाँ पाप तहाँ विपत्ति निधाना।

अब आप विचार करके दोनों में से क्या चाहते हैं? स्वयं ही निर्णय करें। एक बार एक सज्जन आकर कहने लगे समझदार लोग भी कितनी नादानी करते हैं, जो जानते हुए भी पाप करते हैं तो

Y X Y

(106)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
अचानक हमारे मुँह से निकला ठीक ही तो हैं- सामने वाले चौंके और बोले महाराज क्या कह रहे आप- हमने कहा भाई इनसे ही तो संसार चल रहा है। वह महाशय बहुत जोर से हँसने लगे और काफी देर तक हँसते रहे व महाराज आप भी कैसी बात करते हैं तब हमने कहा सही नहीं है क्या? तो वे बोले बिलकुल सही है आपने हमारे जैसे लोगों को सोचने के लिए मजबूर कर दिया।

संसार के समस्त सुख, धर्म का फल है

किं जंपिण बहुणा, जं जं दीसई समत्थ तियलोए।

इंदियमणाभिरामं, तं तं धम्मो फलं सव्वं॥63॥

लाभ रहा क्या बहुत कथन से, तीन लोक में जो भी जान।

इन्द्रिय मन को सुन्दर दीखे, धर्म का फल वह रहा महान॥63॥

अन्वयार्थ :- (जंपि एण बहुणा किं) बहुत कहने से क्या (समत्थ तियलोए) समस्त तीनों लोकों में (जं जं इंदियमणाभिरामं दीसई) जो जो इन्द्रिय और मन के लिए सुन्दर दिखाई देता है (तं तं) वह (सव्वं) सब (धम्मो फलं) धर्म का फल है।

अर्थ :- बहुत कहने से क्या सम्पूर्ण तीनों लोकों में जो जो इन्द्रिय और मन के लिए सुन्दर दिखाई देता है, वह सब धर्म का ही फल है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् धर्म की विशदता का चिंतन करते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवो! हमारे जीवन में जो कुछ भी सुख सुविधा प्राप्त हुई है वह सब धर्म से ही प्राप्त हुई, धर्म का अर्थ है सभी आत्माओं का समादर करना जिससे प्राणी मात्र के प्रति परस्पर मैत्री, आत्मीयता, एकता और सहानुभूति के भाव प्रवाहित होते रहें।

शक्तिशाली बनने के लिए मनुष्य भले ही विज्ञान के सामने घुटने टेकता हो परंतु आनंदित रहने के लिए धर्म की शरण स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता।

धर्म जगे तो सुख जगे, तन मन पुलकित होय।

धर्म छुटे तो सुख छुटे, तन मन विचलित होय॥

एक महात्मा जी के पास दो युवक कुछ जिज्ञासा लेकर आए। उन्होंने महात्मा जी से प्रार्थना की- महात्मन् हमने धर्म की बहुत किताबें पढ़ी है। सत्संग एवं प्रवचन भी बहुत सुने हैं किन्तु हमारी जिंदगी में धर्म नहीं आया। आप हमें धर्म को धारण करने का मूल मंत्र बताइए। कुछ विचार करने के बाद महात्मा जी ने कहा- आज मुझे कुछ जरूरी कार्य से जाना है तुम कल ठीक इसी समय आ जाना तुम्हें जवाब मिल जाएगा। दूसरे दिन दोनों युवक ठीक समय से घर से निकले। रास्ते में एक युवक को सड़क के

Y X Y

Y X Y
किनारे बैठी हुई अंधी बुढ़िया मिली। युवक की आहट सुनकर बुढ़िया ने उससे कहा— भाई मैं गर्मी से बहुत परेशान हूँ किसी वृक्ष की छाया में बिठा दीजिए। युवक ने कहा— अभी हमारे पास समय नहीं है। नियत समय पर महात्मा जी के पास पहुँचना जरूरी है, अगर लेट पहुँचा तो धर्म का मूलमंत्र नहीं मिल पाएगा। युवक आगे बढ़ गया। थोड़ी दूरी तय करने पर उसने देखा कि एक किसान की बैलगाड़ी का पहिया कीचड़ में धँस गया था। बैल जोर लगाकर भी नहीं निकाल पा रहे थे। किसान ने उस युवक से प्रार्थना की बेटा! जरा हमारी गाड़ी में सहारा लगवा दीजिए। मैं बहुत देर से परेशान हो रहा हूँ। युवक ने बड़ी अशिष्टता से उत्तर दिया क्या मैंने तुम्हारी गाड़ी को फँसा दिया कि मैं धक्का मारूँ। यदि मैं धक्का मारूँगा तो मेरे कपड़े गंदे हो जायेंगे। मुझे तो धर्म को धारण करने के लिए महात्मा जी के पास जाना है।

आगे जाकर युवक को एक लकड़हारा मिला। लकड़ियों का भार उसके पास था। लकड़हारे ने युवक से विनम्र निवेदन किया कि भाई मेरे सिर पर यह बोझ रखवा दीजिए। वहाँ पर भी युवक ने रूखे स्वर से उत्तर दिया कि मेरे पास समय नहीं है कि मैं तुम्हारा काम करूँ। यदि मैं यहाँ से नहीं गुजरता तो तुम क्या करते? थोड़ी देर और इंतजार कर लो कोई और आएगा। जो तुम्हारा बोझा रखवा देगा और युवक आगे बढ़ गया, निश्चित समय पर युवक महात्मा जी के पास पहुँचा, बोला आप हमें मूलमंत्र बता दीजिए। महात्मा जी ने कहा— धैर्य रखो युवक! तुम्हारे दूसरे मित्र को भी आने दो एक साथ ही मंत्र दूँगा। इधर युवक घर से निकला उसी स्थान पर अंधी महिला मिली, उसने भी युवक से वृक्ष के नीचे बैठाने की प्रार्थना की। युवक ने बिना कुछ उत्तर प्रश्न किये महिला को वृक्ष के नीचे बिठा दिया और आगे बढ़ा। पुनः उसे वही किसान मिला जिसकी गाड़ी कीचड़ में फँसी थी उसने बिना कुछ चिंता किये कि मेरे वस्त्र गंदे हो जाएँगे इसकी परवाह किये बगैर उसकी सहायता कर दी, आगे चलकर उसने लकड़हारे का बोझ उठवाया फिर वह महात्मा की कुटिया पर पहुँचा।

महात्मा ने युवक के देर से आने का कारण पूछा— युवक ने प्रसन्नचित्त होकर सारी घटना बता दी और क्षमा भी माँगी। महात्मा जी ने पहले वाले युवक से पूछा क्या ये तीनों लोग तुम्हें नहीं मिले? युवक ने कहा— ‘क्यों नहीं मिले! मुझे भी उन तीनों ने अपनी सहायता के लिए पुकारा था किंतु मुझे धर्म का मूलमंत्र प्राप्त करने के लिए निश्चित समय पर पहुँचना था इसलिए मैंने किसी की मदद नहीं की। तब महात्मा जी ने कहा दया ही धर्म है जहाँ दया का भाव नहीं है वहाँ धर्म की जड़ें सदा सूखने लग जाती हैं। जहाँ धर्म होता है वहाँ धन संपत्ति, परिवार—मित्र संसार की सभी सुख सुविधाएँ सब कुछ हमें धर्म से ही प्राप्त होता है। यहाँ तक कि धर्म से निर्वाण सुख भी प्राप्त होता है। इसलिए एक क्षण भी धर्म बिना व्यतीत नहीं करना चाहिए।

धर्म से सुख संसार के, धर्म से हो निर्वाण।

Y X Y

Y X Y

धर्म हीन नर लोक में, जानो पशू समान॥

धन संपत्ति प्राप्ति का मूल मंत्र

आरंभसयाइं जणो, करेइ रिद्धिए कारणे मूढो।

एगं ण कुणइ धम्मं, जेण व लहइंति रिद्धिओ॥64॥

अज्ञानी धन सम्पत्ति हेतू, करें सैकड़ों ही आरंभ।

धन सम्पत्ति हेतु धर्म का, करते नहीं कोई प्रारम्भ॥64॥

अन्वयार्थ :- (मूढो जणो) मोहित मूर्ख लोग (रिद्धिए कारणे) धन-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए (आरंभ सयाइं कुणइ) सैकड़ों आरंभ करते हैं, (एगं धम्मं ण कुणइ) सिर्फ धर्म को ही नहीं करते हैं (जेण रिद्धिओ लहइंति) जिससे कि धन-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

अर्थ :- मूर्ख लोग / अज्ञानी लोग धन-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए सैकड़ों आरम्भ करते हैं, किन्तु धर्म कार्य को नहीं करते हैं, जिससे कि वास्तव में धन-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

विशदार्थ :- अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् धर्म की पीयूष देशना बिखेरते हुए कहते हैं कि धर्म ही इस लोक में सुखों को देने वाला है और धर्म ही दुख से छुड़ाकर मोक्ष के सुख देने वाला है। धर्म से परभव सुधरता है एवं वर्तमान भव में कल्याण होता है, ऐसा परम हितकारी धर्म होता है। धर्म कामधेनु, चिंतामणि और कल्पवृक्ष के समान है जिससे बिना माँगे ही उस पर श्रद्धान करने मात्र से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। धर्म ही सदा हमारी रक्षा करता है। किसी कवि ने कहा है-

चिर रक्षक धर्म हमारा, हो हो धर्म हमारा चिर साथी।

जग में न हमारा कोई था, हम भी ना रहें जग के साथी॥

जो सदैव ही हमारी रक्षा करता है, वह केवल धर्म ही है, यही धर्म सदा हमारे साथ रहता है और कोई नहीं। धन, स्त्री, पुत्रादिक कोई साथ नहीं देता। यदि कोई साथी है तो वह केवल धर्म ही है किन्तु मूर्ख अज्ञानी लोग धन संपत्ति की प्राप्ति के लिए सैकड़ों आरंभ करते हैं किन्तु धर्म नहीं करते हैं। संसार में मनुष्य किसी शुभ समाचार के हर्षोल्लास में अपनी शक्ति के अनुसार कुछ न कुछ दूसरों को दान धर्म करते रहते हैं परन्तु कृपण मनुष्य लोभ के कारण चाहे जितना धनवान या प्रसन्न क्यों न हो? वह कभी किसी को कुछ नहीं देता। अज्ञानी, मूर्ख जीव धर्म का कुछ भी ख्याल न रखकर रात-दिन इंद्रिय वासना में रत रहकर दूसरों को ठगने या फँसाने का यत्न करता है। वह मूर्ख यह नहीं जानता है कि दूसरों के फँसाने के चक्कर में हम स्वयं उस जाल में फँस जाते हैं। सांसारि जीव ने इंद्रिय जनित सुख तथा

Y X Y

Y X Y
 क्षणिक संपत्ति के लिए सब कुछ किया किन्तु मरने के बाद सब यहीं का यहीं धरा रह जाता है लेकिन जो अपने धन को धर्म में लगा देते हैं वे यश बढ़ाते हुए अपना जीवन सफल बना लेते हैं।

धर्म के कारण लुटा देते हैं धन धर्मात्मा।

उनको दुगुना करके फिर देते हैं धन परमात्मा॥

एक राजा बड़ा धर्मात्मा था। वह नित्य प्रति दरबार में अनेक याचकों को बड़े प्रेम से दान देता था। उसके पास जाकर जो कोई जितना धन माँगता उसे तत्काल ही दरबार में मुँह माँगा धन देकर विदा किया जाता। यह राजा का दैनिक कार्य था। मंत्री ने सोचा यदि इसी प्रकार प्रतिदिन दान धर्म करता रहा तो एक दिन राज्य भी समाप्त हो जायेगा। अतः राज्य की रक्षा के लिये कोई प्रयत्न करना चाहिए। अंत में एक दिन मंत्री ने राजा से प्रार्थना की— हे स्वामिन्! भाग्य का कोई पता नहीं है कि भाग्य कब तक साथ में है इसलिए विपत्ति के लिए धन की रक्षा करना चाहिए। तब राजा ने उत्तर दिया कि यदि विपत्ति आ जायेगी तो इकट्ठा किया गया धन भी नष्ट हो जायेगा। धन की रक्षा करके कभी कोई उसे सुरक्षित नहीं रख सकता है। इसलिए धन को पाकर दान धर्म में ही व्यय करके सदुपयोग कर लेना चाहिए। वीर भक्ति में आचार्य भगवन् कहते हैं—

धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरो, धर्म बुधाश्चिन्वते।

धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः॥

धर्मात्मास्त्यपरः सुहृद, भव भृतां धर्मस्य मूलं दया।

धर्मे चित्त—महं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म! मां पालय॥७॥

अर्थात् सर्व सुखों की खानि, हित को करने वाला धर्म है। बुद्धिमान लोग धर्म का संचय करते हैं। धर्म के द्वारा ही मोक्ष सुख प्राप्त होता है इसलिये उस धर्म को नमस्कार हो। संसारी प्राणियों का धर्म से भिन्न अन्य कोई दूसरा मित्र नहीं है। धर्म की जड़ दया है मैं प्रतिदिन धर्म में मन को लगाता हूँ। हे धर्म! मेरी रक्षा कीजिए।

सुख का मूल मंत्र

इह लोयम्भि वि कज्जे, सव्वारंभे जह जणो कुणइ।

तह जइ लक्खंसे ण वि, पर लोए ता सुही होइ॥६५॥

करते हैं आरम्भ लोक में, लौकिक कार्य में सभी प्रकार।

यदि परलोकी कार्य लक्ष्य से, करे तो सुख हो भली प्रकार॥६५॥

Y X Y

(110)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अन्वयार्थ :- (जह इह लोयम्मि) जैसे इस लोक में (जणो) मनुष्य लोग (सव्वारंभे कज्जे कुणइ) सब प्रकार के लौकिक कार्य करते हैं, (तह) वैसे ही (जइ) यदि (परलोए लक्खंसेण वि) परलोक के लक्ष्य से भी कार्य करें (ता सुही होइ) तो वे सुखी हो जावें।

अर्थ :- जैसे इस लोक में लोग लौकिक कार्य में सब प्रकार के आरम्भ करते हैं, वैसे ही यदि परलोक के लक्ष्य से भी कार्य करें तो वे सुखी हो जावें।

विशदार्थ :- अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् कहते हैं कि यह जीव सुबह से शाम तक अनेक प्रकार के आरंभ के कार्यों को करता है। सुबह उठकर फ्रेस (जंगल जाने) होने में एक बाल्टी पानी डालना, नहाने में दो बाल्टी पानी फेंकना, झाड़ू लगाना, बर्तन साफ करना, व्यापार करना हर एक कार्यों में आरंभ के साथ-साथ पाप होता है। इन सब कार्यों से पाप कर्म का बंध होता है किन्तु नहाकर अभिषेक, पूजन करना, साधुओं के लिए आहार बनाना, नवधा भक्ति पूर्वक आहार दान देना, मंदिर की साफ सफाई करना, मंदिर में झाड़ू लगाना आदि इन सभी कार्यों से पुण्य का संचय होता है। अगर हम सुखी होना चाहते हैं तो पुण्य कार्य तो अवश्य ही करना होगा वरना तन-मन-धन तीनों के कार्य और व्यापार अलग-अलग होते हैं। तन अपनी पूर्ति करना चाहता है तथा मन तन से भी आगे दौड़कर बदल-बदल कर विषयों में रमण करना चाहता है तथा मान मर्यादाओं के बंधन में भी बंधना नहीं चाहता तथा अपमानित होकर कुकर्मों में लगा रहता है। परंतु मन के साथ धन का भी संयोग हो जाये तो समझ लो 'गुड़बेल और नीम चढ़ी'। अर्थात् फिर तो ऐसा कोई दुष्कर्म नहीं जो संभव नहीं हो। रास्ता तो दो ही हैं अन्य कोई विकल्प ही नहीं है, चलने के लिये पुण्य के मार्ग पर चलकर चन्द्रमा के समान उज्ज्वल धवलकीर्ति और स्वर्गों के सुख की प्राप्ति करें अथवा पाप मार्ग पर चलकर कौआ जैसे स्याह रंग और अपकीर्ति के साथ नरक और तिर्यच गति के दुखों को प्राप्त करें।

अतः हे भव्य जीवो! लौकिक कार्यों को करते हुए परलोक के लिए पुण्य का संचय कर अपने कार्यों को करते रहना चाहिए। तत्त्व भावना में आचार्य श्री अमितगति स्वामी ने कहा है-

जनम मृत्यु जरा नल दीपितं, जगदिदं सकलोऽपि विलोकते।

तदपि धर्म मतिं विद्धाति नो, रतमना विषयाकुलितो जनः॥

सर्व संसारी प्राणी यह देखते और जानते हैं कि यह संसार जन्म, मृत्यु जरादि अग्नियों से जल रहा है तो भी विषयाकुलित लोगों को भाता है यदि धर्म में बुद्धि लगाएँ तो कल्याण करके विशद सुख के भोगी हो सकते हैं।

लोक में किवदन्ति है कि रावण ने विद्या सिद्ध करने के लिए आठ-आठ दिन के उपवास किए एवं

Y X Y

Y X Y
 श्री शांतिनाथ भगवान की भक्ति में लीन हो जाता था तो समय का पता भी नहीं चल पाता था कितना समय निकल गया। लोग कहते हैं कि एक बार रावण शांतिनाथ भगवान की भक्ति में लीन था तभी वीणा का तार टूट गया उसने सोचा तार लेने जाएंगे तब तक कितना समय लग जाएगा तब उसने अपने हाथ की नश निकालकर वीणा में लगा दी और भक्ति में लीन हो गया। यानि कहा जाता है कि इतनी साधना यदि आत्म कल्याण की भावना से की जाती तो उसी भव से मोक्ष प्राप्त हो जाता। किन्तु आकांक्षा होने से मोक्ष तो दूर नरक गति का भाजन बना। राग त्यागकर ही धर्म होगा ऐसा जानना चाहिए।

धर्म से ही दीर्घ आयु, कीर्ति व सौभाग्य की प्राप्ति

धम्मेण धणं विमलं, आउं दीहं च कंति सोहगं।

दालिहं दोहगं, अकालमरणं च अहम्मेण॥66॥

विमल धर्म से धन दीर्घायु, कीर्ति प्राप्त होवे सौभाग्य।

अकाल मरण होवे दरिद्रता, हो अधर्म से अति दुर्भाग्य॥66॥

अन्वयार्थ :- (धम्मेण) धर्म से (विमलं) नीति न्याय से प्राप्त (धणं) शुद्ध धन से (दीहं आउं) दीर्घ आयु, (कंति) कांति कीर्ति (च सोहगं) और सौभाग्य प्राप्त होता है। (अहम्मेण) अधर्म से (दालिहं) दरिद्रता, (दोहगं) दुर्भाग्य (च अकाल मरणं) और अकाल मरण होता है।

अर्थ :- नीतिपूर्ण, न्याय संगत, धर्मपूर्वक अर्जित धन से दीर्घ आयु, कांति कीर्ति और सौभाग्य प्राप्त होता है। अधर्म तथा अन्याय पूर्ण अर्जित धन से दरिद्रता, दुर्भाग्य और अकाल मृत्यु होती है।

विशदार्थ :- जिनवाणी के लाल आचार्य भगवन् धर्म की विशदता का चिंतन करते हुए कहते हैं। प्रत्येक जीव की सफलता का आधार पुरुषार्थ के साथ पुण्य से भी जुड़ा होता है। जब तक पुण्य होता है तब तक इन्सान जहाँ भी हाथ रखता है सोना हो जाता है जैसे कि धन्यकुमार की घटना सबको पता है किन्तु पुण्यहीन चारों ओर से दुख और कष्टों को उठाता है। पुण्य जब क्षीण हो जाता है तब पुरुषार्थ के परिणाम भी विपरीत नजर आते हैं जो पुण्यहीन है वह चारों ओर से विपत्ति के दल-दल में इस कदर फँस जाता है कि औषधी भी उसके लिए जहर बन जाती है। यदि वह किसी का भला भी करता है तो भी उसे दोषी ही समझा जाता है। यहाँ तक कि बिना अपराध की सजा भी मिल जाती है।

एक ग्राम में एक पुण्यहीन रहता था। उसके पास खेत था पर बैल नहीं थे। वह अपने मित्र के पास गया और हल जोतने के लिए शाम तक का समय लेकर बैल माँग लाया। जब उसका खेत जुत गया तब

(112)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
वह मित्र को बैल वापस करने आया। इत्तफाक से वह मित्र सामने आँगन में भोजन कर रहा था तो बैल वहीं बाहर उसने बाँध दिया सोचा कि मित्र ने देख लिया है अतः बिना कुछ कहे वह अपने घर चला गया। उसी रात में बैल चोरी हो गए। तब वह पुण्यहीन के पास जाकर बोला मित्र हमारे बैल वापिस दे दो। पुण्यहीन ने कहा— मैं तुम्हारे देखते-देखते ही आँगन के बाहर बैलों को बाँध आया था। अब तो मित्र को क्रोध आ गया कि यदि तुमने मुझे बैल दिये होते तो क्यों माँगता ? उसने खूब कहा लेकिन वह मानने को तैयार नहीं हुआ। मित्र राजा के पास ले जाने को तैयार हुआ। जब दोनों रास्ते में जा रहे थे तब सामने से एक घोड़ा दौड़ता हुआ आ रहा था और उसके पीछे घोड़े वाला भाग रहा था। इन दोनों आदमियों को आते देख घोड़े वाले ने जोर से आवाज दी— अरे! भाई जरा इस घोड़े को रोकना। पुण्यहीन के पास एक लाठी थी उसने घोड़े को रोकने के लिए लाठी मारी। तो होनहार की बात की उसके प्रहार से घोड़ा मर गया। घोड़े वाले ने पुण्यहीन को पकड़ लिया और बोला तूने मेरे घोड़े को मारा है चल मैं तुझे राजा के पास ले चलता हूँ। चाहे तू कहीं से भी दे किन्तु मेरा घोड़ा मुझे चाहिए। पुण्यहीन दोनों ओर से घिर गया। दोनों ही व्यक्ति राजा के पास ले जा रहे थे। राजा का नगर दूर था चलते-चलते शाम हो गई अतः वे तीनों एक ही वटवृक्ष के नीचे ठहर गये। रात में पुण्यहीन ने सोचा कि हमारे पास ही अभियोग है एक तो बैल की चोरी का और दूसरा घोड़े की हत्या का। राजा बड़ा न्यायप्रिय और कठोर हैं वे मुझे निश्चित ही प्राण दण्ड देंगे। इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं फाँसी लगाकर यहीं मर जाऊँ। इन सब बातों पर विचारकर पुण्यहीन पेड़ पर चढ़ गया और अपनी जीर्ण शीर्ण धोती का फँदा बनाया, धोती का कपड़ा पुराना होने से फँदा टूट गया और पुण्यहीन एक वृद्ध नट पर गिर पड़ा और उस नट की तत्काल मृत्यु हो गई। उस वृद्ध नट के लड़कों ने पुण्यहीन को पकड़ लिया और अपने पिता की हत्या के अपराध में उसे राजा के पास दण्ड दिलाने ले चले। अब उस बेचारे पुण्यहीन पर तीन अभियोग हो गये अतः उसका बचना नामुमकिन था। यथासमय चारों व्यक्ति राजा के पास पहुँचे। राजा ने तीनों की बातें क्रम से सुनी और पुण्यहीन से सारी बातें पूछी। पुण्यहीन ने कहा— राजन्! भाग्योदय से मेरा अपराध सिद्ध हो रहा है वास्तव में मैं अपराधी नहीं हूँ ये सब मेरे कर्मों का फल है। प्रारम्भ से लेकर अंत तक की सारी घटना सुना दी। आज मुझे दादी के वचन याद आ रहे हैं— ‘पुण्यहीन के उलटे दाब’ जो पुण्यहीन होगा वह गलत नहीं होते हुए भी हर स्थान पर गलत ही सिद्ध होता है। यह सब सुनकर राजा ने राजकोष से भरपाई की और पुण्यहीन को धर्म करने की सलाह दी। कहने का तात्पर्य है कि धर्म से नीतिपूर्ण, न्याय संगत, धर्मपूर्वक अर्जित धन से दीर्घ आयु, कीर्ति और सौभाग्य की प्राप्ति होती है। तथा अधर्म तथा अन्याय पूर्ण अर्जित धन से दरिद्रता, दुर्भाग्य और अकाल मृत्यु होती है। अतः समय रहते हुए हे भव्य जीवो! धर्म का पालन अवश्य करना चाहिए।

Y X Y

धर्म ही सच्चा साथी

दीहर पवाससहयर, पंथिएण धम्मेण कुणह संसग्गं।

सव्वो जणो णिवट्ठइ, तए सहत्तेण गंतव्वं॥67॥

दीर्घ प्रवासी पथिक धर्म का, आश्रय लेवे भली प्रकार।

साथ छोड़ते अन्य सभी जन, धर्म करे भवदधि से पार॥67॥

अन्वयार्थ :- (दीहर पवास सहयर) दीर्घ प्रवास के साथी (पंथिएण) पथिक को (धम्मेण) धर्म से (संसग्गं) संसर्ग (कुणह) करना चाहिए। क्योंकि (सव्वो जणो) अन्य सभी लोग (णिवट्ठइ) साथ छोड़ देते हैं। (तेण) इसलिये (तए सह गंतव्वं) उस धर्म के साथ जाना चाहिए, जो कभी भी इस जीव का साथ नहीं छोड़ता है।

अर्थ :- दीर्घ प्रवास के पथिक को धर्म का आश्रय लेना चाहिए क्योंकि अन्य सभी साथ छोड़ देते हैं, किन्तु धर्म कभी इस जीव का साथ नहीं छोड़ता है।

विशदार्थ :- दिगंबरत्व के धनी आचार्य भगवन् धर्म की विशदता का विशद चिंतन करते हुए कहते हैं धर्म को कभी पकड़ा नहीं जा सकता है, बल्कि धर्म तो धारण करने की चीज है। जिस भव्य जीव ने एक बार भी धर्म को धारण कर लिया उस जीव ने अनंतभव के लिए पुण्य का संचय कर लिया। धर्म को पाया नहीं धारण किया जाता है। धर्म कल्पवृक्ष के समान प्राणी जनों की आशाओं को पूर्ण करने वाला है। जिस प्रकार कल्पवृक्ष से जिस-जिस वस्तु की कल्पना की जाए वह वस्तु प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार धर्म से सांसारिक सभी प्रकार की वस्तुएँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

वत्थु सहावो धम्मो, उत्तम खमादि दस विहो धम्मो।

रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥

अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है, स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जिस वस्तु में जो गुण धर्म हो उसे उस रूप कहना वस्तु है या तत्त्व कहा है तथा उत्तम क्षमादिक दश धर्म मोक्ष मार्ग के सोपान कहे गये हैं। धर्म के आगे उत्तम विशेषण बहुत महत्वपूर्ण है। उत्तम विशेषण वीतराग भाव को प्रदर्शित करता है। जहाँ उत्तम क्षमादि है वह वीतरागी के ही प्रकट हो सकेंगे। दूसरी ओर सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म है अर्थात् रत्नत्रयधारी है धर्मात्मा धर्मी है किन्तु रत्नत्रय से रहित धर्म और धर्मी नहीं हो सकेगा तथा जीवों की रक्षा धर्म है जैसे कि अन्य स्थानों पर कहा गया है। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना होना चाहिए अर्थात् वसुधा पर जितने प्राणी/जीव हैं सब हमारे कुटुम्बी पारिवारिकजन हैं। जब इस प्रकार की भावना अन्तः में आ जाए तो मानना कि इन्सान के अन्दर में धर्म है किन्तु इस प्रकार की

Y X Y
भावना से रहित धर्म और धर्मी नहीं हो सकता जैसा कि आचार्य श्री अमितगति स्वामी ने सामायिक पाठ में कहा है—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणेषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममाऽत्मा विदधातु देव॥

अर्थ :- कितनी सुन्दर भावना भाई गई है सत्त्वेषु मैत्री अर्थात् प्राणी मात्र से मित्रता का भाव रहे और गुणीजनो के प्रति प्रमोद का भाव रहे तथा दुखी जीवों में दया का भाव रहे और विपरीत वृत्ति वालों में माध्यस्थ भाव रहे। इसी प्रकार मेरी भावना में भी विशद शब्दों में प्रकट किया गया है—

मैत्रीभाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।

दीन दुखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा स्रोत बहे॥

गुणी जीनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे।

बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके मन अति सुख पावे॥

आशाओं को पूर्ण करने वाला – धर्म

पणयजण पूरियासा, एगे दीसंति कप्प रुक्खव्वा।

णियपुट्टं पिय अण्णे, कह कहवि भरंति रंकुव्वं॥68॥

कल्पवृक्ष सम प्रणत जनों की, धर्म करे आशाएँ पूर्ण।

रंक समान अन्य आश्रित की, इच्छाएँ हों सदा अपूर्ण॥68॥

अन्वयार्थ :- (कप्प रुक्खव्वा) कल्पवृक्ष के समान (पणयजण पूरियासा) प्रणत जनों की आशाओं को पूर्ण करने वाला (एगे) एक धर्म ही (दीसंति) दिखाई देता है। (अण्णे रंकुव्वं) रंक के समान दूसरे मनुष्य (णिय पुट्टं) अपने आश्रित (पिय) प्रियजनों की (कहवि) किसी भी तरह इच्छाओं को (कह भरंति) कैसे पूर्ण कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते हैं।

अर्थ :- कल्पवृक्ष के समान प्रणतजनों की आशाओं को पूर्ण करने वाला एक धर्म ही दिखाई देता है। रंक के समान दूसरे मनुष्य अपने आश्रित प्रियजनों की इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकते हैं। अतः सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करने वाले धर्म का ही सहारा लेना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् धर्म की महिमा का बखान करते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवो! धर्म से ही सभी प्रकार की आशाएँ पूर्ण होती हैं। एक-एक व्यक्ति की आशाओं का गड्ढा इतना बड़ा है कि वह तीन काल लोक की सामग्री से भी भर नहीं सकता है। सागर और महासागर को तो भरा जा

Y X Y
सकता है किन्तु आशारूपी गड्ढे को नहीं भरा जा सकता है। मनुष्य की आशाओं का इतना बड़ा गड्ढा है कि अगर तीनों लोकों की वस्तु को भी भर दिया जाए तो भी वह भरा नहीं जा सकता है।

एक बार शिवजी प्रातःकाल अपनी मस्ती में झूमते हुए जा रहे थे कि वहाँ से एक भिखारी निकला। उसने शिवजी से कहा— भिक्षां देहि, तब शिवजी कहते हैं कि हमारे पास तो कुछ नहीं है तब भिखारी ने कहा प्रातःकाल मेरी बौनी बिगड़ जाएगी तो मैं भूखा मर जाऊंगा। कुछ तो दे दीजिए जब पुनः कहा तो भिखारी ने पूछा आप कौन है? शिवजी ने बता दिया मैं शिवजी हूँ तब भिखारी उछल पड़ा अरे! तब तो क्या कहना? विष्णु जी आपके परम मित्र हैं, उनके लिए आप पत्र लिख दीजिए वे ही कुछ हमारे लिए दे देंगे। आपत्ति टालने के भाव से शिवजी ने कागज में लिखकर दे दिया भिखारी के लिए कुछ दे दीजिए भिखारी विष्णुजी के पास गया कागज दिया तो विष्णु जी प्रसन्न होकर नाचने लगे वाह! आज मेरे लिए शिवजी का भक्त सन्देश लेकर आया है और खुश होकर खजान्ची को आदेश दे दिया जाओ इसके लिए चाहे दे दो— खजान्ची ने उसके कटोरे में हीरे मोती जवाहरात डालना प्रारम्भ किया सारा खजाना खाली हो गया किन्तु कटोरा नहीं भरा तब विष्णुजी घबराए और शिवजी के पास पहुँचे भगवन् ये क्या आपत्ति भेज दी। सारा खजाना खाली हो गया किन्तु भिखारी का कटोरा भरने को नहीं आ रहे। शिवजी भी घबराये यह क्या माया है तब उन्होंने जाकर देखा सारा खजाना खाली हो रहा, कटोरा अब भी नहीं भरा। तब शिवजी ने भिखारी के हाथ से कटोरा लेकर उलट दिया तब देखा कि कटोरा नहीं मनुष्य की खोपड़ी है। उस समय शिवजी को भान हुआ कि मनुष्य की खोपड़ी इतनी विचित्र है कि वह कभी भरती ही नहीं है।

आशागर्तं महात्तम् च, विश्वं यस्मिन्—मणूपमम्।

अनन्तं भवप्राप्ते च, तेषां गर्तं न पूरणम्॥

अर्थात् आशा रूपी गड्ढा इतना भारी है कि उसमें विश्व की सारी दौलत भर दी जाए तो भी वह कभी पूर्ण नहीं होता है। अनन्तभव पाकर भी इंसान संतुष्ट नहीं होता है।

पुण्यात्मा की जय – जय घोष

एगे दोघदघडारहेहिं, जंपाण वाहणारूढो।

वच्चंति सुकय पुण्णा, अण्णे धावन्ति से पुरुओ॥69॥

पुण्यवान हाथी के रथ पर, शब्द युक्त हो रहे सवार।

गमन करें आगे कोई दौड़ें, पुण्य हीन भटके संसार॥69॥

अन्वयार्थ :- (एगे) एक (सुकय पुण्णा) पुण्य से परिपूर्ण अर्थात् पुण्यात्मा (दोघद-

Y X Y

Y X Y
घडारहेहिं) हाथियों के समूह से जुते हुए रथ के द्वारा (**जंपाण वाहणारूढो**) शब्द करते हुए वाहन पर सवार होकर (**वच्चंति**) गमन करता है। (**अण्णे से पुरुओ धावंति**) अन्य पुण्यहीन लोग उसके आगे दौड़ते हैं।

अर्थ :- पुण्यात्मा जीव हाथियों के समूह से जुते हुये रथ पर, शब्द करते हुये वाहन पर, सवार होकर गमन करता है, जबकि एक पुण्यहीन व्यक्ति उसके आगे दौड़ लगाते हुये उसकी व्यवस्था करता है।

विशदार्थ :- रत्नत्रयधारी आचार्य भगवन् कहते हैं कि हे भव्य जीवो! जीवन में धर्म ही हमारा सहारा है। जो जिन धर्म की शरण में रहता है वह जीव दुनियाँ के किसी भी कोने में क्यों न चला जाए सुख-सुविधा, यश-ख्याति, कीर्ति आदि को प्राप्त करता है किन्तु दूसरी ओर धर्म से हीन जीव कितना भी अच्छा कार्य क्यों न करे वह सुख सुविधाओं को नहीं प्राप्त कर सकता है। जैन ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं कि जिसके (धर्म के) प्रभाव से अग्नि भी जल बन गई, सर्प फूलों की माला बन गया, विष भी अमृत बन गया आदि-आदि। एक बार गर्मी के समय नगर के कुएँ खाली होने से महिलाएँ खेत में दूर जाकर पानी भरने गईं वहाँ देखा कि राजा की सवारी (लवाजमा) चला जा रहा था कुछ महिलाएँ उस दृश्य को देखने लगीं। राजा पहले हाथी पर सवार था, थोड़ी धूप चढ़ने पर हाथी से उतर कर सुन्दर सजी डोली पर बैठ गया, 4 कहार उस डोली को कंधे पर लेकर चलने लगे, आगे जाकर देखा कि एक स्थान पर पड़ाव था। वहाँ राजा को डोली से उतारा तो राजा सिंहासन पर बैठ गया और चारों कहार राजा के पैर दबाने लगे। इस आश्चर्यकारी दृश्य को देखकर एक महिला ने कहा-

हाथी चढ़े डोले, चढ़े सिंहासन बैठाँय।

कबके थाके ये सखी, अबे दबाए पांय॥

बुजुर्ग समझदार महिला ने उत्तर दिया-

अनशनादि कर तप किए, पैदल गमन कराए।

तब के थाके ये सखी, अबे दबाये पांय॥

अर्थात् महिला ने जवाब दिया कि पूर्वभव में ये मुनि बनकर अनशन आदि व्रत करके घोर तपश्चरण किए। जीव रक्षा का विचार कर पैदल गमन किए, उस समय के थेके अर्थात् पुण्य के फल से अब इस भव में उन्हें आराम प्राप्त हो रहा है। जैसा कि बच्चा-बच्चा जानता है कि इंसान को जो कुछ भी प्राप्त होता है वह पुण्य के फल से प्राप्त होता है।

Y X Y

हम कहते हैं कि एक बच्चे का जन्म नगर सेठ या राजघराने में हो रहा और दूसरे बच्चे का भील भिखारी या मजदूर के यहाँ हो रहा। जहाँ पेट भरने के लिए भोजन नहीं, तन ढकने के लिए वस्त्र नहीं और अन्य सुविधाओं की बात तो बहुत दूर है। यह सब क्यों हुआ कि एक राजपुत्र और दूजा भीलपुत्र। अनायास ही लोगों के मुख से निकलता है पुण्य और पाप का फल दोनों प्राप्त करते हैं। कहा भी है—
पुण्योदय से मिट्टी भी स्वर्ण हो जाए और पापोदय से स्वर्ण भी मिट्टी हो जाए।

रोट तीज कथा में कहा है कि राजा नल मित्र के घर पर रुका था तो पत्थर की मोर रानी का हार निगल गई तब राजा को चोरी का दोष लगा किन्तु पुण्य उदय आने पर सबके सामने मोर ने हार उगल दिया तो दोष धुल गया और चारों ओर जय जयकार होने लगी। अतः जिन्दगी में 'विशद' पुण्य पर भरोसा रखना चाहिए।

धर्म-दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला

इय जाणिऊण एयं, धम्माइत्ताइं सव्व कज्जाइं।

तं तह करेइ तुरियं, जह मुच्चइ सव्व दुक्खाइं॥70॥

विशद धर्म का आश्रय पाके, कार्य सभी होते सम्पूर्ण।

सर्व दुखों से छुटकारा हो, अतः आप धारो परिपूर्ण॥70॥

अन्वयार्थ :- (एयं धम्मा इत्ताइं) इस धर्म के आश्रय से (सव्व कज्जाइं) सम्पूर्ण कार्य होते हैं, (इय जाणिऊण) ऐसा जानकर (तं) उस धर्म को (तह) उस तरह (तुरियं) शीघ्रता से (करेइ) करो। (जह) जिससे (सव्व दुक्खाइं मुच्चइं) सब दुःखों से छुटकारा मिल जावे।

अर्थ :- इस धर्म के आश्रय से सम्पूर्ण कार्य होते हैं, ऐसा जानकर उस तरह शीघ्रता से करना चाहिए, जिस तरह सब दुःखों से छुटकारा मिल जावे।

विशदार्थ :- वात्सल्य निधि आचार्य भगवन् धर्म की महानता का विशद विवेचन करते हुए कहते हैं कि धर्म से ही संपूर्ण प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है। धर्म से ही दीर्घायु, बल, यौवन, यश, ख्याति, सौभाग्य, धन, संपदा, परिवारजन सब कुछ धर्म से ही प्राप्त होता है किन्तु धर्म की जड़ को खाद्य, पानी नहीं देंगे तो वृक्ष कब तक लहरायेगा? कहा भी है—

मिले धर्म से सुख विशद, शिव का जो सोपान।

धर्म हीन इस लोक में, है तिर्यञ्च समान॥

एक बार नगर में एक बागवान रहता था। उसका एक बेटा था। बागवान और उसकी पत्नि दिन—

Y X Y

Y X Y
 रात मेहनत करके जीवनयापन करते थे। कुछ समय बाद बेटे को जयपुर जैसे शहर में पढ़ने के लिए भेज दिया। समय अपनी गति से बढ़ रहा था किंतु कर्म का एक झटका लगा कि एक दिन बागवान की मृत्यु हो गई। जिस औरत का पति मर जाए उसकी क्या स्थिति होगी? ये आप अनुमान लगा सकते हैं। आस-पास के लोगों ने कहा- बेटे राम को बुलवा लीजिए। माँ ने कहा- नहीं मेरा बेटा पढ़ाई कर रहा है, अगर वो मेरे पास आ गया तो फिर पढ़ने नहीं जायेगा किन्तु पढ़ौसी तो पढ़ौसी ही होते हैं। उन्होंने एक पत्र लिखा और जयपुर भेज दिया। पत्र मिलते ही राम जैसा था वैसा ही घर की ओर चल दिया और सर्वप्रथम माँ के चरण स्पर्श किये और फूट-फूटकर रोने लगा। माँ, क्या मैं तेरा कुछ भी नहीं लगता? पापा चले गए तूने मुझे खबर तक नहीं दी। अनेक प्रकार की चर्चा वार्ता से दोनों माँ बेटे खूब फूट-फूटकर रोये। कर्म बड़ा बलवान है। कर्म ने एक लात मारी तो बाप चला गया। दूसरी लात मारी तो एक दिन माँ बीमार पड़ गई। जिसके जीवन के दोनों सहारे टूटने वाले हों उस बेटे पर क्या गुजर रही होगी। राम ने कभी पिता का फूल सींचने का काम देखा नहीं था। माँ के बीमार होते ही राम ने फूलों का कार्य करना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे फूलों की कीमत घटने लगी, दुखी होकर एक दिन राम ने कहा माँ आज-कल फूलों की कीमत अच्छी नहीं मिल रही है। माँ ने कहा- बेटा चिंता मत कर कुछ दिन में मैं ठीक हो जाऊँगी फिर बगीचे में चलकर देखती हूँ क्या बात है? एक दिन माँ बगीचे में धीरे-धीरे चलकर जाती है तो देखती है कि बेटा बगीचे में फूलों को कपड़े से अच्छी तरह से पोंछ रहा है फिर पानी छिड़क रहा है। माँ को समझने में देर ना लगी और पैर से बाल्टी का पानी जमीन में गिरा दिया। यह घटना देखकर बेटा कहने लगा कि माँ यह तूने क्या कर दिया है सारा पानी जमीन में फैला दिया। तब माँ ने कहा- बेटा पानी को जमीन में फैलाया नहीं है बल्कि फूलों में सींच दिया है जिस जड़ में पानी, खाद्य जाने से पेड़-पौधे हरे भरे होते हैं और हमारे लिए सुंदर-सुंदर फल-फूल के रूप में प्राप्त होते हैं। अभी तक तुमने पानी को व्यर्थ बहा दिया। ऊपर-ऊपर की तो सफाई कर ली किंतु अंतरंग से उसमें आवश्यक वस्तु प्राप्त नहीं हुई अर्थात् हमारे जीवन में भी ये घटना घटित होती है फल-फूल के रूप में हमारे पास परिवारजन, धन-संपत्ति, मकान-घर, फैक्ट्री, गाड़ी, वाहन आदि की प्राप्ति होती है किन्तु जड़ हमारा धर्म है। जो भी धार्मिक क्रियाएँ करना, पूजा-पाठ, भक्ति, गुणगान, आराधना, सामायिक, उपवास, एकासन आदि सभी जड़ें हैं जिससे सब कुछ प्राप्त होता है। जिस वृक्ष की जड़ जितनी मजबूत होती है उसका वृक्ष उतना ही मजबूत होता है। अतः जड़ को मजबूत करने का निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिए। सुभाषित रत्न सन्दोह में आचार्य अमितगति स्वामी कहते हैं-

यदि भवति सौख्यं वीतकामस्त्रहाणां, न तदभरविमांनापि चक्रेश्वराणां में।

इति मनासि नितान्तं प्रीति माघाय धर्म, अजतज वपृत्ति चेतन कामशत्रुन्दुरन्तान्।

Y X Y

Y X Y
 जो सुख इस लोक में, उन महात्माओं को होता है जिनके काम भोगों की इच्छा नहीं रही है वह सुख ना देवों, ना चक्रवर्ति राजाओं को हो सकता है ऐसा जानकर मन में गाढ़ प्रीति को धारण कर धर्म की सेवा कर और कठिनता से छूटने वाले भोगों की इच्छा रूपी शत्रुओं को त्यागकर 'विशद' मुक्ति का लक्ष्य प्राप्त करें।

॥ इति भावना प्रकरणं ॥

सम्मत्तपयरणं (सम्यक्त्व प्रकरण)

अनुयोगों की अपेक्षा विवेचन

जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार का है। इन अनुयोगों में विभिन्न दृष्टिकोणों से सम्यग्दर्शन के स्वरूप की चर्चा की गई है। प्रथमानुयोग में मात्र आज्ञा सम्यक्त्व का ही ग्रहण किया है क्योंकि प्रारम्भिक श्रावक अन्जान होने से आराध्य की आज्ञा शिरोधार्य करता है और चरणानुयोग में सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रायः इस प्रकार बताया गया है कि तीन मूढताओं और आठ मर्दों से रहित तथा आठ अंगों से सहित परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति देव कहलाता है। जैनागम में अरिहन्त और सिद्धपरमेष्ठी की देव संज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्यों के द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है। विषयों की आशा से रहित निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह एवं ज्ञान-ध्यान और तप में लीन साधु गुरु कहलाते हैं। हमारा प्रयोजन मोक्ष, उसकी प्राप्ति इन्हीं देव, शास्त्र, गुरु के आश्रय से हो सकती है। अतः इनकी दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की प्रतीति नहीं करना चाहिए।

द्रव्यानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व

जीवादि सद्दहणं सम्मतं, रूपमप्यणो तं तु।

द्रव्यानुरोग में प्रमुखता से द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों एवं पुण्य, पाप सहित नौ पदार्थों की चर्चा आती है। अतः द्रव्यानुयोग में सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान बताया गया है। तत्त्वरूप अर्थ अथवा तत्त्व-अपने-अपने वास्तविक स्वरूप से सहित जीव, अजीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। परमार्थ रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं।

Y X Y

Y X Y
 यहाँ विषय और विषयी में अभेद मानकर जीवादि पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है अर्थात् इन नौ पदार्थों का परमार्थ रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

इसी द्रव्यानुयोग में स्व-पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योंकि आस्रवादिक तत्त्व-स्व-जीव और पर-कर्मरूप अजीव के संयोग से होने वाले पर्यायात्मक तत्त्व हैं अतः स्व-पर में ही गर्भित हो जाते हैं। द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत अध्यात्मग्रन्थों में परद्रव्यों से भिन्न आत्म द्रव्य की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्व का निश्चय होने से पर स्वतः छूट जाता है।

सात तत्त्वों का विवेचन

मूल में तत्त्व दो हैं- जीव और अजीव। चेतना लक्षण वाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव द्रव्य (पुद्गल), धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेदों से पाँच प्रकार का है परन्तु यहाँ उन सबसे प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो जीव के साथ संयोग को प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्य कर्म और भाव कर्म रूप अजीव से प्रयोजन है। चैतन्य स्वभाव वाले जीव के साथ अनादि काल से ये नोकर्म-शरीर, द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादिक और भाव कर्म-रागादिक लग रहे हैं। ये किस कारण से लग रहे हैं, जब इसका विचार आता है, तब आस्रव तत्त्व उपस्थित होता है। आस्रव के बाद जीव और अजीव की क्या दशा होती है, यह बताने के लिये बन्ध तत्त्व आता है।

आस्रव का विरोधी भाव संवर है, बन्ध का विरोधी भाव निर्जरा है तथा जब जब नोकर्म, द्रव्य कर्म और भाव कर्म जीव से सदा के लिये सर्वथा विमुक्त हो जाते हैं, तब मोक्ष तत्त्व होता है। पुण्य और पाप आस्रव के अन्तर्गत हैं। इस तरह आत्म कल्याण के लिए उपर्युक्त सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। इनका वास्तविक रूप से निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है।

ऐसा न हो कि आस्रव और बन्ध के कारणों को संवर और निर्जरा का कारण समझ लिया जाय अथवा जीव की रागादिकपूर्ण अवस्था को जीव तत्त्व समझ लिया जाय या जीव की वैभाविक परिणति (रागादिक) को सर्वथा अजीव समझ लिया जाय। ऐसा समझने से वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो पाता है और सही निर्णय के अभाव में यह आत्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं हो पाती है। जिन भावों को यह जीव मोक्ष का कारण मानकर करता है वे भाव पुण्यास्रव के कारण होकर इस जीव को देवादि गतियों में सागरों पर्यन्त के लिए रोक लेते हैं।

सात तत्त्वों में जीव और अजीव का जो संयोग है वह संसार है तथा आस्रव और बन्ध उसके कारण हैं। जीव और अजीव का जो वियोग-पृथक् भाव है, वह मोक्ष है तथा संवर और निर्जरा उसके कारण हैं। जिस प्रकार रोगी मनुष्य को रोग एवं इनके कारण, रोग मुक्ति और उसके कारण चारों का

Y X Y

Y X Y
जानना आवश्यक है; उसी प्रकार इस जीव को संसार, इसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण
चारों का जानना आवश्यक है।

करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व

सत्तण्हं उवसमदो, उपसम सम्मो खया दुःखइयो य।

विदिय कषायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य॥जी.का. 26॥

सम्मत्त देश धारदिसुदयादो वेदगं हवे सम्मं।

चल मलिन मगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवण हेदु॥25॥

करणानुयोग में मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धा गुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है। करणानुयोग के अनुरूप इस सम्यग्दर्शन के होने पर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियम से हो जाता है। शेष अनुयोगों के सम्यग्दर्शन होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है।

मिथ्यात्व प्रकृति के अवान्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में सातवें नरक की आयु का बन्ध होता है और एक अन्य मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में नौवें ग्रैवेयक की आयु का बन्ध होता है। एक मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में इस जीव के मुनि हत्या का भाव होता है और एक अन्य मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में स्वयं मुनिव्रत धारण कर अट्टाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्व के उदय में कृष्ण लेश्या होती है और एक अन्य मिथ्यात्व के उदय में शुक्ल लेश्या होती है। जिस समय मिथ्यात्व प्रकृति का मन्द, मन्दतर उदय चलता है, उस समय सम्यग्दर्शन हो गया है, ऐसा जान पड़ता है परन्तु करणानुयोग के अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। एक भी प्रकृति का उसके संवर नहीं होता है। बन्ध और मोक्ष के प्रकरण में करणानुयोग का सम्यग्दर्शन ही अपेक्षित रहता है, अनुयोगों का नहीं। यद्यपि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की महिमा सर्वोपरि है तथापि उसे पुरुषार्थ पूर्वक एवं बुद्धि पूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस जीवन का पुरुषार्थ चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये ही अग्रसर होता है। अर्थात् यह बुद्धि पूर्वक परमार्थभूत देव, शास्त्र, गुरु की शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगम का अभ्यास कर तत्त्वों का निर्णय करता है। इन सबके प्राप्त होते ही यह संवर और निर्जरा को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन के विविध लक्षणों का समन्वय

Y X Y

Y X Y
उपर्युक्त विवेचन से सम्यग्दर्शन के निम्नलिखित पाँच लक्षण सामने आते हैं:-

1. परमार्थ देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति, 2. तत्त्वार्थ श्रद्धान, 3. स्व-पर का श्रद्धान, 4. आत्मा का श्रद्धान, 5. सप्त प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त श्रद्धा गुण की निर्मल परिणति।

इन लक्षणों में पाँचवाँ लक्षण साध्य है और शेष चार साधन हैं। जहाँ इन्हें सम्यग्दर्शन कहा है, वहाँ कारण में कार्य का उपचार समझना चाहिए। अरिहन्त देव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा होने से तथा कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की श्रद्धा दूर होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इस अपेक्षा से ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है। सर्वथा सम्यग्दर्शन का वह लक्षण नहीं है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्म के धारक मिथ्यादृष्टि जीवों के भी अरिहन्तादिक का श्रद्धान होता है। अणुव्रत, महाव्रत धारण करने पर देशचारित्र, सकल चारित्र होता भी है और नहीं भी होता है। परन्तु अणुव्रत और महाव्रत धारण किये बिना देशचारित्र, सकल चारित्र कदाचित् नहीं होता है, इसलिये अणुव्रत, महाव्रत को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार कर इन्हें देशचारित्र, सकल चारित्र कहा है। इसी प्रकार अरहन्त देवादिक का श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। परन्तु अरहन्तादिक की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता। इसलिये अन्वय व्याप्ति के अनुसार कारण में कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

यही पद्धति तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप लक्षण में भी संघटित करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यलिंगी अपने क्षयोपशम के अनुसार तत्त्वार्थ का ज्ञान प्राप्त कर उसकी श्रद्धा करता है, बुद्धिपूर्वक अश्रद्धा की किसी बात को आश्रय नहीं देता; परन्तु परमार्थ से वह स्वयं मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी श्रद्धा में कहाँ चूक रहती है, यह केवलज्ञानी (प्रत्यक्ष ज्ञानी) जानते हैं। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तत्त्वार्थ-श्रद्धानपूर्वक होगी। अतः कारण में कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूलरूप से 'शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है' ऐसा स्व-पर का भेद विज्ञान द्रव्यलिंगी मुनि को भी होता है। द्रव्यलिंगी मुनि, घानी में पेल दिये जाने पर भी संक्लेश नहीं करता और शुक्ल लेश्या के प्रभाव से नौवें ग्रैवेयक तक में उत्पन्न होने की योग्यता रखता है, फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्व-पर भेद विज्ञान में जो सूक्ष्म चूक रहती है, उसे जनसाधारण नहीं जान सकता। वह चूक प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय है। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है परन्तु उसकी प्राप्ति में स्व-पर का भेद विज्ञान कारण होता है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर इसे

Y X Y

Y X Y
सम्यग्दर्शन कहा है।

कषाय की मन्दता से उपयोग की चंचलता दूर होने लगती है, उस स्थिति में द्रव्यलिंगी मुनि का उपयोग भी परपदार्थ से हटकर स्व में स्थिर होने लगता है। स्वद्रव्य आत्मद्रव्य की वह बड़ी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का ऐसा भाव विभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवों को भी आत्मानुभव होने लगता है परन्तु वह स्वयं मिथ्यादृष्टि रहता है। इस स्थिति में इस आत्मश्रद्धान को करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का साधन मानकर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणों में सूक्ष्म चूक रहती है उसे छद्मस्थ जान नहीं सकता, इसलिए व्यवहार से इन सबको सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनके होते हुए भी सम्यक्त्व घात करने वाली सात प्रकृतियों का उपशमादिक होकर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, तत्त्वार्थ श्रद्धान और आत्म श्रद्धान, स्व-पर का श्रद्धान ये चारों लक्षण एक दूसरे के बाधक नहीं हैं क्योंकि एक के होने पर दूसरे लक्षण स्वयं प्रकट हो जाते हैं। जैसे आचरण प्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा तत्त्वार्थ श्रद्धान को और कषाय जनित विकल्पों की मन्द-मन्दतर अवस्था को मुख्यता देने की अपेक्षा स्व-पर श्रद्धान तथा आत्म श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यता के अनुसार चारों शैलियों को अपनाया जा सकता है। इन चारों शैलियों में भी यदि मुख्य और गौण की अपेक्षा चर्चा की जाये तो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप ज्ञान प्रधान शैली मुख्य जान पड़ती है क्योंकि उसके होने पर ही शेष तीन शैलियों को बल मिलता है।

सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है?

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं- एक अनादि और दूसरा सादि मिथ्यादृष्टि, जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ वह अनादि मिथ्यादृष्टि है; जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता रहती है। क्योंकि दर्शनमोहनीय ही मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीन प्रकृतियों में से एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही बन्ध होता है, शेष दो का नहीं। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से यह जीव मिथ्यात्वप्रकृति के तीन खण्ड करता है। ये हैं- मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता हो सकती है।

सादि मिथ्यादृष्टि जीवों में मोहनीय कर्म की सत्ता के तीन विकल्प बनते हैं। अट्ठाईस प्रकृतियों की

Y X Y

(124)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
सत्ता वाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला।
जिस जीव के दर्शन मोह की तीनों प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला है। जिस
जीव ने सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना कर ली है वह सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाला है और जिसने
सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला है।

सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ
सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करते हैं, क्योंकि अनादिमिथ्यादृष्टि को
सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और
द्वितीयोपशम के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की चर्चा है। द्वितीयोपशम की
चर्चा आगे की जायेगी।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने का अधिकारी

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीव को ही होता है अन्य को
नहीं। भव्यों में भी उसी का होता है जिसका संसार भ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन के काल से
अधिक बाकी नहीं है। लेश्याओं के विषय में यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चो के तीन शुभ
लेश्याओं में से कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियों के जहाँ जो लेश्या बतलाई है उसी में औपशमिक
सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए गोत्र का प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात् जहाँ उच्च नीच
गोत्रों में से जो भी सद्भाव हो उसी गोत्र में सम्यग्दर्शन हो सकता है।

कर्मस्थिति के विषय में चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मों की स्थिति अन्तः कोड़ा कोड़ी
सागर प्रमाण हो तथा सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर
प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थिति बन्ध रहने पर सम्यग्दर्शन
प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जिस के अप्रशस्त-प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियों का
अनुभाग चतुःस्थानगत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहाँ इतनी विशेषता
और भी ध्यान में रखना चाहिए कि सादिमिथ्यादृष्टि के आहारकशरीर और आहारक आंगोपांग की सत्ता
होती ही नहीं है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव दूसरे प्रथमोपशम सम्यक्त्व को
तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह वेदक काल में रहता है।

वेदक काल के भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है तो वह वेदक

Y X Y

Y X Y
 क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है। वेदक काल के विषय में यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रिय पर्याय में भ्रमण करता है वह संजी पञ्चेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यक् मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों की स्थिति एक सागर से कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो नियम से उसे वेदक-क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव विकलत्रय में परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति की स्थिति पृथक्त्वसागर प्रमाण शेष रहने तक उसका वेदककाल कहलाता है। इस काल में यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है तो नियम से वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को ही प्राप्त होता है। हाँ, सम्यक्त्व प्रकृति की अथवा सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति – दोनों ही की उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव के सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादिमिथ्यादृष्टि जीव के सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादि मिथ्यादृष्टियों में 26 या 27 प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है किन्तु 28 प्रकृति की सत्ता वाले जीव के वेदक काल के भीतर दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक-क्षायोपशमिक ही होता है। हाँ वेदक काल के निकल जाने पर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखने वाला संजी पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक विशुद्धियुक्त, जागृत, साकार उपयोग युक्त, चारों गति वाला, भव्य जीव, जब सम्यग्दर्शन धारण करने के सम्मुख होता है तब क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पाँच लब्धियों को प्राप्त होता है। इनमें करण लब्धि को छोड़कर शेष चार लब्धियाँ सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों को प्राप्त होती हैं। परन्तु करण लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है।

सम्यग्दर्शन की लब्धियों का स्वरूप

1. **क्षायोपशमिक लब्धि :-** पूर्व संचित कर्मपटल के अनुभागस्पर्धकों का विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्त गुणित हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिमाण उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं तथा भव्य, संजी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक, गर्भज, जागृत अवस्था, मंदकषायी इत्यादि युक्त हो।

2. **विशुद्धि लब्धि :-** साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध में कारण भूत परिणामों की प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

Y X Y

Y X Y

3. देशना लब्धि :- छहों द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं। उक्त देशना के दाता आचार्य आदि की लब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण धारण तथा विचारणा की शक्ति की प्राप्ति को देशना लब्धि कहते हैं।

4. प्रायोग्य लब्धि :- आयुर्कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति को अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मों में से घातिया कर्मों के अनुभाग को लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मों के अनुभाग को नीम और काँजी इन दो स्थानगत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

5. करण लब्धि :- करण भावों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले कारणों – भावों की प्राप्ति को करण लब्धि कहते हैं।

करण लब्धि के तीन भेद हैं- अथाप्रवृत्तकरण अथवा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

अधः करण :- जो करण-परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हों उन्हें अथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा सार्थक नाम अधःकरण है। जिसमें आगामी समय में रहने वाले जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते जुलते हों उसे अथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसमें समसमयवर्ती तथा विषम समयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान-दोनों प्रकार के होते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले जीवों के परिणाम छह से लेकर पन्द्रह नम्बर तक के हैं। पहले समय में रहने वाले जीव के छह से लेकर दस नम्बर तक परिणाम विभिन्न समयवर्ती होने पर भी परस्पर मिलते जुलते हैं। इसी प्रकार प्रथम समयवर्ती अनेक जीवों के एक से लेकर दस तक परिणामों से समान परिणाम हो सकते हैं। अर्थात् किन्हीं दो जीवों के चौथे नम्बर का परिणाम है और किन्हीं दो जीवों के पाँच नम्बर का परिणाम है। यह परिणामों की समानता और असमानता नाना जीवों की अपेक्षा घटित होती है। इस करण का काल अन्तर्मुहुर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धि को लिए हुए असंख्यात लोक प्रमाण करण परिणाम होते हैं।

अपूर्व करण :- जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व नये-नये परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले जीवों के यदि एक से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम होते हैं। परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। जैसे पहले समय में रहने वाले और दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम कभी समान नहीं होते परन्तु पहले अथवा दूसरे समय में रहने वाले जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी। यह चर्चा भी नाना जीवों की अपेक्षा है

Y X Y

Y X Y
 इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल है। इसमें भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

अनिवृत्ति करण :- जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। इसका कारण है कि यहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है इसलिये उस समय में जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयों में जो जीव होंगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इसके भी एक समय में एक ही परिणाम होता है। इन तीनों करणों में परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उपर्युक्त तीन कारणों में से पहले अथाप्रवृत्त अथवा अधःकरण में चार आवश्यक होते हैं—

1. समय-समय में अनन्त गुणी विशुद्धता होती है।
2. प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है।
3. प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्त गुणा बढ़ता जाता है।
4. प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तवाँ भाग घटता जाता है।

इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरण में निम्नलिखित आवश्यक और होते हैं सत्ता में स्थित पूर्व कर्मों की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है। इसलिये अनुभागकाण्डक घात होता है और गुणश्रेणी के काल में क्रम से असंख्यातगुणित कर्म, निर्जरा के योग्य होते हैं इसलिये गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरण में गुणसंक्रमण नाम का आवश्यक नहीं होता। किन्तु चारित्रमोह का उपशम करने के लिये जो अपूर्वकरण होता है उसमें होता है। अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरणकरण के काल के संख्यातवें भाग होता है। इसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्म के निषेकों का अन्तर्मुहूर्त के लिए अभाव होता है। अन्तरकरण के पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरण के द्वारा अभावरूप किये हुए निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय में आने वाले थे उन्हें उदय के अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदय योग्य प्रकृतियों का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में तीन

Y X Y

(128)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
खण्ड करना सूचित किया है। तदनन्तर चरम समय में मिथ्यादर्शन के तीन भाग करता है— मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियों का इस प्रकार सात प्रकृतियों के उदय का अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (ध्वला पुस्तक 6) के निम्नलिखित सूत्रों में भी प्रकट किया गया है—

“ओहट्टेदूण मिच्छन्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मतं मिच्छन्तं समामिच्छन्तं॥”

अर्थ – अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करता है— सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व।

“दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि।”

अर्थ – मिथ्यात्व के तीन भाग करने के पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्म को उपशमाता है।

द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन

प्रथमोपशम, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अस्तित्व चतुर्थगुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थान के सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान में उपशम श्रेणी माड़ने के सम्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शन में अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जीव उपशम श्रेणी माड़कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँ से पतन कर नीचे आता है। पतन की अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थान में भी इसका सद्भाव रहता है।

क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृति का उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहने से चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाति प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब उसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ये दोनों पर्यायवाची हैं।

Y X Y

Y X Y

इसकी उत्पत्ति अनादि-सादि मिथ्यादृष्टि दोनों के हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियों में जो वेदकाल के भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दर्शन में जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदक सम्यक्दर्शन होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को, चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। दर्शनमोहनीय की क्षपणा का आरम्भ कर्म भूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में। परन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियों में हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदक सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है तथा चौथे से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में हो सकता है।

यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है अर्थात् होकर कभी छूटता नहीं है। जबकि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात बार होकर छूट सकते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि या तो उसी भव में मोक्ष चला जाता है या तीसरे भव में या चौथे भव में, चौथे भव से अधिक संसार में नहीं रहता। जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होने से नरक में जाता है अथवा देवगति में उत्पन्न होता है वह वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। इसलिये वह तीसरे भव में मोक्ष जाता है और जो भोगभूमि में मनुष्य या तिर्यच होता है व वहाँ से देवगति में आता है। वहाँ से आकर मनुष्य हो मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार वह चौथे भव में मोक्ष जाता है। चारों गति सम्बन्धी आयु का बन्ध होने पर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि का चारों गतियों में जाना सम्भव है। यह नियम है कि सम्यक्त्व के काल में यदि मनुष्य और तिर्यच के आयुबन्ध होता है तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है। नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बन्ध होता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरङ्ग कारण

कारण दो प्रकार का होता है— उपादानकारण और निमित्तकारण। जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है वह उपादानकारण कहलाता है। जो कार्य की सिद्धि में सहायक होता है वह निमित्त कारण कहलाता है। निमित्त कारण के दो भेद हैं— अन्तरंग और बहिरंग।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपादानकारण आसन्न भव्यता आदि विशेषताओं से युक्त आत्मा है। अन्तरंग निमित्तकारण सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है

Y X Y

(130)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
और बहिरंग निमित्तकारण सद्गुरु आदि हैं। अन्तरंग निमित्तकारण के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है परन्तु बहिरंग निमित्त के मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है।

सम्यग्दर्शन के बहिरंग निमित्त चारों गतियों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे नरकगति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदनानुभव ये तीन, चौथे से सातवें तक जातिस्मरण धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन ये तीन, देवगति में बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणदर्शन और देवर्द्धिदर्शन ये चार, तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक देवर्द्धि दर्शन को छोड़कर तीन और उसके आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरङ्ग निमित्त हैं। ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वहाँ बहिरङ्ग निमित्त की आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भ में सर्वार्थसिद्धि का 'निर्देशस्वामित्व', आदिसूत्र तथा धवला पुस्तक 6 पृ. 420 आदि का प्रकरण द्रष्टव्य है।

सम्यग्दर्शन के भेद

उत्पत्ति अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो भेद हैं। जो पूर्व संस्कार की प्रबलता से परोपदेश के बिना हो जाता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है और जो परके उपदेशकपूर्वक होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन दोनों भेदों में अन्तरंग कारण—सात प्रकृतियों का उपशमादिक समान होता है, मात्र बाह्य कारण की अपेक्षा दो भेद होते हैं।

करणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद होते हैं। जो सात प्रकृतियों के उपशम से होता है वह औपशमिक कहलाता है। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम की अपेक्षा दो भेद हैं। जो सात प्रकृतियों के क्षय से होता है उसे क्षायिक कहते हैं और जो सर्वघाती छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सद्वस्थारूप अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। कृतकृत्य वेदक सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अवान्तरभेद है। दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने वाले जिस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के मात्र सम्यक्त्वप्रकृति का उदय शेष रह गया है शेष की क्षपणा हो चुकी है उसे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

चरणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व के भेद

चरणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। वहाँ परमार्थ देव—शास्त्र—गुरु की विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धा करने को निश्चय—सम्यग्दर्शन कहा जाता है। शयादिक आठ दोष आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ताएँ ये व्यवहार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहलाते हैं।

Y X Y

Y X Y
 द्रव्यानुयोग की पद्धति से भी सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते हैं। यहाँ जीवाजीवादि सात तत्त्वों के विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। सात तत्त्वों के विकल्प से सहित श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अध्यात्म में वीतराग सम्यग्दर्शन और सराग सम्यग्दर्शन के भेद से दो भेद होते हैं। यहाँ आत्मा की विशुद्धि मात्र को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों की अभिव्यक्ति को सराग सम्यग्दर्शन कहा है।

निमित्त की अपेक्षा सम्यक्त्व के दश भेद

आत्मानुशासन में ज्ञानप्रधान निमित्तादिक की अपेक्षा 1. आज्ञा सम्यक्त्व, 2. मार्ग सम्यक्त्व, 3. उपदेश सम्यक्त्व, 4. सूत्र सम्यक्त्व, 5. बीज सम्यक्त्व, 6. संक्षेप सम्यक्त्व, 7. विस्तार सम्यक्त्व, 8. अर्थ सम्यक्त्व, 9. अवगाढ सम्यक्त्व और 10. परमावगाढ सम्यक्त्व के दस भेद कहते हैं।

1. मुझे जिन आज्ञा प्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञा की प्रधानता से जो सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरवर्ती पदार्थों का श्रद्धान होता है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं।
2. निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं।
3. आगमज्ञ पुरुषों के उपदेश से उत्पन्न सम्यग्दर्शन उपदेश सम्यक्त्व कहलाता है।
4. मुनि के आचार को प्रतिपादन करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं।
5. गणितज्ञान के कारण बीजों के समूह से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे बीज सम्यक्त्व कहते हैं।
6. पदार्थों के संक्षेप विवेचन को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं।
7. विस्तार रूप जिनवाणी को सुनने से जो श्रद्धान होता है उसे विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं।
8. जैन के वचन बिना किसी अन्य अर्थ के निमित्त से जो श्रद्धा होती है उसे अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं।
9. श्रुतकेवली के तत्त्वश्रद्धान को अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं।
10. केवली के तत्त्व श्रद्धान को परमावगाढ सम्यक्त्व कहते हैं।
11. इस दश भेदों में प्रारम्भ के आठ भेद कारण की अपेक्षा और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीपना की अपेक्षा किये गए हैं

Y X Y

इस प्रकार शब्दों की अपेक्षा संख्यात, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के अनन्त भेद होते हैं।

जिनका सम्यग्दर्शन स्थिर है, वे धन्य हैं

ते धण्णा ते धणिणो, ते पुणे जीवन्ति माणुसे लोए।

सम्मत्तं जाह थिरं, भत्ती जिणसासणे णूणं॥71॥

सम्यग्दर्शन स्थिर जिनका, जिन शासन में भक्तीवान।

धन्य हैं वे जीवत हैं वे ही, जीवन सार्थक वे धनवान॥71॥

अन्वयार्थ :- (ते) जिनका (सम्मत्तं) सम्यक्-दर्शन (थिरं) स्थिर (जाह) हो गया है, (जिनसासणे णूणं भत्ती) जिन शासन में पूर्ण भक्ति है, (ते धण्णा) वे धन्य हैं, (ते धणिणो) वे धनवान हैं (पुणे ते) और वे ही (माणु से लोए जीवन्ति) मनुष्य लोक में जीते हैं अर्थात् उनका ही मनुष्य जीवन सार्थक है।

अर्थ :- जिनका सम्यक् दर्शन स्थिर है, जिन शासन में पूर्ण भक्ति है वे धन्य हैं, वे धनवान हैं और वे ही मनुष्य लोक में जीते हैं अर्थात् उनका ही मनुष्य जीवन पाना सार्थक हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि प्रथमानुयोग का सम्यग्दर्शन जिसमें 63 शलाका पुरुषों के चरित्र को पढ़कर जो श्रद्धान होता है उसे भी सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन एक ऐसी चाबी है जिसके बिना मुक्ति के द्वार खुल ही नहीं सकते हैं। जिनका सम्यग्दर्शन स्थिर है, जिनके सम्यग्दर्शन में चल, मलिन, अगाढ़ दोष नहीं लगते हैं अर्थात् जिन्होंने क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है वह परंपरा से निर्वाण को प्राप्त करता है। सम्यग्दृष्टि होना तो राजा श्रेणिक जैसा स्थिर होना। कभी अपनी आस्था, श्रद्धा से चलायमान नहीं होना। सभी जानते हैं कि जब राजा श्रेणिक की परीक्षा के लिये देव आए तो एक देव ने तो गर्भवती आर्यिका का रूप बनाया और एक ने मुनिराज का रूप बनाया। मुनिराज मछली पकड़ रहे थे। राजा श्रेणिक ने सर्वप्रथम मुनिराज को नमस्कार किया और निवेदन किया कि हे मुनिराज! आप ये क्या कर रहे हो? मुनिराज ने कहा— दिखाई नहीं देता कि हमारे साथ आर्यिका है, वह गर्भवती है। उसको दोहला उत्पन्न हुआ है कि मछली खाना है उसी की इच्छा पूर्ति कर रहा हूँ। राजा ने फिर निवेदन किया— नहीं—नहीं आप ऐसा करके जिनधर्म की अप्रभावना कर रहे हैं। आप तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान के रूप को धारण करने वाले हो यह कार्य तो हमारे जैसे लोगों का है। आप तो आत्मध्यान करके अपना कल्याण कीजिए। मुनि भेषदारी देव राजा के चरणों में नतमस्तक हो गया और चरणों में गिरकर बोला मुझे क्षमा कर दीजिये जैसा मैंने स्वर्ग में सुना था वैसा ही मैंने पाया। राजा चाहता तो उसी समय सैनिकों को आदेश देकर जेल में बंद करवा सकता था लेकिन नहीं, उन्होंने धर्म की अप्रभावना

Y X Y

Y X Y
 का कार्य नहीं किया किंतु आज कलिकाल का प्रभाव है, थोड़ी सी शिथिलता नजर आई तो साधु संघों के द्वारा पथभ्रमित करने वाला उपदेश दिया जाता है। कभी ये नहीं किया कि सामने जाकर समझाया जाए। समझाना तो दूर तुरंत वाट्सप, मेल, फेसबुक, फोन करके सभी में प्रचारित कर देना कहाँ कि समझदारी है। कभी ये नहीं सोचा कि जैन धर्म अत्यंत प्राचीन धर्म है। धर्म की बदनामी ही हमारी बदनामी है। वाट्सप, फेसबुक का प्रयोग धर्म की प्रभावना में करना तो समझदारी है ना कि अप्रभावना करने में अपना समय खराब करके अनंत काल के लिए अपना संसार और अधिक बढ़ा लेना। जिस जीव ने एक बार क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह तीन या चार भव में नियम से मुक्ति को प्राप्त हो जाएगा। इसलिए हे भव्य जीवो! समय रहते हुए इस विशद सम्यक्त्व को प्राप्त करने की निरंतर भावना भाना चाहिए जिससे सिद्धत्व की प्राप्ति हो सके। यही विशद जीवन का सार है। कहा भी है—

सम्यक्दर्शन संशुद्धः, सत्पुमानमुच्चते बुधैः।

सम्यक्त्वेन बिना जीवः, पशुरेव न संशयः॥

अर्थात् सकलकीर्ति जी महाराज सुभाषित रत्नावली में कहते हैं कि सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य ही विद्वानों के द्वारा/सज्जनों के द्वारा सत्पुरुष कहा जाता है। सम्यक्त्व के बिना जीव पशु ही है इसमें कोई संशय नहीं है। ऐसा जानकर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धान एवं सप्त तत्त्व में श्रद्धान करते हुए सम्यक्त्वी बनकर विशद कल्याण का पथ प्रशस्त करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन को ध्यान में ध्याओ

गहिऊण य सम्मत्तं, सुणिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं।

तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए॥72॥

निर्मल मेरू गिरि सम निश्चल, सम्यग्दर्शन धारी जीव।

दुःखों का क्षयकारी पावन, उसको ध्याओ सदा सजीव॥72॥

अन्वयार्थ :- (सुणिम्मलं) निर्मल (सुरगिरीव) सुमेरुपर्वत के समान (निक्कंपं) निश्चल (सम्मत्तं गहिऊण) सम्यग्दर्शन को धारण करके (दुक्खक्खयट्ठाए) दुःखों के क्षय, नाश के लिए (सावय) श्रावक को (तं) उस सम्यग्दर्शन को (झाणे झाइज्जइ) ध्यान में ध्याना चाहिए।

अर्थ :- निर्मल सुमेरु पर्वत के समान निश्चल सम्यक्-दर्शन को धारण करके दुःखों के क्षय नाश के लिए श्रावक को उस सम्यक्दर्शन को ध्यान में ध्याना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् धर्म की विशदता का विशद चिंतन करते हुए कहते हैं कि सम्यक्दर्शन से शुद्ध जीव विद्वान पुरुषों के द्वारा सत्पुरुष कहा जाता है। सम्यक्त्व से रहित जीव पशु के

(134)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
समान है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए। जो भव्य जीव स्व-पर भेद विज्ञान सहित अपने और पर को पहचानते हुये अपने जीव तत्त्व को तथा अपने जीव पदार्थ को अपना जानते हैं, अपना मानते हैं तथा इसी रूप आचरण भी करते हैं। विद्वान पुरुषों के द्वारा उन्हें सद्गुणी और सत्पुरुष कहा जाता है। सत्पुरुष ही सम्यक्दृष्टि होते हैं, उनके पास ही सम्यक्दर्शन होता है। जिसने एक बार भी भाव सम्यक्दर्शन प्राप्त कर लिया, उसका अर्ध पुद्गल परावर्तन संसार शेष रह गया। उसके बाद वह परंपरा से निर्वाण सुख को प्राप्त कर लेगा किंतु यदि सम्यक्त्व से च्युत हो गया तो फिर से पंच परावर्तन संसार में परिभ्रमण को तैयार हो गया है। कौन सम्यग्दृष्टि है? कौन मिथ्यादृष्टि है? इसकी कोई पहचान नहीं कर सकता है।

सम्यक्दर्शन वह अमूल्य निधि है जिसका कोई मूल्य नहीं है। जो किसी खान में या बाजार में नहीं मिलती है। सम्यक्त्व निधि हमारे अन्तश्चेतना से प्रकट होती है जो अपनी दृष्टि को मोड़कर निज की ओर ले जाता है जिसने अपने स्वरूप को जानने का ध्येय किया। जो निज देह पाषाण में मूर्ति खोजने वाला शिल्पी बना, उसने ही वह निधि प्राप्त कर पाई है। अतः भो आत्मन्! यदि आप अपने जीवन में सम्यक्त्व रूप दौलत प्राप्त करना चाहते हो तो एकाग्रचित्त होकर तन ओर चेतन के भेद को जानकर देह देवालय में चैतन्य परमात्मा की खोज करना प्रारम्भ कर दो। जिसने अपने अन्दर अपने परमात्मा को खोजा वही मोक्ष मार्ग के राही बने। कहा भी है—

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ। मैं बावरी खोजन लगी रही किनारे बैठ॥

इससे सिद्ध है कि जब गोताखोर सागर में डुबकी लगता है तो एक ना एक बार उसके लिए रत्नों की प्राप्ति होती है किन्तु जो किनारे बैठकर सोच फिकर में पड़ जाए वह कभी रत्न तो क्या जल भी प्राप्त नहीं कर पाता है। प्यासा-प्यासा चिल्लाकर अपना दम तोड़ देता है। अतः आचार्य भगवन्तों का यही सन्देश है कि जिन को ध्याओ, निज को पाओ, निज को ध्याओ जिन हो जाओ। यही सम्यक्त्व का मूल है। कहा भी है—

लहरों से डरकर नौका कभी पार नहीं होती।
कोशिश करने वालों की कभी हार नहीं होती॥
सिन्धु में जब गोता खोर गोता लगाता है।
जा-जाकर खाली हाथ कई बार लौट आता है॥
मिलते न सहज मोती यूँ ही गहरे पानी में।
बढ़ता दुगुना उत्साह इसी हैरानी में॥
मुट्ठी उसकी खाली हर बार नहीं होती।

Y X Y

Y X Y

कोशिश करने वालों की कभी हार नहीं होती॥

सम्यक्त्व के माहात्म से सिद्ध पद की प्राप्ति

किं बहुणा भणिण य, जे सिद्धा णरवरा गए काले।

सिज्झिहहि जे वि भविया, तं जाणह सम्ममाहणं॥73॥

अधिक कहें क्या श्रेष्ठ मनुज जो, हुए भूत में जो भी सिद्ध।

जो भविष्य में होंगे सारे, फल सम्यक्त्व का रहा प्रसिद्ध॥73॥

अन्वयार्थ :- (किं बहुणा भणिण) बहुत कहने से क्या (जे णरवरा) जो श्रेष्ठ मनुष्य (गए काले सिद्धा) भूतकाल में सिद्ध हुये हैं और (जे वि भविया सिज्झिहहि) जो भव्य जीव भविष्यत् काल में सिद्ध होंगे (तं) उसको (सम्ममाहणं) सम्यक्त्व का माहात्म्य (जाणह) जानो।

अर्थ :- बहुत कहने से क्या जो श्रेष्ठ मनुष्य भूतकाल में सिद्ध हुए हैं और जो भव्य जीव भविष्यत् काल में सिद्ध होंगे, उसको सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो।

विशदार्थ :- वात्सल्य निधि आचार्य भगवन् सम्यक्दर्शन के विषय में विशद चिंतन करते हुए कहते हैं। भूतकाल में जितने भी सिद्ध हुए और वर्तमान में जितने भी सिद्ध हो रहे हैं यह सभी सम्यक्त्व का ही प्रभाव है जो सम्यक्त्व से अलंकृत हैं। मुक्ति वधु भी उनका वरण करने को तैयार रही है तथा सम्यक्त्वधारी के पास स्वर्ग की लक्ष्मी स्वयं ही प्राप्त होती है तथा राज्य संपदा उसकी मित्र हुआ करती है। जिस प्रकार भोजन में नमक ना हो तो भोजन नीरस और बेस्वाद लगता है। वैसे ही तप, त्याग, संयम सब कुछ हो किंतु सम्यक्त्व ना हो तो साधना निष्फल होती है।

‘हुए सिद्ध अब तक जो जितने, आगे होंगे सिद्ध महान्।

है महिमा सम्यक्त्व की यह सब, ऐसा कहते हैं भगवान्॥’

देवेन्द्र चक्र महिमान ममेयमानं, राजेन्द्र चक्र-मवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयम्।

धर्मेन्द्र चक्रमधरी कृत सर्वलोकं, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्त रुपैतिभव्यः॥र.श्रा. 41॥

सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक 41 में कहा। सम्यक्दृष्टि नरकादि अशुभ गति, दुष्कुल, स्त्री, नपुंसक वेद, अल्प आयु और दरिद्री नहीं होता है तथा जो मनुष्य में राजपद ओर देव में इन्द्रपद को प्राप्त करता है वहाँ ओज, तेज, विद्या, विभव, विजय का स्वामी होकर सर्वसंगत शिरोमणि होता है। जो अनेक ऋद्धि सिद्धियों से युक्त देवों की सभा में चिरकाल तक रमण करता है वहाँ से चयकर मनुष्य गति में चक्रवर्ति जैसे महान् पदों को सुशोभित कर

Y X Y

(136)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
अनेक मुकुट बद्धराजाओं से सेवनीय नव निधि चौदह रत्न का स्वामी होकर समस्त छह खण्डों पर राज्य सम्पादित कर राज्य चलाता है। चक्ररत्न प्राप्त करके सारी प्रजा आह्लादित करता है तथा इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र एवं गणधरों से पूजित तीर्थकर पद प्राप्त करके धर्मचक्र के स्वामी तीर्थकर होते हैं और क्षुधा तृषादिक 18 दोष रहित अष्टकर्म से रहित अष्टगुण संयुक्त परम सिद्ध पद प्राप्त करके अपरिमित ऐश्वर्य को पाने वाले निज गुण में लीन हो विशद अनन्त सौख्य के भोगी होते हैं, अधिक कहने से क्या संसार में जितने भी सुख हैं सभी एवं संसार में जितने भी उत्तम पद हैं सभी सम्यक्त्व के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। कहा भी है—

आदमी वह नहीं कहाता है, खून जिसको बहाना आता है।

कैसे आयेगी राश उन्हें खुशी, औरों का दिल जो दुखाता है॥

पेट उसका कभी नहीं भरेगा, जो औरों का छीनकर खाता है।

मिलेगी क्या कभी उसे मंजिल, मिथ्या राह पर जो जाता है॥

जीत होती है सम्यक् सत्य की इक दिन, विशद मंजिल को वही पाता है।

यह सम्यक् पथ ही इन्सान के जीवन में, स्वयं को स्वयं से मिलाता है॥

सुभाषित रत्नावली में भी कहा है—

सम्यक्त्वं यस्य जीवस्य, हस्ते चिंतामणिर्भवेत्।

कल्प वृक्षो गृहे तस्य, कामगव्यनुगामिनी॥

सम्यक्त्वधारी जीव के हाथ में चिंतामणि रत्न होता है तथा उसके गृह में कल्पवृक्ष और सभी की इच्छा पूर्ण करने की कामधेनु गाय उसकी अनुगामिनी होती है।

सम्यग्दर्शन को स्वप्न में भी मलीन नहीं करो

ते धण्णा सुकियत्था, ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।

सम्मत्तं सिद्धियरं, सिविणे वि ण मइलियं जेहि॥74॥

धन्य रहे वे पुण्य वान वे, शूरवीर पण्डित विद्वान।

स्वप्न में भी सम्यक् दर्शन जो, मलिन किए ना वे गुणवान॥74॥

अन्वयार्थ :- (ते धण्णा) वे धन्य हैं (ते सुकियत्था) वे पुण्यशाली हैं (ते सूरा) वे शूरवीर हैं और (ते वि पंडिया मणुआ) वे ही पण्डित बुद्धिमान मनुष्य हैं (जे हि) जिन्होंने (सिद्धियरं) मोक्ष देने वाले (सम्मत्तं) सम्यक्दर्शन को (सिविण वि णमइलियं) स्वप्न में भी मलिन नहीं किया।

Y X Y

Y X Y

अर्थ :- वे धन्य हैं, वे पुण्यशाली हैं, वे शूरवीर हैं और वे ही पण्डित बुद्धिमान मनुष्य हैं, जिन्होंने मोक्ष देने वाले सम्यक्-दर्शन को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है।

विशदार्थ :- प्रज्ञाश्रमण आचार्य भगवन् सम्यक्त्व की महिमा का विशद विवेचन करते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवो! इंसान के जीवन में सम्यग्दर्शन नींव के समान है, सम्यग्ज्ञान भवन की आकृति (नक्शा) है और सम्यक्चारित्र भवन है जिस प्रकार नींव के अभाव में भवन का निर्माण संभव नहीं है और मात्र नींव भर प्राप्त करने से भी कुछ कार्य बनने वाला नहीं अथवा नक्शा तैयार कर लेने से भी कुछ नहीं होगा। व्यक्ति के जीवन में भवन का आनंद प्राप्त नहीं हो सकता।

खेद की बात है कि आजकल एकांत की हवा चल रही है कोई मात्र सम्यग्दर्शन के गीत गाए जा रहा हैं, सम्यग्दर्शन को ही सर्वस्व मान रहे हैं। कहा भी है—

मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।

सम्यक्ता ना लहे सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।।

अर्थात् सम्यक्दर्शन मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है किन्तु सीढ़ी को मंजिल मान बैठे हैं और उसी के गीत गाए जा रहे हैं।

सत्य और सम्यक् मार्ग अपनाने पर इंसान मंजिल तक पहुँच जाता है। सम्यक्मार्ग के अभाव में भटकन के अलावा और कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है। हम आज तक संसार में भटक रहे इसका मुख्य कारण सम्यक्मार्ग का अभाव है। विपरीत दिशा में बढ़ने वाला कभी मंजिल तक नहीं पहुँचा और तीन काल में कभी पहुँच नहीं सकता है। आत्मा के अंदर ही श्रद्धान है ज्ञान और चारित्र है किन्तु लोगों ने श्रद्धान और ज्ञान तो आत्मा का विषय माना है किन्तु चारित्र को बाहर की क्रिया माना है जबकि चारित्र भी आत्मा का अंतरंग विषय है। आत्मा की खोज आत्मा की अनुभूति है, यही अनुभूति शिव का मार्ग है और शिव मंजिल का जनक है। अतः हे भव्य जीवो! सम्यग्दर्शन का कोई मूल्य नहीं है न तो वह खरीदा जा सकता, ना बेचा जा सकता है बल्कि वह अनुभव की वस्तु है इसलिए ऐसे जिनेन्द्र देव प्रणीत सम्यक्दर्शन में स्वप्न में भी दोष नहीं लगाना चाहिए बल्कि साहस, सहनशीलता, निडरता से उसका पालन करना चाहिए।

सम्यक्त्वी की भावना का कथन करते हुए कहा है—

परम प्रेम की रहे प्रेरणा, हृदय हमारा रोशन हो।

मैत्री भाव के मधुर गीत से, सारी धरती मधुवन हो।।

Y X Y

Y X Y

स्वयं जिएं सुख से औरों को, सुख पहुँचाने का प्रण हो।

हँसता-खिलता हो हर चेहरा, स्वर्ग सरीखा जीवन हो॥

दीन दुखी जीवों की सेवा, परमेश्वर की पूजन हो।

घर आयों के आँसू पोछें, खुशहाली हर आँगन हो॥

पथ-भूलों को पद दर्शाएँ, धर्म भावना हर उर हो।

हर दरवाजा रामद्वार हो, हर मानव एक मंदिर हो॥

आत्म-बोध की रहे रोशनी, आँखें मन की निर्मल हो।

नमस्कार है उल्लसित उर से, सकल धरा धर्मस्थल हो॥

सम्यग्दर्शन क्या होता है?

हिंसा रहिए धम्मे, अट्टारह दोस वज्जिये देवे।

णिगंथे पव्वयणे सद्वहणं होइ सम्मत्तं॥75॥

हिंसा रहित धर्म दोषों से, विरहित होते हैं जिनदेव।

गुरु निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा, करना सम्यक् दर्शन एव॥75॥

अन्वयार्थ :- (हिंसा रहिए धम्मे) हिंसा से रहित धर्म में (अट्टारह दोस) अठारह दोषों से (वज्जिए) रहित (देवे) देव में (णिगंथे पव्वयणे) निर्ग्रन्थ गुरुओं एवं जिन प्रवचन, जिन देव शास्त्र में (सद्वहणं) श्रद्धान करना (सम्मत्तं होइ) सम्यक् दर्शन होता है।

अर्थ :- हिंसा से रहित धर्म में, अठारह दोषों से रहित देवों में निर्ग्रन्थ गुरुओं में एवं जिन प्रवचन, जिन देव, शास्त्र में श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् सम्यक्त्व की महिमा का विशद विवेचन करते हुए कहते हैं कि सम्यक्दर्शन अर्थात् समीचीन श्रद्धान करना। जैन ग्रंथों में चार अनुयोग बताये हैं- प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग का सम्यक्त्व आज्ञा पालन-63 श्लाका पुरुषों के जीवन चरित्र पर श्रद्धान करना। करणानुयोग के सम्यक्त्व में मोहनीय कर्म की सप्त प्रकृतियाँ- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति के उपशम क्षय क्षयोपशम क्षय की विभिन्न दशा के अनुसार वह करणानुयोग का सम्यक्त्व है।

चरणानुयोग-मुनि एवं श्रावक के द्वारा पालन किये जाने वाले चारित्र का जिसमें सविस्तार वर्णन हो वह चरणानुयोग है। उस अनुसार चारित्र में श्रद्धान द्रव्यानुयोग-जिसमें जीवादिक सप्त तत्त्व का

Y X Y

Y X Y
 एवं आत्म स्वरूप का श्रद्धान हो वह द्रव्यानुयोग का सम्यक्त्व है। इनमें सम्यक्त्व को देखना और जान पाना केवली गम्य है किन्तु स्थूल रूप से उनकी क्रिया के द्वारा अनुमान लगाया जा सके वह मात्र प्रथमानुयोग और चरणानुयोग के अनुसार ही जाना जा सकता है किन्तु करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग के द्वारा तो किंचित् भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। आज के क्वचित् सम्यक्त्वी जो अपने आपको सम्यक्त्वी घोषित कर रहे हैं उनकी क्रिया सम्यक्त्व के विपरीत होती है फिर भी अपने आप को सम्यक्त्वी घोषित करते हैं और जिनकी चर्या सम्यक्त्व के अनुकूल होती है उन्हें मिथ्यात्वी घोषित करते हैं जैसे कोई कहते हैं कि देव-सर्वज्ञ नहीं होते। कोई कहते शास्त्रों में आचार्य प्रणीत होने पर भी जैन धर्म से बाह्य है अथवा ऐसा तो बहुत लिखा है क्या-क्या माने जो हमें रुचता वह मानते जो नहीं जमता वह नहीं मानते तो तुम्हारे जमाने के लिए शास्त्र लिखे जाएंगे क्या? अथवा गुरु में कोई कहते हम अपने गुरु को गुरु मानते, सभी गुरु को नहीं अथवा कोई यह साधु तेरह पंथी है, यह बीस पंथी है अथवा जिनके 28 मूलगुण पूरे होंगे वे गुरु सही है, उन्हें मानेंगे तो यह फार्मूला किसके पास है जो साधु के मूलगुणों को माप सके? भगवान महावीर की देशना के अनुसार ऐसे जीव सम्यक्त्वी नहीं हो सकते। सम्यक्त्व में मोल-तोल नहीं होता, चारित्र में तो मोल तोल हीनाधिक हो भी जाए किन्तु सम्यक्त्व में इस प्रकार का भेद नहीं हो सकता है। अतः भेद मिटाकर विशद श्रद्धानी बने।

सम्यग्दर्शन के आठ गुण

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुआ य उवसमो भत्ती।

वच्छल्लं अणुकंपा अट्टगुणा होंति सम्मत्ते॥76॥

संवेग निर्वेग निंदा गर्हा, उपशम भक्ती अरु वात्सल्य।

अनुकम्पा यह कहे आठ गुण, सद्दर्शन के हों निःशल्य॥76॥

अन्वयार्थ :- (संवेओ) संवेग/संवेद (णिव्वेओ) निर्वेग/निर्वेद (णिंदा) निन्दा (गरुआ) गर्हा (उपसमो) उपशम (भत्ती) भक्ति (वच्छल्लं) वात्सल्य/प्रेमभाव/स्नेह (य) और (अणुकंपा) करुणा ये (सम्मत्ते अट्टगुणा होंति) सम्यक्त्व के आठ गुण होते हैं।

अर्थ :- संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य एवं अनुकंपा ये सम्यग्दर्शन के आठ गुण होते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- जैन धर्म में द्रव्य नहीं गुण प्रधान माना गया है इसीलिए कहा है-

Y X Y

Y X Y

मोक्ष मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भू भृताम्।

ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां वन्दे तद्गुण लब्धये॥

जो मोक्ष मार्गस्य नेतारं अर्थात् जो मोक्षमार्ग के नेता हैं यानि मोक्ष मार्ग पर निरन्तर बढ़ रहे हैं जो कर्म भू भृताम् अर्थात् ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म रूप पर्वत है उनका भेदन खण्डन करने वाले हैं ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां अर्थात् सम्पूर्ण विश्व में जो भी पदार्थ है उनके जानने वाले केवलज्ञानी/सर्वज्ञ हैं उनके उन गुणों की प्राप्ति के लिए मेरा नमस्कार हो, यह गुण तो सर्वज्ञ प्रभु के बताए गये हैं किन्तु सर्वज्ञ के इन गुणों को पाने के लिए संसारी प्राणी जब तक अपने जीवन में सम्यक्त्व के हेतु भूत इन गुणों को प्राप्त नहीं करेगा तब तक सम्यक्दर्शन ही नहीं होगा। जो मोक्ष का धरातल है जिस प्रकार धरातल के अभाव में मंजिल का निर्माण सम्भव नहीं, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में मोक्ष सम्भव नहीं अतः सम्यक्त्व के जो मूलभूत गुण हैं उनका पालन करने पर ही सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है। कहा भी है—

विद्या वृत्तस्य सम्भूति, स्थिति वृद्धि फलोदयाः।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव॥र.श्रा. 32॥

सम्यक्त्व वह बीज है जिसके बोने पर वृक्ष उत्पन्न होता है जो अपनी आभा से जग को प्रफुल्लित करता है, वृक्ष निरन्तर वृद्धिगत होकर उसमें विभिन्न प्रकार के फल प्राप्त होते हैं एवं वृक्ष से छाया एवं काष्ठ इत्यादि प्राप्त होते हैं किन्तु बीज के अभाव में कुछ भी सम्भव नहीं है। उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति का बीज सम्यक्त्व है वह सम्यक्त्व संवेगादिक गुण से ही भूमि उर्वरा होगी जिसमें बीज उगाकर मोक्ष मार्ग का निर्माण होगा। तब ही मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है वे गुण इस प्रकार हैं।

संवेगः— संसार के दुःखों से भयभीत होना एवं धर्म में अनुराग होना संवेग है।

निर्वेदः— भोगों से विरक्तता धारण करना निर्वेद है।

निन्दाः— अपने किये हुए पापों का पश्चाताप करना निन्दा है।

गर्हाः— गुरु के समीप जाकर अपने दोषों का निवेदन कर निराकरण करना गर्हा है।

उपशमः— क्रोधादिक पच्चीस कषायों का त्याग करना उपशम है।

भक्तिः— दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप का एवं इनको धारण करना या धारण करने वालों की विनय करना भक्ति है अथवा पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति है।

वात्सल्यः— व्रतों के धारण करने में अनुराग धारण करना एवं व्रतियों के प्रति अनुराग रखना वात्सल्य है।

अनुकंपाः— त्रस-स्थावर इन छहों प्रकार के जीवों की रक्षा करना, उन पर दया धारण करना अनुकंपा है।

Y X Y

सम्यक् दर्शन कहे जिनेश्वर, दोष अठारह रहित महान॥७७॥

Y X Y
होता है तथा कर्मों का रोध हो जाना द्रव्य संवर है।

(6) निर्जरा- तपादिक के द्वारा अथवा जिस काल में कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर जिसका फल भोगा जा चुका है ऐसे कर्म पुद्गल जिस भाव से छूटें वह भाव निर्जरा है इसे सविपाक निर्जरा कहते हैं तथा तप बल आदि के द्वारा कर्म घटने को अविपाक निर्जरा कहते हैं। कर्मों का झड़ना द्रव्य निर्जरा है।

(7) मोक्ष- आत्मा के जिन परिणामों से सर्व कर्म का क्षय हो जाए वह भाव मोक्ष है और कर्मों से जीव का मुक्त होना द्रव्य मोक्ष है।

(8) पुण्य- आत्मा के परिणाम शुभ भाव से युक्त पुण्य रूप होते हैं जिनमें साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र की प्राप्ति होती है संसार के सभी प्रकार की सुख सुविधा पुण्य से प्राप्त होती है। यहाँ तक कि अर्हन्त पद भी पुण्य का फल है। कहा भी है- 'पुण्य फला अरहन्ता' अर्थात् अरहन्त पद पुण्य का फल है।

(9) पाप- जीव के अशुभ भाव से पाप की प्रवृत्ति होती है जिससे असाता वेदनीय, अशुभ नरकादि आयु, अशुभ नाम कर्म, नीच गोत्र तथा ज्ञानावरणादि कर्म का अशुभ फल भोगना पड़ता है।

इस प्रकार आगम कथित पदार्थों में श्रद्धान करते हुए मोक्ष के कारण भूत देव शास्त्र गुरु में निःशंकित आदि 8 अंग सहित श्रद्धा करना सम्यक् दर्शन है। यह सम्यक्त्व मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी है। कहा भी है-

मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।

सम्यकता ना लहे सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥

आप्त के वचन प्रमाण

छुह तण्हा भय दोसो, राओ मोहो जरा रुजा चिंता।

मच्चू खेओसेओ अरइ, मओ विम्हओ जम्म॥78॥

णिद्दा तहा विसाओ, दोसा एण्हिं वज्जिओ अत्ता।

वयणं तस्स पमाणं सत्तच्चपयत्थयं जम्हा॥79॥

क्षुधा तृषा भय द्वेष राग मद, मोह बुद्धापा रोग विषाद।

चिंता मृत्यू खेद पसीना, अरति जन्म निद्रा उत्पाद॥78॥

दोष अठारह रहित आप्त हैं, तत्त्वों का करते व्याख्यान।

Y X Y

अतः लोक में केवल ज्ञानी, रहे आप्त के वचन प्रमाण॥79॥

अन्वयार्थ :- अर्हत परमात्मा अठारह दोषों से रहित होते हैं। वे दोष इस प्रकार हैं:-

(छुहणहाभय दोसो) भूख, प्यास, भय, द्वेष, (राओ) राग, (मोहो) मोह, (जरा) बुढ़ापा, (रुजा) रोग, (चिंता) चिंता, (मच्चु) मृत्यु, (खेओ) खेद, (सेओ) स्वेद/पसीना, (अरइ) अरति, (मआ) मद, (विम्हओ) विस्मय, (जम्मं) जन्म (तहा णिद्दा) तथा निद्रा (विसाओ) विषाद, (एण्हिं दोसा वज्जिओ) इन अठारह दोषों से रहित (अत्ता) आप्त हैं। (जम्हा) क्योंकि (सत्तच्चपयत्थयं) वे सत्यार्थ जीवादि सात तत्त्व और नौ पदार्थों के व्याख्यान कर्त्ता हैं। (तम्हा) अतः (तस्स वयणं पमाणं) उस आप्त के वचन प्रमाण हैं।

अर्थ :- भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, बुढ़ापा, रोग, चिंता, मृत्यु, खेद, पसीना, अरति, मद, विस्मय, जन्म, निद्रा तथा विषाद इन अठारह दोषों से रहित आप्त हैं क्योंकि वे सत्यार्थ जीवादि सात तत्त्व और नौ पदार्थों के व्याख्यान कर्त्ता हैं, अतः उस आप्त के वचन प्रमाण हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् अपनी पीयूष देशना में भव्य जीवों को समझाते हुए कहते हैं कि जिसके पास जो वस्तु होती है वह वही प्रदान कर सकता है। जिन देवी-देवताओं के पास सांसारिक वस्तुएँ हैं उनसे उनकी माँग की जाए तो कदाचित् पूर्ण भी हो सकती है किन्तु जिसके पास जो है ही नहीं अर्थात् शाश्वत् सुख कैसे दिला सकता है? जो स्वयं संसार सागर में डूब रहा है वह हमें क्या भव पार लगाएगा। जो स्वयं रागी द्वेषी है वह हमें क्या वीतरागता देगा? जो स्वयं मोही है वह हमें निर्मोही कैसे बनाएगा? अतः यदि हमें रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग व मुक्ति मंजिल को पाना है तो हमें उन परमात्मा के ऊपर आस्था रखना चाहिए जिसने स्वयं मुक्ति की सिद्धि कर ली है, अंतिम लक्ष्य पा लिया है, ऐसे उन परमात्मा, सर्वज्ञदेव आप्त प्रभु को मेरा नमस्कार हो। आप्त किसे कहते हैं तो आचार्य समंद्रभद्र स्वामी कहते हैं-

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।

भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥र.श्र. 5॥

अर्थात् जो 18 दोषों से रहित है, जो वीतराग सर्वज्ञ, हितोपदेशी हैं वही सच्चा देव है किन्तु जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी नहीं है उसे सच्चा देव कैसे कहेंगे? ये लक्षण आप्त में होना चाहिए तभी वह सच्चा देव हो सकता है।

जो वीतरागी अर्थात् जिनका राग बीत गया है, छूट गया है जो रागद्वेष से रहित है। रागद्वेष को

Y X Y

(144)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
जीतने वाले जिन कहलाते हैं तथा रागद्वेष को जीतकर वे वीतरागी और वीतद्वेषी बन जाते हैं। सर्वज्ञ अर्थात् जो संपूर्ण विश्व के समस्त चराचर पदार्थों को युगपत् जानता है। संसारी देवी-देवता स्वयं अपने को ही नहीं जानते तो सबको क्या जानेंगे? उनका ज्ञान अवधिज्ञान की सीमा से बंधा होता है किंतु केवलज्ञान अनंत, असीम होता है इसलिए सबको जानता है इसलिए वह सर्वज्ञ कहलाते हैं। हितोपदेशी अर्थात् आगम के ज्ञाता है यानि हित का उपदेश देने वाले है। मोक्ष मार्ग के नेता हैं तथा भव्य जीवों को कल्याणपथ पर लगाने के लिए जो हित का उपदेश देते हैं वे परमात्मा हितोपदेशी कहलाते हैं। जो स्वयं हित पथ का अनुगामी बना है वही दूसरों को उपदेश दे सकता है। वह परमात्मा 18 दोषों से रहित भी होते हैं- आचार्य समंतभद्राचार्य कहते हैं-

क्षुत्पिपासा जरातंक, जन्मांतक
भय रूमयः ।

न रागद्वेष मोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥6 र.श्र.॥

अर्थात् जिसके पास क्षुधा, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, घमण्ड, राग, द्वेष, मोह, आश्चर्य, अरति, खेद, निद्रा, चिंता, शोक स्वेद नहीं होता है वही आप्त है। क्षुधा अर्थात् भूख, पिपासा अर्थात् प्यास, बुढ़ापा अर्थात् वृद्धावस्था, रोग अर्थात् वात-पित्त-कफ के विकार से होने वाले रोगों को व्याधि, जन्म अर्थात् कर्मों की आधीनता से चारों गतियों में उत्पत्ति होना, मृत्यु अर्थात् मरण होना, भय अर्थात् डरना, घमण्ड जाति, कुल आदि के भेद से गर्व या अहंकार करना, राग अर्थात् इष्ट वस्तुओं के प्रति रूप परिणाम होना, द्वेष अर्थात् अनिष्ट वस्तुओं के प्रति अप्रीति रूप परिणाम होना, मोह अर्थात् शरीरादिक पर वस्तुओं में अहं बुद्धि होना, अरति अर्थात् अनिष्ट वस्तुओं का समागम होने से जो अप्रसन्नता होती, आश्चर्य अर्थात् विस्मय रूप परिणाम को, निद्रा अर्थात् थकावट दूर करने के लिए जो शरीर को विश्रांति दी जाती है, चिंता अर्थात् इष्ट वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए परिणामों में जो विकलता होती है, अरति अर्थात् अनिष्ट वस्तुओं का समागम होने पर अप्रसन्नता होती है, स्वेद अर्थात् पसीना। जिनेन्द्र देव इन सभी दोषों से रहित होते हैं और सत्यार्थ रूप जीवादि सात तत्त्व (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये 7 तत्त्व) हैं।

कहा भी है 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं' अर्थात् मोक्ष मार्ग में कारणभूत जीवादिक तत्त्वों में यथार्थ (समीचीन) श्रद्धानं सम्यक्दर्शन है। यहाँ यथार्थ का अर्थ विशेषतः लोग समझने में असमर्थ होते हैं यद्यपि उसका अर्थ शब्द में ही छुपा है यथा अर्थात् वस्तु का जो स्वरूप है उस रूप ही अर्थ-अर्थात्

Y X Y

Y X Y
स्व द्रव्य, स्व क्षेत्र, स्व काल, स्व भाव की अपेक्षा से वर्तमान पर्याय रूप ग्रहण करना यथार्थ है किन्तु लोग भाव को छोड़कर क्रिया में अटक जाते हैं।

कोई देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप में अटक जाते हैं तो कोई उनकी पूजा पद्धति अथवा उनके श्रद्धानी श्रावकों की क्रिया में भेद भिन्नता में उलझ जाते हैं ऐसे लोगों को देखकर समवशरण की याद आती है जिस प्रकार मोक्षार्थी जीव तो सब वैभव छोड़कर 12 सभाओं में जाकर प्रभु की देशना सुनकर कृतार्थ होते हैं किन्तु जो दूर भव्य या मोही जीव हैं वे समवशरण की शोभा में ही उलझ जाते हैं। इसी प्रकार जो निकट भव्य हैं वे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धानी होकर उनमें श्रद्धान जगाते हैं किन्तु दूर भव्य हैं वे उनके अलावा अन्य क्रिया काण्ड में उलझे रहते हैं और विशद जीवन के बहुमूल्य क्षण व्यतीत कर देते हैं।

सात तत्त्वों के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन

जीवाजीवा आसव-बंध-संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।

एयाणि सत्त तच्चा, सद्वहणं तस्स सम्मत्तं॥४०॥

क्रमशः जीव अजीव आश्रव, बन्ध और संवर पहिचान।

तत्त्व निर्जरा और मोक्ष में, श्रद्धा सम्यक् दर्शन जान॥४०॥

अन्वयार्थ :- (जीवाजीवा) जीव-अजीव (आसव) आस्रव (बंध) बंध (संवरो) संवर (णिज्जरा) निर्जरा (तहा) तथा (मोक्खो) मोक्ष (एयाणि) ये (सत्त तच्चा) सात तत्त्व हैं, (तस्स) इनके (सद्वहणं) श्रद्धान को (सम्मत्तं) सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अर्थ :- जीव-अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये सात तत्त्व हैं, इनके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विशदार्थ :- ज्ञान वारिधि आचार्य भगवन् सम्यक्दर्शन के विषय में कहते हैं। सम्यक्दर्शन दो शब्दों से मिलकर बना है- सम्यक् यानी समीचीन, दर्शन यानी श्रद्धान। जो समीचीन श्रद्धान करता है, किस पर श्रद्धान करता है, गाथा में आये 7 तत्त्वों पर श्रद्धान करता है वही सम्यक्दर्शन है। आचार्यों ने अनेक प्रकार से सम्यक्दर्शन को पारिभाषित किया है। कोई कहता है सात तत्त्वों पर श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है। कोई कहता है 10 धर्मों पर श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है। कोई कहता है देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है, धर्म का मूल सम्यक् दर्शन है- आत्मा का दर्शन करना सम्यक्दर्शन है। सर्वज्ञ की वाणी पर श्रद्धान करना और सम्यक्त्व के 8 अंगों का पालना सम्यक्दर्शन

Y X Y

(146)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
है इत्यादि किन्तु सबका लक्ष्य एक ही है श्रद्धान करना। **जीव**— जिसमें चेतना शक्ति पाई जाती है जो जीता था जीता है जीवेगा उसे जीव कहते हैं। जीव दो प्रकार के होते हैं— संसारी और मुक्त। संसारी जीव संसार में रहते हैं। संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं संज्ञी (सैनी) असंज्ञी (असैनी)। संज्ञी मन से सहित जीव को संज्ञी और मन से रहित जीव को असंज्ञी कहते हैं।

अजीव— जिसमें चेतना शक्ति नहीं पाई जाती है जैसे— पेन, पुस्तक, लकड़ी इत्यादि। **आस्रव**— कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। आस्रव 57 प्रकार के होते हैं। 5 मिथ्यात्व (विपरीत एकांत, विनय, संशय, अज्ञान) **मिथ्यात्व**—तत्त्वों के ऊपर विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। इसके दो भेद हैं। **गृहीत मिथ्यात्व**—पर के उपदेश आदि निमित्त से विपरीत बुद्धि का होना। कुगुरु, कुशास्त्र, कुदेव आदि पर श्रद्धान करना। **अगृहीत मिथ्यात्व**—बिना किसी उपदेश से संस्कारवश पर वस्तु को अपनी समझना।

आस्रव के विषय में 5 मिथ्यात्व का वर्णन निम्न है— **विपरीत**—धर्मादिक के स्वरूप को विपरीत मानना जैसे कि हिंसा से स्वर्ग मिलता है।

एकांत— अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना इसे एकांत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे जीव नित्य है या अनित्य है, क्षणिक है आदि।

विनय— सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव—शास्त्र—गुरु में समान बुद्धि रखना। उनकी समान विनय और नमस्कार आदि करना।

संशय— सच्चे और झूठे दोनों प्रकार के पदार्थों में किसी एक पक्ष का निश्चय ना होना। जैसे— नरक और स्वर्ग है या नहीं। यह सीप है या चाँदी इत्यादि। **अज्ञान**— जीवादि पदार्थों को यही है इसी प्रकार से है इस तरह से विशेष रूप से न समझने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं। जीव के परिणामों की अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण तक भेद हो सकते हैं। मिथ्यात्व के 363 भेद भी होते हैं। 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी, 32 वैयक्तिक के भेद से 363 भेद होते हैं। **क्रियावादी के 180 भेद**—पहले 'अस्ति' ऐसा पद लिखना उसके ऊपर 'स्वयं से, पर से, नित्यपने से, अनित्यपने से' ऐसे 4 भेद लिखना उनके ऊपर जीवादि 9 पदार्थ, उनके ऊपर 'काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव' ये 5 पद लिखना। इस प्रकार 1 4 9 5= 180 भेद। **अक्रियावादी के 84 भेद**— पहले नास्ति पद लिखना, उसके ऊपर 'स्वयं से, पर से' ये दो पद लिखना, उनके ऊपर 'पुण्य—पाप' के बिना 7 पद लिखना, उनके ऊपर काल आदि को लेकर 5 पद लिखना। इस प्रकार गुणा करने से

Y X Y

Y X Y
 1 2 7 5=70 भेद होते हैं पुनः आगे नास्ति पद लिखना। उसके ऊपर 7 पदार्थ, उनके ऊपर 'नियति, काल' दो पद लिखना। इस प्रकार 1 7 2=14, 70 + 14 = 84 भेद हो जाते हैं। अज्ञानवादी 67 भेद— जीवादि नव पदार्थों में से एक-एक का सप्तभंग से न जानना जैसे कि जीव अस्ति स्वरूप है, ऐसा कौन जानता है तथा नास्ति अथवा दोनों अवक्तव्य बाकी तीन भंग मिले हुए, इस तरह सात भंगों से जीव को कौन जानता है, इस प्रकार 9 पदार्थों को 7 नयों से गुणा करने से 9 7=63 भेद होते हैं। आगे पहले शुद्ध पदार्थ ऐसा लिखना, उसके ऊपर अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति और अवक्तव्य ये 4 लिखना। इन दोनों पंक्तियों से चार भंग उत्पन्न होते हैं जैसे शुद्ध पदार्थ अस्ति आदि रूप है ऐसा कौन जानता है इत्यादि। इस तरह 4 तो ये और पूर्वोक्त 63 सब मिलाकर अज्ञानवाद के 67 भेद होते हैं। वैनयिक के 32 भेद— देव, राजा, ज्ञानी, यति, बुढ़ा, बालक, माता इन आठों का मन, वचन, काय और दान इन चारों से विनय करना। इस प्रकार वैनयिक वाद के भेद 8 गुणित 4 अर्थात् 8 4=32। ये विनयवादी गुण-अवगुण की परीक्षा किये बिना विनय से ही सिद्धि मानते हैं। इस प्रकार मनमाना श्रद्धान करने वाले पुरुषों ने ये 363 भेद रूप कल्पना की है जो कि अज्ञानी जीवों को अच्छी लगती है। 12 अविरति-षट्काय जीवों की रक्षा न करना तथा पंच इंद्रिय और मन को वश में नहीं करना।

15 प्रमाद— प्रमाद अर्थात् आलस्य, ये 4 विकथा, 4 कषाय, 5 इन्द्रिय विजय, निद्रा, स्नेह (प्रणय)। विकथा अर्थात्— खोटी कथाएँ स्त्री कथा— स्त्रियों से संबंध रखने वाली रागोत्पादक कथायें कहना व सुनना या इसी तरह की बातें करना एवं पुस्तकें पढ़ना। भक्त कथा—भोजन के विषय में कहना कि हमारा भोजन स्वादिष्ट बना था, तुमने क्या बनाया? कैसा बना इत्यादि रूप से रागाधीन होकर भोजन संबंधी बातें कहना, सुनना। राजकथा— निस्प्रयोजन या रागभाव से प्रेरित होकर देश व अन्य देश के राजा, महाराजा, सम्राट आदि के वैभव रहन-सहन भोग विलास आदि की प्रशंसा व निंदा करना या सुनना। राष्ट्र कथा — अमुक देश, नगर, गाँव आदि बड़े सुंदर हैं वहाँ के पहाड़, नदी, नाले, झील आदि दर्शनीय है इत्यादि रागभाव से देश विदेशों की कथायें कहना व सुनना। चोर कथा— चोरी करने की क्रियाओं के बारे में चर्चा वार्ता करना। इन विकथाओं से जीव का आत्म कल्याण नहीं होगा बल्कि बिना प्रयोजन ही चित्त में रागद्वेष की उत्पत्ति होगी। विकथाओं में लगकर समय का दुरुपयोग होता है और पाप का संचय होता है।

निद्रा—जीव के सोने (नींद लेने) को निद्रा कहते हैं। ये 5 प्रकार की होती है— निद्रा, निद्रा-2, प्रचला, प्रचला-2, स्त्यानगृद्धि।

15 योग— मन, वचन, काय के अवलंबन से कर्म ग्रहण करने की शक्ति को योग कहते हैं। योग

Y X Y

Y X Y
 के 15 भेद होते हैं। मुख्य रूप से 3 भेद होते हैं- मन योग, वचन योग, काय योग। 1. **मनोयोग**- जो शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करता है उसे मन कहते हैं तथा उसके द्वारा होने वाला योग मनोयोग कहलाता है। इसके चार भेद हैं- 1. **सत्य मनोयोग**- यथार्थ को यथार्थ जानना सत्य है और मन के द्वारा होने वाले योग को सत्य मनोयोग कहते हैं जैसे सीप को सीप मानना। 2. **असत्य मनोयोग**- यथार्थ को अयथार्थ जानना असत्य है। इसके द्वारा होने वाले योग को असत्य मनोयोग कहते हैं जैसे सीप को मोती जानना। 3. **उभयमनोयोग**- जो सत्य भी है और असत्य भी है उसे उभय मन कहते हैं। उसके द्वारा होने वाले योग को उभयमनोयोग कहते हैं जैसे कमण्डल को घड़ा जानना। 4. **अनुभय मनयोग**- जो सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है उसे अनुभय मन कहते हैं। इसके द्वारा होने वाले योग को अनुभय मनोयोग कहते हैं जैसे देखो क्या होता है ऐसा विचार करना। 2. **वचन योग**- भाषा वर्गणा और आत्मा के उद्योग से उत्पन्न हुई ध्वनि को वचन कहते हैं और उसके द्वारा होने वाले योग को वचन योग कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं- 1. **सत्यवचनयोग**- यथार्थ को यथार्थ कहना सत्यवचनयोग है इसके द्वारा होने वाले योग को सत्य वचनयोग कहते हैं जैसे सीप को सीप कहना। 2. **असत्यवचनयोग**- यथार्थ को अयथार्थ कहना असत्यवचनयोग है। इसके द्वारा होने वाले योग को असत्यवचनयोग कहते हैं जैसे सीप को मोती जानना। 3. **उभयवचनयोग**- जो सत्य भी है और असत्य भी है उसे उभय कहते हैं और उभयवचन के द्वारा होने वाले योग को उभयवचनयोग कहते हैं जैसे कमण्डल को घड़ा कहना। 4. **अनुभयवचनयोग**- जो सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है उसे अनुभय कहते हैं। उसके द्वारा होने वाले योग को अनुभयवचनयोग कहते हैं जैसे देखो क्या होता है, देखता हूँ, कहता हूँ, सोचता हूँ इस प्रकार कहना। 3. **काययोग**- वीर्यातराय कर्म के क्षयोपशम होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय वर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आलंबन से होने वाले आत्मप्रदेश के परिस्पंदन को काययोग कहते हैं। इसके 7 भेद होते हैं- 1. **औदारिक काय**- औदारिक वर्गणाओं से बने हुए मनुष्य तिर्यच के सप्त धातु मय शरीर को औदारिक काय कहते हैं अर्थात् स्थूल शरीर को औदारिक काय कहते हैं। इस शरीर के माध्यम से आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होना औदारिक काययोग कहलाता है। 2. **औदारिक मिश्रकाययोग**- औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है तब तक मिश्र कहलाता है। कर्मण और औदारिक वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न हुए वीर्य से जीव प्रदेशों में परिस्पंदन के लिए जो प्रयत्न होता है उसे औदारिक मिश्रकाययोग कहते हैं। 3. **वैक्रियक काययोग**- वैक्रियक वर्गणाओं से निर्मित अनेक गुण और ऋद्धियों से युक्तदेव और नारकियों के शरीर को वैक्रियक काय कहते हैं। इसके माध्यम से होने वाले आत्म प्रदेशों के परिस्पंद को

Y X Y
 वैक्रियक काय कहते हैं। 4. **वैक्रियक मिश्रकाययोग**— वैक्रियक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक मिश्र कहलाता है। कर्मण और वैक्रियक वर्गणाओं के द्वारा उत्पन्न हुए वीर्य से जीव प्रदेशों में परिस्पंदन के लिए जो प्रयत्न होता है। वह वैक्रियक मिश्रकाययोग है। 5. **आहारक काययोग**— आहारक वर्गणाओं से बने हुए सात धातु और संहननों से रहित शरीर को आहारक काय कहते हैं। उसके अवलंबन से होने वाले योग को आहारक काययोग कहते हैं। 6. **आहारक मिश्रकाययोग**— जब तक आहारक शरीर पूर्ण नहीं होता है अर्थात् आहार वर्गणा रूप पुद्गल स्कंधों की आहारक शरीर रूप परिणामन में समर्थ नहीं होता तब तक उसको आहारक मिश्रकाययोग कहते हैं। 7. **कर्मण काययोग**— ज्ञानावरणादि 8 कर्मों के कर्म स्कंध को कर्मण कहते हैं और उनके द्वारा होने वाले आत्मा के परिस्पंदन को कर्मण काययोग कहते हैं।

25 कषाय— जो आत्मा को कसे या दुख दे उसे कषाय कहते हैं। 1. **अनंतानुबंधी कषाय**— जिस कषाय के उदय से सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घात होता है इसका वासनाकाल अनंत काल है। 2. **अप्रत्याख्यानावरण कषाय**— जिस कषाय के उदय से एक देश चारित्र का घात होता है। इसका वासना काल 6 महीने है। 3. **प्रत्याख्यानावरण कषाय**— जिस कषाय के उदय से सकल चारित्र का घात होता है, इसका वासना काल 15 दिन है। 4. **संज्वलन कषाय**— जिस कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र का घात होता है इसका वासना काल अन्तर्मुहूर्त है। इन चारों कषायों के क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद मिलाने 4 4=16 और नौ कषाय— हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक। 16+9=25 कषाय

बंध—जीव और पुद्गल का दूध और पानी की तरह मिल जाना बंध है। बंध चार प्रकार के होते हैं— प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।

संवर— कर्मों के आने द्वार को रोकना संवर कहते हैं। **निर्जरा**— कर्मों का एक देश झड़ना निर्जरा कहलाता है। **मोक्ष**— समस्त कर्मों का झड़ना मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार समस्त तत्त्वों पर श्रद्धान रखना ही सम्यक्दर्शन है इसीलिए उसी का चिंतन, मनन, ध्यान करना चाहिए।

नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय व छह द्रव्यों पर श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन

तेणुत्त णव पयत्था, अण्णे पंचत्थि काय छद्द्व्वा।

आणाए अधिगमेण य, सदहमाणस्स सम्मत्तं॥81॥

आप्त कथित जो नव पदार्थ हैं, और द्रव्य छह पंचास्तिकाय।

(150)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

आप्त की आज्ञा और ज्ञान युत, श्रद्धाधर सद्वृष्टि कहाय॥81॥

अन्वयार्थ :- (तेणुत्त णव पयत्था) उस आप्त के द्वारा कहे हुये नौ पदार्थों को (अण्णे) अन्य (पंचत्थिकाय) पंचास्तिकाय (छद्दव्वा) छह द्रव्यों को (आणाए अधिगमेण य) आप्त की आज्ञा और ज्ञान से (सद्दहमाणस्स) श्रद्धान करने वाले भव्य जीव के (सम्मत्तं) सम्यग्दर्शन होता है।

अर्थ :- उस आप्त के द्वारा कहे हुए नौ पदार्थों को, अन्य पंचास्तिकाय एवं छह द्रव्यों को आप्त की आज्ञा और ज्ञान से श्रद्धान करने वाले भव्य जीव के सम्यग्दर्शन होता है।

विशदार्थ :- सिद्धांत विज्ञ आचार्य भगवन् सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 80 नं. की गाथा में 7 तत्त्वों का वर्णन किया गया, उसी में पुण्य और पाप मिलाने से 9 पदार्थ बन जाते हैं। अशुभ क्रियाओं की निवृत्ति को पुण्य हैं और अशुभ क्रियाओं को पाप कहा गया है। कहा भी है-

सुह असुहभाव जुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।

सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं चा।द्रव्य संग्रह 38॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य हैं। **जीव-** जिसमें ज्ञान दर्शन पाया जाता है जो जीता है, जीता था और जीवेगा उसे जीव कहते हैं। 'चेतना लक्षणो जीवः' जीव चेतन लक्षण वाला होता है। चित् स्वरूप को धारण करता है। **पुद्गल-** जिसमें स्पर्श, रस गंध वर्ण पाया जाता है उसके दो भेद हैं- अणु और स्कंध। एक अविभागी पुद्गल का टुकड़ा जिसका दूसरा हिस्सा न हो सके उसे अणु या परमाणु कहते हैं। दो या दो से अधिक परमाणुओं के मिलने से स्कंध बनता है। हम और आपको जो भी दिखाई देता है वह सब स्कंध ही है। स्कंध के 6 भेद हैं- लघुद्रव्य संग्रह में कथन किया गया है

पुढवि जलं च छाया चउरिंदिय विषय कम्म परमाणु।

छब्भियभेयं भणियं, पुगगल द्रव्यस्य पज्जाया॥

स्थूल-2-पृथ्वी, स्थूल-जल तेलादि, स्थूल सूक्ष्म-छाया, सूक्ष्म स्थूल-चक्षु रहित 4 इन्द्रियों के विषय, सूक्ष्म-कर्म, सूक्ष्म-2-परमाणु। पुद्गल के 20 गुण होते हैं। 5 रस-खट्टा, मीठा, कडुआ, कषायला, चरपरा, 5 वर्ण- काला, नीला, पीला, लाल, सफेद, 2 गंध- सुगंध-दुर्गंध, 8 स्पर्श- शीत-उष्ण, कोमल, कठोर, हल्का-भारी, स्निग्ध, रूक्ष। पुद्गल की 23 वर्गणाएँ होती है। (अणुवर्गणा, संख्याताणु, असंख्याताणु, अनंताणु वर्गणा आहार, आग्राह्य, तैजस, भाषा, मनो, कर्मण, आदि)

Y X Y

Y X Y
पुद्गल की 10 पर्याये भी हैं- शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, खण्ड, अंधकार, छाया, उद्योत, आताप।

धर्म द्रव्य- जीव और पुद्गल द्रव्य ही गमनशील हैं शेष द्रव्य नहीं। जीव और पुद्गल को चलने में धर्म द्रव्य सहकारी साधन होता है। जैसे पानी चलती हुई मछली को चलने में सहायक है उसी प्रकार जो द्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गल को उदासीन रूप से चलने में सहायक है किन्तु प्रेरक नहीं है। **अधर्म द्रव्य**- चलते हुए पथिक को ठहराने में सहायक हुई छाया के सदृश जीव और पुद्गल को ठहराने में जो उदासीन रूप से सहायक है किन्तु प्रेरक नहीं। **आकाश द्रव्य**- जीवादि 6 द्रव्यों को अवकाश देने में समर्थ द्रव्य को आकाश कहते हैं। इस आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद हैं जितने में 6 द्रव्यें पाई जाती हैं उसे लोकाकाश और इसके परे चारों तरफ अलोकाकाश है। **काल द्रव्य** अर्थात् जो द्रव्यों के परिवर्तन और परिणमन आदि लक्षण वाला होता है इसके दो भेद हैं व्यवहार काल, निश्चय काल। व्यवहार काल- घड़ी, घंटा, दिन आदि समय व्यवहार काल है। वर्तना लक्षण वाला निश्चयकाल है।

लोयायास पदेसे, इक्केक्के जे ठिया हू इक्केक्का।

रयणाणं रासीमिव, ते कालाणू असंख दव्वाणि॥द्र.सं. 22॥

जैसे रत्नों की राशि में प्रत्येक रत्न पृथक्-पृथक् स्थित हैं उसी प्रकार लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु पृथक्-पृथक् स्थित है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात होने से ये काल द्रव्य के अणु भी असंख्यात हैं किन्तु एक प्रदेशी है। 5 द्रव्य अस्तिकाय हैं किन्तु कालद्रव्य अस्ति तो है किन्तु काय नहीं है क्योंकि बहुप्रदेशी होने की क्षमता नहीं है इसलिए अस्तिकाय नहीं है। इस प्रकार जो भव्य जीव नौ पदार्थ, अस्तिकाय द्रव्यों को जिनेन्द्र देव की आज्ञा और ज्ञान से श्रद्धान करता है उस भव्य जीव को सम्यक्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि

जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु तह य सव्वधम्मेषु।

सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वं॥82॥

आप्त कथित पंचास्ति काय छह, द्रव्य और नौ कहे पदार्थ।

जिन आज्ञा अरु ज्ञान का धारी, सम्यक्दृष्टि रहा यथार्थ॥82॥

अन्वयार्थ :- (जो कम्मफलेसु) जो कर्म के फलों में (तह) तथा (सव्वधम्मेषु) सब धर्मों में

Y X Y

(152)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
अर्थात् पुण्य के फलों में (कंखं ण करेदि) कांक्षा नहीं करता (सो) उस (चेदा) आत्मा को (णिक्कंखो) निःकांक्षित (सम्मदिट्ठी मुणेयव्वं) सम्यग्दृष्टि मानना चाहिए।

अर्थ :- जो कर्म के फलों में तथा सब धर्मों में (पुण्य के फल में) कांक्षा नहीं करता है, उस आत्मा को निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि मानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं सम्यक्दर्शन का द्वितीय अंग निकांक्षित अंग है। कांक्षा अर्थात् इच्छा, चाह, अभिलाषा। जब तक हमारे जीवन में चाहत बनी रहती है तब तक हम धर्म के नजदीक नहीं पहुँच पाते, इच्छायें हमें लक्ष्य के समीप नहीं पहुँचने देतीं। बीच में ही अटका देती हैं। बच्चे मंदिर ना जाते हों किन्तु परीक्षा के समय दौड़-दौड़ कर जाते हैं परीक्षा होते ही भगवान को भूल जाते हैं। आपने इच्छा रखकर, आकांक्षा रखकर भगवान का दर्शन पूजन किया है तो आपने अपने और परमात्मा के बीच दीवार खड़ी कर ली है। परमात्मा को इच्छा पूर्ति का साधन बना लिया है। जिसे संसार की इच्छा इष्ट होती है वह परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता है। परमात्मा वह दर्पण है जिसमें हम अपनी आत्मा का अवलोकन कर सकते हैं। मुख में लगी गंदगी को हटाने के लिये दर्पण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार से परमात्मा तक पहुँचने के लिए स्वयं परमात्मा बनने के लिए कांक्षा-इच्छाओं का त्याग करना होगा। इच्छाएँ ही संसार भ्रमण का कारण है इसी बात को आचार्य समंतभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है।

कर्म परवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये।

पाप बीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता॥12॥

अर्थात् जो कर्म की पराधीनता को लिये हुए है, अंत सहित हैं, अनेक प्रकार के दुखों से मिश्रित है, पाप बंध का कारण है, ऐसे सांसारिक सुखों में अस्थिर रूप श्रद्धा रखना निःकांक्षित अंग है।

साता वेदनीय आदि कर्मों के अधीन, नाशवान, अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक दुखों की बीच-बीच में उत्पत्ति होते रहने से बाधा रूप अनेक प्रकार के दुखों से युक्त, पाप बंध का बीज ऐसे सांसारिक सुख हैं इनमें अश्रद्धा, अरुचि अथवा अस्थिर बुद्धि रखना निकांक्षित अंग है।

सांसारिक सुख जिनकी हमें चाहत है व भी कर्मों के आधीन होने से पराधीन हैं। शास्त्रों में प्रायः कर्मों को दो भागों में बाँटा गया है- 1. पाप कर्म, 2. पुण्य कर्म।

पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से जीव को नियम से दुख भोगना पड़ता है। पाप के उदय से हाथ में आया सोना भी मिट्टी बन जाता है, निरोगी भी रोगी बन जाता है, धनवान भी निर्धन बन जाता है। जिस काम में हाथ डालता है उसी में असफलता पाता है किन्तु पुण्य कर्म का उदय होने से जीव को संपूर्ण

Y X Y

Y X Y
 अनुकूल सामग्री अपने आप (स्वयमेव) मिलती जाती है। मिट्टी भी हाथ लग जाए तो सोना बन जाती है, पुण्य के उदय से घर, परिवार, धन-संपदा, निरोगी काया मिल भी जाएँ तो क्या वह जीव पूर्णरूपेण सुखी है? संपूर्ण सुखों के बीच कोई न कोई बाधा आ ही जाती है। एक सेठजी थे, बड़े धर्मात्मा थे पुण्य के उदय से उन्हें सब कुछ सुख सुविधाएँ प्राप्त थी किन्तु उन्हें शारीरिक दुख के रूप में शुगर की बीमारी हो गई। अब कभी त्यौहार होता तो घर में अच्छे-अच्छे व्यंजन बनते और उनके मुँह में पानी आ जाता। सेठजी कर्म के उदय से वस्तु होने के बाद भी उपभोग नहीं कर पा रहे थे। सांसारिक सुख कर्मों के अधीन हैं, हम उन सुखों की प्राप्ति की आकांक्षा क्यों करें अर्थात् नहीं। आकांक्षा को आशा भी कहा गया है।

आशा के जो दास हैं, वे सब जग के दास।

आशा जिनकी दास है, जग से होय उदास॥

अर्थात् आशा आकांक्षा करने वाला सारे जग का दास बन जाता है किन्तु जो आशा को अपनी दासी बना लेता है, वह शिवपुर का वासी होकर विशद आनन्द का अनुभव करता है।

निःशंकादि गुणों से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति

संकाइ दोस रहियं, गिस्संकाइ गुण संजुयं परमं।

कम्मणिज्जरणहेउं, तं सुद्धं होइ सम्मत्तं॥८३॥

शंकादिक दोषों से विरहित, हो निःशंकादिक गुणवान।

कर्म निर्जरा का जो कारण, सम्यक् दर्शन रहा महान॥८३॥

अन्वयार्थ:- (संकाइ दोस रहियं) शंका-कांक्षा आदि दोषों से रहित (परमं) श्रेष्ठ (गिस्संकाइ) निःशंकादि (गुण संजुयं) गुणों से सहित (कम्मणिज्जरणहेउं) कर्मों की निर्जरा का कारण (तं) वह (सुद्धं) शुद्ध (सम्मत्तं होइ) सम्यग्दर्शन होता है।

अर्थ :- शंका-कांक्षा आदि दोषों से रहित श्रेष्ठ निःशंकादि गुणों से सहित कर्मों की निर्जरा का कारण वह शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् सम्यक्दर्शन की व्याख्या करते हुए कहते हैं। सम्यक्दृष्टि निःशंकित होता है। वह जिनेन्द्र देव के विषय में तर्क-वितर्क नहीं करता है। स्वर्ग होते हैं कि नहीं, किसने देखा है, इसकी धारणा हटाकर शंका से रहित होता है। जैसा जिनेन्द्र देव ने कहा है, वही सही है। आचार्य समंतभद्राचार्य स्वामी कहते हैं-

इदमे-वेदुशमेव, तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।

इत्यकम्पायसाम्भोवत्, सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥र.श्रा. ११॥

Y X Y

(154)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अर्थात् यथा स्थित वस्तु का स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं अन्य प्रकार से नहीं है। इस प्रकार मोक्षमार्ग में लोहे से कभी तलवार की धार पर चढ़े पानी (चमक) के समान अचल-अडोल निश्चल श्रद्धान करने को निःशंकित अंग कहते हैं। देव-शास्त्र-गुरु का आगम में जो स्वरूप कथन किया है उसी में दृढ़ श्रद्धान करना निशंकित अंग है। जिस प्रकार से तलवार पर जब पानी चढ़ाया जाता है तो लुहार सर्वप्रथम तलवार को भट्टी में डालता है और वह तपकर लाल हो जाती है फिर उस पर धीरे-धीरे गर्म पानी डाला जाता है। तलवार पर पानी डालने पर वह मजबूत हो जाती है। अब लोहा कच्चा नहीं बल्कि पक्का हो गया। कच्चा लोहा मोड़ने पर मुड़ जाता है और पक्का लोहा टूट सकता है किन्तु मुड़ता नहीं है। सम्यक्दृष्टि का श्रद्धान सुमेरु पर्वत की तरह अडिग रहता है। वह मोर पंख की तरह मुलायम नहीं होता है कि जरा सी हवा चलती है कि पंख उड़ जाता है। संपूर्ण जीवन का सार सम्यक्दर्शन है, सम्यक्दर्शन के बिना सब ज्ञान और चारित्र व्यर्थ है।

सम्यक्दृष्टि का ध्यान हमेशा आत्मा की ओर लगा रहा है, इसको दृष्टांत द्वारा समझा जा सकता है। दो पनहारिन अपने-अपने सिर पर पानी का घड़ा लिये जा रही हैं। घड़ों को वे अपने हाथों से नहीं थामें हैं। वे आपस में बातचीत करती हुई हँसती हुई जा रही हैं, किन्तु वे घड़े उनके सिर से नहीं गिरते हैं। इसका कारण यह है कि उनका ध्यान उन घड़ों पर ही है अतः वे अपनी गर्दन को समतोल रखती हुई गर्दन पर से अपना ध्यान नहीं हटाती हैं। अगर ध्यान हटावें तो घड़े गिर जावें। ठीक इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव भी सभी सांसारिक विषय भोगों को कर्मों के उदय से भोगता है एवं सांसारिक कार्य संबंधी क्रियाएँ भी करता है। परन्तु अपनी शुद्ध परिणति को अपने आत्मिक चैतन्य स्वरूप से अलग नहीं करता। सम्यक्दृष्टि की रीति संसारी प्राणियों को अटपटी लगती है। पं. दौलतराम जी ने लिखा है—

चिनमूरत दूगधारी की मोहि, रीति लगत है अटापटी।

बाहर नारकी कृत दुःख भोगैं, अंतर सुखरस गटागटी॥

रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परणति तैं नित हटाहटी।

सम्यक्दर्शन सहित नारकी भी सुखी है और इसके अभाव में देव भी दुखी है। ज्ञान व चारित्र का मूल्य तभी है, जब सम्यक्त्व प्राप्त हो जिस जीव के सम्यक्त्व है, वही पवित्र जीव है। जिसमें सम्यक्त्व नहीं वह धर्म के नाम पर कितनी ही क्रियायें करता रहे किन्तु निश्चय से वह धर्म के मार्ग में नहीं है। अतः हे भव्य जीवो! सम्यक्त्व से सहित होकर, दोषों से रहित होकर विशद सम्यक्दर्शन को ग्रहण कीजिए तभी आत्मा का कल्याण होगा।

निःशंकित अंग में अंजन चोर एवं निःकांक्षित अंग में अनंतमती प्रसिद्ध

रायगिहे णिस्संको, चोरो णामेण अंजणो भणिओ।

Y X Y

Y X Y

चंपाए णिक्कंखा, वणिधूवा णंतमह णामा॥84॥

अंजन चोर निःशंक अंग में, राजगृही में हुआ प्रसिद्ध।

अनन्तमती चम्पा नगरी की, अंग निकांक्षित में है सिद्ध॥84॥

अन्वयार्थ :- (रायगिहे) राजगृही नगर में (अंजणो णामेण चोरो) अंजन नामक चोर (णिस्संको भणिओ) निःशंकित अंग में प्रसिद्ध कहा गया है। (चंपाए) चम्पानगरी में (णंतमइ णामा) अनंतमती नाम की (वणिधूवा) वणिक पुत्री अनन्तमति (णिक्कंखा) निःकांक्षित अंग में प्रसिद्ध हुई है।

अर्थ :- राजगृही नगर में अंजन नामक चोर निःशंकित अंग में प्रसिद्ध हुआ है तथा चम्पानगरी में अनन्तमती नाम की वणिक पुत्री निःकांक्षित अंग में प्रसिद्ध हुई है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् अञ्जन चोर और अनंतमति का दृष्टांत सुनाते हुए कहते हैं। धनवन्तरि और विश्वलोमा पुण्यकर्म के प्रभाव से अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नाम के देव हुए और एक दूसरे के धर्म की परीक्षा करने के लिए पृथ्वीलोक पर आये। तदनन्तर उन्होंने यमदग्नि ऋषि को तप से विचलित किया। मगध देश के राजगृह नगर में जिनदत्त नाम का सेठ उपवास का नियम लेकर कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में कायोत्सर्ग में स्थित था। उसे देखकर अमितप्रभ देव ने विद्युत्प्रभ से कहा कि- 'हमारे मुनि तो दूर रहे, इस गृहस्थ को ही तुम ध्यान से विचलित करके बताओ।' तदनन्तर विद्युत्प्रभ देव ने उस पर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये, फिर भी वह ध्यान से विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर प्रातःकाल अपनी माया को समेटकर विद्युत्प्रभ ने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे आकाशगामिनी विद्या दी। विद्या प्रदान करते समय उससे कहा कि- 'तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो चुकी है, दूसरों को पञ्चनमस्कार मन्त्र की अर्चना और आराधना की विधि से सिद्ध होगी।' जिनदत्त के यहाँ सोमदत्त नाम का एक ब्रह्मचारी वटुक रहता था, जो जिनदत्त के लिए फूल लाकर देता था। एक दिन उसने जिनदत्त सेठ से पूछा कि- 'आप प्रातःकाल ही उठकर कहाँ जाते हैं?' सेठ ने कहा कि- 'मैं अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना भक्ति करने के लिए जाता हूँ। मुझे इस प्रकार से आकाशगामिनी विद्या का लाभ हुआ है।' सेठ के ऐसा कहने पर सोमदत्त वटुक ने कहा कि - 'मुझे भी यह विद्या प्राप्ति की विधि बता दो, जिससे मैं भी तुम्हारे साथ पुष्पादिक लेकर वन्दना भक्ति करूँगा।'

सोमदत्त वटुक ने कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को श्मशान में वटवृक्ष की पूर्व दिशा वाली शाखा पर एक सौ आठ रस्सियों का एक मूँज का सींका बाँधा, उसके नीचे सब प्रकार के पैसे शस्त्र ऊपर की ओर मुखकर रखे। पश्चात् गन्ध, पुष्प आदि लेकर सींके के बीच प्रविष्ट हो उसने बेला (दो दिन के

Y X Y

(156)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
उपवास) का नियम लिया। फिर पञ्चनमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर छुरी से सींके की एक-एक रस्सी को काटने के लिए तैयार हुआ परन्तु नीचे चमकते हुए शस्त्रों के समूह को देखकर वह डर गया था विचार करने लगा कि यदि सेठ के वचन असत्य हुए तो मरण हो जावेगा। इस प्रकार शंकित चित्त होकर वह सींके पर बार-बार चढ़ने और उतरने लगा।

उसी समय राजगृही नगरी में एग अञ्जन सुन्दरी नाम की वेश्या रहती थी। एक दिन उसने कनकप्रभ राजा की कनकरानी का हार देखा। रात्रि को जब अञ्जन चोर उस वेश्या के यहाँ गया, तब उसने कहा कि 'यदि तुम मुझे कनका रानी का हार दे सकते हो तो मेरे भर्ता बन सकते हो, अन्यथा नहीं।' तदनन्तर अञ्जन चोर रात्रि में हार चुराकर आ रहा था कि हार के प्रकाश से वह देख लिया गया। अंगरक्षकों और कोटपाल ने उसे पकड़ना चाहा परन्तु वह हार छोड़कर भाग गया। वटवृक्ष के नीचे सोमदत्त वटुक को देखकर उसने पूछा यह क्या कर हो हो तब वटुक ने कहा सेठ जिनेन्द्र भक्त सेठ ने कहा, यह णमोकार मंत्र पढ़कर सींके की लड़ियाँ काटने से विद्या सिद्ध हो जाती है। तो सेठ के वचन पर निःशंकित मन्त्र लेकर व सींके पर चढ़ गया। उसने निःशंकित होकर उस विधि से एक ही बार में सींके की सब रस्सियाँ काट दी। ज्यों ही वह शस्त्रों के ऊपर गिरने लगा, त्यों ही विद्या सिद्ध हो गई। सिद्ध हुई विद्या ने उससे कहा कि- 'मुझे आज्ञा दो।' अञ्जन चोर ने कहा- 'मुझे जिनदत्त सेठ के पास ले चलो।' उस समय जिनदत्त सेठ सुदर्शन मेरु के चैत्यालय में स्थित था। विद्या के प्रभाव से अञ्जन चोर ने सेठ के पास आकर कहा कि- 'आपके उपदेश से मुझे जिस प्रकार यह विद्या सिद्ध हुई है, उसी प्रकार परलोक की सिद्धि के लिये भी आप मुझे उपदेश दीजिये।' तदनन्तर चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के पास दीक्षा लेकर उसने कैलाश पर्वत पर तप किया। केवलज्ञान प्राप्त कर वहीं से मोक्ष प्राप्त किया।

आचार्य भगवन् निःकाक्षित भंग का वर्णन करते हुए कहते हैं-

कर्म पर वशे सान्ते, दुःखै-रन्त-रितो-दये।

पाप बीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धाना-काङ्क्षणास्मृता।।र.श्रा. 12।।

इन्द्रिय सुख शुभ कर्म के अधीन, नश्वर, शारीरिक और मानसिक दुःखों से मिश्रित पाप के कारण है तथा इनका समागम क्षणवर्ती है अतः इनमें आसक्ति न रखना, इनके प्रति विरक्त रहना निःकाक्षित अंग है। इसमें अनन्त मति प्रसिद्ध है।

अनन्त मती की कथा

अंग देश की चंपानगरी में राजा वसुवर्धन रहते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। वहाँ

Y X Y

Y X Y
 प्रियदत्त नाम का सेठ था, उसकी स्त्री का नाम अंगवती था और उनके अनन्तमती नाम की पुत्री थी। एक बार नन्दीश्वर-अष्टाह्निका पर्व की अष्टमी के दिन सेठ ने धर्म कीर्ति आचार्य के पादमूल में आठ दिन तक का ब्रह्मचर्य व्रत लिया। सेठ ने क्रीड़ावश अनन्तमती को भी ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया।

अन्य समय जब अनन्तमती के विवाह का अवसर आया, तब उसने कहा कि- ‘पिताजी! आपने तो मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, इसलिये विवाह से क्या प्रयोजन है?’ सेठ ने कहा- ‘मैंने तो तुझे क्रीड़ावश ब्रह्मचर्य दिलाया था।’ अनन्तमती ने कहा कि- ‘व्रतरूप धर्म के विषय में क्रीडा कैसी?’ सेठ ने कहा- ‘पुत्रि! नन्दीश्वर पर्व के आठ दिन के लिये ही तुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, न कि सदा के लिये।’ अनन्तमती ने कहा कि- ‘पिताजी! भट्टारक महाराज ने तो वैसा नहीं कहा था। इस जन्म में मेरा विवाह त्याग है।’ ऐसा कहकर वह समस्त कलाओं के विज्ञान की शिक्षा लेती हुई रहने लगी।

एक बार वह पूर्ण यौवनवती हो गई, तब चैत्र मास में अपने घर के उद्यान में झूला झूल रही थी। उसी समय विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित किन्नरपुर नगर में रहने वाला कुण्डलमण्डित नामक विद्याधरों का राजा अपनी सुकेशी नामक स्त्री के साथ आकाश में जा रहा था। उसने उस अनन्तमती को देखा। देखते ही वह विचार करने लगा कि इसके बिना जीवित रहने से क्या प्रयोजन है? ऐसा विचार कर वह अपनी स्त्री को घर छोड़ आया और शीघ्र ही आकर झूला झूलती हुई अनन्तमती को हर कर ले गया। जब वह आकाश में जा रहा था, तब उसने अपनी स्त्री सुकेशी को वापिस आते देखा। देखते ही वह भयभीत हो गया और उसने पर्णलघु विद्या देकर अनन्तमती को महाअठवीं में छोड़ दिया। वहाँ उसे रोती देख भीम नामक भीलों का राजा अपनी वसतिका में ले गया और ‘मैं तुम्हें प्रधान रानी का पद देता हूँ तुम मुझे चाहो’ ऐसा कहकर रात्रि के समय उसके न चाहने पर भी उपभोग करने के लिए उद्यत हुआ। व्रत के माहात्म्य से वन देवता ने भीलों के उस राजा की अच्छी पिटाई की। ‘यह कोई देवी है’ ऐसा समझकर भीलों का राजा डर गया और उसने उस अनन्तमती को बहुत से बनिजारों के साथ ठहरे हुए पुष्पक नामक प्रमुख बनिजारे के लिये दे दी। प्रमुख बनिजारे ने लोभ दिखाकर विवाह करने की इच्छा की, परन्तु अनन्तमती ने उसे स्वीकृत नहीं किया। तदनन्तर वह बनिजारा उसे लाकर अयोध्या की कामसेना नाम की वेश्या को सौंप दिया। काम सेना ने उसे वेश्या बनाना चाहा, पर वह किसी भी तरह वेश्या नहीं हुई। तदनन्तर उस वेश्या ने सिंहराज नामक राजा के लिये वह अनन्तमती दिखलाई और वह राजा रात्रि में उसे बलपूर्वक सेवन करने के लिए उद्यत हुआ, परन्तु उसके व्रत के माहात्म्य से नगर देवता ने राजा के ऊपर उपसर्ग किया, जिससे डरकर उसने उसे घर से निकाल दिया। खेद के कारण अनन्तमती रोती हुई बैठी थी कि कमलश्री नाम की आर्यिका ने ‘यह श्रेष्ठ श्राविका है’ ऐसा मानकर बड़े सम्मान के

Y X Y

(158)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
साथ उसे अपने पास रख लिया।

तदनन्तर अनन्तमती का शोक भुलाने के लिए प्रियदत्त सेठ बहुत से लोगों के साथ वन्दना भक्ति करता हुआ अयोध्या गया, और अपने साले जिनदत्त सेठ के घर संध्या समय पहुँचा। वहाँ उसने रात्रि के समय पुत्री के हरण का समाचार कहा। प्रातःकाल होने पर सेठ प्रियदत्त तो वन्दना भक्ति करने के लिये गये। इधर जिनदत्त सेठ की स्त्री ने अत्यन्त गौरवशाली पाहुने के निमित्त उत्तम भोजन बनाने और घर में चौक पूरने के लिए आर्यिका की श्राविका को बुला लिया। वह श्राविका सब काम करके अपनी वसतिका चली गई। वन्दना भक्ति करके जब प्रियदत्त सेठ वापस आये, तब चौक पूरा देखकर उन्हें अपनी पुत्र अनन्तमती का स्मरण हो आया। उनके हृदय पर गहरी चोट लगी। गद्गद् वचनों से अश्रुपात करते हुए उन्होंने कहा कि— ‘जिसने यह चौक पूरा है, उसे मुझे दिखलाओ।’ तदनन्तर वह श्राविका बुलाई गई। पिता और पुत्री का मेल होने पर जिनदत्त सेठ ने बहुत भारी उत्सव किया। अनन्तमती ने कहा कि – ‘पिताजी! अब मुझे तप दिला दो, मैंने एक ही भव में संसार की विचित्रता देख ली है।’ तदनन्तर कमलश्री आर्यिका के पास दीक्षा लेकर उसने बहुत काल तप किया। अन्त में सन्यास पूर्वक मरणकर उसकी आत्मा सहस्रार स्वर्ग में देव हुई।

निर्विचिकित्सा में उद्दायन राजा एवं अमूढ दृष्टि अंग में रेवती रानी प्रसिद्ध

णिर्विदिगिंछो राओ, उज्जायणो णाम रउरवे णयरे।

रेवइ महराणयरे, अमूढ दिट्ठी मुणेयव्वा॥85॥

निर्विचिकित्सा अंग रुद्रवर, में प्रसिद्ध राजा उद्दायन।

अंग अमूढ दृष्टी में मथुरा, की रानी रेवती को मान॥85॥

अन्वयार्थ :- (रउरवे णयरे) रुद्रवर नगर में (उज्जायणो णाम राओ) उद्दायन नाम का राजा (णिर्विदिगिंछो) निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध हुआ। (महरा णयरे) मथुरा नगर में (रेवइ) रेवती रानी (अमूढ दिट्ठी मुणेयव्वा) अमूढ दृष्टि अंग में प्रसिद्ध जानना चाहिए।

अर्थ :- रुद्रवर नगर में उद्दायन नाम का राजा निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध हुआ तथा मथुरा नगर में रेवतीरानी अमूढदृष्टि अंग में प्रसिद्ध हुई है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् दृष्टांत के माध्यम से समझाते हुए कहते हैं यह शरीर मलमूत्र आदि अपवित्रताओं का पिटारा है, किंतु यदि इसमें सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र की प्राप्ति हो जाए तो यही महान् पवित्र भी है। अतः इसकी अपावनताओं पर ध्यान देकर केवल यह मनुष्य शरीर ही

Y X Y

Y X Y
मोक्ष का साधक है, अन्य देवादिक शरीर नहीं इस प्रकार की अनुभूति के साथ रत्नत्रय में प्रीति रखना निर्विचिकित्सा अंग है। कहा भी है—

स्वभावतोऽशुचौकाये, रत्नत्रय-पवित्रेते।

निर्जुगप्सा गुण-प्रीतिर, मता निर्विचिकित्सात।।र.श्रा. 13।।

उद्यायन राजा की कथा

एक बार अपनी सभा में सम्यग्दर्शन के गुणों का वर्णन करते हुए सौधर्म इन्द्र ने वत्स देश के रौरकपुर नगर के राजा उद्यायन महाराज के निर्विचिकित्सा गुण की बहुत प्रशंसा की। उनकी परीक्षा करने के लिये एक वासव नाम का देव आया। उसने विक्रिया से एक ऐसे मुनि का रूप बनाया जिसका शरीर उदुम्बर कुष्ठ से गलित हो रहा था। उन मुनि ने विधिपूर्वक खड़े होकर उसी राजा उद्यायन के हाथ से दिया हुआ समस्त आहार और जल माया से ग्रहण किया। पश्चात् अत्यन्त दुर्गन्धित वमन कर दिया। दुर्गन्ध के भय से परिवार के सब लोग भाग गये, परन्तु राजा उद्यायन अपनी रानी प्रभावती के साथ मुनि की परिचर्या करता रहा। मुनि ने उन दोनों के उपर वमन कर दिया— ‘हाय! हाय!! मेरे द्वारा विरुद्ध आहार दिया गया है’। इस प्रकार अपनी निन्दा करते हुए राजा ने मुनि का प्रक्षालन किया। अन्त में देव अपनी माया को समेटकर असली रूप में प्रकट हुआ और पहले का सब समाचार कहकर तथा राजा की प्रशंसा कर स्वर्ग चला गया। उद्यायन महाराज वर्धमान स्वामी के पादमूल में तप ग्रहण कर मोक्ष गये और रानी प्रभावती तप के प्रभाव से ब्रह्मस्वर्ग में देव हुई।

आगे आचार्य भगवन् अमृददृष्टि अंग का वर्णन करते हुए कहते हैं।

कापथे पथि दुःखानां, कापथस्येऽप्य-
स ऋ म ि त : ।

असम्पृक्ति-रनुत्कीर्ति-रमूढा-दृष्टि रुच्यते।।र.श्रा. 14।।

दुःखों के कारण मिथ्यात्व आदि के विषय में और मिथ्यात्व आदि के धारक व्यक्ति के विषय में मन से सम्मत न होना, शरीर से सराहना नहीं करना, वचन से प्रशंसा नहीं करना अमृददृष्टि अंग कहलाता है। इसमें रेवती रानी प्रसिद्ध हुई।

रेवती रानी की कथा

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी सम्बन्धी मेघकूट नगर का राजा चन्द्रप्रभ, अपने चन्द्रशेखर पुत्र के लिये राज्य देकर, परोपकार तथा वन्दना भक्ति के लिए कुछ विद्याओं को धारण करता हुआ दक्षिण

Y X Y

Y X Y
 मथुरा गया और वहाँ गुप्ताचार्य के समीप क्षुल्लक हो गया। एक समय वह क्षुल्लक, वन्दना भक्ति के लिये उत्तर मथुरा की ओर जाने लगा। जाते समय उसने गुप्ताचार्य से पूछा कि— ‘क्या किसी से कुछ कहना है।’ भगवान गुप्ताचार्य ने कहा कि— ‘सुव्रत मुनि को वन्दना और वरुणराज की महारानी रेवती के लिये आशीर्वाद कहने के योग्य है।’ क्षुल्लक ने तीन बार पूछा फिर भी उन्होंने इतना ही कहा। तदनन्तर क्षुल्लक ने सोचा कि वहाँ ग्यारह अंग के धारक भव्यसेवनाचार्य तथा अन्य धर्मात्मा लोग भी रहते हैं, उनका आचार्य नाम भी नहीं लेते हैं, उसमें कुछ कारण अवश्य होगा। ऐसा विचार कर क्षुल्लक उत्तर मथुरा गया। वहाँ जाकर उसने सुव्रत मुनि के लिए भट्टारक की वन्दना कही। सुव्रत मुनि ने परम वात्सल्य भाव दिखलाया। फिर वह भव्यसेन की वसतिका में गया। क्षुल्लक के वहाँ पहुँचने पर भव्यसेन ने उससे संभाषण भी नहीं किया। भव्यसेन, शौच के लिए बाहर जा रहे थे सो क्षुल्लक उनका कमण्डलु लेकर उनके साथ बाह्य भूमि में गया और विक्रिया से उसने आगे ऐसा मार्ग दिखाया, जो कि हरे हरे कोमल तृणों के अंकुरों से आच्छादित था। उस मार्ग को देखकर क्षुल्लक ने कहा भी कि— ‘आगम में ये सब जीव कहे गये हैं।’ भव्यसेन आगम पर अरुचि अश्रद्धा दिखाते हुए तृणों पर चले गये। क्षुल्लक ने विक्रिया से कमण्डलु का पानी सुखा दिया। जब शुचि का समय आया, तब कमण्डलु में पानी नहीं था तथा कहीं कोई विक्रिया भी नहीं दिखाई देती थी। यह देख वे आश्चर्य में पड़ गये। तदनन्तर उन्होंने स्वच्छ सरोवर में उत्तर मिट्टी से शुद्धि की। इन सब क्रियाओं से उन्हें मिथ्यादृष्टि जानकर क्षुल्लक ने भव्यसेन का अभव्यसेन नाम रख दिया।

तदनन्तर दूसरे दिन पूर्व दिशा में पद्मासन पर स्थित, चारमुखों से सहित, यज्ञोपवीत आदि से युक्त तथा देव और दानवों से वन्दित ब्रह्मा का रूप दिखाया। राजा तथा भव्यसेन आदि लोग वहाँ गये परन्तु रेवती रानी लोगों से प्रेरित होने पर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि— ‘यह ब्रह्मा नाम का देव कौन है?’ इसी प्रकार दक्षिण दिशा में गरुड़ के ऊपर आरुढ़, चार भुजाओं से सहित तथा गदा शंख आदि के धारक नारायण का रूप दिखाया। पश्चिम दिशा में बैल पर आरुढ़ तथा अर्धचन्द्र, जटाजूट, पार्वती और गणों से सहित शंकर का रूप दिखाया। उत्तर दिशा में समवसरण के मध्य में आठ प्रातिहार्यों से सहित सुर, नर, विद्याधर और मुनियों के समूह से वन्द्यमान, पर्यकासन से स्थित तीर्थंकर देव का रूप दिखाया। वहाँ सब लोग गये, परन्तु रेवती रानी लोगों के द्वारा प्रेरणा किये जाने पर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि— ‘नारायण नौ ही होते हैं, रुद्र ग्यारह ही होते हैं और तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं ऐसा जिनागम में कहा गया है और वे सब हो चुके हैं, अतः यह तो कोई मायावी है।’

दूसरे दिन चर्या के समय उसने एक ऐसे क्षुल्लक का रूप बनाया, जिसका शरीर बीमारी से क्षीण हो गया था। वह रेवती रानी के घर के समीपवर्ती मार्ग में मायामयी मूर्छा से पड़ा रहा। रेवती रानी ने जब

Y X Y

Y X Y
 यह समाचार सुना तब वह भक्तिपूर्वक उठाकर ले गई, उसका उपचार किया और पथ्य कराने के लिए उद्यत हुई। उस क्षुल्लक ने सब आहार कर सब दुर्गन्ध से युक्त वमन कर दिया। रानी ने वमन को दूरकर कहा कि- 'हाय! मैंने प्रकृति के विरुद्ध अपथ्य आहार दिया।' रेवती रानी के उक्त वचन सुनकर क्षुल्लक ने संतोष से सब माया को संकोच कर उसे गुप्ताचार्य को परोक्ष वन्दना कराकर उनका आशीर्वाद कहा और लोगों के बीच उसकी अमूढ, दृष्टिता की खूब प्रशंसा की। यह सबकर क्षुल्लक अपने स्थान पर चला गया। राजा वरुण शिवकीर्ति पुत्र के लिये राज्य देकर तथा तप ग्रहण कर महेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ तथा रेवती रानी भी तपकर ब्रह्म स्वर्ग में देव हुई।

स्थितिकरण अंग में वारिषेण एवं वात्सल्य गुण में विष्णु कुमार मुनि प्रसिद्ध

ठिदि करण गुण पउत्तो, मगहाणयरम्मि वारिसेणो हु।

हत्थिण पुरम्मि णयरे, वच्छल्लं विण्हुणा रइयं॥86॥

स्थितिकरण में राजगृही के, वारिषेण जी हुए प्रसिद्ध।

हस्तिनापुर के विष्णु कुमार मुनि, वात्सल्य गुण में हैं सिद्ध॥86॥

अन्वयार्थ :- (हु) और (मगहाणयरम्मि) मगध देश के राजगृह नगर में (वारिसेणो) वारिसेण नामक राजकुमार (ठिदिकरण गुणपउत्तो) स्थितिकरण गुण को प्राप्त हुआ। (हत्थिणपुरम्मि णयरे) हस्तिनापुर नाम के नगर में (विण्हुणा रइयं) विष्णुकुमार मुनि ने (वच्छल्लं) वात्सल्य गुण को प्रकट किया।

अर्थ :- और मगध देश के राजगृही नगर में वारिषेण नामक राजकुमार स्थितिकरण गुण को प्राप्त हुये तथा हस्तिनापुर नामक नगर में विष्णु कुमार मुनि ने वात्सल्य गुण को प्रकट किया।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् स्थितिकरण अंग का वर्णन करते हुए कहते हैं-

दर्शनाच् चरणाद वापि, चलता धर्म वत्सलैः।

प्रव्य-वस्था-पनं प्राज्ञैः, स्थितिकरण मुच्यते॥र.श्रा. 16॥

सम्यक्दर्शन से अथवा सम्यक्चारित्र से भी डिगते हुए जीवों का धर्म से प्रेम रखने वाले जीवों के द्वारा फिर से उसी में लगा देना विद्वानों के द्वारा स्थितिकरण कहा गया है। इसमें वारिषेण कुमार प्रसिद्ध हुए।

वारिषेण की कथा

मगध देश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक रहता था। उसकी रानी का नाम चेलना था। उन दोनों

Y X Y

Y X Y
 के वारिषेण नाम का पुत्र था। वारिषेण उत्तम श्रावक था। एक बार वह उपवास धारणकर चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान में कायोत्सर्ग से खड़ा था। उसी दिन बगीचे में गई हुई मगधसुन्दरी नामक वेश्या ने श्री कीर्ति सेठानी के द्वारा पहिना हुआ हार देखा। तदनन्तर उस हार को देखकर 'इस आभूषण के बिना मुझे जीवन से क्या प्रयोजन है।' ऐसा विचार वह शैय्या पर पड़ रही। उस वेश्या में आसक्त विद्युच्चोर जब रात्रि के समय उसके घर आया तब उसे शैय्या पर पड़ी देख बोला कि, 'प्रिये, इस तरह क्यों पड़ी हो?' वेश्या ने कहा कि 'यदि श्रीकीर्ति सेठानी का हार मुझे देते हो तो मैं जीवित रहूँगी और तुम मेरे पति होओगे अन्यथा नहीं।' वेश्या के यह वचन सुनकर तथा उसे आश्वासन देकर विद्युच्चोर आधी रात के समय श्रीकीर्ति सेठानी के घर गया और अपनी चतुराई से हार चुराकर बाहर निकल आया। हार के प्रकाश से 'यह चोर है' ऐसा जानकर गृह के रक्षकों तथा कोतवालों ने उसे पकड़ना चाहा। जब वह चोर भागने में असमर्थ हो गया, तब वारिषेण कुमार के आगे उस हार को डालकर छिपकर बैठ गया। कोतवालों ने उस हार को वारिषेण के आगे पड़ा देखकर, राजा श्रेणिक से कह दिया कि 'राजन्! वारिषेण चोर है।' यह सुनकर राजा ने कहा कि 'इस मूर्ख का मस्तक छेदकर लाओ।' चाण्डाल ने वारिषेण का मस्तक काटने के लिये जो तलवार चलाई वह उसके गले में फूलों की माला बन गई। उस अतिशय को सुनकर राजा श्रेणिक ने जाकर वारिषेण से क्षमा माँगी। विद्युच्चोर ने अभयदान पाकर राजा से जब अपना सब वृत्तान्त कहा तब वह वारिषेण को घर ले जाने के लिए उद्यत हुआ। परन्तु वारिषेण ने कहा कि 'अब तो मैं पाणिपात्र में भोजन करूँगा अर्थात् दिगम्बर मुनि बनूँगा।' तदनन्तर वह शूरसेन गुरु के समीप मुनि हो गया।

एक समय वह मुनि राजगृह के समीपवर्ती पलाशकूट ग्राम में चर्या के लिये प्रविष्ट हुए। वहाँ राजा श्रेणिक के अग्निभूति मंत्री के पुत्र पुष्पडाल ने उन्हें पड़गाहा। चर्या कराने के बाद वह अपनी सोमिल्ला नामक स्त्री से पूछकर स्वामी का पुत्र तथा बाल्यकाल का मित्र होने के कारण कुछ दूर तक भेजने के लिए वारिषेण के साथ चला गया। अपने लौटने के अभिप्राय से वह क्षीरवृक्ष आदि को दिखाता तथा बार-बार मुनि को वन्दना करता था परन्तु मुनि हाथ पकड़कर उसे साथ ले गये और धर्म का विशिष्ट उपदेश सुनाकर तथा वैराग्य उपजाकर उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया। तप धारण करने पर भी वह सोमिल्ला स्त्री को नहीं भूलता था।

पुष्पडाल और वारिषेण दोनों ही मुनि बारह वर्ष तक तीर्थ यात्रा कर भगवान् वर्धमान स्वामी के समवशरण में पहुँचे। वहाँ वर्धमान स्वामी और पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाला एक गीत देवों के द्वारा गाया जा रहा था, उसे पुष्पडाल ने सुना। गीत का भाव यह था कि 'जब पति प्रवास को जाता है, तब स्त्री खिन्न चित्त होकर मैली कुचैली रहती है। परन्तु जब वह घर छोड़कर ही चल देता है तब वह कैसे जीवित

Y X Y

Y X Y
 रह सकती है?’

पुष्पडाल ने यह गीत अपने तथा सोमिल्ला के सम्बन्ध में लगा लिया इसलिये वह उत्कण्ठित होकर चलने लगा। वारिषेण मुनि यह जानकर उसका स्थितिकरण करने के लिए उसे अपने नगर ले गये। चेलना ने उन दोनों मुनियों को देखकर विचार किया कि वारिषेण क्या चारित्र से विचलित होकर आ रहा है? परीक्षा करने के लिये उसने दो आसन दिये— एक सराग और दूसरा वीतराग। वारिषेण ने वीतराग आसन पर बैठकर कहा कि हमारा अन्तःपुर बुलाया जावे। महारानी चेलना ने आभूषणों से सजी हुई उसकी बत्तीस स्त्रियाँ बुलाकर खड़ी कर दीं। तदनन्तर वारिषेण ने पुष्पडाल से कहा कि ‘ये स्त्रियाँ और मेरा युवराज पद तुम ग्रहण करो।’ यह सुनकर पुष्पडाल अत्यन्त लज्जित होता हुआ उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुआ। परमार्थ से तप करने लगा।

आचार्य भगवन् सम्यक्दर्शन के सातवें अंग का वर्णन करते हुए कहते हैं—

स्वयूध्यान् प्रति सद्भाव, सनाथा—पेत—कैतवा।

प्रति—पन्तिर्—यथा योग्यं, वात्सल्य मभि लप्यते।।र.श्रा.

1 7 | |

अपने सहधर्मियों के प्रति सरलता सहित, माया रहित अर्थात् निष्कपट चित्ति से यथायोग्य आदर—सत्कार अर्थात् नमस्कार, दान, उच्च स्थान प्रशंसा और उपकरण आदि से उनका आदर सत्कार करना वात्सल्य अंग है। इसमें विष्णुकुमार मुनि प्रसिद्ध हुए।

विष्णुकुमार मुनि की कथा

अवन्ति देश की उज्जयिनी नगरी में श्री वर्मा राजा राज्य करता था। उसके बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये चार मन्त्री थे। वहाँ एक समय शास्त्रों के आचार, दिव्यज्ञानी तथा सात सौ मुनियों से सहित अकम्पनाचार्य आकर उद्यान में ठहर गये। अकम्पनाचार्य ने अशुभ निमित्त जानकर समस्त संघ को मना कर दिया कि राजादिक के आने पर किसी के साथ वार्तालाप न किया जावे, अन्यथा समस्त संघ का नाश हो जावेगा।

राजा अपने धवलगृह पर बैठा था, वहाँ से उसने पूजा की सामग्री हाथ में लेकर जाते हुए नागरिकों को देखकर मन्त्रियों से पूछा कि ‘ये लोग कहाँ जा रहे हैं, यह यात्रा का समय तो है नहीं।’ मन्त्रियों ने कहा कि ‘नगर के बाहर उद्यान में बहुत से नग्न साधु आये हैं वहीं ये लोग जा रहे हैं।’ राजा ने कहा कि ‘हम भी उन्हें देखने के लिये चलते हैं।’ ऐसा कहकर राजा मन्त्रियों सहित वहाँ गया। एक—एक कर समस्त मुनियों की वन्दना राजा ने की, परन्तु किसी ने भी आशीर्वाद नहीं दिया। ‘दिव्य अनुष्ठान के कारण ये

Y X Y

Y X Y
 साधु अत्यन्त निःस्पृह हैं' ऐसा विचार कर जब राजा लौटा तो खोटा अभिप्राय रचने वाले मन्त्रियों ने यह कहकर उन मुनियों का उपहास किया कि 'ये बैल हैं, कुछ भी नहीं जानते हैं, मूर्ख हैं' इसलिये छल से मौन लेकर बैठे हैं। ऐसा कहते हुए मन्त्री राजा के साथ जा रहे थे कि उन्होंने आगे चर्या कर आते हुए श्रुतसागर मुनि को देखा। देखकर कहा कि 'यह तरुण बैल पेट भर कर आ रहा है।' यह सुनकर उन मुनि ने राजा के मन्त्रियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें हरा दिया। वापिस आकर मुनि ने ये सब समाचार अकम्पनाचार्य से कहा। अकम्पनाचार्य ने कहा कि 'तुम्हारे कारण समस्त संघ का जीवन खतरे में पड़ गया है इसलिये तुमने जहाँ शास्त्रार्थ किया था उसी स्थान पर जाकर तुम रात्रि को अकेले खड़े रहो तो संघ जीवित रह सकता है और तुम्हारे अपराध की शुद्धि हो सकती है।' तदनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्ग से स्थित हो गये।

अत्यन्त लज्जित और क्रोध से भरे हुए मंत्री रात्रि में समस्त संघ को मारने के लिये जा रहे थे कि उन्होंने कायोत्सर्ग से खड़े हुए उन मुनि को देखकर विचार किया कि 'जिसने हम लोगों का पराभाव किया है, वह मारने के योग्य है' ऐसा विचार कर चारों मन्त्रियों ने मुनि को मारने के लिये एक साथ खड्ग ऊपर उठाये। परन्तु जिसका आसन कम्पित हुआ था ऐसे नगर देवता ने आकर उन सबको उसी अवस्था में कील दिया। प्रातः काल सब लोगों ने उन मन्त्रियों को उसी प्रकार कीलित तथा श्रुत सागर मुनि को ध्यानावस्था में अवस्थित देखा। मन्त्रियों की इस कुचेष्टा से राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु ये मंत्री वंश परम्परा से चले आ रहे हैं, यह विचार कर उन्हें मारा तो नहीं सिर्फ गर्दभारोहण कर काला मुँह कराकर देश से निकाल दिया।

तदनन्तर कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में राजा महापद्म राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उनके दो पुत्र थे— पद्म और विष्णु। एक समय राजा महापद्म, पद्मनामक पुत्र को राज्य देकर विष्णु नामक पुत्र के साथ श्रुतसागर चन्द्र नामक आचार्य के पास मुनि हो गये। वे बलि आदिक यहाँ आकर पद्मराजा के मन्त्री बन गये। उसी समय कुम्भपुर के दुर्ग में राजा सिंहबल रहता था। वह अपने दुर्ग के बल से राजा पद्म के देश में उपद्रव करता था। राजा पद्म उसे पकड़ने की चिन्ता में दुर्बल होता जाता था। उसे दुर्बल देख एक दिन बलि ने कहा कि 'देव! दुर्बलता का क्या कारण है?' राजा ने उसे दुर्बलता का कारण बताया। उसे सुनकर तथा आज्ञा प्राप्त कर बलि वहाँ गया और अपनी बुद्धि के माहात्म्य से दुर्ग को तोड़कर तथा सिंहबल को बंदी बनाकर वापिस आ गया। उसने राजा पद्म को सिंहबल को सौंप दिया। राजा पद्म ने संतुष्ट होकर कहा कि— 'तुम अपना वांछित वर माँगो। बलि ने कहा कि जब माँगूंगा तब दिया जावे।'

Y X Y

Y X Y

तदनन्तर कुछ दिनों में विहार करते हुए अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों का संघ उसी हस्तिनापुर में आया। उनके आते ही नगर में हलचल मच गई। बलि आदि मन्त्रियों ने उन्हें पहिचान कर विचार किया कि राजा इनका भक्त है। इस भय से उन्होंने उन मुनियों को मारने के लिये राजा पद्म से अपना पहले का वर माँगा कि हम लोगों को सात दिन का राज्य दिया जावे। तदनन्तर राजा पद्म उन्हें सात दिन का राज्य देकर अन्तःपुर में चला गया। इधर बलि ने आतापनगिरि पर कायोत्सर्ग से खड़े हुए मुनियों को बाड़ी से वेष्टित कर मण्डप लगा यज्ञ करना शुरु किया। जूठे सकोरे, बकरा आदि जीवों के कलेवर तथा धूम आदि के द्वारा मुनियों को मारने के लिये बहुत भारी उपसर्ग किया। मुनि दोनों प्रकार का सन्यास लेकर स्थित हो गये।

तदनन्तर मिथिलानगरी में आधी रात के समय बाहर निकले हुए श्रुतसागर चन्द्र आचार्य ने आकाश में काँपते हुए श्रवण नक्षत्र को देखकर अवधिज्ञान से जानकर रात्रि में ही उनके मुँह से निकल गया 'अहा! महामुनियों के ऊपर महान् उपसर्ग हो रहा है।' यह सुनकर पुष्पधर नामक विद्याधर क्षुल्लक ने पूछा कि 'कहाँ किन पर महान् उपसर्ग हो रहा है?' उन्होंने कहा कि 'हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर।' 'उपसर्ग कैसे नष्ट हो सकता है' ऐसा क्षुल्लक द्वारा पूछे जाने पर कहा कि धरणिभूषण पर्वत पर विक्रिया ऋद्धि के धारी विष्णुकुमार मुनि स्थित है, वे उपसर्ग को नष्ट कर सकते हैं। यह सुन क्षुल्लक ने उनके पास जाकर सब समाचार कहा। 'मुझे विक्रियाऋद्धि है क्या?' ऐसा विचार कर विष्णुकुमार मुनि ने अपना हाथ पसारा तो वह पर्वत को भेदकर दूर तक चला गया। तदनन्तर विक्रिया का निर्णय कर उन्होंने हस्तिनापुर जाकर राजा पद्म से कहा कि तुमने मुनियों पर उपसर्ग क्यों कराया? आपके कुल में ऐसा कार्य किसी ने नहीं किया। राजा पद्म ने कहा कि 'क्या करूँ मैंने उसे वर दे दिया था।'

तदनन्तर विष्णुकुमार मुनि ने एक बौने ब्राह्मण का रूप बनाकर उत्तम शब्दों द्वारा वेद-पाठ करना शुरु किया। बलि ने कहा कि तुम्हें क्या दिया जावे? बौने ब्राह्मण ने कहा कि 'तीन पग भूमि दी जाए।' 'पगले ब्राह्मण! देने को बहुत है और कुछ माँग' इस प्रकार बार-बार लोगों के कहे जाने पर भी वह तीन पग भूमि ही माँगता रहा। तदनन्तर हाथ में संकल्प का जल लेकर जब उसे विधिपूर्वक तीन पग भूमि दे दी गई, तब उसने एक पैर मेरु पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरे पैर के द्वारा देवविमानों आदि में क्षोभ उत्पन्न कर उसे बलि की पीठ पर रखा तथा बलि को बाँधकर मुनियों का उपसर्ग दूर किया। तदनन्तर वे चारों मन्त्री राजा पद्म के भय से विष्णुकुमार मुनि तथा अकम्पनाचार्य आदि मुनियों के चरणों में संलग्न हुए चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगे। वे मन्त्री श्रावक बन गये।

Y X Y

अंग प्रभावना में मथुरा के, वज्रकुमार मुनि हुए प्रसिद्ध॥४७॥

वाच्यता यत्प्रमार्जन्ति-तद्-वदन्व्युप-गृहनम्॥ र.श्रा. 15॥

जिनेन्द्र भक्त सेठ की कथा

Y X Y

Y X Y
वन्दनाकर तथा वार्तालापकर उस क्षुल्लक को अपने घर ले आया। उसने पार्श्वनाथ देव के उसे दर्शन कराये और उसे मणि का रक्षक बनाकर वहीं रख लिया।

एक दिन क्षुल्लक से पूछकर सेठ समुद्र यात्रा के लिये चला और नगर से बाहर निकलकर ठहर गया। घर के लोगों को निद्रा में जानकर वह चोर-क्षुल्लक आधी रात के समय उस मणि को लेकर चलता बना। मणि के तेज से मार्ग में कोतवाल ने उसे देख लिया और पकड़ने के लिये उसका पीछा किया। कोतवाल से बचकर भागने में असमर्थ हुआ वह चोर क्षुल्लक सेठ की ही शरण में जाकर कहने लगा कि मेरी रक्षा करो। कोतवालों का कल-कल शब्द सुनकर तथा पूर्वा पर विचार कर सेठ ने जान लिया कि यह चोर है परन्तु धर्म का उपहास बचाने के लिए उसने कहा कि यह मेरे कहने से ही रत्न लाया है, आप लोगों ने अच्छा नहीं किया जो इस महा तपस्वी को चोर घोषित किया। तदनन्तर सेठ के वचन को प्रमाण मानकर कोतवाल चले गये और सेठ ने उसे रात्रि के समय निकाल दिया। इसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टि को भी असमर्थ और अज्ञानी जनों से आये हुए धर्म के दोष का आच्छादन करना चाहिए।

वज्र कुमार मुनि की कथा

हस्तिनापुर में बल नामक राजा रहता था। उसके पुरोहित का नाम गरुड़ था। गरुड़ के एक सोमदत्त नाम का पुत्र था। उसने समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर अहिच्छत्रपुर में रहने वाले मामा सुभूति के पास जाकर कहा कि मामाजी! मुझे दुर्मुख राजा के दर्शन करा दो। परन्तु गर्व से भरे हुए सुभूति ने उसे राजा के दर्शन नहीं कराये। तदनन्तर हठधर्मी होकर वह स्वयं ही राजसभा में चला गया। वहाँ उसने राजा के दर्शन कर आशीर्वाद दिया और समस्त शास्त्रों की निपुणता को प्रकटकर मंत्री पद प्राप्त कर लिया। उसे वैसा देख सुभूति मामा ने अपनी यज्ञदत्ता नाम की पुत्र विवाहने के लिये दे दी।

एक समय वह यज्ञदत्ता जब गर्भिणी हुई तब उसे वर्षाकाल में आमफल खाने का दोहला हुआ। तदनन्तर बाग-बगीचों में आम फलों को खोजते हुए सोमदत्त ने देखा कि जिस आमवृक्ष के नीचे सुमित्राचार्य ने योग ग्रहण किया है वह वृक्ष नाना फलों से फला हुआ है। उसने उस वृक्ष से फल लेकर आदमी के हाथ धारण कर आगम का अध्ययन करने लगा। जब वह अध्ययन कर परिपक्व हो गया तब नाभिगिरि पर्वत पर आतपन योग से स्थित हो गया।

इधर यज्ञदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया। पति के मुनि होने का समाचार सुनकर वह अपने भाई के पास चली गई। तत्पश्चात् अपने भाईयों के साथ नाभिगिरि पर्वत पर गई। वहाँ आतपनयोग में स्थित

Y X Y
सोमदत्त मुनि को देखकर अत्यधिक क्रोध के कारण उसने वह बालक उनके पैरों के ऊपर रख दिया और गालियाँ देकर स्वयं घर चली गई।

उसी समय अमरावती नगरी का रहने वाला दिवाकर देव नाम का विद्याधर जो कि अपने पुरन्दर नामक छोटे भाई के द्वारा राज्य से निकाल दिया गया था, अपनी स्त्री के साथ मुनि की वन्दना करने के लिये आया था। वह उस बालक को लेकर, अपनी स्त्री को सौंपकर तथा उसका वज्रकुमार नाम रखकर चला गया। वह वज्रकुमार कनक नगर में विमल वाहन नामक अपने मामा के समीप समस्त विद्याओं में पारगामी होकर क्रम-क्रम से तरुण हो गया।

तदनन्तर गरुड़वेग और अंगवती की पुत्री पवनवेगा हेमन्त पर्वत पर बड़े श्रम से प्रज्ञप्ति नाम की विद्या सिद्ध कर रही थी। उसी समय वायु से कम्पित बेरी का एक पैना काँटा उसकी आँख में जा लगा उसकी पीड़ा से चित्त चञ्चल हो जाने से विद्या उसे सिद्ध नहीं हो रही थी। तदनन्तर वज्रकुमार ने उसे वैसा देख कुशलतापूर्वक वह काँटा निकाल दिया। काँटा निकल जाने से उसका चित्त स्थिर हो गया तथा विद्या सिद्ध हो गई। विद्या सिद्ध होने पर उसने कहा कि आपके प्रसाद से यह विद्या सिद्ध हुई है इसलिये आप ही मेरे भर्ता हैं। ऐसा कहकर उसने वज्रकुमार से विवाह कर लिया।

वज्रकुमार ने दिवाकर देव विद्याधर से कहा कि तात! मैं किसका पुत्र हूँ सत्य कहिये, उसके कहने पर ही मेरी भोजनादि में प्रवृत्ति होगी। तदनन्तर दिवाकर देव ने पहले का सब वृत्तान्त सच-सच कह दिया। उसे सुनकर वह अपने पिता के दर्शन के लिये भाईयों के साथ मथुरा नगरी की दक्षिण-गुहा में गया। वहाँ दिवाकर देव ने वन्दना कर वज्रकुमार के पिता सोमदत्त को सब समाचार कह दिया। समस्त भाईयों को बड़े कष्ट से विदाकर वज्रकुमार मुनि हो गया।

इसी बीच में मथुरा में एक दूसरी घटना घटी। वहाँ पूतिगन्ध राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम उर्विला था। उर्विला सम्यग्दृष्टि तथा जिनधर्म की प्रभावना में अत्यन्त लीन थी। वह प्रतिवर्ष अष्टाह्निक पर्व में तीन बार जिनेन्द्र देव की स्थयात्रा करती थी। उसी नगरी में एक सागरदत्त सेठ रहता था। उसकी सेठानी का नाम समुद्रदत्ता था। उन दोनों के एक दरिद्रा नाम की पुत्री हुई। सागरदत्त के मर जाने पर एक दिन दरिद्रा दूसरे के घर में फेंके हुए भात के सीथ खा रही थी। उसी समय चर्या के लिए प्रविष्ट हुए दो मुनियों ने उसे वैसा करते हुए देखा। तदनन्तर छोटे मुनि ने बड़े मुनि से कहा कि हाय बेचारी बड़े कष्ट से जीवन बिता रही है। यह सुनकर बड़े मुनि ने कहा कि यह इसी नगरी में राजा की प्रिय पटरानी होगी। भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए एक बौद्ध साधु ने मुनिराज के वचन सुनकर विचार किया कि मुनि का कथन अन्यथा नहीं होगा, इसलिये वह उसे अपने विहार में ले गया और वहाँ अच्छे आहार से उसका पालन पोषण करने लगा।

Y X Y

Y X Y

एक दिन भरी जवानी में वह चैत्र मास के समय झूला झूल रही थी कि उसे देखकर राजा अत्यन्त विरहावस्था को प्राप्त हो गया। तदनन्तर मन्त्रियों ने उसके लिए बौद्ध साधु से क्षमा याचना की। उसने कहा कि यदि राजा हमारे धर्म को ग्रहण करें तो मैं इसे दे दूंगा। राजा ने वह सब स्वीकृत कर उसके साथ विवाह कर लिया और वह उसकी अत्यन्त प्रिय पटरानी बन गई।

फाल्गुन मास की नन्दीश्वर यात्रा में उर्विला ने रथयात्रा की तैयारी की। उसे देख, उस पटरानी ने राजा से कहा कि देव! मेरा बुद्ध भगवान का रथ इस समय नगर में पहले घूमे। राजा ने कह दिया कि ऐसा ही होगा। तदनन्तर उर्विला ने कहा कि यदि मेरा रथ पहले घूमता है तो मेरी आहार में प्रवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं। ऐसी प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रिय गुहा में सोमदत्त आचार्य के पास गई। उसी समय वज्र कुमार मुनि की वन्दना भक्ति के लिये दिवाकर देव आदि विद्याधर आये थे। वज्रकुमार मुनि ने यह सब वृत्तान्त सुनकर उनसे कहा कि आप लोगों को प्रतिज्ञा पर आरुढ़ उर्विला की रथयात्रा कराना चाहिये। तदनन्तर उन्होंने बुद्ध दासी का रथ तोड़कर बड़ी विभूति के साथ उर्विला की रथयात्रा कराई। उस अतिशय को देखकर प्रतिबोध को प्राप्त हुई बुद्धदासी तथा अन्य लोग जैनधर्म में लीन हो गये।

आठ गुणों से सहित सम्यग्दर्शन का धारक ही सम्यग्दृष्टि

एरिसगुण अट्टजुदं, सम्मत्तं जो धरेइ दिद्वचित्तो।

सो हवइ सम्मदिट्ठी, सद्वहमाणो पयत्थे य॥४४॥

जिनवर कथित द्रव्य नौ का जो, सद्वृष्टी करते श्रद्धान।

आठ अंग युत चित्त में दृढ़ता, धारे वह सद्वृष्टी जान॥४४॥

अन्यवार्थ :- (एरिस अट्ट गुण जुदं) इन पूर्वोक्त आठ गुणों से सहित (जो दिद्वचित्तो सम्मत्तं धरेइ) जो चित्त की दृढ़ता पूर्वक सम्यग्दर्शन को धारण करता है (य) और (सद्वहमाणो पयत्थे) भगवान जिनेन्द्र के द्वारा हुए जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना है (सो) वह (सम्मदिट्ठी हवइ) सम्यग्दृष्टि होता है।

अर्थ :- इन पूर्वोक्त आठ गुणों से सहित जो चित्त की दृढ़ता पूर्वक सम्यग्दर्शन को धारण करता है और भगवान जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् सम्यक्त्व की महिमा का कथन करते हुए कहते हैं कि इस संसार में प्रत्येक वस्तु का मोल है किन्तु सम्यग्दर्शन एक ऐसी महान् वस्तु है जिसका कोई मोल नहीं बल्कि वह बहुमूल्य है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार शरीर भोगों से विरक्त रहता है। वह अपनी आत्मा को सिद्धों के समान समझता है।

Y X Y

(170)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

जिस प्रकार महल का मूल आधार नींव है और वृक्ष का मूल आधार पाताल तक गई हुई जड़े हैं। उसी प्रकार धर्म का मूल आधार सम्यक्दर्शन है। सम्यक्दर्शन बिना धर्म रूपी महल अथवा धर्म रूपी वृक्ष नहीं ठहर सकता है। जीव रक्षा आत्मा की परिणति को दया कहते हैं, वह दया ही धर्म का लक्षण है। तीर्थंकर परम देव तथा अन्यान्य केवलियों ने अपने गणधर, चक्रवर्ती तथा इन्द्र आदि शिष्यों को धर्म का यही स्वरूप बताया है। धर्म की जड़ स्वरूप सम्यक्दर्शन ही जिसके पास नहीं है वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है? और जो धर्मात्मा नहीं है वंदना या नमस्कार के योग्य कैसे हो सकता है? अष्ट पाहुड़ में आचार्य उमा स्वामी भगवन् कहते हैं—

सम्मत्त विरहिया णं, सुहड वि उगं तपं चरंता णं।

ण लहंहि वोहिलाहं, अवि वाससहस्यकोडीहिं॥5॥

सम्यक्दर्शन से रहित मनुष्य अच्छी तरह कठिन तपश्चरण करते हुए भी हजार करोड़ वर्षों में भी रत्नत्रय रूप बोधि को नहीं प्राप्त कर पाते हैं अर्थात् वह सम्यक्दर्शन से पतित हैं। वे भले ही मासोपवास आदि विशेष तप करते हों तो भी बोधि को प्राप्त नहीं होते हैं।

जैन शास्त्रों में कहा गया है कि एक वशिष्ठ नाम के ऋषि थे जो अनेक प्रकार से मिथ्या तप करते थे। एक बार मुनिराज के समागम से उन्हें बोधि प्राप्त हुआ तो वे मुनि बन गये और मासोपवासी रूप में विख्यात हुए। एक बार मुनिराज की ख्याति सुनकर राजा ने उन्हें आहार देने का भाव बनाया और समस्त नगर में नगरवासियों को चौका लगाने का निषेध कर दिया मात्र राजमहल में ही चौका रहेगा। मुनिराज का आगमन होने के पूर्व ही पड़ौसी राजा का संदेश पाकर उसमें उलझ गया तो आहार की व्यवस्था ही भूल गया। इसी प्रकार द्वितीय मास में नगर में हाथी बौराने से महाराज अन्तराय मानकर चले गये। तीसरी बार भी नगर में आग लगने से महाराज का अन्तराय हो गया। इस प्रकार वापिस जाते देखकर लोगों के बीच चर्चा हो रही थी कि राजा कितना दुष्ट है ना स्वयं आहार देता है और ना ही औरों को देने देता है। इस प्रकार की चर्चा सुनकर मुनिराज क्रोधित होकर निदान बंधकर लेते हैं कि यदि मेरे यहाँ पर श्रावक होता तो अच्छी तरह मजा चखाता उसी समय पत्थर की ठोकर लगते ही गिरकर मरण होता है, निदान के फल से वह राजा के गृह में पुत्र हुआ। बाल्य अवस्था में ही राजा को देखकर क्रोधित होता देखा तो रानी ने काँसे की पेटिका में रखकर नदी में बहा दिया। बाद में बड़ा होकर वह राज्य-पद प्राप्त करके पिता के राज्य को जीतकर उन्हें द्वार के ऊपर पिंजड़े में बंद करके दण्ड देता था यह सभी क्या मति का दुष्परिणाम है।

Y X Y

आठ गुणों से सहित सम्यग्दर्शन विशुद्धि का कारण है

एरिसगुण अट्टजुदं, सम्मत्तं विसोहिकारणा भणिया।

जो उज्जमेदि एदे, समादिट्ठी जिणक्खादो॥89॥

निःशंकादिक अष्ट गुणों युत, दर्श विशुद्धि का कारण।

इनको उद्योतित जो करता, करता सद्दर्शन धारण॥89॥

अन्वयार्थ :- (एरिस गुण अट्टजुदं सम्मत्तं) इन पूर्वोक्त निःशंकादि आठ गुणों से सहित सम्यग्दर्शन (विसोहि कारणा) विशुद्धि का कारण (भणिया) कहा गया है (जो एदे उज्जमेदि) जो इनको उद्योतित करता है (समादिट्ठी जिणक्खादो) उसे जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दृष्टि कहा है।

अर्थ :- इन पूर्वोक्त निःशंकादि आठ गुणों से सहित सम्यग्दर्शन विशुद्धि का कारण कहा गया है जो इनको उद्योतित (प्रकाशित) करता है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दृष्टि कहा है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि निशंकितादि गुणों से विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिन सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्षरूप स्थान की प्राप्ति के लिये निमित्तभूत है जिसके पास अथाह ज्ञान हो किन्तु सम्यक्त्व नहीं हो तो उसका कोई मूल्य नहीं है आचार्य भगवन् कहते-

जे दंसणेसु भट्ठा, णाणे भट्ठा चरित्त भट्ठाया।

एदे भट्ठविभट्ठा, सेसं पि जणं णा संति॥अ.पा. 8॥

जो मनुष्य सम्यक्दर्शन से भ्रष्ट है, ज्ञान से भ्रष्ट है और चारित्र से भ्रष्ट है। वे भ्रष्टों में विशिष्ट भ्रष्ट हैं अर्थात् अत्यंत भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं। तथा और भी कहा है-

दंसण भट्ठा-भट्ठा, दंसण भट्ठाण ण।

सिज्झंति चरित्र भट्ठा, रंसण भट्ठा ण खिज्झंति॥

अर्थात् दर्शन भ्रष्ट महाभ्रष्ट है, दर्शन से भ्रष्ट कभी भी अपना उद्धार नहीं कर सकता है, दर्शन भ्रष्ट अनन्त संसारी होता है। कदाचित् किसी देश काल में चारित्र भ्रष्ट तो सिद्धत्व को प्राप्त हो भी जाए। किन्तु दर्शन भ्रष्ट कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता है।

दर्शन मोक्ष की यात्रा में टिकिट के समान है यदि टिकिट है तो यात्रा हो सकती है चाहे रिजर्वेशन हो या नहीं। चारित्र रिजर्वेशन है जो आराम से ही समय पर इच्छित स्थान पर पहुँचा देता है। किन्तु टिकिट

(172)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
नहीं हो तो कभी भी यात्री अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेगा। यदि टिकिट है और रिजर्वेशन नहीं है तो
वैसे भी गाड़ी में चढ़कर लक्ष्य तक पहुँच जाएगा। किन्तु टिकिट के अभाव में पकड़ा जाएगा तो जेल की
शलाखों के बीच पड़ा रोएगा। इसीलिए सम्यक्दर्शन की टिकिट लेने वाला आज मोक्ष नहीं जाए कोई
बात नहीं किन्तु टिकिट लेने वाला निश्चित होकर रहता है। उसी प्रकार सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला आज
मोक्ष ना जाए कोई बात नहीं किन्तु अर्ध पुद्गल परावर्तन काल निश्चित हो जाएगा कि उसे मोक्ष जाना
ही है। इसीलिए ज्ञानीजन सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए हर प्रयत्न कर सम्यक्त्व जगाते हैं।

सम्यक्त्व बहुत ही सहज चीज है उसमें न कुछ लेना, ना कुछ देना, ना कुछ ग्रहण करना ना कुछ
छोड़ना। मात्र वस्तु तत्त्व को जानकर यथायोग्य समीचीन श्रद्धान करना है किन्तु बड़े खेद की बात है कि
यह जीव अपने ही स्वरूप से अनजान है और अपने ही स्वरूप श्रद्धान से अनभिज्ञ होकर पर में खोया
रहता है अतः हे आत्मन! पर को छोड़कर स्व में श्रद्धान कर सम्यक्त्वी बनकर विशद मोक्ष पथ के राही
बने।

सम्यग्दृष्टि जीव की गति का वर्णन

बारह मिच्छावायइ, तिहु देवह सत्तियाह सट्पुढवी।
सम्मत्तसिहुनहु उप्पत्ति नराइ संडे य णारी य॥90॥
पंचवि थावर वियले, असणि णिगोये य मिच्छकुभोगभूमिए।
सम्माइट्टीजीवा, ण हु जम्मंति कहिय मुणिणाहे॥91॥
द्वादश मिथ्यावाद भवनत्रिक, नरक भूमि छह प्रथम निवार।
स्त्री और नपुंसक में नहीं, सद्दृष्टी ना जाय विचार॥90॥
पंच स्थावर विकलत्रय में, म्लेच्छ खण्ड निगोद स्थान।
कुभोग भूमि में सम्यक्दृष्टी, जावें ना कहते भगवान॥91॥

अन्वयार्थ :- (सम्मत्तसिहु) सम्यग्दृष्टि की (बारह मिच्छावायइ) मिथ्या वादों में (तिहु देवह) भवनवासी आदि तीन प्रकार के देवों में (सत्तियाहसट् पुढवी) सात नरक भूमियों में से प्रथम को छोड़कर नीचे की छह भूमियों में (नराइ) मनुष्यों में (णारी य) स्त्रियों में तथा (संडे) नपुंसकों में (हु) निश्चित (उप्पत्ति न) उत्पत्ति नहीं होती।

अन्वयार्थ :- (मुणिणाहे) मुनियों के नाथ तीर्थंकरों ने (कहिय) कहा है कि (सम्माइट्टी जीवा) सम्यग्दृष्टि जीव (पंचवि थावर) पाँच स्थावरों में (वियले) दो इन्द्रिय आदि विकलत्रयों में

Y X Y

Y X Y
 (असणि णिगोए) असंजियों व निगोदों में (य) तथा (मच्छ कुभोग भोए) मलेच्छ खण्डों में व कुभोग भूमियों में (हु) नियम से (ण जम्मंति) जन्म नहीं लेते।

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि की मिथ्या वादों में, भवनवासी आदि तीन प्रकार के देवों में, सात नरक भूमियों में से प्रथम को छोड़कर नीचे की छह भूमियों में, मनुष्यों में, स्त्रियों में तथा (संडे) नपुंसकों में निश्चित उत्पत्ति नहीं होती।

अर्थ :- मुनियों के नाथ तीर्थंकरों ने कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव पाँच स्थावरों में दो इन्द्रिय आदि विकलत्रयों में असंजियों व निगोदों में तथा मलेच्छ खण्डों में व कुभोग भूमियों में नियम से जन्म नहीं लेते।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं सम्यक्दृष्टि जीव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क आदि तीन प्रकार के देवों में तथा 7 नरक भूमियों में से प्रथम को छोड़कर नीचे की 6 भूमियों में जन्म नहीं लेता है। मनुष्यों में, स्त्रियों में, नपुंसकों में भी जन्म नहीं लेता है। एकेंद्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि विकलतत्रय में, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि स्थावरों में, असंजी, निगोद में तथा मलेच्छ खण्डों में व कुभोग भूमियों में नियम से जन्म नहीं लेते हैं अर्थात् सम्यक्दृष्टि जीव नियम से स्वर्ग ही जाता है। कहा भी है—

सम्यक्दर्शन शुद्धा, नारकतिर्यङ् नपुंसक स्त्रीत्वानि।

दुष्कुलविकृताल्पायुर, दरिद्रतां च व्रजिन्त नाप्यव्रतिकाः।।र.श्र. 35।।

सम्यक्दर्शन की महिमा अपार है। सम्यक्दर्शन वह निधि है जिसके द्वारा संसार की हर वस्तु प्राप्त की जा सकती है। सम्यक्दर्शन प्राप्त करने वाले के लिए नरकादिक दुर्गतियों के द्वार स्वतः ही बन्द हो जाते हैं। आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने सम्यक्दर्शन की महिमा का चित्रण करते हुए लिखा है। सम्यक्दर्शन से शुद्ध जीव नरक में गमन नहीं करता कदाचित् कोई जीव नरक आयु का बन्ध कर ले फिर क्षायिक सम्यक्दर्शन प्राप्त करें तो वह प्रथम नरक में अजघन्य आयु प्राप्त कर काल पूरा करके अगले भव से मुक्ति का रही बन जाता है। तिर्यञ्च गति को भी प्राप्त नहीं होता है यदि कदाचित् आयु कर्म का बंध कर ले तो भोगभूमि में जाकर फिर स्वर्ग को जाता है तथा किसी भी प्रकार से स्त्री वेद, नपुंसक वेद में जन्म नहीं लेता मात्र पुरुष वेदी ही होगा। पहली बात मनुष्य गति में भी सम्यक्त्वी जन्म नहीं लेता है यदि आयु बंध हो जाए तो भोगभूमि का मनुष्य बनकर फिर स्वर्ग में उत्पन्न होता है। मनुष्य गति में तिर्यञ्च या मनुष्य मरकर मनुष्य नहीं हो सकता मात्र देवों के द्वारा सम्यक्त्व अवस्था में मनुष्य आयु का

Y X Y

(174)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
बंध किया जाता है। वह भी पुरुष पर्याय होगी यह नियम है। एक बात और है कि सम्यक्त्वी जीव नीच कुल और विकृत शरीर वाला कभी नहीं होता है। उच्च कुल एवं सुन्दर सर्वांग शरीर का धारी होता है एवं पुण्य पुरुष होकर सांसारिक सुखों का भोगी होता है। अन्त में सब कुछ छोड़कर संसार से विरक्त हो साधु बनकर साधना करके कर्म निर्जरा करता है और मोक्ष का भागी बनता है। सम्यक्त्वी जीव कभी दरिद्र और अल्पायु वाला नहीं होता। सम्यक्त्व वह पुण्य प्रकृति है जो जीव को संसार के सर्व सुख प्रदान कर अन्त में परम्परा से मुक्ति मंजिल का स्वामी बनाता है। सम्यक्त्व के वही सर्विस है कि व्यक्ति जब तक सर्विस करता है तब तो उसके लिए वेतन प्राप्त होता ही है। सर्विस से मुक्त होने पर पेंशन प्राप्त होता रहता है और यदि प्रमोशन हो जाए तो फिर तो उच्च पदवी का धारी हो जाता है उसी प्रकार यदि ब्रती बन जाए तो उच्च पदवी का धारी साधु या श्रावक असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करके अल्प समय में मुक्ति को प्राप्त कर के विशद सुख का भोगी बनता है।

॥इति सम्यक्त्व प्रकरण॥

सब ठाठ पड़ा रह जाएगा, जब लाद चलेगा....

एक वृद्धा राजा को जमीन का लगान नहीं चुका पायी, इससे राजा ने उसकी जमीन छीन ली। एक दिन बुढ़िया एक टोकरे में बहुत सी मिट्टी भरे हुये बैठी थी, उसी समय राजा वहाँ से निकल पड़ा। वृद्धा ने राजा से कहा— बेटा, मेरा यह टोकना उठवा देना। राजा ने कहा— यह टोकना तो बहुत वजनदार है, यह कैसे उठाया जा सकता है? तब वृद्धा बोली— जरा इतना सा टोकना नहीं उठा सकते, तो मरते समय मेरा खेत कैसे उठा के ले जाओगे? यह सुनकर राजा की आँखे खुल गई। उसने वृद्धा की जमीन वापस कर, उससे क्षमा याचना की।

पुजापयरण (पूजा प्रकरण)

पूजन करना क्यों आवश्यक है

जैन दर्शन में पंचपरमेष्ठियों की पूजा की जो परम्परा है, वह अनादि से है। पंचपरमेष्ठियों की पूजा व्यक्ति पूजा नहीं है, बल्कि पंच परमेष्ठियों के गुणों का स्तवन है। मानव स्वभाव है कि वह जिन गुणों का बार-बार मनन, चिंतन करता है, उससे वह उसी के अनुरूप अपने में उन गुणों को उतारता जाता है।

हम अपने घरों में प्रतिदिन देखते हैं कि बच्चे जिन फिल्मी अदाकारों के प्रशंसक होते हैं उनकी फिल्मों बार-बार देखते हैं तथा उनके जैसे वस्त्र, उनके जैसी बोली एवं उनके जैसे चलना आदि कार्य—

Y X Y

Y X Y
व्यवहार करने लगते हैं।

कार्य परमात्मा के गुणों का स्तवन पूजन करने से निजकारण परमात्म स्वभाव का पूजन स्तवन स्वमेव हो जाता है। अतः जब से आत्मा है, तभी से पंचपरमेष्ठी हैं और जब से पंचपरमेष्ठी हैं, तभी से उन जैसे गुणों को अपने में प्रकट करने हेतु उनके गुणों का स्तवन, मनन, पूजन किया जाता रहा है। प्रत्येक तीर्थंकर से लेकर केवलज्ञानी तक ने अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति हेतु निरंतर पंच परमेष्ठियों के गुणों का स्तवन, ध्यान कर आत्मस्वरूप की प्राप्ति की है। आत्मा अनादि से है, इसलिये जिन पूजन, स्तवन, ध्यान की परम्परा भी अनादि से है तथा अनंत काल तक रहेगी। भरत क्षेत्र में कर्म-भूमि के आदि में आदि-ब्रह्मा भगवान ऋषभ देव ने जिनबिम्ब, जिनालय पूजन-प्रतिष्ठा का प्रारंभ किया है। सर्वप्रथम अयोध्या में पाँच जिनालय स्थापित हुए। भरत चक्रवर्ती ने उसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए हिमालय पर 72 जिनालयों की स्थापना की थी।

मूर्ति पूजन क्यों?

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने-दिने॥ - आचार्य सोमदेव सूरी

अर्थ - गृहस्थों को देव पूजा गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट्कर्म नित्य करना चाहिए।

दिगम्बर ध्यानस्थ जिन प्रतिमा के दर्शन करने से मन के मलिन विचार दूर होते हैं। जिनेन्द्र प्रभु की मूर्ति के सम्मुख खड़े होकर निरंतर उनके गुणों का ध्यान, स्तवन, पूजन करने से आचार में निर्मलता आती है, शांति की प्राप्ति होती है तथा कषाय मंद होकर निर्मल चित्त की उपलब्धि होती है। मूर्ति एक पाषाण का टुकड़ा मात्र नहीं होता, बल्कि गुणों से भरपूर एक प्रेरणामयी पूर्ण अवलम्बन है, साधन है जो साध्य के साक्षात् दर्शन कराता है।

गरापहारिणी मुद्रा, गरुडस्य यथा तथा।

जिनस्याप्येनसो हंत्री, दुरिताराति पातिनः॥आचार सार॥

अर्थ - जिस प्रकार गरुड़-मुद्रा के दर्शन मात्र से सर्प विष का अपहरण होता है, उसी प्रकार जिन मुद्रा भी पापों का हरण करने वाली है अर्थात् जिन मुद्रा के दर्शन मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं।

वर्तमान में कितने ही मत ऐसे हैं, जो मूर्ति पूजन का निषेध करते हैं। वे मूर्ति पूजन का अभिप्राय समझे बिना, मूर्ति पूजकों को बुत परस्त अर्थात् पाषाण-पूजक ठहराते हैं। जैसा पहले वर्णन किये हैं कि मनुष्य जिनका प्रशंसक होता है। उनको बार-बार देखना चाहता है, उनके गुणों का बार-बार चिंतवन,

Y X Y

(176)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
ध्यान करता है तथा उसी अनुरूप अपना आचरण करने लगता है। यह समझने का विषय है कि मूर्ति अर्थात् स्थापना सत्य माने बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं चल सकते। प्रत्यक्ष ही देखें कि अक्षर जो लिखे जाते हैं, वे जिस पदार्थ के द्योतक याने मूर्ति स्वरूप हों, उसी पदार्थ का ज्ञान उन अक्षरों के देखने से होता है। और तदानुसार ही हर्ष विषाद होता है, जैसे गाली या निन्दा के द्योतक अक्षरों को पढ़कर अप्रसन्नता तथा प्रशंसा रूप अक्षरों को पढ़कर चित्त में प्रसन्नता होती है। सुन्दर, मनोहर, मनोज्ञ तस्वीर या मूर्ति देखकर मन प्रसन्न हो जाता है तथा कुरूप डरावनी तस्वीर, मूर्ति आदि देखने से मन में भय-ग्लानि उत्पन्न होती है। अतः जिनमूर्ति मात्र पाषाण का टुकड़ा नहीं, बल्कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने का साधन आलम्बन, उपकरण है।

अष्ट द्रव्य से पूजन क्यों?

गृहस्थ जीवन प्रायः अशुभ परिणामों की खान है। आर्त-रौद्र ध्यान एवं राग-द्वेष का निरंतर चिंतन, मनन मानव मस्तिष्क में चलता रहता है। मानव चित्त अति चंचल है। कहा भी है कि- 'पारे की बूंद को पकड़ पाना कदाचित् संभव हो सकता है, किन्तु मानव चित्त की चंचलता को पकड़ना असंभव सा है।' अतः परिणामों को स्थिर करना उसके लिए अति कठिन है। अष्ट द्रव्य के माध्यम से मन को स्थिर करने हेतु पूर्वाचार्यों ने 'द्रव्य सहित भाव पूजन' का उपदेश दिया है।

मन की चंचलता के बारे में कहा है-

मर्कटस्यसुरापानं, पश्चाद वृश्चिक दंशक।

तथाभूत बाधस्य यद्वातद्वा भविष्यति॥

जिस प्रकार बन्दर को शराब पिला दी जाए उसके बाद बिच्छू से कटा दिया जाय तथा एक भूत लग जाय फिर बन्दर की क्या स्थिति होगी कितना चंचल होगा इससे भी अधिक चंचल मन कहा गया है।

जिस प्रकार मूर्ति का अवलम्बन 'तद्गुण लब्धये' की सूक्ति अनुसार मूर्ति के स्वरूप के अनुरूप मन में परिवर्तन लाता है, उसी प्रकार द्रव्य-पूजा भी बाह्य ध्यान से चित्त हटाने के लिए गृहस्थों के लिए पावन उपकरण है, द्रव्य पूजा बाह्य चिन्ता-फिकर, बाह्य कार्यों से ध्यान हटाकर आत्म स्वरूप के दर्शन कराने हेतु साधन है। जैसे-जैसे मन में स्थिरता बढ़ती जाती है तथा बाह्य कार्यों से ध्यान हटता जाता है, वैसे वैसे साधनों का स्वरूप बदलता जाता है। अष्ट द्रव्य के स्थान पर शास्त्र अध्ययन (स्वाध्याय) करने का उपदेश दिया जाता है और अधिक एकाग्रता आ जाने पर जाप, ध्यान, मनन का उपदेश दिया जाता है। वास्तव में ये सभी द्रव्य पूजन के रूप हैं, जिनके माध्यम से भाव पूजन की उपलब्धि होती है।

Y X Y

Y X Y

दिगम्बर जैन मुनि चूंकि सभी परिग्रहों से रहित, राग-द्वेष से दूर रहते हैं, इसलिये वे निरंतर मनन, जाप, अध्ययन स्वाश्रित द्रव्य पूजा द्वारा आत्म चिंतन एवं भाव पूजा करते हैं। उन्हें परावलम्बित क्रियाओं की बजाय स्वावलम्बित द्रव्य क्रियाओं द्वारा पूजन करने का विधान बताया है, किन्तु किसी भी क्रिया का अवलम्बन कोई भी अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति करने हेतु ले सकता है। साध्य की प्राप्ति महत्वपूर्ण है, साधनों की महत्ता भी इसी कारण से है। पूर्वाचार्यों ने अनुभव के आधार पर पूजन हेतु मार्गदर्शन दिया है।

अष्ट द्रव्य चढ़ाने का उद्देश्य

यह संसारी प्राणी जिन वस्तुओं को भोगोपभोग के साधन मानता है, उनमें हेय बुद्धि और अपने आराध्य वीतराग देव के गुणों के प्रति उपादेय बुद्धि हो सके, इसलिये इन अष्ट द्रव्यों से पूजन का प्रयोजन है। जैन उपासना पद्धति में किसी देव को बाह्य द्रव्य चढ़ाकर भोग लगाकर उसी अर्पित द्रव्य को स्वयं देव प्रसाद मानकर ग्रहण नहीं किया जाता है, वरन् वे वस्तुएँ हमारे लिए हितकारी नहीं, यह मानकर छोड़ दिया जाता है। उनके माध्यम से आत्मा के गुणों को ग्रहण करने की प्रेरणा प्राप्त की जाती है। मंत्र पूर्वक चढ़ाए गए ये द्रव्य 'निर्माल्य' माने जाते हैं, किन्तु गंधोदक, शेष बचा चन्दन, शेषाक्षत, जिनचरण स्पर्शित पुष्पमाला, मंगल कलश के विवेकपूर्वक स्वयं के उपभोग करने में दोष नहीं माना गया है।

यथाहि गुरु पुत्राणं, माल्यं गुरुशिरोधृतम्।

मान्यमिव जिनेन्द्रांधि, स्पर्शान्माल्यादि भूषितम्॥ आदि पुराण पूर्व 42॥

अर्थ :- जिस तरह पवित्र कुल के बालकों को अपने बड़े जनों के मस्तक की पुष्पमाला मुकुट धारण करने योग्य है, उसी तरह भगवान के चरणों से स्पर्शित पुष्पमाल्य तथा चन्दनादि तुम्हें स्वीकार करने योग्य हैं।

तद्विलेपन गंधाबु, पुष्पाणि सा ददौ मुदा।

श्रीपालायंगर क्षेम्यः, पाणिभ्यां रुक्विहानये॥श्रीपाल चरित्र॥

अर्थ – उस मैना सुन्दरी ने कुष्ठ रोग से पीड़ित अपने पति श्रीपाल राजा तथा उनके सात सौ वीरों को, उनके रोग के निवारणार्थ चन्दन, अभिषेक का जल तथा पुष्प दिये।

सिद्धांत शास्त्रों में द्रव्य पूजा का विधान, निकास एवं विकास

Y X Y

अर्थ :- प्रातःकाल के समय जल, चंदन, अक्षत, फूलमाला, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्यों से भगवान जिनेन्द्र की, भाव सहित, पूजा करना चाहिए।

जिणपूजा मुणिदाणं, करेइ जो देई सत्तिरुवेण।

सम्माइट्ठी सावय, धम्मी सो होई मोक्खमगरओ॥र.सा.॥

अर्थ :- श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करता है और सुपात्र को चार प्रकार का दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है। दान देना तथा पूजा करना श्रावक का धर्म है। जो भक्ति भाव और श्रद्धापूर्वक अपने धर्म का पालन करता है, वह मोक्षमार्ग में गमन करता है तथा शीघ्र ही संसार समुद्र से पार हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव द्वारा रचित नंदीश्वर भक्ति, चैत्यभक्ति, निर्वाणभक्ति आदि में इन्द्रों द्वारा अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयों में जिनेन्द्र देव की पूजन विधि दी है और उसी के अनुरूप मनुष्यों को यथाशक्ति उत्तम पूजन सामग्री से पूजन करने का उपदेश दिया है।

संभवतः तिलोयपण्णत्ती में इसी आधार प्रकार अष्ट द्रव्य से श्रावकों को जिनेन्द्र देव की पूजा करने का विधान दिया है। वर्तमान समय में तिलोयपण्णत्ती के उल्लेख के आधार पर ही अष्ट द्रव्य से पूजा किये जाने की परम्परा का प्रारम्भ मालूम पड़ता है। यद्यपि पूजा की परम्परा अनादि काल से है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने नंदीश्वर भक्ति में इन्द्रों द्वारा जिनेन्द्र देव की पूजन, उनका क्रम व सामग्री का उल्लेख किया है, वह इस प्रकार है-

दिव्येण ण्हाणेण, दिव्येण गंधेण, दिव्येण अक्खेण, दिव्येण पुप्फेण, दिव्येण चुण्णेण,
दिव्येण दीवेण, दिव्येण ध्वेण, दिव्येण वासेण.....।

दिव्येण - 'दिविभवं दिव्यं' जो द्रव्य दिवि (स्वर्ग) में होवे अर्थात् देवोपनीत हो, कल्पवृक्षों से उत्पन्न हो।

दिव्य - 'दिव्' का दूसरा अर्थ - श्रेष्ठ, सुन्दर, भव्य, मनोहर।

इन्द्रगण जिन चैत्य – चैत्यालयों में देवोपुनीत, दिव्य स्नान, दिव्य गंध, दिव्य अक्षत, दिव्य पुष्प (फल), दिव्य नैवेद्य, दिव्य दीपक, दिव्य धूप, दिव्य फल, दिव्य वस्त्र, (चंदोबा-ध्वजा आदि) से

Y X Y
जिनेन्द्र प्रभु की पूजन अर्चना करते हैं।

श्रावक को तो कल्पवृक्षों से उत्पन्न दिव्य-वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो सकती हैं, फिर भी आचार्य परमेष्ठी ने पूजक को प्रासुक जल, मनोहर गंध अर्थात् चंदन केशर, कपूर आदि श्रेष्ठ अक्षत, मनोहर सुगन्धित फूल, उत्तम चूर्ण (अर्थात् नैवेद्य चूरमा, लड्डू वगैरह), उत्तम दीपक, सुगन्धित धूप तथा सुन्दर वस्त्र (ध्वजा चंदोबा का दान करना) से जिनेन्द्र देव की पूजन करना बताया है।

श्रावक देव की पूजा कर उनके गुणों के अनुरूप अपने जीवन को ढालने का मन ही मन विचार, मनन, प्रतिज्ञा करता रहता है तथा मोक्ष फल की प्राप्ति हेतु विभिन्न भावनाओं को भाते हुए उक्त क्रम से पूजन करता है। मनुष्य प्रभु की पूजन आत्मशांति एवं आत्म-उन्नति के उद्देश्य से करता है। यद्यपि आत्म-शुद्धि एवं सांसारिक राग-द्वेष से दूर हटकर प्रभु के पावन गुणों का स्मरण, स्तवन करने से अतिशय पुण्य का अर्जन करता है; लेकिन पूजक का पूजन करने का अंतिम लक्ष्य भगवान ही जैसे गुणों की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष सुख पाना होता है।

पूजा के भेद

जिनेन्द्र सिद्धान्त कोष से उद्धरित—

1. इज्या आदि की अपेक्षा

मु.पु./38/26 प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदाचनम्। चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च।26।

= पूजा चार प्रकार की है— सदाचन (नित्यमह), चतुर्मुख (सर्वतोभद्र), कल्पद्रुम और अष्टाह्निक। (ध.8/3,42/92/4) (इसके अतिरिक्त एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है तथा, और भी जो पूजा के प्रकार हैं, वे इन्हीं भेदों में अन्तर्भूत हैं।) (म.पु./38/32-33); (चा.सा./43/1); (सा.ध./1/18;2/25-29)

2. निक्षेपों की अपेक्षा

वसु. श्रा./381 णाम-द्रवणा-दव्वे-खित्ते काले वियाणाभावे य। छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिदेहिं।381।

= नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा संक्षेप से छह प्रकार की पूजा जिनेन्द्रदेव ने कही है। 381। (गुण.श्रा./212)।

3. द्रव्य व भाव की अपेक्षा

भ.आ./वि/47/159/20 पूजा द्विपकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति।

Y X Y

(180)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
= पूजा के द्रव्य पूजा और भाव पूजा ऐसे दो भेद हैं।

इज्या आदि पाँच भेदों के लक्षण

मु.पु./38/26-33 तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनग्रहं प्रति। स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ।27। चैतय चैतयालयादीनां भक्त्यां निर्माणं च यत्। शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ।28। या च पूजा मुनीन्द्राणा नित्यदानानुषङ्गिणी। स च नित्यमहो ज्ञेया यथाशक्त्युपकल्पितः।29। महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामहः। चतुर्मुखः। स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि।30। दत्त्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते। कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः।31। आष्टाह्निको महः सर्वाजनिको रूढ एव सः। महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः।32। बलिस्नपनमित्यन्यः त्रिसन्ध्यासेवया समम्। उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम्।33।

=प्रतिदिन अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनालय में श्री जिनेन्द्र देव की पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है।27। अथवा भक्ति पूर्वक अर्हन्त देव की प्रतिमा और मन्दिर का निर्माण कराना तथा दान पत्र लिखकर ग्राम, खेत आदि का दान भी देना सदार्चन कहलाता है।28। इसके सिवाय अपनी शक्ति के अनुसार नित्यदान देते हुए महामुनियों की जो पूजा की जाती है, उसे भी नित्यमय समझना चाहिए।29। महामुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है, उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिए। इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है।30। जो चक्रवर्तियों के द्वारा किमिच्छक दान देकर किया जाता है और जिसमें जगत् के सर्व जीवों की आशाएँ पूर्ण की जाती हैं, वह कल्पद्रुमनाम का यज्ञ कहलाता है।31। चौथा आष्टाह्निक यज्ञ है जिसे सब लोग करते हैं और जो जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके सिवा एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करते हैं। (चा.सा/43/2); (सा.ध./2/25-29)। बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, अष्ट द्रव्य में से किसी भी द्रव्य को चढ़ाना तीन सन्ध्याओं में उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजा के प्रकार हैं वे उन्हीं भेदों में अन्तर्भूत हैं।32-33।

नाम, स्थापनादि पूजाओं के लक्षण

1. नाम पूजा

वसु. श्रा./382 उच्चरिऊण णामं अरुहाईणंविमुद्धदेसम्मि। पुप्फाणि जं खिविज्जंति वणिणया णामपूया सा।382।

= अरहन्तादिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं, वह नाम पूजा जानना चाहिए।382। (गुण.श्रा./213)

2. स्थापना पूजा

Y X Y

Y X Y
 वसु. श्रा. /383-384 सम्भावासम्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता। सायारवंतवत्थुम्मि जं
 गुणारोवणं पढमा।383। अक्खय-वराडओ वा अमुगो एसो त्ति णियबुद्धीए। संकप्पिण वयणं एसा
 विड्या असम्भावा।384।

= जिन भगवान् ने सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना यह दो प्रकार की स्थापना पूजा कही है। आकारवान् वस्तु में अरहन्तादि के गुणों का जो आरोपण करना, सो यह पहली सद्भाव स्थापना पूजा है और अक्षत, बराटक (कौड़ी या कमलगट्टा) आदि में अपनी बुद्धि से यह अमुक देवता है, ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भाव स्थापना पूजा जानना चाहिए।383-384। (गुण. श्रा. 214/215)

3. द्रव्य पूजा

भ.आ./वि./47/159/21 गन्ध पुष्प धूपाक्षतादि दानं अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा।
 अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरण-प्रणमनादिका-कायक्रिया च। वाचा गुणसंस्तवनं च।

= अर्हदादिकों के उद्देश्य से गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है तथा उठ करके खड़े होना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरह शरीर क्रिया करना, वचनों से अर्हदादिक के गुणों को स्तवन करना, यह भी द्रव्य-पूजा है॥अ.ग.श्रा./12/12॥

वसु श्रा. /448-451 दव्वेण य दव्वस्स यजा पूजा जाण दव्वपूजा सा। दव्वेण गंध -
 सलिलाइपुव्वभणिएसां कायव्वा।448। तिविहा दव्वे पूजा सच्चित्ताचित्तमिस्सभेएण।
 पच्चक्खचजिणाईणं सचित्तपूजा जहाजोगं।449। तेसिं स सरीराणं दव्वसुदस्सवि अचित्तपूजा सा। जा
 पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा।450। अहवा आगम-णोआगमाइभेएण बहुविहं दव्वं। णारुण
 दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमगेण।451।

= जलादि द्रव्य से प्रतिमादि द्रव्य की जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्यपूजा जानना चाहिए। वह द्रव्य से अर्थात् जल गन्धादि पूर्व में कहे गये पदार्थ समूह से करना चाहिए।448। (अ.ग.श्रा./12/13)
 द्रव्यपूजा, सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदि का यथायोग्य पूजन करना सो सचित्त पूजा है। उनके अर्थात् जिन तीर्थकर आदि के शरीर की और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदि पर लिपि बद्ध शास्त्र की जो पूजा की जाती है, वह अचित्तपूजा है और जो दोनों की पूजा की जाती है, वह मिश्रपूजा जानना चाहिए।449-450। अथवा आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदि के भेद से अनेक प्रकार के द्रव्य निक्षेप को जानकर शास्त्र प्रतिपादि मार्ग से द्रव्यपूजा करना चाहिए। 451। (गुण.श्रा./219-221)।

Y X Y

(182)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

4. क्षेत्रपूजा

वसु.श्रा./452 जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु। णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा।

= जिन भगवान की जन्म कल्याणक भूमि, निष्क्रमण कल्याणक भूमि, केवलज्ञानोत्पत्तिस्थान, तीर्थ चिह्न स्थान और निषधिका अर्थात् निर्वाण भूमियों में पूर्वोक्त प्रकार से पूजा करना चाहिए, यह क्षेत्रपूजा कहलाती है।452। (गुण.श्रा.222)।

5. कालपूजा

वसु. रा. 2453-455 गव्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खण णाणणिव्वाण। जम्हि दिणे संजादं जिणहवणं तण्णि कुज्जा।453। णंदीसरद्वदिवसेसु वहा अण्णेसु उच्चियपव्वेसु। जं कीरइ जिणमहिमा विण्णेया कालपूजा सा।455।

= जिस दिन तीर्थकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए हैं, उस दिन भगवान का अभिषेक करें तथा इस प्रकार नन्दीश्वर पर्व के आठ दिनों में तथा अन्य भी उचित पर्वों में जो जिन महिमा की जाती है, वह कालपूजा जानना चाहिए।455। (गुण.श्रा./223/224)

6. भावपूजा

भ.आ./वि./47/159/22 भाव पूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणं।

= मन से उनके (अर्हन्तादिके) गुणों का चिन्तन करना भावपूजा है। (अ.ग.श्रा./12/14)। यद्यपि वचनों के द्वारा उच्चारण करना द्रव्य पूजा ही होती है।

वसु.श्रा./456/458 काऊणाणंतचउट्टयाइ गुणकित्तणं जिणाईणं जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु।456। पंचणमोक्कारयएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए। अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि।457। जं झाइज्जइ झाणं भावमहं तं विणिदिट्ठं।458।

= परम भक्ति के साथ जिनेन्द्र भगवान् के अनन्त चतुष्ट आदि गुणों का कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है, उसे निश्चय से भावपूजा जानना चाहिए।456। अथवा पंच णमोकार पदों के द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार जाप करें। अथवा जिनेन्द्र के स्तोत्र अर्थात् गुणगान को भावपूजन जानना चाहिए।457। और जो चार प्रकार का ध्यान किया जाता है, वह भी भाव पूजा है।458।

Y X Y

Y X Y

निश्चय पूजा क लक्षण

स.श./मू/31 यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः। अहमेव मयोपास्यो नाम्यः कश्चिदितिस्थितिः।31।

= जो परमात्मा है, वह ही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है; इसलिये मैं ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने योग्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं, इस प्रकार की आराध्य-आराधक भाव की व्यवस्था है।

प.प्र./मू.1/123 मणु मिलियउ परमेसर हैं परमेसरु वि मणस्स। वीहि वि समरसि-हूबाहं पुज्ज चडावउं कस्स।

= विकल्प-रूप मन भगवान् आत्माराम से मिल गया और परमेश्वर भी मन से मिल गया तो दोनों ही को समरस होने पर किसकी अब मैं पूजा करूँ अर्थात् निश्चयनयकर अब किसी को पूजना सामग्री चढ़ाना नहीं रहा।123।

परमेष्ठी-पाँचों परमेष्ठी आत्मा में ही स्थित हैं, अतः वही मुझे शरण हैं। यह पूजा शुद्धोपयोगी मुनियों को होती है।

पूजा सामान्य निर्देश व उसका महत्व

1. पूजा करना श्रावक का नित्य कर्तव्य है-

वसु.श्रा./478 एसा छव्विहा पूजा णिच्चं धम्माणुरायत्तेहिं। जह जोग्गं कायव्वा सव्वेहिं पि देसविरएहिं।478।

= इस प्रकार यह छह प्रकार (नाम, स्थापनादि) की पूजा धर्मानुरागरक्त सर्व देशव्रती श्रावकों को यथा योग्य नित्य ही करना चाहिए।478।

पं. वि/6/15-16 ये जिनेन्द्र न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न। निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्।15। प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्। भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः।16।

= जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान् का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न ही स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है तथा उनके गृहस्थ को धिक्कार है।15। श्रावकों को प्रातःकाल में उठ करके भक्ति से जिनेन्द्र देव तथा निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन और उनकी वन्दना करके धर्म श्रवण करना चाहिए। तत्पश्चात् अन्य कार्यों को करना चाहिए।

Y X Y

Y X Y

श्रावक धर्म छह काय के जीवों की विराधना का कारण नहीं

कषाय पाहुड़ – टीका जयधवला में शंका-समाधान पूर्वक इसी बात को कहा है-

शंका – कोई शंका करता है कि “चौबीसों तीर्थकर सदोष हैं क्योंकि उन्होंने छह काय के जीवों की विराधना के कारण भूत ऐसे श्रावक धर्म का उपदेश दिया है। तीर्थकरों ने दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म बताए हैं और ये चारों ही प्रकार का श्रावक धर्म छहकाय के जीवों की विराधना का कारण है। भोजन का पकाना, दूसरों से पकवाना, अग्नि का सुलगाना, अग्नि सुलगवाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का खूतना और खूतवाना आदि व्यापारों से होने वाली जीव विराधना के बिना आहारदान नहीं बन सकता है। उसी प्रकार वृक्ष का काटना-कटवाना, ईंट का गिराना-गिरवाना, उनको पकाना-पकवाना, नींव को खोदना-खुदवाना आदि छहकाय के जीवों की विराधना के कारण भूत व्यापार के बिना जिन मंदिर का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, समार्जन करना, चंदन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप जलाना आदि जीव वध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता है।”

समाधान – आचार्य उपर्युक्त शंकाओं का परिहार / समाधान देते हैं-

जिनदेव के तेरहवें गुणस्थान में कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय का अभाव हो जाने से वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों का बंध नहीं होता है। वेदनीय कर्म का बंध होते हुए भी उसमें स्थिति बंध और अनुभाग बन्ध नहीं होता है, क्योंकि वहां पर स्थिति बंध और अनुभाग बंध के कारण-भूत कषाय का अभाव है।

तेरहवें गुणस्थान में योग है, इसलिये वहाँ पर प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध के अस्तित्व का भी कथन नहीं किया जा सकता है क्योंकि स्थिति बंध के बिना उदय रूप से आने वाले निषेकों में उपचार से बंध के व्यवहार का कथन किया गया है। जिनदेव देशव्रती श्रावकों के और सकलव्रती मुनियों के धर्म का उपदेश करते हैं। इसलिये उनके अर्जित कर्मों का संचय बना रहता है, सो भी बात नहीं है क्योंकि उनके जिन नवीन कर्मों का बंध होता है। जो कि उदय रूप ही है उनसे भी प्रति समय घटिका यंत्र जन के समान असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है। तब उनके कर्मों का संचय कैसे संभव है? और तीर्थकर के मन, वचन तथा काय की प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होती हैं, इसलिये नवीन कर्म बंध नहीं होता है।

“जीवों में पापाम्रव के द्वार अनादिकाल से खुले हुए हैं, उनके खुले रहते हुए जो जीव शुभाम्रव के द्वार खोलता है अर्थात् शुभाम्रव के कारण भूत कार्यों को करता है, वह सदोष कैसे हो सकता है।”
(जयधवला पुस्तक 1 पृष्ठ 106)

Y X Y

Y X Y

अष्ट द्रव्य पूजा हिंसा नहीं

पूजाभिषेके प्रतिमासु प्राप्त, जिनालये कर्मणि देव कार्ये।

सावद्य रूपं तु वदन्ति लोके, येऽपि जनाश्च ते स्वपर घाति दर्शन?

अर्थ – जो लोग प्रतिमाओं के पूजन में, अभिषेक में, जिनालय के निर्माण में, प्रतिमाओं के निर्माण में या अन्य जिनदेव के कार्यों में सावद्य (हिंसा युक्त) कहते हैं, वे मनुष्य अपने एवं दूसरों के सम्यग्दर्शन के घातक हैं।

पूजा च विधि मानेन, सावद्यं सिन्धु मुष्टिवत्।

यथा न शक्यते दूष्यं, तथा पुण्यं न दूष्यते।

अर्थ - जिस प्रकार मुट्ठी भर विष अपार सिन्धु के जल को दूषित नहीं कर सकता है, उसी प्रकार पूजा विधान से प्राप्त होने वाले अपार पुण्य को अल्प सावद्य भी दूषित नहीं कर सकता है।

यह बात सत्य है कि द्रव्य पूजन में कुछ सावधता (आरम्भ आदि दोष) रहती ही है जैसे जल छानना प्रासुक करना, द्रव्य धोना, दीप जलाना, धूप खेना इत्यादि। फिर भी श्रावक का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक क्रिया में “पूर्ण विवेक एवं बड़ी सावधानी” रखकर हर कार्य कुशलता से करें एवं अपना उपयोग जिन पूजन में लगावें तो आरम्भादि में हुई थोड़ी सी हिंसा (भावपूर्वक नहीं अनिच्छा से) भी महान पुण्य राशि को प्रदान करती है।

गृहस्थ जीवन में किये जा रहे आरम्भ से होने वाली हिंसा के समुद्र के सामने पूजादि कार्यों में होने वाला अल्प दोष जल बिन्दु के समान है, लेकिन उससे प्राप्त होने वाला पुण्य परम्परा से मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

गृहस्थ प्रतिक्षण राग-द्वेष मोह के वशीभूत चिंतन, मनन, कार्यों द्वारा अनेकों हिंसात्मक कार्यों में संलग्न हैं, उन हिंसात्मक प्रवृत्तियों से निकालने के लिए पूर्वाचार्यों ने मन्दिर निर्माण, जिन पूजन का उपदेश किया है। जिन पूजन का उद्देश्य हिंसा करना नहीं बल्कि अहिंसात्मक जीवन में प्रवेश करने का हेतु है। आचार्यों ने गृहस्थों को अष्ट द्रव्य-पूजा का उपदेश दिया है तथा दिगम्बर जैन मुनि को स्वावलम्बी वाचनिक, कार्यात्मक द्रव्य पूजा एवं मानसिक भाव पूजा करना बताया है।

भाव पूजा चित्त की निर्मलता की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में ही संभव होती है। चूंकि दिगम्बर जैन मुनि सभी प्रकार के परिग्रहों मोह, कषायों, राग-द्वेष को पहले ही छोड़कर निर्विकार अवस्था में अवस्थित रहते हैं, इसलिये उन्हें प्रभु के गुणों का चिंतवन, ध्यान करने हेतु अष्ट द्रव्य रूप पूजा के आवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती है। गृहस्थ का मन अति विकारों सहित है, मानव चित्त में अनेकों कूटान,

Y X Y

Y X Y
कुकार्य-कलाप निरंतर चलते रहते हैं, उनसे ध्यान हटाकर सुध्यान में लगाने हेतु पूर्वाचार्यों ने उन्हें अष्ट से द्रव्य पूजा करने का उपदेश/निर्देश दिया है।

पश्यन्ति जिन भक्त्या, पूज्यन्ति स्तुवन्ति ये।

ते दूष्याश्च पूज्याश्च, स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥ पद्मनन्दी पञ्चविंसतिका॥

अर्थ – जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान की भक्ति –पूजा-स्तुति करते हैं, वे लोक में दर्शनीय, पूजनीय और स्तवनीय हो जाते हैं।

दाणं ण दिण्णउ मुनि, वरहं ण वि पुज्जइ जिण णाहु।

पञ्च ण वंदियं परम गुरु, किम् हो सह सविलाहु॥ प्रदीप प्रकाश॥

अर्थ – जिन्होंने मुनियों को दान नहीं दिया, जिनेन्द्र पूजन नहीं की, पञ्च परमेष्ठियों की वंदना नहीं की, उन्हें मुक्ति लाभ कैसे मिल सकता है अर्थात् कदापि नहीं।

तपस्वि गुरुचैत्यानां, पूजालोप प्रवर्तनम्।

अनाथदीनं कृपणं, भिक्षादि प्रतिषेधनम्॥ तत्त्वार्थ सार 4/55॥

अर्थ – आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र ने कहा है कि तपस्वी, गुरु और प्रतिमाओं की पूजा करने की प्रवृत्ति का लोप करना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्यों को भिक्षा आदि देने का निषेध करना, ये सब अंतराय कर्म पापाम्रव के कारक हैं।

देवाधिदेव चरणे, परिचरणं सर्व दुःख निर्हरणं।

कामदुहि कामदाहनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥ अ. समन्तभद्र स्वामी॥

अर्थ – जिनेन्द्र देव के चरणों की पूजा सर्व दुःख का नाश करने वाली और काम के संताप को दूर कर इच्छित फल देने वाली है। अतः आदर सहित प्रतिदिन पूजा करना चाहिए।

पूजन का फल कब मिलता है

जिनेन्द्र देव की पूजा से पूजक को निश्चित ही पुण्य का अर्जन होकर इष्ट सिद्धि होती है। पूजक को तत्क्षण ही इष्ट सिद्धि हो जावे तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पूजा से होने वाले पुण्य प्रकृति का विशेष बन्ध का जघन्य अबाधा काल अन्तर्मुहूर्त है। इसलिये अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् पुण्य रूप फल मिल सकता है। इसके प्रमाण नित्य जीवन में देखने को मिल जाते हैं तथा प्रथमानुयोग में भी दृष्टव्य हैं।

सीता, सोमा, सुदर्शन, श्रीपाल, धनंजय आदि को जिनेन्द्र पूजा का फल अन्तर्मुहूर्त बाद ही मिल गया था। अग्नि से जल, नाग से हार, शूली से सिंहासन, कुष्ट से कंचन काया, विष से निर्विष पुत्र, ऐसे

Y X Y
 प्रयोजन की सिद्धि स्वमेव होती है। यद्यपि पूजक इस प्रकार के प्रयोजन का अर्थी नहीं होता है। पूजन तो भव के अभाव अर्थात् सर्वोत्कृष्ट सुख मोक्ष प्राप्ति के लिए की जाती है। अतः पूजन से अलौकिक प्रयोजन के साथ-साथ अलौकिक प्रयोजनों की सिद्धि भी होती है।

अतः श्रावक को मन में निर्मलता लाने हेतु पावन भाव से नित्य ही पूजन, स्वाध्याय, जाप, ध्यान आदि क्रियाएँ करनी चाहिए, जिससे अशुभ कर्मों की निर्जरा एवं सातिशय पुण्य की प्राप्ति होती है और यह पुण्य आगे मन को स्थिर कर मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। पूजन आदि किसी भी शुभ क्रिया से लोगों को भ्रमित कर हटाने का उपदेश या प्रयत्न करना अशुभ योग है तथा ऐसा कृत्य नियम से दुख प्रदान करने वाले पाप का संग्राहक है, इसलिये ऐसे कृत्यों से बचना चाहिए।

पंचामृत अभिषेक और पूजा : एक वैज्ञानिक छानबीन

अभिषेक, पूजा या मन्त्रोच्चार से 'ऋण आयन' (निगेटिव आयन) में वृद्धि होती है। ऋण आयन का आवेश ऑक्सीजन को हीमोग्लोबिन से मिलाने में सहायक होता है। हीमोग्लोबिन मानव रुधिर का वह तत्व है, जिसमें ऑक्सीजन प्रविष्ट होकर शरीर के हर भाग में पहुँचती है।

विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्सटाइन के अनुसार 'विज्ञान' धर्म के बिना पंगु और 'धर्म' विज्ञान के बिना अन्धा है। सौभाग्य से जैन धर्म के अनेक सिद्धान्त भी विज्ञान की कसौटी पर कसे गये हैं और सदैव खरे उतरे हैं। प्रसिद्ध विधिवेत्ता श्री नानी पालखीवाला के शब्दों में – 'वर्तमान आध्यात्मिक अशिक्षा एवं चिन्तन की गरीबी के वातावरण में, जब मनुष्य पाता है कि धन-दौलत दौड़-धूप आदि के बाद बढ़ तो जाती है, परन्तु उससे मिलता कुछ भी नहीं है भौतिक उन्नति आध्यात्मिक उन्नति नहीं है ऐसे में तो हमारी प्राचीन संस्कृति और पुराने सूत्र ही रामबाण सिद्ध होते हैं।' श्री पालखीवाला ने आगे कहा है – 'आध्यात्मिक उन्नति मनुष्य का नैतिक दायित्व है। भारत ने आध्यात्मिक उन्नति के विज्ञान एवं तकनीक में अद्वितीय महारथ प्राप्त किया है।'

श्री पालखीवाला के इन विचारों के साथ ही हम देखते हैं कि आज का युवा जो विज्ञान एवं विलासिता के भौतिक वातावरण में बड़ा हुआ है अन्धानुकरण न करके यथार्थ को जानने मानने पर उतारु है। हर बात में वह प्रश्न एवं तर्क करता है। यहाँ युवा से मेरा अभिप्राय उस पूरे वर्ग से है, जो स्वयं को नयी पीढ़ी कहता है। इस समूह ने समय समय पर कई सार्थक प्रश्न उठाये हैं; जैसे –

- (1) पूजा क्यों?
- (2) अभिषेक क्यों?
- (3) पूजा मन्दिर में ही क्यों? घर में क्यों नहीं?

(4) मन्दिरों के विशाल होने पर मूल गंभारे (गर्भगृह) इतने छोटे क्यों?

(6) मूल गंधारे मे अंधेरा क्यों बनाये रखा जाता है?

गर्भगृह का महत्व

पंचामृत अभिषेक

पदार्थ	पीएच वैल्यू
जल	5.0
दूध	6.0

Y X Y

(190)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

चन्दन जल 5.5

दही 4.0

जिन पदार्थों में 'पी एच वेल्यू' ज्यादा है उस का अर्थ यह हुआ कि उन पदार्थों में 'ऋण-आयनो' (निगेटिव आयन्स) की अधिकता है।

क्या मूल गंधारा 'ऋण आयनो' का भण्डार है?

यह सिद्ध करने के लिए मूल गंधारे में ऋण आयनों की अधिकता होती है, आसवन विधि (कंडेन्सर मेथड) प्रयोग में ली जाती है। इस विधि के द्वारा शोध-छात्राओं ने यह सिद्ध किया है कि मूल गंधारा ऊर्जा का अनवरत स्रोत होता है। इन शोध-छात्राओं ने एक मूर्ति की अभिषेक के पहले एवं अभिषेक के बाद में, विद्युत प्रतिरोधकता (रेजिस्टेंस) एवं विद्युत चालक क्षमता (कंडेसिटी) मापी। उन्हें लगा कि अभिषेक के पहले प्रतिरोध अधिक होता है और अभिषेक के बाद प्रतिरोध कम हो जाता है एवं चालकता बढ़ जाती है। मूर्ति की विद्युत चालकता में अभिषेक के किस पदार्थ से कितनी वृद्धि होती है, यह शोध-छात्राओं के अनुसार इस प्रकार है:-

जल	0.0028	2.8
दूध	0.200	20
दही	0.700	70
चन्दन	0.250	15
कपूर	0.007	0.7
अभिषेक से पहले मूर्ति	0.001	0.1

उपरोक्त पदार्थों द्वारा अभिषेक होते ही मूर्ति में विद्युत चालकता बढ़ती है एवं संपूर्ण गंधारा ऊर्जा से भर जाता है।

गंधारे को विद्युतमय करने का महत्व -

अभिषेक, पूजा, या मन्त्रोच्चार से 'ऋण-आयन' (निगेटिव आयन) में वृद्धि होती है। 'निगेटिव आयन' का आवेश प्राणदायक वायु (ऑक्सीजन) को हीमोग्लोबिन से मिलाने में सहायक होता है। हीमोग्लोबिन मानव-रुधिर का वह तत्त्व है, जिसमें ऑक्सीजन घुलकर शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचती है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि जहाँ 'ऋण आयन' नहीं होते हैं, वहाँ मृत्यु तक हो सकती है। 'ऋण

Y X Y

जैसे ही मूल गंभारे के बाहर मन्त्रोच्चार किया जाता है, मूल गंभारे में उपस्थित हवा में अधिकतम ऊर्जा के साथ कम्पन शुरू हो जाता है, मन्त्रोच्चार के पश्चात् आरती, चँवर इत्यादि का प्रयोग होता है। आरती, चँवर इत्यादि से गर्भगृह की हवा, जो ऊर्जा से आवेशित होती है, प्रार्थना करने वालों की तरफ आती है, जिससे श्वास लेने से ऑक्सीजन को हीमोग्लोबिन में प्रविष्ट होने में मदद मिलती है।

(1) गर्भगृह आयतन-अनुनादक (वॉल्यूम रीजोनेटर) हैं अतः ॐ नाद की उत्पत्ति में सहायक हैं।

(3) गर्भगृह की हवा, ऊर्जा के स्थानान्तरण (ट्रान्सफर ऑफ एनर्जी) में माध्यम का कार्य करती है।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि हमारे पूर्वजों द्वारा निरूपित/निर्धारित विधि-विधान बहुत गहरा

(192)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
अर्थ रखते हैं। हमारी संस्कृति न केवल वैज्ञानिक सिद्धान्तों की जन्मदात्री है, बल्कि आत्मोन्नति की

अ

प

व

सीढ़ी भी है। रुसी वैज्ञानिक कामेनिएव एवं अमरीकी वैज्ञानिक डॉ. रुडाल्फ किर ने बहुत से प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि मन्त्र में अपूर्व शक्ति है। एक रुसी वैज्ञानिक सेम्योनोव-डी-किरलियान ने ऐसी आई फ्रीक्वेन्सी फोटोग्राफी विकसित की है, जिससे यह सिद्ध होता है कि मन्दिर की माला एवं घर की माला में अत्याधिक फर्क होता है। 'किरलियान फोटोग्राफी' जो इन दिनों शोध-कार्य में सर्वत्र प्रयुक्त है, 'किरलियान एफेक्ट' बताने में सहायक सिद्ध हो रही है। अगर, किसी के हाथ का चित्र 'किरलियान फोटोग्राफी' से लिया जाए तो न सिर्फ साथ का फोटो भी आयेगा, साथ ही साथ वे हाथ के आस-पास जो किरणें हैं, उनका भी चित्र आयेगा। किरलियान का कहना है कि बीमारी के आने के छह महीने पहले ही बता दिया जा सकेगा कि आदमी बीमार होने वाला है। इस प्रकार मन्त्र पूजा आराधना हृदय परिवर्तन की संपूर्ण प्रक्रिया है।

भारतीय संस्कृति आज के विश्व में शान्ति प्रदान करने वाली संस्कृति है और इसलिये महर्षि अरविन्द को कहना पड़ा कि 'भारत भूमि केवल जमीन का टुकड़ा नहीं है, वह एक अपूर्व आत्मिक शक्ति का केन्द्र है।'

मन्दिर, पूजा, मन्त्रोच्चार सभी आध्यात्मिक शान्ति एवं आत्मोत्थिति के अपूर्व स्रोत हैं। अन्धानुकरण न कर यदि हम इन साधनों के गूढ़ रहस्यों को समझने की कोशिश करें तो शायद प्रभु परमेश्वर के इस विराट् प्रेम भरे जगत् से बहुत कुछ पाया जा सकता है, एवं जीवन को अलौकिक बनाया जा सकता है।

प्रस्तुति: बी.टी. बजावत

अर्हत देव की पूजा स्पष्ट रूप से पुण्य का कारण

पुण्यस्स कारणं फुडु, पढमं ता होइ देवपूजा य।

कायव्वा भत्तीए, सावयवगणे परमाए॥92॥

श्री जिनवर की पूजा श्रावक, को निश्चय से पुण्य निधान।

अतः श्रावको परम भक्ति से, जिन पूजा या करो विधान॥92॥

अन्वयार्थ :- (य) तथा (देव पूजा) अर्हत देव की पूजा श्रावकों के लिए (फुडु) स्पष्ट रूप से

Y X Y

Y X Y
 (पुण्यस्य पदमं कारणं) पुण्य का प्रथम कारण होती है, (तो) इसलिये (सावयवगणेन) श्रावकों के समूह द्वारा (परमाए) परम (भक्तीए) भक्ति से (कायव्वा) करना चाहिए।

अर्थ :- अर्हंत / जिनेन्द्र देव की पूजा श्रावकों के लिए स्पष्ट रूप से पुण्य का प्रथम कारण होती है, इसलिये श्रावकों को परम भक्ति से देव पूजा करना चाहिए।

भावार्थ :- वासुपूज्य भगवान की स्तुति करते हुए श्री समंतभद्राचार्य स्वामी ने कहा है-

न पूज्यार्थस्त्वयिवीतरागे, न निंदया नाथ! विवांतवैरे।

तथापि पे पुण्य गुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरितांजनेभ्यः॥

बृहत्स्वयंभू स्तोत्र से उद्धरित उक्त पद्य में व्यक्त किया गया है कि हे भगवन्! आपको हमारी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि आप वीतरागी हैं और न आपको निंदा से कोई प्रयोजन है, क्योंकि आपने बैर भाव को समूल नष्ट कर दिया है। फिर भी हम श्रद्धा भक्ति पूर्वक जो भी आपके गुणों का स्मरण करते हैं वह इसलिये कि ऐसा करने से हमारा पाप वासनाओं और मोह व राग-द्वेष आदि भावों से मलिन मन तत्काल पवित्र हो जाता है। जिससे हमारा मुक्ति पथ प्रशस्त होता है।

विशेष :- इस पूजा प्रकरण अधिकार में आर्ष रीति से अर्हन्त देव आदि की पूजा का वर्णन किया गया है। पंथवाद का चश्मा उतार कर विचार पूर्वक देखें तो जहाँ तक जिसमें मिथ्यात्व न हो, वहाँ तक समन्वय करना चाहिए।

कुछ लोग इतिहास से अपरिचित पंचामृत अभिषेक को काष्ठा संघ की देन कहते हैं, कुछ पण्डितगण कहते हैं कि ब्राह्मण भट्टारकों ने अजैनों से यह अभिषेक क्रिया ली है। जबकि षट्खंडागम की महाटीका धवला आदि सिद्धान्त शास्त्रों का स्वाध्याय से अज्ञानतम दूर हो जाता है।

पंचामृत अभिषेक जैन सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल एवं शास्त्र सम्मत है।

अभिषेकं जिनेन्द्राणां, कृत्वा सुरभि-वारिणा।

अभिषेक-मवाप्नोति, यत्र यत्रोपजायते॥

अभिषेकं जिनेन्द्राणां, विधाय क्षीर-धारया।

विमाने क्षीर-धवले, जायते परम-द्युतिः॥

दुधिकुम्भैः जिनेन्द्राणां, यः करोत्पभिषेचनं।

कांति द्युति प्रभावाद्भ्यो, विमानेशः स जायते॥

अभिषेक-प्रभावेण, श्रूयन्ते बहवो बुधाः।

(194)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
पुराणेऽनंत वीर्याद्या, घू भू लब्धाभिषेचना॥पद्मपुराण पर्व 32॥

पद्मपुराण की उक्त गाथाओं का अर्थ पं. दौलतराम जी ने निम्नरूप में किया है। पं. दौलतराम जी तेरह पंथ शैली के एक आदरणीय विद्वान माने जाते हैं।

जो सुगन्धित नीरादि से जिनेन्द्र का अभिषेक करें हैं, सो देवोंकर मनुष्यों कर सेवनीक चक्रवर्ती होय, जिसका राज्याभिषेक देव विद्याधर करें हैं।

जो दुग्धकर अरिहंत का अभिषेक करें हैं, सो क्षीरसागर के जल समान उज्ज्वल विमान विषैं परम कांति का धारक देव होय, फिर मनुष्य होय और मोक्ष पावे।

जो दधिकर सर्वज्ञ वीतराग का अभिषेक करें हैं, सो दधि समान उज्ज्वल यश को पाय कर भवोदधि तो तरैं हैं।

जो ईखकर (गन्ना आदि वृक्ष रसों से) जिननाथ का अभिषेक करें हैं सो अमृत का आहारी सुरेश्वर होय, नरेश्वर पद पाय, मुनिश्वर होय अविनश्वर पद पावे।

रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण के वन को जाने के अनन्तर भरत को राज्याभिषेक हुआ तो भी अपने भाई रामचन्द्र के वियोग के कारण भरत के मन में बहुत उदासीनता छाई हुई थी। तब एक द्युति नाम के आचार्य ने भरत को गृहस्थ धर्म का विस्तृत उपदेश देते हुए कहा—

घृत क्षीरादिभिः पूर्णा कलशाः कमलाननः।

मुक्ता दाभादि संत्कंठा रत्नराशि विराजिता॥

जिनबिंबाभिषेककार्य माहूता भक्ति भासुरा।

दृश्यन्ते भोगीगेहेषु शतशोऽय सहस्रशः॥पद्मपुराण पर्व 68॥

लंका में स्थित शांतिनाथ चैत्यालय में भक्तिमान लंका के लोग दुग्ध, दधि आदि से भरे हुये कलश, जिनके कि कंठ भाग मोतियों की माला से सुशोभित हो रहे हैं, जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के लिए ले आये।

जिनेन्द्र देव का पंचामृताभिषेक करें

फासुयजलेण ण्हाइय, णिवसिय सुइवच्छगंपितं ठाणं।

इरियावहि पंच सोहिय, उववेसिय पडिमासणेण॥93॥

उच्चारिऊण मंतं, अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स।

णीर घय खीर दहियं, खिवेउ अणुकमेण जिणसीसे॥94॥

Y X Y

Y X Y

न्हवन करें प्रासुक जल लेकर, वस्त्रग्रहण कर शुभ स्थान।

पंच शुद्धि ईयापथआदिक, बैठ के या पद्मासन वान॥93॥

देवाधिदेव का मंत्रोच्चार से, करें जिनेन्द्र के सिर अभिषेक।

क्रमशः जल घृत और दूध दहि, की धारा दें धार विवेक॥94॥

अन्वयार्थ :- जिनेन्द्र देव का पूजक (फासुय जलेण) छने हुए शुद्ध प्रासुक जल से (ण्हाइय) स्नान करके (गंपितं ठाणं) गुप्त शुद्ध स्थान में (सुइवच्छ) शुचि वस्त्रों को (णिवसिय) पहनकर (इरिया वहि पंच सोहिय) ईर्या पथ आदि पंच शुद्धि करके (उववेसिय) बैठकर या (पडिमासणेण) प्रतिमासन/खड्गासन से—

(मंतं उच्चारिऊण) मंत्रों का उच्चारण करते हुये (देवदेवस्स) देवों के देव जिनेन्द्रदेव का (अहिसेयं) अभिषेक (कुणउ) करें। (जिण सीसे) जिनेन्द्र भगवान के सिर पर (अणुकमेण) अनुक्रम से (णीर) सुरभित दिव्य जल (घय) शुद्ध दिव्य घृत (खीर) शुद्ध दिव्य दूध (दहियं) शुद्ध दिव्य दही की (खिवेउ) धारा देना चाहिए।

अर्थ :- जिनेन्द्र देव का पूजक छने हुए शुद्ध प्रासुक जल से स्नान करके गुप्त शुद्ध स्थान में शुचि वस्त्रों को पहिनकर, ईर्या पथ आदि पंच शुद्धि करके पद्मासन से या प्रतिमासन से / खड्गासन से मंत्रों का उच्चारण करते हुए देवों के देव जिनेन्द्र देव का अभिषेक करें। जिनेन्द्र भगवान के सिर पर अनुक्रम से सुरभित जल, शुद्ध घृत, छना शुद्ध दूध एवं शुद्ध दही की धारा देना चाहिए।

विशेष :- पूजक को घर से ही थालियों में अष्ट द्रव्य सजाकर ईर्या पथ से गमन कर मन्दिर आना चाहिए तथा मन्दिर के बाहर पैर धोकर ही मन्दिर में प्रवेश करना चाहिए। मन्दिर में प्रवेश करते समय 'ॐ जय जय जय, निस्सही, निस्सही, निस्सही, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु' का उच्चारण करते हुए जिनालय में प्रवेश करना चाहिए।

भगवान के आगे सामग्री चढ़ाना

‘केवलीकै वा प्रतिमाकै—आगैं अनुरागकरि उत्तम वस्तु धरने का दोष नहीं। उनकै विक्षिप्तता होती नहीं। धर्मानुरागनैं जीव का भला होय।’

पं. टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक 5/241

मूर्ति पूजा निषेध का निराकरण

‘जातै ऐसैं मानैं इंद्र जन्म कल्याण’ विषैं बहुत जलकरि अभिषेक करै है। समवसरण विषैं देव पुष्पवृष्टि चमर ढालना इत्यादि कार्य करैं हैं, सो ये महापापी होंय। जो तुम कहोगे, उनका ऐसा ही

Y X Y

(196)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
व्यवहार है, तो क्रिया का फल तो भए बिना रहता नहीं। जो पाप है, तौ इंद्रादिक तौ सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा कार्य काहे कौं करें। अर धर्म है तो काहे कौं निषेध करो हौ बहुरि भला तुम ही कौं पूछै हैं तीर्थकर वंदना कौं राजादिक, गए वा साधु वंदना कौ दूर भी जाईए है, सिद्धान्त सुनने आदि कार्यनिकों गमनादि करिए है। तहाँ मार्ग विषै हिंसा भई। बहुरि साधुर्मी जिमाईए है, साधु का मरण भए ताका संस्कार करिए है, साधु तो तैं उत्सव करिए है, इत्यादि प्रवृत्ति अब भी दीसै है। सो यहाँ भी हिंसा हो है, सो ये कार्य्य तौ धम्मे ही कै अर्थ हैं अन्य कोई प्रयोजन नहीं।'

पं. टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक 5, पृष्ठ 243

खड़गासन व पद्मासन पूजा का निराकरण—

जिस प्रकार तीर्थकर के मोक्ष गमन की दो आसन है खड़गासन एवं पद्मासन (बैठकर) उसी प्रकार पूजक की भी अभिषेकर्ता की भी दोनों आसन मान्य है।

तथाकथित बीस पंथी बैठकर ही अभिषेक—पूजा का कदाग्रह करते हैं तथा तथाकथित तेरहपंथी खड़े होकर ही अभिषेक पूजादि का दुराग्रह करते हैं। यदि दोनों आगम की आज्ञा स्वीकार करें तो समन्वय से सुख शान्ति का वातावरण फैल जावे, ईर्ष्या, कषाय उत्पन्न न हो। प्रतिमासन से या पद्मासन से अभिषेक पूजा करें तो कोई दोष नहीं है। जिस बात को आचार्य वसुनन्दिजी ने इस गाथा में स्पष्ट कर दिया है। जिन पूजा की विधि से अनभिज्ञ ही हटाग्रह से विवाद को जन्म देते हैं।

केसर आदि पंच गंध का जिनेन्द्र भगवान पर विलेपन करें

न्हवणं काऊण पुणो, अमलं गंधो य पंच वि दित्ता।

सवलहणं च जिणिंदे, कुणोज्ज कास्मीर मलएहिं॥95॥

कर अभिषेक सुगन्धित पांचों, गंध से करके जिन अभिषेक।

कश्मीरी केशर प्रतिमा में, करें विलेपन धार विवेक॥95॥

अन्वयार्थ :- (न्हवणं काऊण) अभिषेक करके (पुणो) फिर (अमलं) निर्मल (पंच गंधो वि दित्ता) पंच गंध भी देना चाहिए अर्थात् फिर पंच गंध से अभिषेक करना चाहिए (य) और (कास्मीर) कश्मीरी (मलएहिं) केशर से (जिणिंदे) जिनेन्द्र भगवान पर (सवलहणं च) विलेपन भी (कुणोज्ज) करना चाहिए।

अर्थ :- पंचामृत अभिषेक करके फिर निर्मल पंचगंध भी देना चाहिए अर्थात् फिर पंच गंध से अभिषेक करना चाहिए और कश्मीरी केशर से जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति पर विलेपन भी करना

Y X Y

Y X Y
चाहिए।

अभिषेक पाठ में श्री अभयनन्दी जी ने कहा है—

गंध, धूप, दीपक से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करें

इय संखेवं कहियं, जो पुज्जइ गंधधूवदीवेहिं।

कुसुमेहिं जवइ णिच्चं, सो हणइ पुराकयं पावं॥96॥

पूजा विधि संक्षेप कही यह, गंध धूप दीपों से कोय।

जिन पूजा कर जाप पुष्प से, पूर्व पाप नाशे वह सोय॥96॥

अन्वयार्थ :- (इय) यहाँ (संखेवं) संक्षेप से पूजा की विधि (कहियं) कही गई (जो गंध धूव दीवेहिं पुज्जइ) जो गंध धूप और दीपों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है और (कुसुमेहिं) फूलों के द्वारा (णिच्चं) हमेशा / सदा जिनेन्द्र भगवान को (जवइ) जपता है (सो) वह (पुराकयं) पूर्वकृत (पावं) पापों को (हणइ) नष्ट करता है।

अर्थ :- यहाँ संक्षेप से पूजा की विधि कही गई है। जो गंध धूप और दीपों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है और फूलों के द्वारा हमेशा जिनेन्द्र भगवान को जपता है, वह पूर्वकृत पापों को नष्ट करता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् पूजा के विषय में कहते हैं—

जिन पूजा तें सब सुख होय, जिन पूजा बिन और ना कोय।

जिन पूजा तें स्वर्ग विमान, अनुक्रम तें पावे निर्वाण॥

पूजा के महत्व को बताते हुए इस दोहे में कितना सुन्दर वर्णन किया गया है। जहाँ कहा कि जिन पूजा से सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। यदि वो इच्छित वस्तु देगा तो 1, 2, 3, 4 वस्तु देगा किन्तु जिन पूजा करने वालों के लिए तो संसार के सभी सुख की प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है। जिन पूजा करने वाला पुजारी कहलाता है किन्तु माँगने वाला भिखारी कहलाता है। प्रभु के द्वार पर आने वाले अपनी-अपनी इच्छा और भावना का फल प्राप्त करते हैं। पुजारी तो प्रभु के दर पर पूजा माँगते हैं। पूजा के प्रत्येक काव्य में पूज्यता अर्थात् सिद्धत्व की प्राप्ति की कामना की गई है तथा दूसरी ओर भिखारी संसार के नाशवान पदार्थों की माँग करते हैं अर्थात् जो प्रभु ने छोड़ा है वह माँगते हैं। मजे की बात तो यह है कि प्रभु के द्वार पर वह भी प्राप्त होता है। इसीलिए कहा है 'जिन पूजा ते, सब सुख होय।' जैनागम में घटना आती है।

Y X Y

(198)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
सेठ पुरुषोत्तम जी जिनके कोई संतान नहीं थी वह परेशान थे कि वंश का अंश प्राप्त हो जाए। अनेक दर पर सर पटकने के बाद भी जब सफलता प्राप्त नहीं हुई तब दिगम्बर साधु के पास जाके भक्ति पूर्वक नमस्कार करके अपना मन्तव्य कहा— मुनिराज ने कहा, जाओ भक्तिपूर्वक युगल रूप से जिनेन्द्र भगवान की अर्चा करना। आपकी मनोकामना पूर्ण होगी। सेठ पुरुषोत्तम ने जिन पूजा की जिसके फलस्वरूप उनके गृह में दो पुत्र हुए जिनका नाम जग जाहिर है, वे हैं अकलंक और निकलंक। इससे सिद्ध है कि प्रभु पूजा संसार का सुख देती है तथा कहा भी है ‘पूजा करो और पूज्य बनो।’ जिन पूजा से स्वर्ग विमान जो जिनेन्द्र प्रभु की आज पूजा करते हैं उस पूजा के भाव से इन्द्र पद प्राप्त करते हैं क्योंकि जो आज पूजा करते हैं वे इन्द्र बनकर पूजा करते हैं। आज इन्द्र बनने की भावना करते हैं तो उस भावना से साक्षात् इन्द्र बनकर स्वर्ग के विमानों में सुख, भोग प्राप्त करते हैं और पुनः मनुष्य जन्म पाकर संयम के धारी होकर अनुक्रम से निर्वाण सुख प्राप्त करते हैं किन्तु जिन पूजा के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। किन्तु आजकल लोगों को पूजा काँटा सी चुभती है। पूजा के बारे में उनका विचार किसी कवि ने लिखा है—

पूजा सूजा सी लगे, शत्रू से भगवान।

मन्दिर खाने को दौड़त हैं, साधु लेत हैं प्राण॥

ऐसे लोगों की क्या गति होगी वे स्वयं ही विचार कर सकते हैं।

जिनेन्द्र भगवान पर जलधारा का फल

जलधाराणिक्खेवेण, पावमलं सोहणं हवे णियमं।

चंदणलेवेण नरो, जायइ सोहग्ग संपण्णो॥१७१॥

शीश पे जिनके जल धारा से, पाप मलों का शोधन होय।

चन्दन लेपन से मानव का, जागे परम भाग्य भी सोय॥१७१॥

अन्वयार्थ :- (जलधाराणिक्खेवेण) जिनेन्द्र बिम्ब के ऊपर जलधारा करने से (णियमं) नियम से (पावमलं) पाप रूपी मल का (सोहणं) शोधन (हवे) होता है। (चंदणलेवेण) जिनेन्द्र भगवान के ऊपर चन्दन का लेपन करने से (नरो) मनुष्य (सोहग्ग संपण्णो) सौभाग्य सम्पन्न (जायइ) होता है।

अर्थ :- जिनेन्द्र बिम्ब के ऊपर जलधारा करने से नियम से पापरूपी मल का शोधन होता है। जिनेन्द्र भगवान के ऊपर चन्दन का लेपन करने से सौभाग्य सम्पन्न होता है।

Y X Y

Y X Y

विशदार्थ :- आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने निर्वाण भक्ति, नन्दीश्वर भक्ति, चैत्य भक्ति आदि के अन्तर्गत अञ्चलिका में आठों द्रव्यों का उल्लेख किया है, जिसमें 'दिव्येण ण्हाणेण' का भी निम्न प्रकार उल्लेख है—

'दिव्येण ण्हाणेण' – दिव्य स्नान (अभिषेक)।

यहाँ दिव्य का अर्थ योग्य रसों से पंच परमेष्ठियों की मूर्तियों का अभिषेक करना समझना चाहिए।

'योग्य रसों से तात्पर्य' – आचार्य जिनसेन स्वामी आदि ने महापुराणादि में सर्वत्र योग्य रसों का अर्थ स्पष्ट किया है—

1. सुगन्धित जल—अनेक औषधियों के कल्क (काढ़ा) चंदन, केशर, कपूर आदि मिश्रित जल, प्रासुक जल।
2. गौरस – दूध, दही एवं घी
3. वृक्ष रस – गन्ना, सेब, आम, केला, दाड़िम आदि के रस।

जलं तरु रसश्चैव, गौरस त्रितयं तथा।

पंचामृत मिति प्राहुः, पूजा शास्त्र विशारदाः॥

विशेष – प्राचीन सिद्धान्त ग्रंथों में पंचपरमेष्ठी के दिव्य स्नान का उल्लेख है। ग्रंथों में केवल जल से स्नान का भी उल्लेख मिलता है। प्रायः सर्वत्र प्रभु के विभिन्न सुगन्धित जलों, रसों, गौरसों से ही स्नान कराने की बात की गई है। अतः पंचामृताभिषेक का निषेध नहीं करना चाहिए। बल्कि भावपूर्वक पूर्ण सावधानी से हो सके तो पंचामृताभिषेक कर पुण्यार्जन करना चाहिए। वर्तमान आचार्यों एवं विद्वानों ने पंचामृताभिषेक न करने की बात कही है। वहाँ पर आचार्यों का भाव पंचामृताभिषेक का निषेध करना न होकर श्रावकों के प्रमाद, असावधानी से होने वाली हिंसा को ध्यान में रखकर ऐसे श्रावकों के लिए केवल प्रासुक सुगन्धित जलों से ही अभिषेक करने का उपदेश दिया है।

पंचामृताभिषेक के विषय में वाद—विवाद में न पड़कर उनके पीछे छुपे भावों को ध्यान में रखकर क्रियाएँ करना चाहिए।

जिन अभिषेक

प्रश्न – कुछ लोग कहते हैं कि जब भगवान का मुनि अवस्था में अभिषेक नहीं होता है, तब भगवान में किंचित सावद्य होने से अर्हत दशा का प्रतिरूप मूर्ति का अभिषेक कैसे हो सकता है?

कुछ लोग कहते हैं कि एक दो बूँदे पानी डालकर पोंछ देना चाहिए या गीले कपड़े से प्रक्षाल करने

Y X Y

(200)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
या सूखे कपड़े से फटकारने को कहते हैं।

समाधान – यहाँ 'जिन' का अर्थ पंचपरमेष्ठी तीर्थकरादि की पंचकल्याणक अवस्था से समझना चाहिए तथा उनके प्रतिरूप मूर्ति पर जलादि सिंचन या धारा देने का नाम अभिषेक है। अनादि काल से अभिषेक अनेक प्रकार के होते हैं—

प्रतिमा अभिषेक – प्रतिमा अभिषेक पंचपरमेष्ठियों की मूर्तियों का सनातन काल से सदैव, देव, मनुष्य आदि द्वारा होता रहा है।

जन्माभिषेक – तीर्थकरों के जन्म के समय जो देवों द्वारा किया जाता है एवं विद्याधरों, ऋषि मुनियों द्वारा देखा जाता है।

राज्याभिषेक – तीर्थकरादि को राज्य प्रदान के समय जो देवादि तथा महाराजादि द्वारा होता है।

दीक्षाभिषेक – तीर्थकरों की दीक्षा के समय जो होता है।

मुनि अभिषेक – तीर्थकरों के आहारादि के समय जो पंचाश्चर्यों में गंधोदक की वर्षा तथा जो नवधा भक्ति में चरणाभिषेक होता है एवं मरणोपरांत भी मुनियों की देह का अभिषेक।

केवलज्ञानाभिषेक – केवलज्ञान के बाद जो गंधोदक की वर्षा होती है।

अन्त्येष्टि अभिषेक – जो मोक्ष गमन के काल में तीर्थकर की मृत काय का देवादि द्वारा अभिषेक होता है।

इस तरह छह प्रकार के अभिषेकों का दिगम्बर जैन वेदों में सर्वत्र उल्लेख है। तब भी कुछ लोग अनर्गल प्रलाप करते हैं, जो पंथ व्यामोह व नासमझी है। मुनि अवस्था का अभिषेक उनकी पूजा के पहले एवं आहार चर्या के समय चरणों का तथा देवकृत पंचाश्चर्यों में आकाशीय सिर से जल की वर्षा है। अर्हत अवस्था में तो समवशरण, विहार आदि के समय देवकृत अतिशयों में गंधोदक वर्षा होती है; अतः शंका करने की गुंजाइश ही नहीं है। तीन कल्याणकों में पंच परमेष्ठियों का अभिषेक वर्षा के अलावा भी गृहस्थ, श्रावक, देवादि अभिषेक पूजा कर सकते हैं, करते हैं, मुनि लोग देख सकते हैं, करवा सकते हैं। श्रावक जितने जल में स्वयं स्नान करता है उससे कहीं बहुत ज्यादा 1008 कलशों से पर्याप्त जलादि से अभिषेक कर सकता है। पूरी वेदी से पानी बहकर जाना चाहिए, नली में से निकल कर बाहर आना चाहिए; वह उत्तर या पूर्व दिशा में होना चाहिए। भगवान का मुख उत्तर में हो तो पूर्व में, यदि पूर्व में हो तो उत्तर में, पश्चिम में हो तो उत्तर में और दक्षिण में हो तो पूर्व में नली लगाना चाहिए, जिससे अभिषेक व जल का गंधोदक पात्र में एकत्रित हो सके। चतुर्मुखी मूर्ति हो तो ईशान दिशा में सब

Y X Y

Y X Y
जल आदि बहाना चाहिए।

जिस प्रकार हम स्नान करके पोंछते हैं वैसे ही मूर्ति का प्रक्षालन करना चाहिए। उबटन, तिल, तेल आदि सुगन्धित पदार्थ, जिनेन्द्र देव के विषय में योग्य पदार्थ लगाना चाहिए। संसार के फालतू कार्यों में तो जलादि का अति अपव्यय श्रावक करते हैं किन्तु भगवान के लिए संकोच करते हैं।

साक्षात् जिनेन्द्र की पूजा में व मूर्तिरूप जिनवर की पूजा में अन्तर हो सकता है जैसे- मूर्ति को मन्दिर में ताले के अन्दर रखना, कीमती मूर्तियों को तिजोरी के अन्दर सुरक्षित स्थान पर रखना।

जिस प्रकार देवगण भगवान का दूध, जल आदि से अभिषेक करते हैं, उसी की अनुकृति रूप मनुष्य दूध, दही, घी, रस, जल आदि से अभिषेक करते हैं।

विशदार्थ :- श्रीमतां श्री जिनेन्द्राणां, प्रतिमाग्रे च पुण्यवान्।

ददाति जलधारां य, तिस्त्रो भृंगारनालतः॥162 उ.श्रा.॥

आचार्य भगवन् कहते हैं जो भव्य जीव प्रातिहार्य आदि अनेक शोभाओं से सुशोभित भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिमा के सामने शृंगार नाल से (झारी से) तीन बार जल की धारा देता है वह पुरुष महापुण्यवान समझा जाता है और उसके जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि के समस्त दुख अनुक्रम से नष्ट हो जाते हैं तथा थोड़े ही भवों में उसकी पाप रूपी धूलि अवश्य ही शांत हो जाती है।

भूपचन्द्र शिखर नाम का राजा था, उसकी रानी का नाम चन्द्रप्रभा था। रानी राजा को प्राणों से भी प्रिय थी। उस ही राज्य में सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था जो कि वह ब्राह्मण वेद का जानकार था। सोमिल ब्राह्मण के सोमा नाम की स्त्री थी उसके पुत्र का नाम याज्ञवल्क्य था। उसकी स्त्री का नाम सोमश्री था, बहुत समय सुखमय जीवन व्यतीत होने के पश्चात् सोमिल ब्राह्मण का मरण हो गया। जिससे परिवार के सभी लोग बहुत दुखी हुए। परिवार के सभी लोगों ने मिलकर उनका अंतिम संस्कार किया। परिवार के सभी लोग शोक से व्याकुल हो गये। गाँव के सभी वृद्ध लोगों ने उनको समझाया जो इस संसार में आया है, उसे तो जाना ही पड़ता है। सोमिल ब्राह्मण को जब 13वाँ दिन आया तो सोमा ने अपनी पुत्रवधु को आदर सहित बुलाया और कहा- घड़े लेकर सभी ब्राह्मणी स्त्रियों को तुम अपने साथ नदी पर ले जाओ, घड़ों को भरकर एक-एक कलश सभी ब्राह्मणी स्त्री को दे देना। इस प्रकार सास के वचन सुनकर वह सभी ब्राह्मणी को साथ लेकर नदी की ओर चल दी, इसमें एक वैश्य की स्त्री थी, वह धार्मिक प्रवृत्ति की थी। वह सोमश्री से कहने लगी कि हे सखी! निकट में ही जिनेन्द्र भगवान का मंदिर है तू भी एक कलश जल का जिनेन्द्र भगवान के मंदिर में चढ़ा आ जिससे विशेष पुण्य का उपार्जन होगा और भव-भव के संचित पाप नष्ट हो जायेंगे। वैश्य (सहेली) के वचन सुनकर सोमश्री ने वैसा ही किया

Y X Y

(202)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
और अपने आपको धन्य मानने लगी। उसने जिनेन्द्र मन्दिर में जाकर अनेक प्रकार से भगवान की स्तुति की, अत्यधिक पुण्य उपार्जन करके जब वह अपने घर पहुँची तो एक ब्राह्मणी ने जाकर सोमश्री (बहू) की शिकायत कर दी कि तुम्हारी बहू ने मन, वचन, काय से शुद्धि पूर्वक जल चढ़ाया है और अभिषेक किया है। सोमा ब्राह्मणी पड़ौसन के वचन सुनकर अपनी बहू सोमश्री पर बहुत क्रोधित हुई और अपनी बहू को भाग्यहीन और अनेक उल्टे-सीधे शब्द कहने लगी, तूने मेरे कुल को कलंकित कर दिया, तू शीघ्र ही मन्दिर जाकर मेरा जल का कलश वापिस लेकर आ नहीं तो तुझे मैं शीघ्र ही घर से बाहर निकाल दूँगी, सोमश्री ने अपनी सास से जिन मन्दिर में से वापिस घड़ा लाने से मनाकर दिया जिससे सोमा (सास) ने सोमश्री (बहू) को घर से बाहर निकाल दिया और कहा जब तक तू घड़ा वापिस नहीं लायेगी तब तक तुझे घर वापिस नहीं आने दूँगी। सोमश्री रुदन करती हुई प्रजापति

नाम

का एक कुम्हार था उसके पास गयी, बोली- भैया आप मुझे एक मिट्टी का एक घड़ा दे दो चाहे उसके बदले में मेरे सोने का कड़ा ले लो। प्रजापति (कुम्हार) ने सोमश्री के रोने का कारण पूछा तो सोमश्री ने बताया कि एक घड़ा जल का मैं जिनमंदिर में चढ़ा आयी जिससे सासू माँ ने मुझे वापिस लाने के लिए कहा, जिनेन्द्र भगवान को चढ़ाया हुआ घड़ा मैंने वापिस लाने से मना कर दिया जिससे सासू माँ ने मुझे घर से बाहर निकाल दिया और कहा है कि जब तक तुम जल से भरा घड़ा वापिस नहीं लाओगी तब तक तुम्हें घर वापिस नहीं घुसने दूँगी। इसलिए मैं आपके पास आयी हूँ, यह सुनकर कुम्हार (प्रजापति) ने कहा

अरे!

बहिन

तुमने तो यह बहुत अच्छा कार्य किया, इसमें दुखी होने की क्या बात है? अरे! बहिन तुम्हें जितने घड़े चाहिए उतने ले जाओ और उसके बदले में मुझे कड़ा भी नहीं चाहिए। ये सुनकर सोमश्री ने भरा घड़ा ले जाकर अपनी सास सोमा के पास ले जाकर रख दिया। सास ने पहले तो हर्ष मनाया किन्तु बाद में अपने दुष्कृत्य की निन्दा की और बार-बार विचारने लगी देखो मैं कैसी पापिनी हूँ जो मैंने चढ़ा हुआ घड़ा वापिस जिन मन्दिर में से मँगवा लिया। मैंने पाप बुद्धि से जिनेन्द्र भगवान की भी निन्दा की अब क्या करूँ मेरी बुद्धि को धिक्कार हो, पहले तो निन्दा करके पाप कर्म का बंध किया फिर बाद में अपनी निन्दा करके कर्मों का क्षय किया। कुछ समय पश्चात् कुम्हार प्राण छोड़कर श्री जिनदेव के अभिषेक की अनुमोदना से राजा बना, और श्रीदेवी नाम की उसकी रानी बनी और सोमश्री का जीव जिनेन्द्र भगवान के जल चढ़ाने के फल से राजपुत्री बनी।

जब रानी श्रीदेवी गर्भवती हुई थी तो उसको भगवान के अभिषेक करने का दोहला उठा जिससे

Y X Y

Y X Y
 उसके जो पुत्री हुई उसका नाम कुंभ रखा था। वह पुण्य के प्रभाव से रूप में और सभी कलाओं में दक्ष थी। कुछ समय पश्चात् पुण्य के योग से श्रुतसागर मुनिराज नगर में पधारे। उन्होंने सभी को धर्म का स्वरूप बताया। जिस समय राजा धर्म श्रवण कर रहा था उसी समय उसने एक मलिन कुरूप स्त्री को देखा, वह अत्यन्त फटे हुए जीर्ण शीर्ण मलिन वस्त्र पहने हुए थी, उसके सिर पर एक घड़े के समान गाँठ थी। सिर में रूखे सूखे घोड़े के जैसे बाल थे, दुर्बल शरीर था, अत्यन्त दुर्गन्ध उसके शरीर से आ रही थी। वह सिर की गाँठ उसे अत्यन्त पीड़ा दे रही थी, उसकी आवाज भी कर्कश थी, उसको देखकर राजा श्रीधर ने महाराज से पूछा कि हे मुनिवर! यह भयानक रूप को लिए ये स्त्री कौन है? इसने पूर्व में कौनसा पाप (कार्य) किया था जिससे ऐसा रूप है, सो कृपा करके मुनिराज मुझसे कहिए। अवधिज्ञान के प्रभाव से श्रुतसागर मुनिराज ने राजा से पूर्व भव की घटना सुना दी। इस प्रकार राजा रानी प्रसन्नचित्त होकर मुनिराज को नमस्कार करके सुखपूर्वक रहने लगे। इस प्रकार जल चढ़ाने का फल क्या है इसकी कथा पूर्ण हुई।

गन्धोदक धारण मंत्र

निर्मलम् निर्मलीकरणं, पवित्रं पाप नाशकं।

जिन गन्धोदकं वन्दे, सर्व कर्म विनाशकं॥

उक्त मंत्र को पढ़ते हुए हुए गन्धोदक लेना चाहिए।

श्री जिनेन्द्र भगवान के 'दिव्य स्नान' (अभिषेक) के बाद संग्रहित जल को ही गन्धोदक कहा जाता है, इस गन्धोदक को शरीर पर लगाने, उसके लेने आदि के विषय में भी अनेक मतभिन्नतायें व्यवहारिक प्रचलन में हैं। सिद्धांत ग्रंथों, कथा कोषों में स्पष्ट उल्लेख है। कि प्रभु अभिषेक को देखने, उस जल को शरीर पर लगाने से भावों में निर्मलता आती है तथा प्रभु के शरीर से स्पर्शित दिव्य जल हमारे शरीर के अनेकों विकारों को दूर करने की सामर्थ्य रखता है।

जिनेन्द्र भगवान के चरणों में चन्दन लेपन का फल

चंदनसुयंधलेवो, जिणवरचरणेषु कुण्ड जो भविओ।

लहइ तणुं विक्किरियं, सहावसुयंधयं धवलं॥१८॥

भव्य जीव जिन चरण सुगन्धित, लेप सुचन्दन करें सदैव।

वह स्वभाव से देह वैक्रियक, पा स्वर्गों में बनता देव॥१८॥

अन्वयार्थ :- (जो भणिओ) जो भव्य जीव (जिणवरचरणेषु) जिनेन्द्र भगवान के चरणों में

Y X Y

(204)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
(चंदन सुगंधलेवो) चंदन सुगन्ध का लेप (कुण्ड) करता है, वह (सहाव सुगंधयं धवलं) स्वभाव से सुगंधित सफेद (विक्रियं तणुं) वैक्रियक शरीर (लहड़) को प्राप्त करता है अर्थात् उत्तम वैमानिक देव होता है।

अर्थ :- जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान के चरणों में चन्दन सुगन्ध का लेप करता है, वह स्वभाव से सुगंधित सफेद वैक्रियक शरीर प्राप्त करता है अर्थात् उत्तम वैमानिक देव होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् जिनेन्द्र भगवान की चरण वंदना करते हुए कहते हैं जिन जीवों को जिनेन्द्र भगवान का दर्शन करने का लाभ मिलता है वह असीम पुण्य का संचय करके कर्मों की अनंत निर्जरा करता है। जो भगवान की चरण वंदना कर चंदन की भांति सुगंधी को प्राप्त करता है जिस प्रकार चंदन की खुशबू के कारण जहरीले सर्प उसी वृक्ष पर लिपटे रहते हैं किन्तु ना तो चंदन अपनी खुशबू छोड़ता है और ना सर्प अपना जहर छोड़ता है किन्तु हे भगवन् आपके चरण रज को मस्तक पर धारण करने अनादिकाल से लगे कर्मों की निर्जरा होती है। आपके चरणों में सुगंधित चंदन का लेप करने से जीव सुगंधित सफेद वैक्रियक शरीर को प्राप्त करता है उत्तम वैमानिक देव बनकर उज्ज्वल कीर्ति को धारण कर शीतलता को प्राप्त करता है।

जन्म मृत्यु जरा दुःख, कर्मात्तस्य क्षयं व्रजेत्।

स्वल्पै-रेव भवैः पाप, रजः शाम्यति निश्चितम्॥163

उ . श्र । . । ।

चन्दनाद्यर्चना पुण्यात्, सुगंधि तनुभाग् भवेत्।

सुगंधी कृत दिग्भागो, जायते च भवे-भवे॥164उ.श्रा.॥

आचार्य भगवन् कहते हैं कि जो चंदन से जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं उससे उन्हें महान् पुण्य होता है उसके प्रभाव से यह जीव जन्म-जन्म में अत्यंत सुगंधित शरीर प्राप्त करता है उस शरीर की सुगंधी से दशों दिशाएँ सुगंधित हो जाती हैं। भगवान जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों के अंगूठे पर अनामिका अंगुली से चंदन लगाना चंदन पूजा कहलाती है, सबसे छोटी अंगुली के पास की अंगुली को अनामिका कहते हैं।

एक रत्नसंचयपुर नाम का नगर है उसमें मणिशेखर नामक धर्मात्मा राजा राज्य करता था। उस राजा की शुभमति नाम की सुन्दर लक्ष्मणों से युक्त नारी थी। वह सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में प्रवीण रहती थी। पूर्वकृत पुण्य के उदय से एक सम्यग्दृष्टि देव स्वर्ग से च्युत होकर रानी के गर्भ में आया। उस जीव के प्रभाव से रानी को दोहला उठा कि कैलाश पर्वत पर जाकर जिनेन्द्र भगवान की चन्दन,

Y X Y

Y X Y
 कपूर आदि से पूजा करूँ और भगवान के चरणों में चन्दन लगाऊँ, सो उसने अपना दोहला राजा को सुनाया, राजा ने रानी के दोहले को पूरा करने के लिए कैलाश पर्वत पर ले गया। वहाँ जाकर दोनों ने भक्ति भाव से जिनेन्द्र भगवान की चन्दन, कपूर से पूजन की। इस प्रकार दोनों सामायिक, स्तुति, पूजन करके जब कैलाश पर्वत से आगे बढ़े और एक वन में पहुँचे। उन्होंने सोचा अरे! यहाँ इतना सुन्दर वन है फिर भी इसमें बदबू क्यों आ रही है? फिर वे थोड़ा आगे बढ़े तो उन्हें मुनिराज दिखे जो कि ध्यान कर रहे थे तो रानी ने कहा, कि इन मुनिराज के शरीर से ही बदबू आ रही है, यह दुर्गन्ध मेरे लिए सहन करने योग्य नहीं है इसका आप जल्दी से निवारण कीजिए, राजा ने रानी की सहमति से मुनिराज के शरीर पर चन्दन का लेप कर दिया, फिर वे अपने स्थान को आ गये, उधर मुनिराज के शरीर में चन्दन की खुशबू के कारण भँवरे पेड़ों को छोड़कर मुनिराज के शरीर पर मंडराने लगे, और उन्होंने मुनिराज के पूरे शरीर को ढक दिया और असहनीय पीड़ा देने लगे। परन्तु वे धीरे धीरे मुनिराज अपने आत्म चिन्तन में लीन रहे, कुछ दिन बाद राजा और रानी वापिस उसी वन में आये फिर रानी ने कहा जिन महाराज के शरीर में हम लोगों ने चन्दन का लेप किया था। वे मुनिराज नहीं दिख रहे हैं? राजा ने कहा— हे मृगनयनी! अपने द्वारा किये गये कार्य को अच्छी तरह देखो। मुनिराज के शरीर को भौरों ने चारों तरफ से ढक लिया। उनका शरीर अग्नि से जले वृक्ष की तरह दिखाई दे रहा है। राजा—रानी दोनों ने अपने किये गये कार्य से मुनिराज को बहुत कष्ट पहुँचा है। ये देखकर उन्होंने पश्चाताप किया और दोनों ने मुनिराज के उपसर्ग को दूर किया। उपसर्ग के दूर होते ही मुनिराज ने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया।

कुछ समय बाद शुभमति रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। जिसका नाम कल्याण कुमार रखा, उसने अल्पकाल में अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। मणिशेखर राजा ने पुत्र को योग्य समझकर शुभलग्न में उसे सिंहासन पर बिठा दिया और स्वयं ने दीक्षा धारण कर ली। कुछ समय बाद रानी शुभमति ने भी आर्यिका दीक्षा धारण कर ली और ध्यान—अध्ययन में लीन रहने लगे। मणिशेखर शुभभाव से प्राण त्यागकर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। शुभमति भी शुभभाव से प्राण त्यागने से वह प्रथम स्वर्ग की देवी हुई। स्वर्ग में मन चाहे भोगों को भोगा। वहाँ से चयकर वैजयंतपुर के राजा पुष्पदन्त के यहाँ पुत्री के रूप में जन्म लिया, जिसका नाम मदनावली रखा। वह अत्यन्त गुणवान थी। यौवनावस्था होने पर सिंहध्वज राजा के साथ उसका विवाह कर दिया। दोनों में अगाध प्रेम था। मदनावली को सुख भोगते काफी समय हो गया किन्तु पूर्व भव के मुनि निंदा के पाप के उदय से उसके शरीर में असहनीय दुर्गन्ध आने लगी। राजा ने रानी का काफी इलाज करवाया परन्तु वह रोग तो दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा था। रानी के शरीर से असहनीय बदबू आने के कारण राजा ने रानी के लिए कुछ दूरी से अलग से

Y X Y

(206)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
महल बनवाया और उसमें रानी को अकेली रहने के लिए छोड़ दिया। जिससे मदनावली रानी बहुत दुःखी रहने लगी, वह सोचने लगी मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? मैंने पूर्व में ऐसा कौन सा पाप किया था जिससे मेरे शरीर का रोग खत्म नहीं हो रहा है। इस प्रकार विचार करते हुए रानी ने महल की खिड़की पर एक तोता युगल को देखा, जिसको देखकर उसके मन में बहुत शांति मिली। इसी अवसर पर तोती ने हँसकर तोते से ऐसी कथा कही जिससे उसे सुख मिले। तोती के वचन जब रानी ने सुने तो तोते के द्वारा कही जाने वाली कथा रानी मदनावली भी बड़े ध्यान से सुनने लगी। और उसे जाति स्मरण हो गया। उसी समय तोती ने तोते से पूछा कि रानी के तन की दुर्गन्ध कैसे जा सकती है? तोते ने कहा यदि रानी सात दिन पर्यंत तीनों काल चन्दन से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक पूजन करे तो इस रानी का शरीर सुगंधित हो जायेगा। इस बात को सुनकर रानी बहुत खुश हुई और तोते की बात को ही प्रमाण मानकर रानी ने सात दिवस चन्दन, केशर, कर्पूर, सुगंधित आदि द्रव्य से भगवान की पूजा की। पूजा के प्रभाव से उसका संचित पाप नष्ट हो गया और उसके शरीर से सुगन्ध आने लगी ये खबर जब राजा को मालूम पड़ी तो राजा उसे अपने महल में ले आया और दोनों ने भक्ति भाव से भगवान की पूजन की और सुखपूर्वक भक्तिभाव से पूजन अभिषेक करके जीवन व्यतीत करने लगे।

अक्षत से जिनेन्द्र भगवान की पूजा का फल

जायदि अक्खयणि, रयण सामिओ अक्खएहिं अक्खोहो।

अक्खीणलद्धिजुत्तो, अक्खयसोक्खं च पावेइ॥११॥

अक्षत से पूजा कर अक्षय, नव निधि चौदह रत्नों वान।

क्षोभ रहित अक्षीण ऋद्धि से, युत हो पाए मोक्ष निधान॥११॥

अन्वयार्थ :- (अक्खएहिं) अक्षतों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाला (अक्खयणि रयण सामिओ) अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है। (अक्खोहो) क्षोभ रहित अर्थात् रोग-शोक रहित निर्भय रहता है (च) और (अक्खीणलद्धिजुत्तो) अक्षीण ऋद्धि से युक्त होकर (अक्खय सोक्खं) अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष को (पावेइ) पाता है।

अर्थ :- अक्षतों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाला अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है। क्षोभ रहित अर्थात् रोग शोक रहित निर्भय रहता है तथा अक्षीण ऋद्धि से युक्त होकर अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष को पाता है।

विशदार्थ :- अखण्ड तन्दुलैः शुभ्रैः, सुगंधैः शुभ शालिजैः।

Y X Y

Y X Y

पूजयन् जिनपादाब्ज, जानक्ष्यां लभते रमाम्॥165 उ.श्रा.॥

आचार्य भगवन् कहते हैं सफेद सुगंधित और शुभ शालि, धान्यों से उत्पन्न हुए अखंड तंदुलों से, भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करने वाला मोक्षरूपी अक्षय लक्ष्मी को प्राप्त करता है अर्थात् भगवान् की प्रतिमा के सामने चावलों के पुंज चढ़ाने से अक्षत पूजा कही जाती है। वे चावलों के पुंज अंगूठे को ऊपर कर बंधी हुई मुट्ठी से रखने चाहिये साथ में मंत्र भी पढ़ना चाहिये। रकाबी से अक्षत नहीं चढ़ाना चाहिए।

श्रीपुर नाम का एक सुन्दर नगर था जिसमें श्रीयकांत नाम का राजा अपनी रानी श्रीदेवी के साथ रहता था। वह रानी सब रानियों में प्रधान थी, जिससे राजा अत्यधिक स्नेह रखता था। उसी राजा के उद्यान में श्री जिनेन्द्र देव का मन्दिर भी था। उसी मन्दिर के आगे एक विशाल आम का वृक्ष था जो कि स्वादिष्ट फलों से लदा था। उस वृक्ष पर एक कीर (तोता) युगल रहता था। एक दिन सुकी (तोती) तारुण्य अवस्था में थी तो उसने गर्भधारण किया। गर्भ के प्रभाव से तोती के मन में भाव आया कि राजा के खेत में जो सुन्दर चावल लगे हैं उनसे जिन मन्दिर जाकर नित्य पूजा करूँ ये बात उसने तोते से कही, तोते ने कहा— राजा के खेत से धान्य की बाली (चावल) लाना बहुत मुश्किल है, तोती ने कहा— यदि आप धान्य की बाली नहीं लाकर दे सकते तो मैं समझूँगी आप मुझे सुखी देखना नहीं चाहते। तोता ने कहा— श्रीयकांत राजा के खेत की तरफ देखना भी गुनाह है। तुम मुझे खेत में बाली लाने के लिए कह रही हो। तोती ने कहा— अगर आप मुझे बाली लाकर नहीं दे सकते तो मुझे दुखी समझना। तोती के ये शब्द सुनकर शुकराज (तोता) रोज राजा के खेत में जाता और धान्य की बाली लेकर आता जिससे राजा के खेत का एक कोना खाली हो गया। जब राजा श्रीयकांत खेत का निरीक्षण करने आया तो उसने खेत के खाली कोने को देखकर अपने सेवकों से इसका कारण पूछा तो सेवकों ने भयभीत होकर कहा— हे राजन्! बहुत से प्रयत्न करता हूँ फिर भी एक सुक चुपके से चोर की तरह प्रतिदिन आता है और बाली तोड़कर प्रतिदिन तेजी से भाग जाता है। हम उसको पकड़ने में समर्थ नहीं हैं। उसका स्थान कहाँ है हमें तो यह भी मालूम नहीं है। तब राजा ने विचार कर सेवकों से कहा तुम पांस (जाल) लगाकर उस तोते को (बाँधकर) मेरे सामने पेश करो। मैं उस तोते के टुकड़े कर डालूँगा। ऐसा कहकर राजा अपने स्थान पर चला गया। कुछ दिन बाद वह तोता बाली लेने आया तो रक्षकों ने तोते को पांसा लगाकर पकड़ लिया एवं उसे सभा के बीच विराजे राजा के पास सौंप दिया। तोते को हाथ में लेकर राजा ने उसके ऊपर क्रोध किया तभी रोती बिलखती पति स्नेह के वशीभूत होकर तोती राजा के पास आयी और बोली हे राजन्! आप मेरे पति (शुकराज) को छोड़ दो यह तुम्हारा खेत इन्होंने नहीं मैंने खाली करवाया है, मेरे पति के टुकड़े करने से पहले आप मेरे टुकड़े कर दो। मेरे पति शुकराज को छोड़ दो जिससे सुख शान्ति मुझे प्राप्त

Y X Y

Y X Y
 होवे। इस प्रकार तोती के वचन सुनकर राजा ने तोती से कहा कि तोते ने नारी जाति के लिए यह अकृत कार्य क्यों किया? किस कारण से नारी के मोहवश होकर अपने प्राण संकट में डाले? तोती राजा से कहने लगी हे राजन्! क्या तुम अपनी कथा भूल गये हो, रानी को चंचलता रहित देखकर तुम मरणासन्न हो गये थे। आप विचार क्यों नहीं करते— राजा ने तोती से पूछा कि इस तोती ने मेरे पूर्व भव की कथा को कैसे जान लिया? इस प्रकार का अपूर्व ज्ञान इस तोती को कहाँ से हो गया। राजा को तोती उसके पूर्व भव का कथन कहती है। बहुत पहले इस नगर में एक तपस्विनी रहती थी जो अनेक प्रकार के जादू टोना करके सबको ठगती थी। एक दिन वह श्रीदेवी रानी के महल में गयी जिससे उसने मीठी-मीठी बातें करके रानी को फँसा लिया जिससे रानी ने उससे खुश होकर उसे द्रव्य दान में दिया। वस्त्र आदि दिये रानी ने भी उसे अपनी बात बतायी कि पूर्वभव के पाप के उदय से (राजा) मेरे पति मुझसे नहीं बोलते हैं, अतः मैं बहुत दुःखी हूँ। तपस्विनी ने कहा मैं एक दवाई दूँगी, जिसे तुम राजा को भोजन में मिलाकर खिला देना जिससे राजा तुमसे प्रेम करने लगेगा। रानी ने कहा भोजन कराने का अधिकार मुझे नहीं है अतः कोई मंत्र तंत्र हो तो दे दो। तपस्विनी ने उसे (रानी को) मंत्र दे दिया और उसे विधिपूर्वक जपने के लिए कहा। रानी ने वैसे ही विधिपूर्वक जप किया। जिससे वह मंत्र रानी को सिद्ध हो गया। सिद्ध होते ही राजा स्वयं ही रानी से मिलने आ गया और रानी से बहुत प्रेम करने लगा जिससे रानी बहुत हर्षित हुई फिर उसने उस तपस्विनी का बहुत सारा सम्मान किया और वस्त्र, धन आदि भेंट में दिये फिर कुछ दिन बाद रानी ने तपस्विनी से कहा— मैं राजा की परीक्षा लेना चाहती हूँ कि वो मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं या नहीं। तपस्विनी ने श्रीदेवी रानी से कहा, मैं तुम्हें दो प्रकार की दवाई दूँगी जिसके सेवन करने से तो आप मृतक के समान हो जाओगी, दूसरी दवाई से तुम पुनः जीवित हो जाओगी। इनका सेवन कर मैं तेरे समीप में ही बैठी रहूँगी फिर रानी ने उस तपस्विनी को बहुत सा धन देकर विदा किया। रात्रि में जब रानी राजा के साथ सेज पर सोयी हुई थी उसने पहले औषधी को नाक से सूँघ लिया और सो गयी। प्रातःकाल जब राजा ने रानी को बेहोश देखा तब वह व्याकुल चित्त होकर अनेक वैद्यों को बुलाया उसने पूछा रानी जीवित है या नहीं? वैद्यों ने अच्छी तरह जाँच पड़ताल करके राजा से कहा, रानी निष्प्राण हो गयी है। यह सुनकर राजा मूर्छित हो गया और होश में आने पर उसने कहा, रानी के साथ मैं भी अपने प्राण दे दूँगा अर्थात् रानी के साथ मरने के लिए तैयार हो गया। जैसे ही चिता तैयार हुई रानी के साथ बैठने लगा तभी वह तपस्विनी वहाँ पहुँची और कहती है, हे राजन्! धैर्य करो रानी अभी हाल शीघ्र ही ठीक हो जाएगी। मैं उसका उपचार करती हूँ। तपस्विनी ने रानी की नाक में संजीवनी बूटी सुंघा दी जिसके प्रभाव से रानी जीवित हो गई। राजा-रानी को पाकर बहुत खुश हुआ। राजा रानी को लेकर महल में लौट आया और बाद में उस तपस्विनी का विनयपूर्वक बहुत सम्मान किया। अतः तोती राजा को कहती है कि मैं अपने

Y X Y

Y X Y
 पति के मोहवश यहाँ आयी हूँ तथा आपका जैसा पूर्वभव था वैसा मैंने सुनाया। राजा ने तोती से पूछा कि तुम पूर्व जन्म में तपस्विनी थी तो तुम तोती कैसे बनी, मैंने पूर्व जन्म में मायाचारी की इसलिए पूर्व कर्म के फल के उदय से मैं तोती बनी हूँ। तोती का यह वृत्तांत सुनकर राजा प्रसन्नचित्त होकर कहने लगा, तुम्हें जो वरदान माँगना है वह माँग लो। तोती ने कहा— आप मेरे प्राणनाथ तोते को छोड़ दीजिए, तोती के वचन सुनकर राजा ने तत्काल उस तोते को छोड़ दिया।

इस प्रकार अखण्ड तंदुलों से भगवान की पूजन करने से अक्षत लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

पुष्पों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा का फल

कुसुमेहिं कुसेसय वयण, तरुणि जण णयण कुसुम वरमाला।

बलए णच्चिय देहो, जायइ कुसुमाउहो चेव॥100॥

पुष्पों से पूजा कमलांगी, नयन रूप पुष्पों की जान।

माला से पूजित होता तन, जिसका कामदेव हो मान॥100॥

अन्वयार्थ :- (कुसुमेहिं) पुष्पों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाला (कुसेसय वयण) कमल के समान सुन्दर मुख वाली (तरुणिजण णयण) तरुणीजनों के नेत्र रूपी (कुसुम वरमाला) पुष्पों की सुन्दर श्रेष्ठ माला (बलए णच्चिय देहो) के समूहों से पूजित है शरीर जिसका, ऐसा (कुसुमाउहो) कामदेव (जायइ) होता है।

अर्थ :- पुष्पों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाला मनुष्य, कमल के समान सुन्दर मुख वाली तरुणीजनों के नयनरूपी पुष्पों की सुन्दर श्रेष्ठ माला के समूहों से पूजित है शरीर जिसका, ऐसा कामदेव होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं पुष्प से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने का फल विशेष होता है। जैसा कि महावीर के समवशरण में मेंढक पाँखुड़ी लेकर गया था, पहुँच भी नहीं पाया फिर भी उसके फल से देव बना इसी प्रकार सम्यक्दर्शन के निःशंकित अंग की कथा में जिनेन्द्र भक्त सेठ फूल लेकर अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा करने जाता था और आचार्यों कृत साक्षात् प्रमाण जिसको समग्र जैन समाज स्वीकार करता है। पूजा करते हैं, इस प्रमाण से सभी पंथवादियों की बोलती बंद हो है आचार्य श्री पद्मनन्दी जी ने सिद्ध पूजा में कहा है—

नित्यं स्वदेह परमाण मनादिसज्ज, द्रव्यानपेक्षममृतं मरणाद्यतीतं।

मन्दार कुन्द कमलादि वनस्पतिनां, पुष्पैर्यजे शुभतमैर्वर सिद्धचक्रम्॥

Y X Y

Y X Y
 स्वदेह प्रमाण अनादि द्रव्य अनन्तकाल तक शुद्ध रहने वाले सिद्ध स्वरूप परम सिद्धचक्र की
 मन्दार कुन्द कमलादि वनस्पति कायिक पुष्पों से अर्चा करते हैं। पुष्प से पूजा करने की कथा निम्न
 है।

मेंढक की कथा- पुष्प से पूजा का फल

मगध देश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक नागदत्त सेठ और उनकी भवदत्ता नाम की सेठानी रहती थी। नागदत्त सदा माया से युक्त रहता था इसलिये मरकर अपने आँगन की बावड़ी में मेंढक हुआ। एक दिन भवदत्ता सेठानी को आई देख उस मेंढक को जाति स्मरण हो गया, जिससे वह समीप आकर उसके ऊपर उछल कर चढ़ गया। सेठानी ने उसे बार-बार अलग किया। अलग करने पर भी वह टर्..टर्... शब्द करता और फिर आकर उसके ऊपर चढ़ने की कोशिश करता तदनन्तर सेठानी ने यह विचार किया कि यह मेरा कोई इष्ट होगा, ऐसा विचार कर अवधि ज्ञानी मुनि श्री सुव्रत से उसके बारे में पूछा। मुनिराज के द्वारा पूर्व जन्म का वृत्तांत सुनकर सेठानी ने उसे घर ले जाकर बड़े गौरव से रखा।

एक बार राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर का समवशरण वैभार पर्वत पर आया जानकर, आनंद भेरी बजवाकर बड़े वैभव से उनकी वंदना को जाने की तैयारी की। सेठानी आदि को लेकर घर के अन्य लोग भी प्रभु वंदना के लिये गये। तब वह मेंढक भी प्रभु के चरणों में चढ़ाने के पवित्र भाव को संजोकर बावड़ी का कमल फूल लेकर वह भी चला। जाता हुआ मेंढक हाथी के पाँव के नीचे कुचलकर मर गया तथा पूजा संबंधी अनुराग के वश से उपार्जित पुण्य के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में महान ऋद्धियों को धारण करने वाला देव हुआ। अवधिज्ञान से पूर्वभव का वृत्तांत जानकर अपने मुकुट के अग्रभाग में मेंढक चिन्ह देखकर वह समवशरण में आया। भगवान महावीर की वंदना करते समय राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा कि- “मुकुट के मेंढक चिन्ह रखने का क्या अभिप्राय है?” गौतम स्वामी ने उसका पूर्व वृत्तांत कह सुनाया। उसे सुनकर सब लोग पूजा का अतिशय करने में उद्यत हुए। भाव सहित पुष्प चढ़ाने के फल से अतिशय पुण्य का अर्जन होता है।

फूलों से जिन पूजा का फल

कुसुमावती पुष्पलता की कथा

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में वत्सकावती देश के भीतर स्थित आर्यखण्ड में सुसीमा नाम की नगरी है। उसका अधिपति वरदत्त नाम का सकल चक्रवर्ती (छहों खण्डों का स्वामी) था। किसी एक दिन ऋषि निवेदक ने उनको सूचना दी कि- हे देव! इस नगर के बाह्य भाग में जो गन्धमादन पर्वत है उसके ऊपर शिवघोष तीर्थंकर का समवसरण स्थित है। इस शुभ समाचार को सुनकर उस वरदत्त चक्रवर्ती ने परिवार

Y X Y

Y X Y
 के साथ वहाँ जाकर जिनदेव की पूजा की। तत्पश्चात् वह गणधर आदि की वंदना करके अपने कोठे में बैठ गया। उसी समय वहाँ प्रधान देवों ने दो देवियों को लाकर सौधर्म इन्द्र से यह कहते हुए कि- 'हे देव! ये आपकी देवियाँ हैं' उन्हें उनके लिये समर्पित कर दिया। यह देखकर चक्रवर्ती ने तीर्थंकर प्रभु से पूछा कि- 'इन्हें पीछे क्यों लाया गया है।' इसके उत्तर में तीर्थंकर भगवान ने कहा कि- 'वे इसी समय उत्पन्न हुई हैं। वे किस पुण्य के फल से उत्पन्न हुई हैं, यह यदि जानना चाहते हो तो उसे मैं कहता हूँ सुनो,-

इसी नगर में कुसुमावती और पुष्पलता नाम की दो मालाकारिणी (माली की कन्यायें) थीं जो एक ही माता से उत्पन्न हुई थीं। वे पुष्पकरण्डक वन से पुष्पों को ग्रहण करके घर आते मार्ग में स्थित जिनभवन की देहरी की एक-एक पुष्प से प्रतिदिन पूजा किया करती थी। यानि देहली पर पुष्प चढ़ाती थी। आज उस वन में पहुँचने पर उन्हें सर्प ने काट लिया था, इससे मरण को प्राप्त होकर वे ये देवियाँ उत्पन्न हुई हैं।' इस वृत्तान्त को सुनकर सब जन जिन पूजा में तत्पर हो गये।

विशदार्थ :- पुष्पैः संपूजयन् भव्योऽमरस्त्री लोचनैः सदा।

पूज्यतेऽमरलोकेश, देवी निकर मध्यगः॥166उ.श्रा.॥

आचार्य भगवन् कहते हैं जो भव्य जीव पुष्पों से भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करता है वह स्वर्ग लोक के इन्द्र की देवियों के मध्य बैठा हुआ अनेक देवियों के सुंदर नेत्रों के द्वारा सदा पूजा जाता है अर्थात् वह इन्द्र होता है और अनेक देवांगनाएँ उसकी सेवा करती हैं। पुष्प भगवान की प्रतिमा के चरणों पर चढ़ाये जाते हैं पुष्प दोनों हाथों की अंजलि से चढ़ाना चाहिये। इसी को पुष्प पूजा कहते हैं।

सागरदत्त नाम का एक सेठ था। उसके दो पत्नी थीं। उसके एक पत्नी जिनमति थी, वह जिनधर्म में दृढ़ श्रद्धान रखने वाली थी। वह शीलवती और गुणवती थी। दूसरी पत्नी का नाम लीलावती था। जिनमति प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजन करती थी। एक दिवस उसने मालती के मनोग्य पुष्पों से एक सुन्दर माला बनाई और प्रभु चरणों में भक्तिपूर्वक अर्पित कर दी। लीलावती को यह कार्य अच्छा नहीं लगा और उसने क्रोध में दासी को बुलाकर श्री जिन प्रतिमा के सामने माला मुझे अच्छी प्रतीत नहीं हो रही है अतः हे दासी! तुम उसे वहाँ से उठाकर अन्य स्थान पर रख दो। दासी लीलावती के वचन सुनकर उस माला को उठाने के लिए गयी तब स्पर्श करते ही माला सर्प बन गयी और विकराल रूप धारण करके फूँकार करने लगी। दासी यह दृश्य देखकर डर गयी एवं लौटकर वापिस आ गयी। तब क्रोध करती हुई लीलावती स्वयं माला उठाने के लिए पहुँच गयी एवं घमण्ड करती हुई माला उठाने लगी। तब सर्प ने उसका हाथ जोर से मुँह में दबा लिया और छोड़ने का नाम ही नहीं लेवे तब दुःख से वह

Y X Y

(212)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
लीलावती जोर-जोर से चिल्लाने लगी, उसे सुनकर आस-पास के नर-नारी जल्दी ही वहाँ आये किन्तु वह विकराल सर्प लीलावती के हाथ को निगलने लगा, सब देख रहे थे। लीलावती सेठानी के हाल बेहाल हो रहे थे पर क्या करे, दुःख बाँटने में कोई समर्थ नहीं है। तब जिनमती को पता चला तो वह शुद्धभाव से वहाँ पहुँची। उसके मन में किसी प्रकार का अभिमान नहीं था। लीलावती का हाथ सर्प के मुँह में देखकर जिनमति को अत्यन्त चिंता उत्पन्न हुई। वह पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करने लगी एवं जिन शासन देव का स्मरण करके कहती है। जब तक यह उपसर्ग दूर नहीं होगा हम इसका परिहार करके ही दम लेंगे। वह उस भयंकर सर्प को हाथ से पकड़ने लगी, उसी समय एक चमत्कार हुआ वह सर्प फिर से माला के रूप में परिवर्तित हो गया। उसकी सुगन्ध चारों ओर फैल गयी। सभी ने मिलकर जिनधर्म और जिनमति की प्रशंसा की और लीलावती की सब जगह निन्दा होने लगी। आचार्य भगवंत कहते हैं कि देखो शुभाशुभ कर्म फल जीव को तत्काल ही भोगना पड़ता है। एक दिन नगर के बाहर संयमभूषण नाम के मुनिराज पधारे। उन्होंने नरक, तिर्यच, देव, मनुष्य आदि के दुखों का वर्णन सुनाया। षट् आवश्यक कर्तव्य करने को कहा। मुनिश्री के उपदेश सुनकर लीलावती ने भी जिनेन्द्र भगवान की कुसुम से पूजा करने की प्रतिज्ञा ले ली। तदनन्तर लीलावती ने जिनमती से अपने पूर्वकृत अपराध की क्षमा माँगी।

मुनि महाराज तो निर्जन वन में चले गये, अब लीलावती प्रतिदिन ताजे-ताजे कमल, केतीकी, गुलाब, चमेली आदि से भगवान की पूजा करने लगी। जिनधर्म के, जिनभक्ति के प्रभाव से लीलावती की कीर्ति भी चारों ओर फैलने लगी। एक दिन लीलावती का छोटा भाई प्रसन्न होकर उसके पास आया और बहिन से पूछने लगा कि यह जिन पूजन विधि किसके उपदेश से ग्रहण की। इसका क्या फल है? लीलावती ने पूजन का फल बताया कि जिनेन्द्र भगवान के आगे पुष्प अर्पित करने से सुख, धन, ऐश्वर्य की प्राप्ति, दुष्टों का परिहार, भाग्य, वंश की वृद्धि होती है। बहिन के ऐसे वचन सुनकर भाई ने भी पुष्प से पूजन का नियम जिन्दगी भर के लिए ग्रहण किया जिससे दोनों स्वर्ग में जाकर देव देवी हो गये। वहाँ विमानों में स्थित अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना पूजा करते हुए इन्द्रियजनित भोगों को भोगकर देवायु पूर्ण करके लीलावती का भाई एक रानी के गर्भ में आया, उसका नाम जयकुमार रखा और लीलावती के जीव ने देवी पर्याय पूर्ण कर सुमाली रानी के यहाँ जन्म लिया। उसका नाम विनयश्री रखा, पूर्व जन्म के संस्कार के कारण दोनों की आपस में शादी (विवाह) हो गयी। कुछ समय बाद नगर में मुनिराज पधारे तो जयकुमार ने पूछा, हम दोनों का पूर्व भव बताइये तो मुनिराज ने कहा- तुम दोनों पूर्व में भाई-बहिन थे। तुमने भगवान की पुष्प से पूजा की जिससे तुम देव-देवी हुए फिर वहाँ से चयकर तुम दोनों

Y X Y

Y X Y
जयकुमार और देवी विनयश्री हुई। मुनिश्री के वचन सुनकर दोनों को जाति स्मरण हो गया और पूर्व भवों का ज्ञान होने से संसार शरीर भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो गया। परम आत्म निन्दा करते हुए परम जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। अब वे कर्मों को नाश कर मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

नैवेद्य से जिनेन्द्र भगवान की पूजा का फल

जायइ णिवज्जदाणिहिं संतिगोकंतितेय संपण्ण।

लायण्ण जलहि वेलातरंगितं पाविय सरीरो॥101॥

कर नैवेद्य समर्पित दिनकर, जैसा धवल तेज सम्पन्न।

सौन्दर्य सिन्धु तरंगों संयुत, देह सहित होवे उत्पन्न॥101॥

अन्वयार्थ :- (णिविज्जदाणिहिं) जिनेन्द्र भगवान को नैवेद्य समर्पित करने से, (संतिगोकंतितेय संपण्ण) शांत है किरणें जिसकी ऐसे चन्द्रमा के समान धवल और तेज से सम्पन्न तथा (लायण्ण जलहि वेलातरंगितं) सौन्दर्य रूपी समुद्र की बेला (तट) वर्ती तरंगों से संप्लावित (सरीरो पाविय) शरीर को प्राप्त करता है अर्थात् अति सुन्दर होता है।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान को नैवेद्य समर्पित करने से मनुष्य, शान्त है किरणें जिसकी ऐसे चन्द्रमा के समान, धवल और तेज से सम्पन्न तथा सौन्दर्य रूपी समुद्र की बेला तटवर्ती तरंगों से संप्लावित शरीर को प्राप्त करता है अर्थात् अति सुन्दर होता है।

विशदार्थ :- पक्वान्नादिक नैवेद्यैः, प्राचयव्यबिशं जिनान्।

स भुनक्ति महासौख्यं, पंचेन्द्रिय समुद्भवम्॥167 उ.श्रा.॥

आचार्य भगवन् कहते हैं जो भव्य जीव पकाये हुए अनेक प्रकार के नैवेद्य से भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिदिन पूजा करता है वह पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए महासुखों का अनुभव करता है अर्थात् चावलों के भात को अन्न कहते हैं। किसी अच्छे थाल में नैवेद्य को रखकर तथा दोनों हाथों से उस थाल को पकड़कर भगवान के सामने आरती उतारने के समान उस थाल को फिराकर सामने रख देना चाहिये। हाथ या कटोरी से नैवेद्य नहीं चढ़ाना चाहिये।

भरत क्षेत्र में धान्यपुरी नाम की अत्यंत रमणीक नगरी है। वहाँ के राजा का नाम सिंहध्वज था। राजा धर्म परायण और प्रजावत्सल था। एक दिन नगर के उद्यान में परम दिगम्बर संत विहार करते हुए पधारे। वे मौन व्रत के धारी द्वादशांग के ज्ञाता परम तपस्वी नासाग्र दृष्टि करके कायोत्सर्ग पूर्वक खड़े होकर आत्मध्यान में तल्लीन थे तभी कुछ दुर्जन पुरुषों ने क्रोधित होकर मिथ्यात्व के उदय से मुनिदर्शन को अपशकुन मानकर उनके ऊपर भयंकर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। किसी ने लाठी से, किसी ने

Y X Y

Y X Y
 मुक्के से, किसी ने पत्थर आदि फेंक कर उपसर्ग किया। किन्तु वे महामुनि ध्यान से विचलित नहीं हुए। वे शत्रु-मित्र में समभाव चित्त की भावना से निरन्तर कर्मों की निर्जरा करते हुए क्षपक श्रेणी चढ़कर घातिया कर्मों को क्षयकर अन्तःकृत केवली होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए किन्तु यहाँ एक घटना घटी। वहाँ अवस्थित क्षेत्रपाल ने अवधिज्ञान से मुनि महाराज के ऊपर उपसर्ग को जानकर विशेष क्रोध करके नगर के लोगों को अनेक प्रकार के दुख दिये। सम्पूर्ण नगर में हा हा कार मच गया। कोई रोगी संक्लेशित, कोई वियोगी संताप को धारण करने लगे। क्षेत्रपाल ने उन लोगों से कहा कि तुम लोगों ने अज्ञान अंधकार से मिथ्यात्व मद में गर्वित होकर मुनि महाराज को दुःख दिया है अतः अब यहाँ से सबका नाश करके रहूँगा। उस देव ने क्रोधित होते हुए धान्यपुरी को उजाड़ दिया। तब नगरवासी नगर के बाहर एकत्रित होकर कोलाहल करने लगे। तब राजा सिंहध्वज क्षेत्रपाल के समीप आया और कहने लगा की मैं समस्त प्रजा की तरफ से क्षमा माँगता हूँ जिसका अपराध नहीं है, उन्हें दण्ड न दिया जाए। हे देव! निर्दोष प्राणियों पर दया कीजिए। क्षेत्रपाल इस प्रकार कहने लगा कि राजन् तुम अन्य स्थान पर नगर बसाकर उसमें उत्तम महल, बाजार, गोपुर की रचना करके उस नगर का नाम क्षेमपुर रखना इसमें ही सबका कल्याण है। क्षेत्रपाल के निर्देशानुसार राजा ने वैसा ही किया और नगर में सबसे ऊँचे जिन मन्दिर निर्मापित करके रत्नमयी जिनबिम्बों की स्थापना की, उजड़ी हुई धान्यपुरी नगरी में क्षेत्रपाल (यक्ष) सिंह का रूप धारण करके बैठ गया। बहुत समय व्यतीत होने पर वहाँ बड़ी-बड़ी लताएँ छा गयीं जिससे वह घना जंगल सा प्रतीत होने लगा। उसी नगरी के बाहर जहाँ जिनमंदिर था उसी के समीप एक वैश्य का खेत था वह खेती करके भी गरीब रहता था। एक दिन जिन मंदिर में पूज्य चारणक्रद्धि धारी मुनिराज पधारे तभी पूर्व पुण्य कर्म के उदय से वह वणिक भी मुनिराज के दर्शन के लिए गया। तब उसने मुनिराज से कहा— मुझे दरिद्रता बहुत सताती है, इसके निवारण का कुछ उपाय बताइए। ये कौन से पाप कर्म के उदय से दरिद्रता नहीं जाती। तो मुनिराज ने कहा— तुमने पूर्वभव में कभी जिनेन्द्र भगवान की पूजन नहीं की, पात्र दान नहीं दिया, अतः पुण्यकर्म के बिना सुख कैसे मिल सकता है? जिस प्रकार बीज के बिना फसल की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार व्रत, पूजा, दान के बिना कोई भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। यह जानकर तुम भावपूर्वक चरु से पूजन करने का व्रत ग्रहण करो तो तुम्हें मनुष्य, देव आदि गतियों में सुख प्राप्त होगा। मुनि महाराज के वचन सुनकर वैश्य ने कहा— मैं भाग्यहीन जिन पूजा के लिए उत्कृष्ट द्रव्य कहाँ से लाऊँगा, तभी मुनिराज ने समझाया कि हे भद्र! तुम भोजन के समय एक ग्रास मात्र भोजन भगवान के सामने शुद्ध भाव पूर्वक चढ़ाकर पीछे स्वयं करने का व्रत लेकर भी असीम पुण्य का संचय कर सकते हो। धर्म के प्रभाव से निश्चय ही मोक्ष को प्राप्त करोगे। इसमें शंका की कोई बात नहीं है, इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर वैश्य ने मन-वचन-काय पूर्वक चरु

Y X Y
 (नैवेद्य) से पूजन करना शुरू कर दिया और नियम भी श्रीगुरु से ग्रहण कर लिया। वे मुनिराज चारणक्रद्धि सम्पन्न थे। अतः वे आकाश मार्ग से गमन कर गये। एक दिन वणिक घर पर भोजन करने के लिए तैयार हुआ। एक ग्रास मुँह में खाने लगा तभी उसे मुनिराज के द्वारा लिया हुआ व्रत याद आ गया और वह चरू का थाल सजाकर जब मन्दिर में जाने लगा तो उसने एक भयंकर सिंह देखा जो की बहुत तेज-तेज दहाड़ रहा था। फिर भी वह निर्भय होकर आगे बढ़ने लगा, वह सोचने लगा जिनदर्शन बिना भोजन कैसे करूँगा। इसलिए वह धैर्यतापूर्वक जिनदर्शन के लिए आगे बढ़ने लगा, कुछ समय बाद वह क्या देखता है कि वह शेर अदृश्य हो गया फिर वह मन्दिर में जाकर टाठ-बाट से पूजन करता है। फिर वह वापिस घर में आकर भोजन करने बैठने लगता है कि उसे तो मुनिराज दिखाई देते हैं फिर वह नवधा भक्ति से पड़गाहन करके विधिपूर्वक मुनिराज को आहार दान देता है। जब मुनिराज आहार करके चले जाते हैं तो सेठानी (धर्म पत्नी) अपने हिस्से का भोजन वणिक की थाली में परोस देती है और वे फिर भोजन करने को तैयार होते हैं फिर उन्हें वृद्ध साधु महाराज आते हुए दिखाई दिये, मुनि को देखकर फिर शुद्ध भाव पूर्वक आहार दान देते हैं। वे मुनिराज जब वहाँ से चले जाते हैं अब जो शेष बचा था वह थाली में परोसने लगी, तभी एक भूख से व्याकुल अशुभ कर्म के उदय से अत्यन्त दुखी दीन चित्त दुबला पतला जिसके शरीर से नसा जाल दिखाई दे, ऐसा बालक दिखाई देता है तो (सेठानी) वैश्य की धर्मपत्नी को दया आ जाती है तो वह जो बचा हुआ भोजन था वह भी उस बालक को दे देती है और दोनों पति-पत्नी भूखे रह जाते हैं। धर्म परायण पति-पत्नी को देखकर एक देव (क्षेत्रपाल) प्रकट होता है और उस वैश्य से कहता है तुम धन्य हो तुमने अपनी प्रतिज्ञा को दृढ़ता से निभाया। सिंह से न डर करके तुम जिनेन्द्र देव की पूजा करने के लिए गए मैं इस क्षेत्र का क्षेत्रपाल यक्ष देव हूँ मैंने ही तुम्हारी परीक्षा के निमित्त सिंह, वृद्ध मुनि और बालक का रूप बनाया। इन परीक्षाओं में तुम पास हो गये हो, मैं तुमसे अत्यन्त संतुष्ट हुआ हूँ। अब तुम मुझसे कोई भी वरदान माँग सकते हो। देव के ऐसे वचन सुनकर वणिक प्रसन्न हुआ और उसने कहा- आप तो मेरी दरिद्रता दूर कर दो तब देव तथास्तु कहकर चला गया। वैश्य की पत्नी ने अपने पति को कहा कि आप धन्य हो जो आपने अपना नियम दृढ़ता से निभाया और मुनि महाराज को आहार दान दिया। फिर वे दोनों पति-पत्नी अपना जीवन धर्ममय व्यतीत करने लगे। उनकी दरिद्रता नष्ट हो गयी और वे सुख से रहने लगे। इस प्रकार चरु चढ़ाने के फल से सेठ धन-धान्य से समृद्ध हो गया।

दीपों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा का फल

दीवेहिं दीवियासेस जीव दव्वाइं तच्च सम्भावो।

Y X Y

(216)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

सम्भाव जणिय केवलपईव तेण होइ णरो॥102॥

करे दीप से जिन पूजा जो, पाए केवल ज्ञान प्रदीप।

जीवादिक सब द्रव्य तत्त्व का, धारी विशद ज्ञान हो दीप॥102॥

अन्वयार्थ :- (णरो) जो मनुष्य (दीवेहिं) दीपों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है। (सम्भाव जणिय) वह सद्भाव के योग से उत्पन्न हुये। (केवल पईवतेण) केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से (दीवियासेस जीव दव्वाइं तच्चसम्भावो) प्रकाशित किया है समस्त जीवादि द्रव्य व तत्त्व के सद्भाव को जिसने ऐसा केवलज्ञानी (होई) होता है।

अर्थ :- जो मनुष्य दीपों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है, वह सद्भाव के योग से उत्पन्न हुये केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से प्रकाशित किया है समस्त जीवादि द्रव्य व तत्त्व के सद्भाव को जिसने ऐसा अनंतज्ञानी या केवलज्ञानी होता है।

विशदार्थ :- सुरत्न सर्पिः कर्पूर, भवै दीपै जिनेशिनाम्।

द्योतयेद्यः पुमानंधीन्, सः स्यात्कांति कलानिधि॥168

उ . श्र । . । ।

आचार्य भगवन् कहते हैं जो भव्य जीव रत्न, घी व कर्पूर के दीपकों से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की आरती उतारता है उस पुरुष की कांति चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाती है। अर्थात् दीप पूजा दीपक से ही होती है रंगे हुए चटक से नहीं। रंगे हुए चटक से भगवान का शरीर दैदीप्यमान नहीं। दीपक से आरती उतारी जाती है इसीलिये परिणामों की विशुद्धि जो आरती से होती है वह रंगे चटक से नहीं हो सकती। दोनों हाथों से दीपक का थाल लेकर दाईं ओर से बाईं ओर घुमाकर भगवान के सामने बार-बार दैदीप्यमान करने को आरती कहते हैं इसी को दीप पूजा कहते हैं।

भरत क्षेत्र में मेघपुर नाम का एक सुन्दर नगर है। उस नगर में एक मेघनाथ नाम का एक राजा था, जो न्यायप्रिय और प्रजावत्सल था। उसके रत्नावली नाम की रानी थी। उसी नगर में सुरेन्द्रदत्त नामक श्रेष्ठी सम्यक्दृष्टि था। वह कर्मों की निर्जरा कर दुखों का नाश करने में तत्पर रहता था। उसके सुशीला नाम की नारी थी। उनके जिनमति नाम की कन्या थी, वह सदैव सदाचार का पालन करती थी। अशुभ कर्मोदय से अल्पवय में ही वह विधवा हो गयी, उसका सौभाग्य लुप्त हो गया। पति वियोग होने पर भी वह अपना समय धर्मध्यान में व्यतीत करती थी। जिनेन्द्र देव की पूजा, चार प्रकार के संघ को चार प्रकार का दान करती। धनश्री और जिनमति में प्रगाढ़ प्रेम था। दोनों साथ रहतीं और दोनों एक दूसरे के

Y X Y

Y X Y
 काम में सहयोग करतीं। जब जिनमती निर्मलचित्त से जिनेन्द्र देव की पूजा करती थी तो धनश्री उसको दीपक सजाकर एवं अन्य पूजा की सामग्री बनाकर देती। इस प्रकार दोनों में आपस में प्रेम था। एक दिन धनश्री ने जिनमति से पूछा हे प्रिय बहिन! यह बता दीपक से पूजा करने का क्या फल है। जिनमति ने कहा— हे बहिन! दीपक से जो प्राणी पंचपरमेश्वर की पूजा भक्तिपूर्वक स्वयं करता है अथवा अन्य दूसरों से कराता है अथवा करने वाले की अनुमोदना करता है वह कांति विभूषित शरीर को प्राप्त करके यश को प्राप्त होता है। तीर्थंकर पद को प्राप्त करके अविनाशी अनंत सुख का स्थान मोक्ष परम पद को प्राप्त करता है। जिनमति के वचन सुनकर धनश्री ने भी दीपक से पूजा करने का नियम ले लिया और वह तीनों काल दीपक से पूजा करने लगी। कर्मयोग से आयु पूर्ण कर प्रथम स्वर्ग में देवी हुई, वहाँ भी धर्म के प्रति रुचि रखने से सुन्दर शरीर को प्राप्त किया। धनश्री के मरण से जिनमति को बहुत दुख प्राप्त हुआ। संसार को नश्वर जानकर वह धर्म ध्यान में समय व्यतीत करने लगी। जिन पूजन के पुण्य के प्रभाव से वह भी प्रथम स्वर्ग में देवी हुई, जहाँ उसकी सखी का जीव भी देवी हुआ था। पूर्वभव के स्नेह के वश दोनों में अगाध प्रेम हो गया। अवधिज्ञान के बल से दोनों अपना पूजन में समय व्यतीत करने लगीं। जिससे धनश्री के जीव ने मनुष्य गति में जन्म लिया। वह धनश्री का जीव शुभ भावों से मरणकर मेघपुर नगर के राजा मकरध्वज की प्राणवल्लभा रत्नावली नाम की रानी हुई। पूर्व कर्म के पुण्य उदय से कुछ समय बाद रत्नावली रानी को प्रधान अर्थात् महारानी बना दिया और जो पहले पटरानी विजयारानी थी उसको त्याग दिया। अब विजयारानी रत्नावली के प्रभाव को देखकर ईर्ष्या करती थी और आर्तध्यान पूर्वक अपना समय व्यतीत करती थी। खोटे ध्यान के कारण मरणकर वह व्यंतरी हो गयी। अवधिज्ञान के बल से पूर्व समाचार जानकर एक दिन द्वेषवश व्यंतरी रानी रत्नावली को मारने के विचार से रात्रि में उसके महल में पहुँच गयी। उस समय रानी शैय्या पर शयन कर रही थी। उसके शरीर की कांति से चारों ओर कमरे में प्रकाश फैल रहा था, उसके अद्भुत प्रकाश को देखकर व्यंतरी बहुत दुखित हुई। वह अपना कर्तव्य करने को तैयार हुई कि एक घटना घटती है। उस व्यंतरी का शरीर कीलित (स्थिर) हो गया, तब वह दुखित होकर रोने लगी इतने में रानी की नींद उसके रुदन को देखकर खुल गयी और विचार करने लगी यह हमारे घर में रुदन की आवाज कौन कर रहा है? वह शैय्या से उठकर व्यंतरी के जीव के पास गयी और अपने हाथ से उसको स्पर्श किया तब उसके सब बंधन छूट गये। जब रानी के कर स्पर्श से वह बंधन रहित हो गयी तो कपट भाव को छोड़कर बोली हे रानी, हे बहिन! तुम ही जग में भाग्यवान हो तुम्हारे समान अन्य कोई पुण्यवान नहीं है, तुमने मेरा रुदन सुन मुझे बंधन रहित मात्र हाथ के स्पर्श मात्र से कर दिया। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, मुझे जो आज्ञा दोगी वही कार्य में खुशी से करूँगी। रत्नावली ने उस व्यंतरी को एक सुन्दर मन्दिर ऊँचे शिखर वाला स्वर्णमयी बनाने के लिए कहा।

Y X Y

(218)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
रत्नावली के वचन सुनते ही व्यंतरी ने वैसा ही मन्दिर का निर्माण किया और सुख से समय व्यतीत करने लगी।

पूर्व भव में जो रत्नावली की जिनमति नाम की सखी थी, वह स्वर्ग में देवी होकर सुख से काल व्यतीत करने लगी। उसी समय युगल मुनिराज जो चारणक्रद्धि के धारी थे आकाश मार्ग से पधारे। देवी ने उठकर हाथ जोड़कर नमस्कार किया और मुनिराज से पूछा हे मुनिवर! मेरी पूर्वभव की सखी धनश्री का जीव कहाँ है? देवी के वचन सुनकर मुनिराज ने कहा कि मकरध्वज नाम के राजा है वह उनकी प्राणवल्लभा रत्नावली है, वही रानी धनश्री का जीव है। ऐसे चारणक्रद्धि तपस्वी मुनिराज के वचन सुनकर वह रात्रि के समय रत्नावली के प्रति दयाभाव लाकर प्रतिदिन धर्मकथा कहने लगी। रत्नावली अपने मन में विचार करती है, कोई देवी जो मुझे रोज सम्बोधित करती है वह कौन है? तब ही मुनिराज का आगमन होता है तो रत्नावली मुनिराज से पूछती है, मुनिराज ने कहा कि वह तुम्हारे पूर्व जन्म की सखी जिनमति है। पहले पूर्वजन्म में धनश्री और जिनमति दोनों साथ-साथ दीपक से पूजा करती थीं, पूजा के प्रभाव से धनश्री का जीव देवायु पूर्ण कर मकरध्वज राजा की पटरानी रत्नावली और जिनमति अभी स्वर्गों में दिव्य सुखों का भोग कर रही है। पूर्व भव के मोहवश जिनमति का जीव तुम्हें हितकारी उपदेश देने आती है। रत्नावली ने अपनी सखी से कहा (जिनमति) हे देवी! मैं तेरे वचन प्रमाणिक मानकर शक्ति अनुसार जिनेन्द्र पूजन की प्रतिज्ञा को धारण करती हूँ। तभी देवी ने साक्षात् रूप से प्रकट होकर कहा- हे बहिन! तुम मेरी बात ध्यान से सुनो, मैं स्वर्ग से च्युत होकर सागरदत्त सेठ के घर जन्म लूँगी। उस समय मुझे संबोधित अवश्य करना तभी मैं तुम्हें हितकारिणी बहिन समझूँगी। वह देवी इस प्रकार कहकर अपने स्थान को चली गयी। स्वर्ग के सुखों को भोगकर आयु के अंत में स्वर्ग से चयकर उसी उत्तमपुर में सागरदत्त सेठ की पुत्री हुई उसका नाम सुदर्शना था, अब धनश्री के जीव ने जिनमति को सम्बोधा- जिससे कुछ समय बाद आर्यिका दीक्षा धारण करके दोनों ने (दीक्षा) दुर्द्धर तप किया व फिर स्वर्ग में गई। स्वर्ग के सुखों को भोगकर फिर मनुष्य भव को धारण करके मुनि दीक्षा धारण करके निर्वाण प्राप्त किया। जिनमति और धनश्री भक्तिपूर्वक कंचन कर्पूर मंगल आरती से पूजा प्रतिदिन करती थीं जिससे उन्हें कालांतर में मोक्ष की प्राप्ति हुई। इस प्रकार जिनेन्द्र पूजा का फल अपार है। दीपक द्वारा पूजन करने से कांतिमान शरीर प्राप्त होता है।

धूप से जिनेन्द्र भगवान की पूजा का फल

धूवेण सिसिरकरधवल, कित्तिधवलिय जयत्तओ पुरिसो।

जाइइ फलेण संपत्त, पंचम णिव्वाण सोक्ख फलो॥103॥

Y X Y

Y X Y

धूप से पूजा करने वाला, शशि सम होय धवल यशवान।

फल का पूजक मुक्ती सुख के, फल का भोगी होय महान॥103॥

अन्वयार्थ :- (धूवेण) धूप से जिनेन्द्र भगवान की पूजन करने वाला पुरुष (सिसिरकर धवल किति धवलिय जयत्तओ) चन्द्रमा के समान सफेद कीर्ति से व्याप्त किया है जगत्त्रय को जिसने अर्थात् त्रैलोक्य-व्यापी यश वाला होता है। (फलेण) फलों से पूजन करने वाला मनुष्य (परम णिव्वाण) परम निर्वाण की (संपत्त सोक्ख फलो) सम्पत्ति रूप सुख के फल को (जाइइ) प्राप्त करने वाला होता है।

अर्थ :- धूप से जिनेन्द्र भगवान की पूजन करने वाला पुरुष चन्द्रमा के समान सफेद कीर्ति से व्याप्त किया है तीनों लोकों को जिसने ऐसा त्रैलोक्य व्यापी यश वाला होता है। फलों से पूजन करने वाला मनुष्य परम निर्वाण की सम्पत्ति रूप सुख के फल को प्राप्त करने वाला होता है।

विशदार्थ :- कृष्णागर्वादिजैधूपैर्-धूषयेज्जिनपद युगम्।

सः सर्व जनता नेत्र, वल्लभः संप्रजायते॥169 उ.श्रा.॥

जो भव्य जीव कृष्णागरु चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी हुई धूप से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है अग्नि में खेकर धूप चढ़ाता है वह पुरुष समस्त लोगों के नेत्रों का प्यारा हो जाता है अर्थात् धूप को अग्नि में खेकर उसका धुंआ अपने दायें हाथ से भगवान की ओर करना चाहिये इसी को धूप पूजा कहते हैं धूप थाल में नहीं चढ़ाई जाती किन्तु अग्नि में खेई जाती है।

पोदनपुर नगर में बैरसिंह नाम का प्रभावी राजा राज्य करता था। राजा के कमला और विमला नाम की दो रानियाँ थीं। कमला रानी के कमलकुमार और विमला रानी के विमलकुमार नाम का पुत्र हुआ जो कि सब कलाओं में सम्पन्न और रूपवान थे। एक दिन बैरसिंह ने निमित्त ज्ञानी से पूछा कि इन दोनों गुणवान पुत्रों में से कौन राज्य का अधिकारी होगा? निमित्त ज्ञानी ने विचार कर कहा कि कमला रानी का पुत्र कमलकुमार राज्य का अधिकारी होगा। निमित्त ज्ञानी के वचन सुनकर उसके वचन की प्रमाणिकता जानने हेतु उस पुण्यवान कलावान पुत्र को राजा ने सेवकों के हाथ में देकर कहा कि हे सेवकों! इसको ले जाकर निर्जन भयानक वन में जहाँ सिंह आदि क्रूर प्राणी रहते हैं वहाँ पर छोड़ आओ जिससे यह मृत्यु को प्राप्त हो जाए। वह सेवक बालक को लेकर कमला रानी को रोते हुए छोड़कर बालक को मारने का विचार कर जंगल में ले गये। बालक वहाँ अपने को निर्जन वन में अकेला असहाय पाकर रुदन करने लगा, सोचने लगा मैं किसकी शरण में जाऊँ? इतने में एक दूसरा ही कार्य

Y X Y

Y X Y
हुआ। एक भैरुण्ड पक्षी जो कि माँस लोलुपी था उस बालक को उठाकर चोंच में दबाकर ले गया। इतने में दूसरा भैरुण्ड पक्षी भी वहाँ आ गया। उन दोनों भैरुण्ड पक्षियों में बालक को छीनने के लिए अपार युद्ध हुआ जिससे बालक एक ही चोंच से छूटकर अंधकूप में गिर गया, पुण्य के उदय से उस अंधकूप में एक मनुष्य पहले से ही गिरा था। जब बालक आकाश से गिरता हुआ देखा तो उसने दया हृदय में लाकर उसे बीच में ही हाथों में पकड़ लिया। बालक के शरीर की दिव्य कांति से कुँए का अंधकार मिट गया। ऐसा देख बालक को विशेष पुण्यवान जानकर उसने गले से लगा लिया। अब बालक भूख से पीड़ित होकर हृदय विदारक रुदन करने लगा। जिसे रोते देखकर बालक श्रेष्ठी को भी रोना आ गया। वह भी दुःखित होकर जोर-जोर से रोने लगा। उसी समय सार्थवाह बहुत से व्यक्तियों को साथ लेकर वहाँ आया, जो कि धनपति था। अतः जिसके साथ बहुत से धनवान व्यक्ति भी थे। धनपति के सार्थवाह ने अपने साथियों को पानी लेने भेजा जो उसी कुँए पर पहुँचा, जहाँ वह दोनों पड़े हुए रो रहे थे। साथी ने धनपति के पास आकर कहा कि हे सेठजी! इस कुँए में हृदय विदारक रोने की आवाज आ रही है। अपने सेवकों के वचन को सुनकर धनपति सार्थवाह वहाँ गया और सार्थवाह ने देखा कि अन्धकूप में पड़ा हुआ एक नन्हा कांतिमान बालक भी उसके साथ रो रहा है। एक श्रेष्ठी पुरुष जो उसका भी चित्त दयालु है, वह भी उसके साथ कुँए में है। कूप में स्थित मानव बोला यदि तुम सब इतने मनुष्यों में से कोई धर्मात्मा व्यक्ति हो तो मुझे बालक सहित इस अंधकूप से निकालकर जीवन दान दे दो। इस प्रकार कूप स्थित मानव के वचन सुनकर सार्थवाह अत्यन्त दुःखी हुआ, उसे दया आ गयी। बहुत प्रयत्न करने पर उसने उन्हें निकाल दिया। बालक सहित उस पुरुष को देखकर धनपति को अत्यन्त हर्ष हुआ एवं परस्पर में एक-दूसरे के प्रति प्रेम भाव जागृत हो गया। उस पथिक ने सार्थवाह की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा हे नाथ! तुम हमारे पुण्य से यहाँ आये हो। तुम दयालु हो, तुमने हमें चिंता रूपी फाँसी से छुड़ा दिया है। कुछ समय बाद धनपति ने पथिक से कहा तुम कौन हो और जो यह बालक तुम्हारे साथ कौन है? कृपया बतलाइये। तुम दोनों इस कुँए में कैसे गिरे, धनपति के वचन सुनकर पथिक ने कहा- मैं बहुत गरीब हूँ, मैं धनार्जन के लिए इधर-उधर घूम रहा था तभी मुझे प्यास लगी, प्यास के कारण मेरी आँखें भी तिलमिला गयी थीं। सब तरफ देखते-देखते मैं कुँए में गिर गया और बहुत दुःखी हुआ। जिस प्रकार मोह के वशीभूत हुआ जीव संसार इसी गहन कूप में गिरता है, उसी प्रकार मैं भी पाप कर्म के उदय से कुँए में गिर गया, वहाँ तेज कांति से युक्त शरीर वाला बालक भी आकाश से आकर गिर गया। मैंने उसके कांतिमान शरीर को देखकर उसे बीच में ही हाथ में पकड़ लिया लेकिन इस बालक की अबोध अवस्था को देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ, थोड़ी देर बाद बालक भूख से पीड़ित होकर रोने लगा जिससे बालक

Y X Y

Y X Y

को रोते देखकर मैं भी रोने लगा, हम दोनों के पुण्य के उदय से तुम यहाँ आ गये। अब आप ही इस बालक के पालन की मेरी चिंता को दूर करो। धनपति ने उस बालक की कांति से उसे पुण्यवान जाना जिससे वह अपने घर ले गया और जाकर अपनी पत्नी को दे दिया और बड़े ही दुलार से उसका पालन पोषण करने लगा और वह बालक रानी के प्रति विनय भाव रखता था जिससे उसका नाम विनयधर रखा परन्तु विनयधर से ग्रामवासी उसे धनपति का किंकर (नौकर) कहकर बुलाते थे जिससे उसे विशेष दुख होता था। रात दिन वह विचार करता था कि दूसरों के घरों में रहना कभी भी सुखकार नहीं है। दूसरों की पराधीनता में सभी सुख फीके हैं, जैसे सूर्य के सामने चन्द्रमा की उपमा फीकी पड़ जाती है। उसी प्रकार पर के घर में रहने से गुणवान पुरुषों की कीमत नहीं होती है, एक दिन विनयधर यौवन अवस्था को प्राप्त हो चुका था वह जिन मन्दिर में गया जिन मन्दिर भव्यजनों से खचाखच भरा हुआ था। उसमें सभी लोग अपने अनुसार जिनभजन कर रहे थे, उस समय एक महामुनिराज परम तपस्वी थे, शुद्ध चारित्र के धारक थे उनको नमस्कार करके विनयधर भी मुनिराज के चरण कमलों में जाकर बैठ गया। उस समय मुनिराज ने उपदेश दिया कि जो भव्य जीव धूप से पूजा करता है वह कालांतर में मुक्ति को प्राप्त करता है। धूप से पूजा का फल जानकर विनयधर मन ही मन बहुत खुश हुआ परन्तु मन में यह विचार करके दुखी हुआ कि मैं गरीब भगवान की धूप से पूजा कैसे करूँगा? फिर भी उसने मन बनाकर मुनिराज से धूप पूजा का नियम ले लिया और अपने घर की ओर चल दिया। एक दिन बाजार में घूमने गया और किसी की दुकान पर जाकर बैठ गया, दुकानदार ने उसे धूप का पैकिट दे दिया। विनयधर ने धूप का पैकिट उस धनपति को दिया तो धनपति ने वापिस विनयधर को दे दिया और कहा तुम इसे अपने कपड़ों में रख लेना जिससे तुम्हारे कपड़ों में खुशबू हो जायेगी परन्तु विनयधर धूप का पूड़ा ले जाकर मन्दिर में गया और बड़ी भक्ति भाव पूर्वक पूजन करने लगा जिससे धूप की सुगन्ध चारों ओर फैल गयी। जब यक्ष-यक्षिणी विमान पर बैठकर जा रहे थे धूप की सुगन्ध से उनका मन अत्यन्त प्रसन्न हो गया और उन्होंने अपना विमान वहीं रोक लिया। यक्षिणी ने यक्ष से कहा जब तक यह बालक धूप खे रहा है तब तक मैं अपने स्थान को नहीं जाऊँगी, यक्ष ने इस कार्य के लिए एक उपाय निकाला भयंकर सर्प का रूप बनाकर वह विनयधर के शरीर पर लिपट गया जिससे यह धूप खेने से डिग जायेगा और दोनों जल्दी से अपने स्थान को चले जायेंगे परन्तु विनयधर तो भगवान की भक्ति में तल्लीन रहा जिससे प्रसन्न होकर यक्ष ने उसे वरदान माँगने को कहा- यक्ष के वचन सुनकर विनयधर ने पूछा मेरे माता-पिता कौन हैं? कहाँ मेरा जन्म हुआ, कौन सा देश है? इसके बारे में मुझे बतायें जिससे मुझे शांति मिले। विनयधर के वचन सुनकर यक्ष कहने लगा तुम पोदनपुर के राजा बैरसिंह की कमला रानी के पुत्र हो

Y X Y

Y X Y
 तुम्हारा नाम कमल कुमार था। निमित्त ज्ञानी ने तुम्हारे लिए राज्याधिकारी बनने की घोषणा की थी जिससे क्रोध में आकर तुम्हें भयंकर वन में छोड़वा दिया पर एक भैरुण्ड पक्षी तुम्हें चोंच में ले आया उसी समय दूसरा भैरुण्ड पक्षी भी वहाँ आ गया, तेरे लिए दोनों में लड़ाई हो गयी। तू उस पक्षी की चोंच से छूटकर अंधकूप में आकर गिर गया लेकिन पुण्य कर्म से उस कूप में पहले से ही एक व्यक्ति था, उसने तुम्हें दोनों हाथों में झेल लिया। दैवयोग से पुण्य विशेष के कारण एक धनपति वहाँ आया और तुम दोनों को उसने बाहर निकाला और तुझे अपनी स्त्री को पालन पोषण के लिए दे दिया। 'मारने वाले से बचाने वाला महान् है।' जिसकी आयु शेष है उसे कोई भी मारने में समर्थ नहीं हो सकता।

धनपति ने तुझे पुत्रवत् पालन किया। जिससे तू गुणों को प्राप्त हुआ। शीघ्र ही यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। इस प्रकार यक्ष ने जन्म स्थान और माता-पिता का परिचय कराकर कहा कि यह रत्न तुझको देता हूँ जिस किसी को भी सर्पादि किसी भी प्रकार का विष चढ़ जाये तो उसे इस रत्न को पानी में डालकर पानी मंत्रित कर पिला देना वह ठीक हो जायेगा। इस प्रकार यक्ष-यक्षिणी विषापहार का रत्न विनयधर को देकर अपने स्थान को चले गये। एक बार रत्नरथ नाम का राजा उसकी सौ पुत्रों में जो एक इकलौती पुत्री थी जो सभी को प्यारी थी। एक दिन उसको किसी जहरीले सर्प ने काट लिया वह मूर्छित हो गयी। जिससे परिवार के सभी जन बहुत दुखी हुए, राजा ने उसको बहुत डॉक्टर वैद्य को दिखाया परन्तु राजकुमारी जीवित नहीं हुई, अब उसे श्मशान घाट में ले जाया गया उस समय विनयधर वहाँ पहुँचा और लोगों से रोने का कारण पूछा तो उनमें से किसी व्यक्ति ने कहा कि राजा की पुत्री को सर्प ने डस लिया है जिससे उसे कोई भी बचाने में समर्थ नहीं है। जब विनयधर ने सुना तो कहा इसका इलाज मैं कर सकता हूँ तो राजकुमारी के पिता राजा रत्नरथ ने उसे आधा राज्य पुत्री सहित देने का वादा किया और कहा तुम मेरी पुत्री को जल्दी से ठीक कर दो। अब विनयधर ने यक्ष का ध्यान किया जिससे यक्ष प्रकट हो गया। जो चिता राजा ने अपनी पुत्री के लिए तैयार करवायी थी, वहाँ रत्न से मंत्रित जल चिता पर छिड़क दिया जिससे राजकुमारी जीवित हो गयी। सभी जन बहुत खुश हुए। अब ससम्मान राजकुमारी और विनयधर को अपने महल में गाजे बाजे के साथ लाया गया। अब राजा ने मंत्री से विनयधर की जाति, कुल के बारे में जानने के लिए कहा, फिर मंत्री ने बताया कि यह एक धनपति के यहाँ नौकर है, वह इसे एक अंधकूप में से लेकर आया था। उसे इसकी जाति वगैरह के बारे में कुछ भी मालूम नहीं है फिर राजा ने कहा जाति जाने बिना हम इसकी शादी अपनी बेटी के साथ कैसे कर सकते हैं? उस समय एक यक्ष प्रकट हुआ और उसने विनयधर के जन्म से लेकर पूरी घटना सुनायी जिससे राजा ने जान लिया कि यह अच्छे कुल का है। फिर राजा ने अपनी बेटी की शादी विनयधर के साथ कर

Y X Y

Y X Y
 दी और राजा ने आधा राज्य और अपनी बेटी को देकर अपने वचन को पूर्ण किया और राजा अपने स्थान को चला गया।

एक दिन राजा सहित विनयधर राजा ने पोदनपुर अपनी जन्मभूमि में जाने का विचार किया। सब राजाओं को आमंत्रित कर युद्ध की भेरी बजवा दी। बहुत से योद्धाओं को साथ लेकर विनयधर बलवान राजा पोदनपुर के निकट जाकर ठहर गया। एक मनुष्य बैरिसिंह राजा के पास पहुँचा और विनयपूर्वक कहा कि नगर के निकट कोई राजा अपनी दलबल सेना सहित युद्ध हेतु आकर ठहरा है। इस प्रकार उस व्यक्ति के वचन सुनकर बैरिसिंह राजा अत्यन्त क्रोधित हुआ और कायर मनुष्यों को भय उत्पन्न करने वाली युद्ध की भेरी बजवा दी। दोनों पिता-पुत्र थे। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। अन्त में विनयधर ने अपने पिता को शस्त्र रहित कर दिया, उसी अवसर पर यक्षदेव पुण्य के प्रभाव से वहाँ आ गया एवं पवित्र मंत्र वाले विनयधर कुमार से बोला हे कुमार! यद्यपि यह राजा बड़ा दुष्ट स्वभावी है चूँकि इसने तुझे स्नेह रहित होकर जन्म लेते ही निर्जन क्रूर जन्तुओं से युक्त वन में डलवा दिया था फिर भी यह मारने योग्य नहीं है। यह तुम्हारा पिता है। फिर यक्ष राजा बैरिसिंह पिता के पास जाकर सुखकारी व हितकारी वचन बोला, कहा कि हे राजन! यह तेरा बड़ा पुत्र है। जिसकी कीर्ति ध्वजा चारों ओर फैल रही है जिसे तूने जन्म देते ही निर्जन वन में डाल दिया था, इसने अपने पुण्य के उदय से राज्य, कन्या, रत्न खजाना अपार सम्पत्ति व अन्य सुख सामग्री को स्वयं प्राप्त कर लिया है। ये तेरी कमला रानी का पुत्र है हे राजन्! यह इसके पुण्य का ही प्रताप है ऐसा कहकर यक्ष अपने स्थान को चला गया। तत्पश्चात् विनयधर कुमार ने यक्ष के वचनों को प्रमाण जानकर अपने पिता को प्रणाम किया। पिता-पुत्र दोनों ने आपस में एक-दूसरे से क्षमा माँगी। सभी सभाजन विनयधर के पुण्य की सराहना करने लगे, जन्मते ही वन में फिकवा दिया था तो भी पुण्य के प्रभाव से बच गया। अनेक कठिनाईयों को पार करके भी पर घर में अच्छे से पालन पोषण हुआ है। फिर वह माता से मिला, माता ने पूछा इतने दिन कहाँ रहे, किसने तुम्हारा पालन पोषण किया? इस प्रकार कुशलवार्ता करके वह सुख से रहने लगा। एक दिन राजा के वैराग्य के भाव जागृत हो गये। राजा विनयधर से कहने लगा कि राज्य के लोभ से पुत्र, पिता को और पिता पुत्र को मार डालता है। भाई-भाई को मार डालता है ये सुनकर विनयधर को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया। दोनों ने मुनि दीक्षा ले ली और कठोर तप किया। जिससे वे स्वर्ग में गये। स्वर्ग में दिव्य सुखों को भोगा। स्वर्ग की आयु को पूर्णकर बैरिसिंह का जीव पूरणचन्द नामक राजा हुआ और विनयधर का जीव देव आयु को पूर्णकर क्षेत्रपुरी में ही सेठ का गुणवान पुत्र हुआ। उसका नाम धूपसार रखा क्योंकि उसके शरीर से हमेशा ही सुगन्ध आती थी, किसी व्यक्ति ने राजा को सूचना दी कि धूपसार नाम के व्यक्ति में जन्म से ही

Y X Y

(224)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
स्वाभाविक खुशबू आती है। राजा ने धूपसार से खुशबू आने का कारण पूछा तो उसने पूर्व पुण्य कर्म के उदय से बताया जिससे राजा क्रोधित हुआ और राजा ने धूपसार के शरीर में विष्टा लिप्टवा दी लेकिन उस धूपसार के मन में बिल्कुल भी क्रोध नहीं आया जब दो देव विमान से जा रहे थे उन्होंने राजा के इस दुष्कृत्य को जान लिया और धूपसार के विष्टा से लिप्त शरीर को धोया और उसका शरीर पहले से भी अधिक सुगन्धित कर दिया। राजा ने देवों के इस कार्य को देखकर अपने पापों की क्षमा माँगी और नगर में मुनिराज के आने पर राजा धूपसार को साथ लेकर गया और धूपसार के सुगन्धित शरीर का कारण पूछा तो मुनिराज ने बताया कि इसने मन-वचन-काय से धूप से जिनेन्द्र भगवान की पूजा की थी इसलिए इसके शरीर से सुगन्ध आती है और मुनिराज ने बताया कि हे राजन! इससे तीन भव पहले तुम बैरिसिंह नाम के राजा थे और ये तुम्हारा विनयधर नाम का पुत्र था। विनयधर ने धूप से भगवान की भक्ति की थी जिससे इसका शरीर सुगन्धित हुआ है। मुनिराज के वचन सुनकर दोनों को वैराग्य उत्पन्न हुआ और कठोर से कठोर साधना की और अन्त में निर्वाण को प्राप्त किया। इस प्रकार जो भी जिनेन्द्र देव की धूप से पूजा करता है वह धूप सार की तरह सुगन्धित शरीर को प्राप्त करता है। उसकी यश, कीर्ति ख्याति धूप की सुगन्धी के समान दशों दिशा में फैलती है और अन्त में निर्वाण पद को प्राप्त कर अनन्त सुख का भोगी होता है और विशद गुणों को प्राप्त करता है।

जिन मन्दिर में घण्टा दान करने का फल

घंटाहिं घंटा सद्दाउलेसु पवरच्छराण मज्झमि।

संकीडइ सुर संघाय, सेविओ वर विमाणेसु॥104॥

घंटा दानी घंटा संयुत, देवों सेवित श्रेष्ठ विमान।

क्रीड़ा करती श्रेष्ठ देवियों, का स्वामी हो देव महान॥104॥

अन्वयार्थ :- (घंटाहिं) जिन मन्दिर में घंटा दान करने से घंटा दान करने वाला पुरुष (घंटा सद्दाउलेसु) घंटा के शब्द से आकुलित व्याप्त (पवरच्छराण मज्झमि) श्रेष्ठ अप्सराओं के मध्य में (सुर संघाय सेविओ) देवों के समूह से सेवित (वर विमाणेसु) श्रेष्ठ विमानों में (संकीडइ) अद्भुत क्रीड़ाएँ करता है।

अर्थ :- जिन मन्दिर में घंटा समर्पण करने वाला पुरुष घंटाओं के शब्दों से व्याप्त श्रेष्ठ विमानों में सुर समूह से सेवित होकर श्रेष्ठ अप्सराओं के मध्य में देव बनकर अद्भुत क्रीड़ाएँ करता है।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् जिनेन्द्र भक्ति करते हुए कहते हैं कि मंदिर में प्रवेश करके देहरी को छूते हैं, पश्चात् अंदर पहुँचकर तीन बार घंटा बजाते हैं। जिस प्रकार घंटे की तीव्र ध्वनि से संपूर्ण जगह

Y X Y

Y X Y
 में आवाज गूंजने लगती है, मंदिर में जाकर प्रसन्नता मिलती है, उसकी गुंजायमान आवाज से पता चल जाता है कि मंदिर में कोई दर्शनार्थी आए हुए हैं उसी प्रकार जो भव्य जीव मंदिर में घंटा दान करते हैं उनका यश भी तीनों लोकों में व्याप्त होता है और स्वर्ग विमानों में जन्म लेकर देवियों के मध्य देव बनकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। अन्त में सन्यास ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विशद जीवन का कल्याण करने के लिए कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान का छत्र व चँवर चढ़ाने का फल

छत्तेहिं एयछत्रं भुंजइ, पुहवीं सवत्त परिहीणो।

चामर दाणेण तहा, विज्जिज्जइ चमरणिवहेहिं॥105॥

छत्र चढ़ाए शत्रु रहित इक, छत्र राज्य का करता भोग।

चँवर दान से चँवर समूहों, का वह पाता है संयोग॥105॥

अन्वयार्थ :- (छत्तेहिं) जिनेन्द्र भगवान के ऊपर छत्र चढ़ाने से मनुष्य (सवत्त परिहीणो) सपत्न रहित, प्रतिपक्षी शत्रु रहित (एयछत्रं) एक छत्र (पुहवीं) पृथ्वी को (भुंजइ) भोगता है (तहा) तथा (चामरदाणेण) चँवरों के दान से (चमर णिवहेहिं) चँवरों के समूह द्वारा (विज्जिज्जइ) वीजित होता है अर्थात् उसके ऊपर चँवर ढोरे जाते हैं।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान के ऊपर छत्र चढ़ाने से मनुष्य प्रतिपक्षी शत्रु रहित एक छत्र पृथ्वी को भोगता है तथा चँवरों के दान से चँवरों के समूह द्वारा वीजित होता है अर्थात् उसके ऊपर चँवर ढोरे जाते हैं।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् जनसमुदाय को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान के ऊपर त्रय छत्र चढ़ाकर भावना भाते हैं कि हमारे भी जन्म, जरा, मृत्यु का नाश हो अथवा त्रिलोकों का भ्रमण नष्ट करके मोक्ष सुख को प्राप्त करें। क्योंकि जिनेन्द्र प्रभु तीन लोक के नाथ कहे गये हैं इसलिए तीर्थंकर भगवन्तों के ऊपर तीन छत्र लगाते हैं और यक्ष द्वारा 64 चँवर ढोरे जाते हैं। जिनेन्द्र प्रभु 64 ऋद्धि के धारी होते हैं शायद उसी का प्रतीक रूप देवों द्वारा 64 चँवर ढोरे जाते हैं। दूसरी ओर चक्रवर्ती 32 हजार राजाओं के अधिपति होने से चक्रवर्ती के आगे भी 32 चँवर ढोरे जाते हैं। नारायण अर्धचक्री होने से 16 चँवर ढोरे जाते हैं इसी प्रकार बलभद्र के आगे 8, महामण्डलेश्वर के आगे 4, मण्डलेश्वर के आगे सामान्य राजा के आगे एक इत्यादि का उल्लेख भी जिनशास्त्रों से प्राप्त होता है। यह सब पुण्य का फल है, ऐसा जानकर जिन भक्ति आराधना में रत रहकर जीवन सफल बनाना चाहिए यही धर्म का सार है।

जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करने का फल

Y X Y

(226)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अहिसेयफलेण णरो अहिसिचज्जइ सुदंसणस्सुवरि।

खीरोयजलेण सुरिंदप्प मुह देवेहिं भत्तीए॥106॥

जिनाभिषेक कर सौधर्मादिक, मुख्य इन्द्र द्वारा जानो।

क्षीर नीर से मेरुसुदर्शन, आदि पे न्हवन होय मानो॥106॥

अन्वयार्थ :- (अहिसेयफलेण णरो) जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करने के फल से मनुष्य (सुरिंदप्प मुह देवेहिं) सौधर्म आदि प्रमुख देवेन्द्रों के द्वारा (भत्तीए) भक्तिपूर्वक (सुदंसणस्सुवरि) सुदर्शनादि सुमेरु पर्वत के ऊपर (खीरोयजलेण) क्षीर सागर के जल से (अहिसिचिज्जइ) अभिषिक्त किया जाता है, न्हवन को प्राप्त होता है।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करने के फल से मनुष्य सौधर्म आदि प्रमुख देवेन्द्रों के द्वारा भक्ति पूर्वक सुदर्शनादि पंचमेरु सुमेरु पर्वत के ऊपर क्षीर सागर के जल से अभिषिक्त किया जाता है अर्थात् वह तीर्थंकर पद प्राप्त करता है उसका भी जन्माभिषेक होता है।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के फल की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि वर्तमान में यहाँ साक्षात् अरहंत देव तो नहीं विराजमान हैं किन्तु हमने उनकी प्रतिमा स्थापित करके दर्शन, पूजन, भक्ति, अभिषेक के माध्यम से पुण्य एकत्रित कर रहे हैं। साक्षात् अरहंत का अभिषेक नहीं होता है प्रतिमा का अभिषेक होता है। अभिषेक देखने में जितना पुण्य होता है उससे कई गुणा अभिषेक करने से पुण्य का संचय होता है। वह देवेन्द्रों में प्रमुख सौधर्म आदि कल्पों में जन्म लेता है। भक्तिपूर्वक सुदर्शनादि पंचमेरु आदि अकृत्रिम जिनालयों की वंदना करता है। सुमेरु पर्वत के ऊपर जिसका अभिषेक होता है जो आज प्रभु का अभिषेक करता है वह कालांतर में अभिषेक के पद को प्राप्त होता है। जो आज जल से अभिषेक करता है उसका क्षीरसागर के जल से अभिषेक होता है। इसलिए हमारे लिए प्रतिदिन अभिषेक अवश्य करना चाहिए अगर प्रतिदिन नहीं कर सकते तो कम से कम सप्ताह में एक दिन अवश्य करना चाहिए।

जिन प्रतिमा के न्हवन से, हो कर्मों की हान।

जिनाभिषेक करके विशद, बने जीव भगवान॥

जिन मन्दिर पर ध्वजा चढ़ाने का फल

विजयपडाएहिं णरो, संगामे सुविजइओ होइ।

छक्खंडविजयणाहो, णिप्पडिवक्खो यसस्सी य॥107॥

Y X Y

Y X Y
विजयी हो संग्राम आदि में, ध्वजा चढ़ाए श्रद्धावान।

षट्खण्डों का स्वामि यशस्वी, शत्रू विरहित हो विद्वान॥107॥

अन्वयार्थ :- (विजय पडाएहिं) जिन मन्दिर पर विजय पताकाओं के चढ़ाने से (णरो) मनुष्य (संगामे सुविजइओ) संग्राम में विजयी (होइ) होता है (य) और (णिण्पडिवक्खो) प्रतिपक्षी शत्रु रहित होकर (छक्खंड विजयणाहो) षट्खण्ड पृथ्वी का विजयी स्वामी और (यसस्सी) यशस्वी होता है।

अर्थ :- जिन मन्दिर पर विजय पताकाओं के चढ़ाने से मनुष्य संग्राम में विजयी होता है और प्रतिपक्षी शत्रु रहित होकर छह खण्ड पृथ्वी का विजयी स्वामी और यशस्वी होता है अर्थात् चक्रवर्ती पद प्राप्त करता है।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् कहते हैं जिन मंदिर ऐसा पवित्र स्थल है जहाँ हमारे अनादिकाल के लगे कर्मों की संख्या कम होती है। अपार पुण्य का संचय होता है। मंदिर में ध्वजा लगाने से वह चारों ओर लहराती रहती है उसी ध्वजा को विजय और सकारात्मकता ऊर्जा का प्रतीक माना जाता है। इसलिए प्राचीनकाल में जब युद्ध में या किसी अन्य कार्य में विजय प्राप्त होती थी तो ध्वजा फहराई जाती थी। वास्तु के अनुसार भी ध्वजा को शुभता का प्रतीक माना गया है। माना जाता है कि घर पर ध्वजा लगाने से नकारात्मक ऊर्जा का नाश तो होता ही है साथ ही घर को बुरी नजर भी नहीं लगती है। घर के उत्तर-पश्चिम कोने में यदि ध्वजा लगाई जाती है तो उसे वास्तु के दृष्टिकोण से बहुत अधिक शुभ माना जाता है। वायव्य कोण यानी उत्तर पश्चिम में ध्वजा वास्तु के अनुसार जरूर लगाना चाहिए क्योंकि ऐसा माना जाता है कि उत्तर पश्चिम कोण यानी वायव्य कोण में राहु को रोग, शोक व दोष का कारक माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि यदि घर के इस कोने में किसी भी तरह का वास्तु दोष हो या ना भी हो तब भी ध्वजा लगाने से घर में रहने वाले सदस्यों के रोग, शोक व दोष का नाश होता है और घर की सुख व समृद्धि बढ़ती है इसलिए प्रत्येक घर में ध्वजा, पताका अवश्य लगाना चाहिए।

जिन मन्दिर में जिन प्रतिमा स्थापित करने का फल

कुत्थुं भरिदलमेत्ते, जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।

सरिसवमेत्तं लहइ, सो वि नरो तित्थयरं पुण्णं॥108॥

जौ के सम जिनमंदिर निर्मित, सरसों सम जिन प्रतिमा जान।

स्थापित कर तीर्थकर शुभ, प्रकृति पाए जीव महान॥108॥

अन्वयार्थ :- (जो नरो) जो मनुष्य (कुत्थुंभरिदलमेत्ते) कुन्दरु के पत्ते (धनिया की पत्ती/

Y X Y

(228)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
समान) के बराबर (जिण भवणे) जिनालय एवं (सरिससवमेत्तं) सरसों के बराबर (जिण पडिमं)
जिन प्रतिमा को (ठवेइ) स्थापित करता है। (सो) वह (वि) भी (तित्थयरं पुण्णं) तीर्थकर नाम पुण्य
कर्म को (लहइ) प्राप्त करता है।

अर्थ :- जो मनुष्य कुन्दरु के पत्ते (धनिया की पत्ती / समान) प्रमाण जिनालय में सरसों के
बराबर जिन प्रतिमा को स्थापित करता है, वह मनुष्य भी तीर्थकर नाम पुण्य प्रकृति का बंध करता है।

विशदार्थ :-

जिनबिंबोपरि भव्यः, धार्यते यः क्षत्र त्रयं।

स सौधर्मादिषु कल्पे, जायते सुर नायकः॥1॥

क्षत्र त्रयं धार्यते जिनपं, त्रियोगेन् सुभावताः।

रत्नत्रयं परिप्राप्तं, त्रयरोग क्षयं व्रजेत्॥2॥

आचार्य भगवन् कहते हैं जो भव्य जीव वीतरागी जिनेन्द्र भगवान के जिनबिंबों के ऊपर
भक्तिभाव से क्षत्र धारण करते हैं वे जीव सौधर्मादिक स्वर्गों में इन्द्र आदि उत्तम देव होते हैं।

जो भव्य जीव भक्ति भाव से युक्त होकर जिनेन्द्र देव के ऊपर तीन योग से शुद्ध होकर त्रय क्षत्र
धारण करते हैं वे रत्नत्रय के धारी होकर अपने जन्म, जरा और मृत्यु तीनों रोग क्षयकर विशद मोक्ष पद
प्राप्त करते हैं।

सभी जानते हैं जिनेन्द्र भगवान त्रिलोकीनाथ कहे जाते हैं और त्रिलोक का आकार नीचे चौड़ाई
अधिक है और ऊपर कम है इसी का प्रतीक यह तीन लोक को सूचित करने के उद्देश्य से तीन क्षत्र वह
भी नीचे बड़ा फिर छोटा और फिर और छोटा इस प्रकार त्रिलोक के अधिपति सूचित करने की अपेक्षा
से तीन क्षत्र भगवान के ऊपर स्थापित करते हैं। वे जीव तीन लोक के अधिपति होते हैं और जिसके पुण्य
से वे जीव हर स्थान पर अधिपतित्व प्राप्त करते हैं तथा क्रमशः सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त कर
विशद ज्ञान के धारी होकर मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

जिन मन्दिर निर्माण का फल

जो पुणु जिणिंदभवणं, समुण्णयं परिहि तोरण समग्गं।

णिम्मावइ तस्सफलं, को सक्कइ वणिणुं सयलं॥109॥

Y X Y

Y X Y

ऊँचे कोट तोरणों संयुत, करवाए जिनगृह निर्माण।

उसके पूरे फल का वर्णन, में समर्थ है कौन प्रधान?॥109॥

अन्वयार्थ :- (पुणुजो) फिर जो (समुण्णयं) ऊँचे (परिहि तोरण समग्गं) कोट और तोरण द्वारों से सहित (जिणिंदभवणं) जिन मन्दिर का (णिम्मावइ) निर्माण करवाता है। (तस्स सयलं फलं) उसके सम्पूर्ण फल का (वण्णिउ) वर्णन करने के लिए (को सक्कइ) कौन समर्थ है? अर्थात् कोई भी नहीं।

अर्थ :- जो ऊँचे कोट और तोरण द्वारों से सहित जिनमन्दिर का निर्माण करवाता है, उसके सम्पूर्ण फल का वर्णन करने के लिए कौन समर्थ है? अर्थात् कोई भी नहीं।

विशदार्थ :- पद्मनदी पंचविंशतिका में आचार्य श्री पद्मनदी जी ने इसी भाव को और स्पष्ट करते हुए बताया है-

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या, ये कारयन्ति जिनसद्य जिनाकृतिं च।

पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता, स्तोतुं पवस्य किमु कारयितुर्हि यस्य॥

आचार्य श्री ने इस पद्य में व्यक्त किया है कि जो भव्य जीव भक्ति से कुन्दरु के पत्ते के बराबर जिनालय तथा जौ के बराबर जिन प्रतिमा का निर्माण कराते हैं उनके पुण्य का वर्णन करने के लिए यहाँ वाणी (सरस्वती) भी समर्थ नहीं है। फिर जो भव्य जीव जिनालय एवं जिन प्रतिमा दोनों का ही निर्माण कराते हैं, उनके पुण्य के विषय में क्या कहा जाये अर्थात् वह तो अतिशय पुण्यशाली होता है।

भगवान किसी भी व्यक्ति को कुछ भी इच्छापूर्वक नहीं देते; किन्तु भक्त अपनी भक्ति के द्वारा उनसे मन वांछित अभीष्ट की प्राप्ति कर ही लिया करते हैं। भगवान तो सभी चीजों के त्यागी होते हैं, उनके पास है ही क्या? ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। भगवान के ज्ञान रूपी अक्षय भण्डार में संसार का ऐसा कौन सा पदार्थ या वस्तु है जो कि मौजूद नहीं है, और जब वे सभी चीजें मौजूद हैं ही, तो भक्त लोग अपनी भक्ति के फल से उनमें से अपनी मनचाही चीजें प्राप्त कर लें, इसमें आश्चर्य की बात क्या है? जिस प्रकार गाय किसी को भी दूध इच्छापूर्वक नहीं देती फिर भी ग्वाले अपने आप उससे दूध प्राप्त कर लेते हैं।

निरन्तर जिनेन्द्र भगवान की पूजा का फल

जो पुज्जइ अणवरयं, पावं णिद्वहइ आसिभवबद्धं।

Y X Y

(230)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

पडिदिणकयं च विहुणइ, बंधइ पवराइं पुण्णाइं॥110॥

करे निरन्तर जिन पूजा वह, पूर्व कर्म का करे दहन।

नाशे प्रतिदिन हुए पाप को, करे पुण्य का वह बन्धन॥110॥

अन्वयार्थ :- (जो अणवरयं) जो मनुष्य निरन्तर जिनेन्द्र भगवान की (पुज्जइ) पूजा करता है वह पुरुष (आसिभव बद्धं पावं) पूर्व भवों में बाँधे हुये पाप कर्मों को (णिदहइ) जलाता है (च) और (पडिदिणकयं) प्रतिदिन किये हुये पापों को (विहुणइ) नष्ट करता है (पवराइं) प्रकृष्ट (पुण्णाइं) पुण्य कर्मों को (बन्धइ) बाँधता है।

अर्थ :- जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की निरन्तर पूजा करता है, वह पूर्व भव में बाँधे हुये पाप कर्मों को जला देता है और प्रतिदिन किए हुये पापों को भी नष्ट करता है तथा उत्कृष्ट पुण्य कर्मों को बाँधता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कुन्दकुन्ददेव ने भावपाहुड में कहा है-

जिणवर चरणंबुरुहं, णमंति जे परम भक्तिराएण

ते जम्मवेल्लि मूलं खणंति वर भाव सत्थेण॥

अर्थात् जिनेश्वर के चरण कमलों को जो उच्च भक्ति युक्त अनुराग भाव से प्रणाम करते हैं, वे जन्मरूप वेलि के मूल को निर्मल परिणाम रूप शस्त्र से काट डालते हैं।

संस्कृत पूजा में भी जिनेन्द्र पूजा का महत्त्व बतलाते हुये कहा गया है-

ये पूजां जिननाथ शास्त्र यमिनां, भक्त्या सदा कुर्वते।

त्रैसंध्यं सुविचित्र काव्य रचना, मुच्चारयन्तो नराः॥

पुण्याद्या मुनिराज कीर्ति सहिता, भूत्वा तपोभूषणाः।

ते भव्यः सकलावबोध रुचिरां, सिद्धिं लभन्ते पराम्॥

जो पुण्यात्मा मनुष्य प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल अनेक प्रकार स्तुतिगान करते हुये भक्ति से देव -शास्त्र-गुरु की पूजा भक्ति करते हैं, वे भव्य जीव मुनिपद धारण कर तपश्चरण से विभूषित हो केवलज्ञान से रुचिर उत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं।

आचार्य जिनसेनाचार्य धर्म रत्नाकर ग्रंथ में कहते हैं

देवाधिदेव पद पङ्कज युग्म पूजां, छत्राद्यवाद्य कुसुमै-रचयन्त्यजस्रम्॥

मृत्वा गता मरगतौ किल दुर्गतालं, स्त्रीत्वद्धि पूजनफल समयप्रसिद्धम्॥57॥

Y X Y

Y X Y

अर्थात् जो भक्त इन्द्रादिक देवों के भी देव ऐसे श्री जिनेश के चरणकमल युगल की पूजा छत्र आदि वादित्र और पुष्पों से निरंतर करते हैं वे मरकर के देवगति में जन्म लेते हैं। वहाँ से उन्हें मनुष्य लोक में स्त्रीत्व व दरिद्रता आदिक नहीं प्राप्त होते हैं पूजन का यह फल आगम में प्रसिद्ध है।

जिन पूजा से भावों में निर्मलता

वज्रदन्त चक्रवर्ती कथा

जम्बूद्वीप के भीतर पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश है। उसके अन्तर्गत पुण्डरीकिणी पुरी में यशोधर नामक तीर्थंकर कुमार राजा थे। किसी वैराग्य के निमित्त को पाकर उन्हें संसार व भोगों से विरक्ति हो गई। तब उन्होंने वज्रदन्त नामक पुत्र को राज्य देकर स्वयं दीक्षा धारण कर ली। उस समय देवों ने उनके दीक्षा कल्याण का महोत्सव किया। एक दिन राजा वज्रदन्त सभा भवन (दरबार) में विराजमान था। तब वहाँ अपने हाथों में वस्त्र युक्त ध्वजा को लेकर दो पुरुष उपस्थित हुए। उनमें से एक ने राजा से प्रार्थना की कि- 'हे देव! आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।' दूसरे ने निवेदन किया कि- 'यशोधर भट्टारक के केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।' ये दोनों शुभ समाचार सुनकर राजा वज्रदन्त ने उन दोनों को पारितोषिक दिया एवं समस्त जनों के साथ समवशरण में गये। जब उसने जिन भगवान के शरीर की कान्ति को देखकर उनकी पूजा की तब परिणामों में अतिशय निर्मलता होने से उसके जो पुण्य उत्पन्न हुआ उससे उसी समय उसे अवधि ज्ञान की प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् वह छह खण्डों को जीतकर सुखपूर्वक राज्य करने लगा। यह कथा आदिपुराण में प्रसिद्ध है।

जिन पूजा से तीनों लोकों के समस्त सुख की प्राप्ति

किं जंपिण बहुणा, तीसुवि लोएसु किं पि जं सुक्खं।

पुज्जाफलेण सव्वं, पाविज्जइ णत्थि संदेहो॥111॥

अधिक कहें क्या तीन लोक में, मिलता है जो सौख्य महान।

वह सब पूजा का फल ही है, नहीं कोई संदेह प्रधान॥111॥

अन्वयार्थ :- (बहुणा जंपिण किं) बहुत कहने से क्या (तीसुवि लोएसु) तीनों लोकों में (जं किं पि सुक्खं) जो कुछ भी सुख हैं (सव्वं) वे सब (पुज्जाफलेण) पूजा के फल से (पाविज्जइ) प्राप्त होते हैं (संदेहो णत्थि) इसमें संदेह नहीं है।

अर्थ :- बहुत कहने से क्या, तीनों लोकों में जो कुछ भी सुख हैं वे सब पूजा के फल से प्राप्त होते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

विशदार्थ :- आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने भी पूजा के फल को बताते हुये प्रतिदिन अरिहंत

Y X Y

(232)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
देव की पूजा करने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

देवाधिदेव चरणे, परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।

कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादृतो नित्यम्॥र.क.श्र. 9॥

अर्थात् वैयावृत्ति करने वाले गृहस्थ को जिन पूजन भी करना आवश्यक है। आदरपूर्वक नित्य सर्व कामनाओं के पूर्ण करने वाले और काम विकार के जलाने वाले देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र भगवान की सर्व दुःखों की विनाशक परिचर्या अर्थात् पूजा अर्चना भी करनी चाहिए।

विशेष – आचार्य श्री सोमदेव सूरी ने ‘यशस्तितिलक चम्पू’ ग्रन्थ में कहा है—

देव पूजामनिर्माय, मुनीननुपचर्य च।

यो भुज्जीत गृहस्था सन्, स भुंजीत परं तमः॥

अर्थात् जो गृहस्थ होते हुये भी देव पूजा एवं मुनि की सेवा किए बिना भोजन करता है, वह महापाप को खाता है।

जिन पूजा की अनुमोदना का फल

महाराक्षस विद्याधर की कथा

लंका नगरी के भीतर राक्षसकुल में उत्पन्न हुआ एक महाराक्षक नामक का विद्याधरों का राजा था। वह मनोहर उद्यान में जल क्रीड़ा के लिये गया था। वहाँ उसने सरोवर में स्थित कमल के भीतर रहे हुए एक भ्रमर को देखा। इससे उसे बड़ा वैराग्य हुआ उसने वहाँ घूमते हुए किसी मुनि को देखकर पूछा— हे मुनीन्द्र! मेरे पुण्य के अतिशय का कारण कहिये। मुनि ने उसके पुण्यातिशय का कारण इस प्रकार कहा— इसी भरत क्षेत्र के भीतर सुरम्य देश में स्थित एक पौदान नाम का नगर है। उसका स्वामी कनक रथ था। उसने जिन पूजा करायी थी। वहाँ प्रीतिकर नाम से प्रसिद्ध भद्र मिथ्यादृष्टि देशान्त से आकर स्थित थे। उस पूजा की अनुमोदना करने के पुण्य के प्रताप से तुम आयु के अन्त में मरकर यक्ष उत्पन्न हुए थे। इस पर्याय में तुमने पुण्डरीकिणी नगरी के भीतर समूह के ऊपर वनाग्नि से उत्पन्न हुए उपसर्ग को दूर किया था। इससे तुम आयु के अन्त में शरीर को छोड़कर पुष्कलावती देश के भीतर स्थित विजयार्ध पर्वत के ऊपर निवास करने वाले विद्याधरराज तडिल्लिंघ के मुदित नामक पुत्र उत्पन्न हुए थे। उसकी (तुम्हारी) माता का नाम श्रीप्रभा था। उस पर्याय में तुमने कुमार अवस्था में ही दीक्षा ले ली थी। तत्पश्चात् तप करते हुए तुमने अमर विक्रय नामक विद्याधर नरेश की विभूति को देख कर निदान किया था— उसकी प्राप्ति की इच्छा की थी। इससे तुम समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त होकर प्रथम सनतकुमार कल्प में देव उत्पन्न हुए थे और फिर वहाँ से च्युत होकर तुम (महाराक्षस विद्याधर) हुए हो। इस पूर्व

Y X Y

Y X Y
 वृत्तान्त को सुनकर वैराग्य को प्राप्त होकर महाराक्षस अपने अमरराक्षस और भानुराक्षस पुत्रों को राज्य देकर मुनि हो गया एवं मुक्ति को प्राप्त हुआ।

सम्पूर्ण पूजा के फल का वर्णन करने में कौन समर्थ

एयारसंगधारी, जीहसहस्सेण सुरवरिंदो वि।

पुज्जाफलं ण सक्कइ, णिस्सेसं वण्णिउं जम्हा॥112॥

ग्यारह अंग रूप श्रुत धारी, होवे कोई सुर देवेन्द्र।

पूजा के फल का वर्णन कोई, ना समर्थ करने में इन्द्र॥112॥

अन्वयार्थ :- (जम्हा) क्योंकि (एयार संगधारी) एकादश अंगों मय श्रुतज्ञान धारी (सुरवरिंदो) देवेन्द्र (वि) भी (जिहसहस्सेण) हजारों जिह्वाओं से (णिस्सेसं) सम्पूर्ण (पूजाफलं) पूजा के फल को (वण्णिउं) वर्णन करने के लिए (ण सक्कइ) समर्थ नहीं हैं।

अर्थ :- ग्यारह अंगों के रूप श्रुतज्ञान धारी देवेन्द्र भी हजारों जिह्वाओं से सम्पूर्ण पूजा के फल का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं।

आचार्य भगवन् पूजा प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जो सच्चा भक्त जिनेन्द्र देव की अष्ट द्रव्यों से पूजन करता है वह स्वर्ग और निर्वाण के सुखों को प्राप्त करता है। प्रत्येक द्रव्य से पूजन करने से क्या फल मिलता है इसका वर्णन आगे आ चुका है जिसका पालन सभी भक्तों को करना चाहिए और अपनी शक्ति अनुसार भी प्रत्येक द्रव्य से पूजन करना चाहिए। पूजा भक्ति करते समय अपनी श्रद्धा, आस्था को कमजोर नहीं करना चाहिए। आज स्थिति ऐसी बन गई है। पूजन, भक्ति की क्रिया में ऐसा नहीं करना, ऐसा नहीं करना, हर क्रिया में काँट-छाँट करते हैं इसलिए कुछ लोग मंदिर ही नहीं जाते हैं, कुछ लोग जो मंदिर जाते, अभिषेक करते थे इसी काँट-छाँट के कारण अपनी क्रिया ही बंद कर दी। ऐसे लोगों से कहना चाहते हैं वो अपनी क्रिया की ओर ध्यान ना देकर कौन क्या कर रहा है इस बात पर जोर ना दीजिए बल्कि अपने भावों को विशुद्ध करते हुए अपना मोक्ष मार्ग प्रशस्त करते रहे और निर्वाण सुख शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लें।

विशदार्थ :- आम नारिंग जंवीर, कदल्यादि तरुद्भवौः।

फलेर्जयति सर्वज्ञं, लभतेपीहितं फलम्॥169३.श्रा.॥

आचार्य भगवन् कहते हैं जो भव्य जीव आम, नारंगी, नींबू, केला आदि वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फलों से भगवान् सर्वज्ञदेव की पूजा करता है वह पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार फलों को प्राप्त होता है।

Y X Y

Y X Y
 अर्थात् जिन फलों से इन्द्रिय और मन को संतोष हो ऐसे हरे या फल चढ़ाना चाहिये। फल देखने में सुंदर और मनोहर होने चाहिये। गोला या बादाम की मिगी फल नहीं कहलाते किंतु नैवेद्य कहलाते हैं इसलिये गोला के बदले नारियल चढ़ाना चाहिये, बादाम भी फोड़कर नहीं चढ़ाना चाहिये। रकेबी में फल रखकर बड़ी विनय और भक्ति से भगवान के सामने रखने चाहिये। आठों द्रव्यों में फल सर्वोत्कृष्ट द्रव्य है।

जो फल से जिनेन्द्र देव की पूजा करता है वह मोक्षफल को प्राप्त करता है। वह भव्य पुरुष मनवांछित, फल उत्तम सुख तथा परभव में स्वर्गादिक के उत्तम सुखों को भोगकर उत्तम मानुष भव में जन्म लेकर शिव सुख को प्राप्त करता है। एक श्रीपाल नाम का राजा था, उसकी रानी वसुन्धरा थी। वह बड़ी धार्मिक थी, उसने एक मन्दिर का निर्माण करवाया और आठ दिन पर्यंत महाविधान मंडल की पूजा करवायी। उसी नगर में एक वैश्य की रूपिणी कन्या रहती थी जो पाप कर्म के उदय से बहुत दरिद्र थी। एक दिन जिनमन्दिर दर्शन हेतु गयी तो उसकी भी जिन मन्दिर में फल चढ़ाने की इच्छा हुई। यह विचारकर अत्यन्त दुखी हुई कि मैं तो भगवान के सामने एक भी फल नहीं चढ़ा सकती। अपनी गरीब स्थिति के कारण इस प्रकार वह उद्यान में घूमने निकली तभी एक तोता आम तोड़ रहा था तभी रूपिणी ने खगराज (तोते) से कहा एक आम तोड़कर मुझे भी दे दो मुझे जिन मन्दिर में चढ़ाने की तीव्र इच्छा हो रही है और जिनेन्द्र देव की आम्नादि फल से आराधना करने से स्वर्ग मोक्षादि सुखों की प्राप्ति होती है। उसी पेड़ पर एक तोती भी बैठी थी जब उसने सुना तो उसने कुछ आम फल तोड़कर रूपिणी को दे दिये। आम फल लेकर रूपिणी जिन मन्दिर गयी और (पूजा करने लगी) भक्ति पूर्वक फल चढ़ा दिये। उसी समय तोता ने तोती से कहा कि हम तो तिर्यच हैं। हम तो भक्ति करने में समर्थ नहीं हैं इसलिए तोता-तोती ने भी फल चढ़ाने का भाव किया जिससे शुभ कर्म का बंध किया। तोता-तोती मरकर प्रथम स्वर्ग में गये और रूपिणी का जीव मरकर सौधर्म नामक स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव हो गया। वह तोता का जीव देव पर्याय को पूर्णकर गंथिल नगर के सूरदेव राजा की रत्नादेवी नाम की प्राणप्रिया रानी के गर्भ में वास किया। उस समय गर्भस्थ शिशु के प्रभाव से रानी को दोहला हुआ कि आम का फल मैं खाऊँ, यह बात उसने राजा से कही, राजा ने आम फल बहुत ढूँढा परन्तु उसे आमफल कहीं नहीं मिला। उसी समय रूपिणी का जीव जो सौधर्म स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव हुआ था। उसने अवधिज्ञान से विचार किया कि वह तोता का जीव स्वर्ग से चयकर कहाँ उत्पन्न हुआ? यह जानकर कि रत्नावली के गर्भ में वृद्धिगत हो रहा है उसने विचार किया कि पूर्व भव में तोते की पर्याय में जब उसने मेरा परम उपकार आमफल देकर किया था तो उसका उपकार करना हमारा कर्तव्य है यदि मैं उपकार नहीं करूँगा तो मुझे पाप रूपी कीचड़ से मलिन होना पड़ेगा। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। नीतिकारों ने कहा है कि जो मनुष्य

Y X Y
 किसी के द्वारा किए गए थोड़े भी उपकार को भूल जाते हैं वे अपयश को प्राप्त कर दुर्गति के पथिक बन जाते हैं। ऐसा विचार करके वह देव स्वर्ग से चलकर मनुष्य का रूप धारण कर एक आम का फल लेकर चल दिया और वह फल राजा को दे दिया। राजा ने फल लाने का कारण पूछा तो उसने बताया कि आपकी रानी के गर्भ में जो बालक है उसी के उपकार से प्रेरित होकर मैं स्वर्गलोक से यहाँ आया हूँ। पूर्व भव में यह सुक (तोता) का जीव था। तब यह मेरा परम उपकारी था, इसी पूर्वभव के स्नेहपाश से प्रेरित होकर मैं यहाँ आया हूँ। राजा गर्भ में स्थित बालक के पुण्य का विचार करने लगा। राजा ने फल रानी को दिया और शुभ नक्षत्र में उस बालक का जन्म हुआ तो उसका नाम विद्वानों ने फलसार रखा। वह धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होने लगा एक दिन रूपिणी के जीव ने देवगति से आकर फलसार कुमार को कहा कि तुम पूर्व में तोते की पर्याय में भगवान के सामने भक्तिपूर्वक आम्रफल चढ़ाया करते थे। उस धर्म के प्रभाव से ही देवलोक में अनेक दिव्य सुखों को भोगकर राजकुमार हुए हो, हे राजन! पूर्वभव में जो तुम्हारी अर्द्धांगिनी तोती थी जिनपूजन के प्रभाव से स्वर्ग में देवी हुई, आपके साथ देवोचित सुखों को चिरकाल तक भोगकर राजपुर के अधिपति मदनकेतु की वरांगना लक्ष्मीमती के रूप गुणों की खान शशीलेखा नाम की कन्या रत्न रूप में जन्मी है। धीरे-धीरे उसने यौवन अवस्था को धारण किया। राजा ने उसके विवाह हेतु स्वयंवर विधि का आयोजन किया। उस आयोजन में सुन्दर रूप धारण करने वाले वीर यौद्धा, बुद्धिमान प्रतापी राजकुमार भी उपस्थित हुए हैं नृपेन्द्र (फलसार) तुम एक तोता युगल का चित्र बनाकर चित्र सहित वहाँ पधारो। वह चित्र देखकर जाति स्मरण हो जाने पर राजकुमारी वरमाला तुम्हारे ही गले में डाल देगी। वह बोला मैं रूपिणी का जीव हूँ। आप लोगों ने मुझे पूर्वभव में जिन अर्चना हेतु उत्तम आम्रफल दिए थे उस धर्म के प्रभाव से मैंने स्वर्ग में देव पर्याय को प्राप्त किया जब तुम गर्भ में थे तब तुम्हारी माता को आम्र खाने की तीव्र अभिलाषा हुई थी तभी अवधिज्ञान से जानकर मैंने माँ की इच्छा पूर्ण की थी। मैं आपके पूर्वभव के स्नेहवश होकर ही यहाँ आया था। इस प्रकार कहकर वह पुनः स्वर्ग को चला गया। तदनंतर देव के वचन प्रमाणिक मानकर फलसार सेना सहित स्वयंवर स्थल पहुँचा, वहाँ उचित आसन ग्रहणकर राजकुमारी को देखकर मुग्ध हो गया। तभी राजकुमारी ने फलसार के मुकुट में तोता-तोती के युगल चित्र को देखकर जाति स्मरण हो गया जिससे वह मूर्छित हो गयी। कुशल वैद्यों ने शीतोपचार क्रिया कर ठीक किया। होश में आने पर वह विचारने लगी यह मेरे पूर्वभव के स्वामी हैं। परमोत्कृष्ट उत्तम जिनधर्म के धारी हैं मैं अपने पूर्वभव के प्रियतम का ही वरण करूँगी ऐसा विचारकर राजकुमारी ने फलसार के गले में वरमाला डाल दी। सभी लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। शुभमुहूर्त में राजकन्या का पाणिग्रहण संस्कार किया। दोनों जन पूर्व पुण्य से काफी समय तक भोगजन्य सुखों में मग्न रहे। इन्द्रलोक में दोनों के पुण्य की प्रशंसा होने लगी तभी एक देव ईर्ष्यावश परीक्षा लेने हेतु

Y X Y

(236)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
तत्काल स्वर्गलोक से भूमि पर आया और विषधर का रूप धारणकर फलसार कुमार की प्राण प्रिया शशीलेखा को डस लिया। फलसार ने शशिलेखा के इलाज को अनेक वैद्यराज बुलाए परन्तु उनका कुछ असर नहीं हुआ। तब फलसार ने धर्म को शरण समझकर धर्म ध्यान करने लगे। उसी समय वह देव जो सर्प का रूप धारण करके आया था उसने वैद्य का रूप बनाया और कुमार के पास आकर बोला— आपको क्या हो गया? आप भूत से ग्रसित मनुष्य की तरह क्यों पागल हो रहे हैं? आपकी प्राण प्रिया को विषहरण सुरद्रुम मंजरी के आने पर ही विष दूर होगा। फलसार जब रानी (शशिलेखा) के पास बैठा था वह रूपिणी का जीव वहाँ आया और राजकुमार के हाथों में सुरमंजरी औषधी लाकर दी। राजकुमार ने वह औषधी वैद्यों के हाथ में देकर कहा यदि मेरी नारी निर्विष हो गयी तो मैं तुझे मुँह माँगा इनाम दूँगा। कपटी देव ने रानी को निर्विष कर दिया और वह देव असली रूप में प्रकट हो गया। हे राजन्! मेरे अपराध को क्षमा कीजिए। मैं आपके वीर साहस को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। आप जो चाहें वह वर माँग लें तब फलसार ने एक सुन्दर महल के निर्माण करने को कहा— देव ने वैसा ही किया। फिर वह देव अपने स्थान को चला गया। फलसार और शशिलेखा दोनों पति-पत्नी सुख से रहने लगे।

फलसार के पिता राजा सूरिसिंह को मुनिराज के उपदेश सुनकर वैराग्य उत्पन्न हो गया। जिससे उन्होंने राजपाट फलसार को देकर उसे राजा बना दिया और स्वयं दीक्षा लेकर कठिन साधना करने लगा। एक समय शशिलेखा रानी के गर्भ में पुण्यवान जीव ने अवतार लिया नवमास पूर्ण होने पर एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। फलसार ने उसका नाम चंद्र रखा। यौवन अवस्था आने पर उसका सुन्दर राजकन्या से विवाह कर दिया। फलसार को कुछ समय बाद वैराग्य उत्पन्न होने पर उसने अपना राज्य चन्द्रसार को दे दिया और स्वयं मुनि दीक्षा लेकर दुर्द्धर तप करने लगा। तप के प्रभाव से वह सातवें स्वर्ग में ऋद्धि युक्त देव हुआ जब उसने अवधिज्ञान से जाना कि मैंने पूर्व भव में फल से जिनेन्द्र भगवान की पूजा की थी जिससे ये देव पर्याय प्राप्त हुई है जिससे वह देव भगवान की उत्तम फलों से जिन अर्चना करने लगा फिर स्वर्ग सम्बन्धी सुखों को भोगकर आयु पूर्ण करके मनुष्य भव को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त किया। रूपिणी के जीव ने भी अल्पकाल में दीक्षा धारण कर कुछ भवों में कठोर तप कर मोक्ष को प्राप्त किया। इस प्रकार फल से पूजा का उत्कृष्ट फल जानकर सभी को जिनेन्द्र देव की पूजन करना चाहिए। संपूर्ण अष्ट द्रव्य से पूजन करने के बाद अर्घ्य चढ़ाया जाता है। जिसमें सभी प्रकार की सामग्री मिलाकर अर्घ्य से पूजन की जाती है, इसी बात को आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज उमास्वामी श्रावकाचार ग्रंथ में कहते हैं—

जल गंधाक्षतातीव, सुगंधिकुसुमैः कृती।

Y X Y

Y X Y

पुष्पांजलिददन् दिव्यां, जिनाग्रे लभते फलम्॥1॥

जल, चंदन, अक्षत, अत्यंत सुगंधित पुष्प आदि समस्त द्रव्यों के समुच्चय रूप अर्घ्य से भगवान् जिनेन्द्र देव के सामने दिव्य पुष्पांजलि को समर्पण करता हुआ पुण्यवान् पुरुष मोक्ष फल को प्राप्त होता है। अर्थात् फल पूजा के बाद समस्त द्रव्यों से मिला हुआ अर्घ्य चढ़ाना चाहिये एवं अर्घ्य में आठों द्रव्यों के सिवाय दूब, सफेद सरसों, साथिया, नंद्यावर्त, दही, पान आदि द्रव्य भी होते हैं। अष्ट द्रव्यों के साथ इन द्रव्यों के मिलाने से ही अर्घ्य संज्ञा होती है केवल अष्ट द्रव्य मिलाने से नहीं। अर्घ्य में दीपक जलाकर फिर उसको आरती के समान उतारना चाहिये। अर्घ्य चढ़ाने के बाद पुष्पांजलि नहीं चढ़ाना वह पूजा के अनुक्रम को भूलता है। दोनों हाथों की अंजली में पुष्प रखकर पुष्पवृष्टि के समान भगवान् पर क्षेपण करने को पुष्पाञ्जलि कहते हैं। पूजा की पूर्णता पुष्पाञ्जलि से ही होती है। पुष्पाञ्जलि के बाद झारी से शांतिधारा देनी चाहिये। शांतिधारा समस्त सुखों को देने वाली होती है।

पुष्पांजलि प्रदानेन, महापुण्यं प्रजायते।

तेन स्वकीय दुःखेभ्यो, नरो दत्ते जलांजलिम्॥193 उ.श्रा.॥

अर्थात् भगवान् के सामने पुष्पाञ्जलि चढ़ाने से महापुण्य की प्राप्ति होती है तथा उस पुण्य से यह मनुष्य अपने समस्त दुखों की जलांजलि दे डालता है। अर्थात् क्षय करके परम सुखी हो जाता है।

॥इति पूजा प्रकरण॥

बन्दर को किसने पकड़ा - मूर्खता ने या घड़े ने?

एक बन्दर एक मनुष्य के घर प्रतिदिन आता था और ऊधम करता था। कपड़े फाड़ देना, बर्तन ले जाना, बच्चों को नोच लेना, खाने पीने की वस्तुएँ फैला देना, उसका नित्य कार्य था। घर वाले उ स क

इस उपद्रव से परेशान थे। एक दिन घर स्वामी ने एक छोटे मुँह की हान्डी मँगायी और उसमें भुने चने डालकर हान्डी को भूमि में गाड़ दिया। केवल हान्डी का मुँह खुला हुआ था। सब लोग वहाँ से दूर चले गये।

वह बन्दर घर में आया। थोड़ी देर इधर उधर कूदता रहा, जब उसने गड़ी हुई हान्डी में चने देखे तो हान्डी के पास आकर बैठ गया। चने निकालने के लिये उसने हान्डी में हाथ डाला और मुठ्ठी में चने भर लिये। हान्डी का मुँह छोटा था, उसमें से मुठ्ठी नहीं निकल सकती थी। बन्दर ने मुठ्ठी निकालने के लिये जोर लगाया, चिल्लाने लगा और कूदने लगा। उस बन्दर ने समझ रखा था कि इस हान्डी ने

Y X Y

(238)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
मुझे पकड़ रखा है।

घर स्वामी ने बन्दर को रस्सी से बाँध कर बाहर भेज दिया। बन्दर को घड़े ने नहीं पकड़ रखा था, वह मुट्ठी खोल देता तो छूटकर भाग सकता था किन्तु उसकी अज्ञानता से वह पकड़ा गया था इसी प्रकार संसारी जीव अपने अज्ञान से बंधा है किन्तु मानता है कि मुझे कर्म और शरीर आदि ने बाँध रखा है।

विणयपयरणं (विनय प्रकरण)

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार से पाँच प्रकार की विनय करें

दंसण णाण चरित्ते तवोवयारं पि पंच विह विणओ।

पंचम गइ गमणट्ठं कायव्वो देसविरण्ण॥113॥

देशव्रती पंचम गति पाने, हेतू दर्शन ज्ञान चरित्र।

तप उपचार विनय पाँचों यह, धारण करें भाव से मित्र॥113॥

अन्वयार्थ :- (देसविरण्ण) देशव्रती श्रावक को (पंचम गइ गमणट्ठं) पंचम गति मोक्ष की प्राप्ति के लिए (दंसण णाण चरित्ते) दर्शन-ज्ञान-चारित्र मय (पि) तथा (तवोवयारं) तप और उपचार रूप (पंच विह विणओ) पाँच प्रकार की विनय (कायव्वो) करना चाहिए।

अर्थ :- देशव्रती श्रावक को पंचम गति मोक्ष की प्राप्ति के लिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तथा तप और उपचार मय पाँच प्रकार की विनय करना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं अणुव्रती श्रावक पंचम गति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उद्यम करता है। मोक्ष जहाँ पर संपूर्ण प्रकार के शुभ अशुभ सभी कर्मों को तप बल आदि के माध्यम से नष्ट करता है। उसकी प्राप्ति के लिए दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, उपचार रूप संपूर्ण प्रकार से विनय करता है और परंपरा से निर्वाण सुख को प्राप्त करता है।

दर्शन विनय

णिस्संकिय संवेगाई, जे गुणा वणिग्या मए पुव्वं।

तेसिम् अणुपालणं जं, वियाण सो दंसणो विणओ॥114॥

निःशंकित संवेग आदि का, मैंने पहले किया कथन।

उनका ही अनुपालन करना, दर्शन विनय कहे भगवन्॥114॥

Y X Y

Y X Y

अन्वयार्थ :- (णिस्संकिंय संवेगाइ) निःशंक आदि तथा संवेग आदि (जे गुणा) जो गुण (मए) मुझ ग्रन्थकर्ता॥ आचार्य वसुनन्दि॥ के द्वारा (पुव्वं) पहले सम्यक्त्व प्रकरण में (वणिण्या) वर्णन किए हैं (तेसिम्) उनका (जं अणुपालणं) जो अनुपालन है (सो) उसे (दंसणो विणओ) दर्शन विनय (वियाण) जानना चाहिए।

अर्थ :- निःशंक आदि तथा संवेग आदि जो गुण मुझ ग्रन्थकर्ता आचार्य वसुनन्दि के द्वारा पहले सम्यक्त्व प्रकरण में वर्णन किए हैं, उनका जो अनुपालन है उसे दर्शन विनय जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् दर्शन विनय के विषय में विशद वर्णन करते हुए कहते हैं निशंकादि अष्ट अंग अर्थात् निशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य एवं मार्ग प्रभावना इन अष्ट गुणों की विनय करना। **निशंकित** अर्थात् तत्त्व ऐसा ही है अन्य नहीं है, इसमें शंका नहीं करना निशंकित अंग है। जिनेन्द्र भगवान ने तत्त्वों के विषय में जैसा कहा है वही सत्य है। उनके वचनों में शंका नहीं करना चाहिए। इस अंग के प्रभाव से वह सप्तभय से रहित होता है। जैसे अंजन चोर ने जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका नहीं की और निर्भय होकर छींके की लड़ी काट कर मंत्र सिद्ध किया। **निःकांक्षित**—संसार सुखों की चाह नहीं करना निःकांक्षित अंग है। संसार में सुख-दुख आदि कर्मों के आधीन हैं। सम्यक्दृष्टि जीव संसार सुखों की आकांक्षा नहीं करके मोक्ष की प्राप्ति हेतु तप, जप, व्रत आदि क्रियाएँ करता है। सेठ की पुत्री अनंतमती ने बचपन में व्रत लेकर भोगों के लिये सांसारिक सुखों की कामना नहीं की और धर्म को नहीं छोड़ा और देव पद को प्राप्त किया। **निर्विचिकित्सा**— जो रत्नत्रय से पवित्र हैं ऐसे मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना क्योंकि मुनिराज नहाते नहीं हैं उनके शरीर से बदबू आ सकती है इसलिए ग्लानि ना करके उनके गुणों में प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग है। राजा उदायन ने मुनि के अपवित्र शरीर को देखकर ग्लानि नहीं की और आहार देने के बाद मुनि ने उनके ऊपर उल्टी कर दी फिर भी भक्तिपूर्वक आत्म निंदा की। **अमूढदृष्टि**— अमूढ़ता का अर्थ है मूढ़ता का नहीं होना अर्थात् यथार्थदृष्टि रखना है। अनेक प्रकार के मत मतांतरों में सत्य-असत्य का निर्णय करना अमूढदृष्टि अंग है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के सिद्धांतों के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण रखना और मिथ्यामार्ग या मिथ्यामार्ग पर चलने वालों से संपर्क नहीं रखना, उनकी प्रशंसा नहीं करना व उन्हें सम्मति नहीं देना इसी अंग में आता है। विद्याधर क्षुल्लक द्वारा अनेक प्रकार की महिमा दिखलाने पर भी रेवती रानी अपने श्रद्धान से शिथिल नहीं हुई और प्रसिद्धि प्राप्त की। **उपगूहन**— मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक के द्वारा अज्ञानता या असावधानीवश कोई गलती हो जावे तो उसे ढक लेना अर्थात् प्रकट नहीं होने देना अपगूहन अंग है। ब्रह्मचारी का रूप धारण करने वाले चोर के दोष को जिनेन्द्र भक्त सेठ ने

Y X Y

(240)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
छिपाया था ब्रह्मचारी पद की निंदा नहीं की। **स्थितिकरण**— धर्म और चारित्र से यदि कोई चलायमान हो रहा हो तो उसे प्रेम से समझाकर धर्म मार्ग पर स्थिर करना स्थितिकरण अंग है। पुष्पदंत ब्राह्मण को मुनि पद से शिथिल हुआ जानकर मुनि वारिषेण ने उसे चारित्र में दृढ़ किया। **वात्सल्य**— चतुर्विध संघ तथा साधर्मी बंधुओं का सद्भावनापूर्वक यथायोग्य स्नेह व आदर सत्कार करना वात्सल्य अंग है। विष्णुकुमार मुनि ने वात्सल्य भाव से उपसर्ग निवारण करने के लिए वामनरूप धारण कर अंकपनाचार्य आदि 700 मुनियों पर आये उपसर्ग का निवारण किया था। **प्रभावना**— जैनधर्म की महिमा को फैलाना प्रभावना अंग है। पूजन, विधान, रथयात्रा आदि कार्यों से जैनधर्म को फैलाना ताकि अज्ञानता रूपी अंधकार को हटाया जा सके। मुनिवज्रकुमार की प्रेरणा से विद्याधरों ने रानी उर्मिला के रथ को विशेष जुलूस के साथ निकालकर धर्म की प्रभावना की।

संवेग संसार अथवा संसार के कारण पाप से डरने को संवेग कहते हैं। संसार शरीर और भोगों से विरक्ति का नाम निर्वेद है। अपने पापों की अपने मन में स्वयं ही निंदा करना निंदा है। अपने पापों की गुरु के सामने जैसी हमारी गलती है उसी रूप में बताना गर्हा है। कषायों के दबने को **उपशम** कहते हैं, अरिहंतादि पूज्य पुरुषों में अनुराग रखना **भक्ति** है। धर्मात्माओं में निष्कपट प्रेम रखना अर्थात् साधर्मियों के प्रति गाय और बछड़े की भांति प्रेम करना वात्सल्य और प्राणी मात्र के प्रति दया पालन करना जीव दया अनुकम्पा है।

आचार्य भगवन् वसुनंदि महाराज कहते हैं, जो भव्य जीव सम्यक्त्व के इन अंगों एवं अष्ट गुणों का पालन करते हैं वह परंपरा से स्वर्ग और निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

ज्ञान विनय

णाणे णाणुवयरणे य, णाणजुत्तम्मि तह य भत्तीए।

जं पडिचरणं कीरइ, णिच्चं तं णाण विणओ हु॥115॥

ज्ञान और उपकरण ज्ञान के, तथा प्राप्त जो सम्यक् ज्ञान।

उनकी सेवा होय भाव से, ज्ञान विनय यह कहा महान॥115॥

अन्वयार्थ :- (णाणे) ज्ञान में (य) और (णाणुवयरणे) ज्ञान के उपकरणों में अर्थात् शास्त्र, चौरंग फलक आदि (तह) तथा (णाणजुत्तम्मि) ज्ञान से युक्त ज्ञानी पुरुषों में (भत्तीए) भक्ति पूर्वक (जं णिच्चं पडिचरणं) जो सदा सेवा सुश्रुषा (कीरइ) की जाती है (तं) उसे (हु) नियम से (णाणविणओ) ज्ञान विनय जानना चाहिए।

अर्थ :- ज्ञान में और ज्ञान के उपकरणों में अर्थात् शास्त्र, चौरंग फलक आदि तथा ज्ञान से युक्त

Y X Y

Y X Y
ज्ञानी पुरुषों आचार्य, उपाध्याय, साधु में भक्ति पूर्वक जो सदा सेवा सुश्रुषा की जाती है, उसे नियम से ज्ञान विनय जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि सम्यक्ज्ञान ही प्रमाणिक है, शेष ज्ञान तो मिथ्या है। आचार्य समतभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में ज्ञान के विषय में कहा है—

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।

निःसंदेहं वेद, यदाहुस्तज्ज्ञान मागमिनः॥र.श्र. 42॥

अर्थात् जो पदार्थ को न्यूनता एवं अधिकता रहित ज्यों का त्यों विपरीतता रहित और संदेह रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यक्ज्ञान कहते हैं।

सम्यक्ज्ञान के 8 दोष हैं। 1. **कालाचार**— अर्थात् योग्य काल में आगम का स्वाध्याय करना चाहिए। रात्रि का पूर्वभाग, दिन का अंतिम भाग दो घड़ी सहित अर्धरात्रि के बाद का काल तथा गोसर्गकाल अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् और दो घड़ी सहित मध्याह्न के पूर्व ये चार समय तथा निरंतर पठन, पाठन, परिवर्तन (पाठ करना, व्याख्यानदि स्वाध्याय का काल माना गया है। अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। 1. उत्पात द्वारा दिखाएँ अग्नि के समान वर्ण (रंग) वाली हो रही हों उसे दिग्दाहक कहते हैं। 2. उत्कापात हुआ हो अर्थात् आकाश से तारा के आकार सदृश पुद्गल पिंड गिरा हो। 3. बिजली चमक रही हो। 4. मेघ के संघर्षट से चटात्कार शब्दादि होता है। 5. वज्रपात हो रहा हो। 6. आकाश में इन्द्र धनुष बना हो। 7. दुर्गंध आ रही हो। 8. बरसते मेघ से घिरा हुआ दिन हो। 9. चन्द्रग्रहण हो रहा हो। 10. सूर्यग्रहण हो रहा हो। 11. क्रोधातुर मनुष्यों का परस्पर गाली गलोच हो रहा हो। 12. तलवार, छुरी से संग्राम हो रहा हो। 13. आकाश में धूमकेतु, धूमाकार रेखा दिखाई देता हो। 14. भूकंप हो रहा हो। 15. रूधिरादि की वृष्टि हो रही हो। 16. मेघ गर्जना हो रही हो। 17. भयानक आँधी तथा अग्निदाह हो रहा हो इत्यादि उपद्रव कारक कारणों के होने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए वह वर्जनीय है। आचार्य भगवन् कहते हैं कि सूत्र ग्रंथों को अर्थात् जिनमें सिद्धांत का वर्णन हो ऐसे ग्रंथों को अस्वाध्याय कालादि में नहीं पढ़ना चाहिए, शेष समय अन्य ग्रंथों को पढ़ सकते हैं। 2. **विनयाचार** अर्थात् स्वाध्याय करते समय विनय का ध्यान रखना चाहिए। आँखों से देखकर पिच्छी से भूमि पुस्तकादि का मार्जन कर तथा शुद्ध प्रासुक जल से हाथ-पाँव का प्रक्षालन कर, आसन लगाकर, जिनवाणी को उच्च स्थान पर विराजमान कर, अपनी शक्ति अनुसार शुद्ध-उपयोग पूर्वक अर्थ सहित सूत्र का अध्ययन करना ही विनयाचार कहलाता है। 3. **बहुमानाचार**— यथायोग्य सूत्रार्थ का उच्चारण करता हुआ तथा कर्म निर्जरा के निमित्त अन्य को पढ़ाता हुआ आचार्य, उपाध्याय आदि का शास्त्र का

Y X Y
और अन्य व्यक्तियों का तिरस्कार अनादर नहीं करना, गर्व नहीं करना ही बहुमानाचार है। 4.

उपधानाचार- जिस शास्त्र के योग्य जो तप हो उसका आचरण कर शास्त्र का पठन-पाठन करना अर्थात् शास्त्र स्वाध्याय करते समय यथायोग्य कुछ न कुछ वस्तु का त्याग करना चाहिए यही उपधानाचार है। 5. **अनिह्ववाचार-** अपने गुरु का या जिस शास्त्र से पढ़ा है उसका नाम नहीं छिपाना। तीर्थकर, गणधर, सप्तक्राद्धियों के धारक मुनियों के अतिरिक्त सब यतीश्वर कुल व्रत शील से हीन हैं उनसे सम्यक्ज्ञान ग्रंथ को पढ़कर जो कुल, व्रत, शील में महान् है उन्हें कहें कि कुल, व्रत, शील में जो महान् उनसे मैंने शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया। ऐसा कहने वाले को निह्व दोष होता है, कारण की उसने अपना गर्व प्रकट किया है अतः उसके शास्त्र निह्व और गुरु निह्व दोष होता है और इस दोष से उसके महान् कर्म बंध होता है। 6. **शब्दाचार-** शब्द-ग्रंथों के शब्द, मात्रा आदि का शुद्ध उच्चारण करना, व्याकरण के अनुसार शुद्ध शब्द का या गुरु मुख से शुद्ध शब्द का उच्चारण करना शब्दाचार है। 7. **अर्थाचार-** व्याकरण के अनुसार गुरु के उपदेशानुसार शब्द के अर्थ को समझकर, शब्द और अर्थ में हीनाधिकता नहीं करना अर्थाचार है। 8. **उभयाचार-** व्याकरण के अनुसार शुद्ध शब्द का गुरु मुख से शुद्ध शब्द का अर्थ समझते हुए शुद्ध उच्चारण करना उभयाचार कहलाता है।

जिसने ज्ञान की विनय की वह ज्ञानी पुरुष ही केवलज्ञान की उत्पत्ति करता है, जिसने विनयपूर्वक अध्ययन किया है उसे कदाचित् प्रमादवश इस भव में स्मरण ना भी रहे तो परभव में भी स्मरण आ सकता है अतः विशद ज्ञान प्राप्ति हेतु ज्ञान की विनय करना चाहिए।

चारित्र विनय

पंचविहं चारित्तं, अहियारा जे य वणिग्या तस्स।

जं तेसिं बहुमाणं, वियाण चारित्तविणओ सो॥116॥

पंच भेद हैं जो चारित के, उसका किया गया वर्णन।

उनका जो बहुमान भाव है, वह चारित्र विनय पावन॥116॥

अन्वयार्थ :- (पंच विहं चारित्तं) पाँच प्रकार का चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात चारित्र) (य) और (तस्स) उस चारित्र के (जे अहियारा वणिग्या) जो अधिकार वर्णन किए गये हैं (जं) जो (तेसिं) उनका (बहुमाणं) बहुमान करता है, (सो) उसे (चारित्र विणओ) चारित्र विनय (वियाण) जानो।

अर्थ :- पाँच प्रकार का चारित्र सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और

Y X Y
 यथाख्यात चारित्र तथा उस चारित्र के जो अधिकार वर्णन किए गये हैं, जो उनका बहुमान करता है
 अर्थात् आदरपूर्वक पालन करता है उसे चारित्र विनय जानना चाहिए।

विशदार्थ :- अभीक्षण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् चारित्र के विषय में कहते हैं—

हिंसानृतचौयेभ्यो, मैथुन सेवा परिग्रहाभ्यां च।

पाप प्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्।।र.श्रा. 49।।

अर्थात् पाप के कारण भूत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से विरक्त होना ही सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है। आत्म स्वरूप में स्थिर होना चारित्र है। चारित्र दो प्रकार का होता है— 1. सकल चारित्र, 2. विकल चारित्र। सकल चारित्र— सकल का अर्थ है परिपूर्ण चारित्र अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों का पूर्णरूप से त्याग करना ही सकल चारित्र होता है। चारित्र के 13 भेद भी होते हैं। 5 महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह महाव्रत) 5 समिति (ईया, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, व्युत्सर्ग) तीन गुप्ति (मन, वचन, काय गुप्ति) चारित्र के 5 भेद भी होते हैं। गाथा में 5 प्रकार के भेद इस प्रकार बताए हैं। सामायिक चारित्र अर्थात् समस्त सावद्य योग (मन-वचन-काय की हिंसाजनक प्रवृत्ति) का त्याग, सब जीवों में समता भाव रखना, सुख-दुख में समता भाव रखना, शुभ-अशुभ विकल्पों का त्याग करना सामायिक चारित्र है। 6 से 9 गुणस्थान तक सामायिक चारित्र होता है। **छेदोपस्थापना चारित्र**— प्रमादवश व्रतों में दोष लग जाने पर प्रायश्चित आदि द्वारा उसका शोधन करके पुनः व्रतों में स्थापित हो जाना छेदोपस्थापना चारित्र है। यह 6 से 9वें गुणस्थान तक होता है। **परिहार विशुद्धि चारित्र**— केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में 30 वर्ष तक प्राणी हिंसा से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। रागद्वेष विकल्पों का त्यागकर आत्मा की शुद्धि करना परिहार विशुद्ध चारित्र है। 6-7वें गुणस्थान में यह चारित्र होता है। **सूक्ष्म सांपराय चारित्र**— सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं अतः सूक्ष्म लोभ कषाय मात्र के रह जाने को सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते हैं। यह 10वें गुणस्थान में होता है **यथाख्यात चारित्र**— समस्त मोहनीय कर्म प्रकृतियों के क्षीण हो जाने पर जो स्वाभाविक पूर्ण वीतराग चारित्र उत्पन्न होता है वह यथाख्यात चारित्र है यह 11 से 14वें गुणस्थान में होता है।

विकलचारित्र अर्थात् विकल का अर्थ है अपूर्ण या एकदेश। हिंसादि पापों का एक देश त्याग करना ही विकल चारित्र है इसे देश चारित्र, संयमासंयम, अणुव्रत, गृहस्थों का चारित्र कहते हैं। यह पाँचवें गुणस्थान में होता है।

चारित्र ही धर्म है, चारित्र से ही जीवन में चमक आती है, यदि जीवन धन, पैसा, वैभव, कुटुम्ब

Y X Y

(244)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
परिवार, मित्रगण सब कुछ है किन्तु एकमात्र चारित्र नहीं है तो जीवन में सब कुछ होने पर भी कुछ भी नहीं है। आचार्य भगवन् समयसार जी में कहते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि काम भोग बंध कहा।

एयतस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥4॥

अर्थात् सभी प्रकार की काम, भोग व बंध विषयक कथाएँ अनादि काल से हमने हमेशा सुनी है। परिचय में आयी हैं और अनुभव भी की हैं। अतः ये सब तो सुलभ ही हैं परंतु हमारा एकत्व विभक्त आत्मा एक ऐसा है जिसे जानना, परिचय पाना और अनुभूति में उतारना सब कुछ उत्तरोत्तर दुर्लभ है। उस आत्मानुभूति को निश्चय चारित्र कहा है और जो उस चारित्र को प्राप्त कर लेता है वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह निश्चय चारित्र सकल संयमधारी मुनियों के ही संभव है। यद्यपि संपूर्ण परिग्रहों का त्यागकर सकल संयम धारण करने की शक्ति के अभाव में आचार्यों ने देश संयम का विधान किया है। एक-एक सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते ही एक दिन उस अंतिम सीढ़ी भी प्राप्ति हो जाती है जो हमें हमारी मंजिल तक पहुँचा देती है वह है 'सिद्ध दशा' जहाँ जीव विशद सुख का भोग करते हैं।

तप विनय

बालोऽयं बुद्धोऽयं संकप्पं विज्जिऊण तवसीणं।

जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि॥117॥

बाल वृद्ध आदिक संकल्पों, को तजकर जो हैं तपवान।

कष्ट निवारण या सुश्रूषा, करना विनय सुतप है जान॥117॥

अन्वयार्थ :- (अयं बालो) यह बालक है (अयं बुद्धो) यह वृद्ध है (संकप्पं विज्जिऊण) इस प्रकार के संकल्प को छोड़ कर (तवसीणं) तपस्वियों के (जं पणिवायं) कष्टों का निवारण करने के लिए जो सेवा सुश्रूषा (कीरइ) की जाती है (तं) उसे (तव विणयं) तप विनय (वियाणीहि) जानना चाहिए।

अर्थ :- यह बालक है, यह वृद्ध है इस प्रकार के संकल्प को छोड़कर तपस्वियों के कष्टों का निवारण करने के लिए जो सेवा सुश्रूषा की जाती है उसे तप विनय जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि दशलक्षण धर्म में पहले तप आया है उसके बाद त्याग आया है। 16 कारण भावना में पहले त्याग आया बाद में तप आया है। ऐसा क्यों? क्योंकि तपी हुई वस्तु का त्याग करने में मूल्य बढ़ता है। हमारे जितने भी मुनि, तीर्थंकर हुए उन्होंने सबसे पहले तप को स्वीकार

Y X Y

Y X Y
 किया। जिसने तप को स्वीकारा है वही पतन से बचा है। तप कई प्रकार से हो सकता है किन्तु तप भी सम्यक् तप होना चाहिए। तप के सामान्य से दो भेद हैं— सम्यक् तप और मिथ्या तप। सम्यक् तप अर्थात् समीचीन तप ही मोक्ष मार्ग को बढ़ाने वाला है। सम्यक् तप भी दो प्रकार के हैं— अंतरंग तप, बहिरंग तप। अंतरंग तप जिसमें अंतरंग भावों की मुख्यता हो और बहिरंग तप जिसमें बाह्य क्रिया की मुख्यता हो। बाह्य तप 6 प्रकार के होते हैं— 1. अनशन तप— अनशन का अर्थ है उपवास। चार प्रकार के आहार का (खाद्य, स्वाद, लेह्य, पेय) परित्याग करना अनशन तप है जहाँ भोजन के साथ-साथ विषय कषायों का भी त्याग हो उसे उपवास कहते हैं। आचार्य श्री आदिसागर जी महाराज 6 उपवास के बाद 7वें दिन आहार करते थे उन्होंने 25 साल तक इस नियम का पालन किया। ऐसे ही शांतिसागर जी महाराज ने 35 वर्ष के मुनि काल में 25 वर्ष तो उपवासपूर्वक व्यतीत किये और शेष समय केवल दूध, चावल और पानी लिया। इसी प्रकार अनेक साधुओं ने तप साधना की। 2. अवमौढ्य तप— भूख से कम खाना अर्थात् कम खाने से प्रमाद नहीं रहता, स्वास्थ्य ठीक रहता है, आलस्य नहीं आता, नींद नहीं आती, ध्यान में मन लगता है। मुनिराज तो अपने उदर के 4 भागों में से एक भाग को जल से, 2 भाग को अन्न से और 1 भाग को खाली रखते हैं। 3. वृत्तिपरिसंख्यान तप— भोजन को जाते समय साधु जन कठिन-कठिन विधि लेकर निकलते हैं यदि ऐसी विधि मिलेगी तो आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा निराहार ही वापिस आ जायेंगे। आचार्य शांतिसागर जी महाराज का नियम था बैल के सींग में गुड़ लगा हो तभी आहार ग्रहण करेंगे। 4. रस परित्याग तप— घी, दूध, मीठा, नमक, तेल, दही इन छह रसों में से एक, दो अथवा सभी रसों का त्याग करते हैं। पूर्ण रूप से रस त्याग तो मुनिराज करते हैं किन्तु थाली दिखाते समय कुछ न कुछ वस्तु हटवा देते हैं जिससे कि रसना इंद्रिय पर विजय प्राप्त कर सके। कई श्रावक ऐसे भी होते हैं जो यथायोग्य रस परित्याग करते हैं। 5. विविक्तशय्यासन तप— टेढ़ा-मेढ़ा आसन, चाहे जैसा आसन हो, मोटा हो, पतला हो, कोमल हो इत्यादि। प्रमाद रहित होकर एकांत स्थान में सोना बैठना रहना विविक्तशय्यासन तप है। 6. काय क्लेश तप— शरीर को कष्ट देना अर्थात् सर्दी-गर्मी-वर्षा किसी भी मौसम में खुले में ध्यान करना अनेक प्रकार के कष्ट सहते हुये समता परिणाम रखना सो कायक्लेश तप है।

इन बाह्य तपों का आचरण करने से मन भोगों से हट जाता है। मन इधर-उधर नहीं घूमता है।

अभ्यन्तर तप के 6 भेद— 1. प्रायश्चित्त— जाने अनजाने हुए दोषों की आलोचना करने, व्रतों में लगे हुए दोषों की विशुद्धि होती है, उसके 10 भेद होते हैं। आलोचना— आचार्य या गुरु के सम्मुख जाकर अपने दोषों का निवेदन करना। प्रतिक्रमण— व्रतों में लगे हुए दोषों की निंदा गर्हा करते हुए दोषों का शोधन करना। उभय— आलोचना प्रतिक्रमण इन दोनों के आचरण करने से जो दोष दूर होता है।

Y X Y

Y X Y
 उसकी शुद्धि के लिए दोनों का आचरण करना। **विवेक**— काल की मर्यादापूर्वक गण से तथा स्थान से साधु को पृथक् करना। **व्युत्सर्ग**— कायोत्सर्ग—सीमित काल (1 आवली से लेकर मुहुत, दिन, पक्ष, मास पर्यंत) शरीर से ममत्व त्याग कर एक स्थान पर स्थिरता से खड़े रहना। **तप**—कर्म क्षय करने के लिए अनशनादि तप करना। **छेद**—दीक्षा को घटा देना। अपराध के अनुसार दीक्षा में से पक्ष, मासादि कम करना। **मूल**—भयंकर व्रतनाशक अपराध होने पर दीक्षा का छेदन कर पुनः दीक्षा देना। राजवार्तिक में इसे उपस्थापना नाम से कहा है। **परिहार**—कुछ समय के लिए संघ से बहिष्कृत करना। इसके दो भेद हैं— **गणप्रतिबद्ध**—जहाँ पर अन्य साधु लघु शंकादि करते हैं, ऐसे स्थान में साधु को ठहराना, अपराधी पिच्छी को आगे करके अन्य साधुओं की वंदना करता है, उनको वे कभी वंदना नहीं करते हैं। इस प्रकार गण या संघ में रहकर जो क्रिया की जाती है उसे गण प्रतिबद्ध प्रतिहार कहते हैं। **गणाप्रतिबद्ध परिहार** अर्थात् जिस देश में लोग धर्म नहीं समझते हैं उस देश में मौन पूर्वक परिमित काल तक तपश्चरण करने का दंड गणाप्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित्त है। **श्रद्धान**—तत्त्वों में रुचि रूप परिणाम को अथवा क्रोधादि के त्याग को श्रद्धान कहते हैं। **2. विनय तप**— विनय तप से मन में कोमलता आती है। विनय का तात्पर्य है— आदरभाव। रत्नत्रय एवं रत्नत्रयधारियों की विनय अत्यंत विनम्र होकर करना चाहिये। विनय तप मोक्षमार्ग के प्रति और मोक्षमार्गियों के प्रति उनके जैसे गुणों को प्राप्त करने के लिये किया जाता है। **3. वैयावृत्य तप**— इसका अर्थ है विरक्त संत पुरुषों की सेवा करना, पूज्य पुरुषों की सेवा करना। वैयावृत्ति करने वाले को अंतरंग में दया, करुणा और अनुकंपा सहज ही उत्पन्न हो जाती है। आचार्यों ने लिखा है कि जो वैयावृत्ति करता है वह ग्लानि को जीतता है, उसे समाधि की प्राप्ति होती है और आगामी जीवन में निरोग शरीर की प्राप्ति होती है। **4. स्वाध्याय**— दो शब्दों से मिलकर बना है। स्व+अध्याय = स्व यानी आत्मा, अध्याय यानी अध्ययन करना। आत्मा का अध्ययन करना, चिंतन मनन करना। स्वाध्याय के 5 भेद हैं— वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश। **5. व्युत्सर्ग तप**— व्युत्सर्ग का अर्थ है त्याग करना। बाह्य में धन धान्यादिक का त्याग करना और अंतरंग में शरीर से ममत्व का त्याग करना। सुकुमाल मुनिराज के श र ी र को 3 दिन तक स्यालनी भक्षण करती रही किन्तु शरीर के प्रति ममत्व त्याग कर ध्यान में ही खड़े रहे। **6. ध्यान**— 'एकाग्र चिंता निरोधो ध्यानम्।' एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है, इसके 4 भेद हैं— आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इस प्रकार जो तप विनय को धारण करता है यथायोग्य उसका आदर सम्मान करता है वह निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। मिथ्या तप भी करने वाले साधु होते हैं किन्तु उनका तप मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं होता है। अतः नवकोटि पूर्वक तप का पालन करना चाहिये। तप विनय

Y X Y
 का अर्थ है तप को धारण करने की भावना रखना एवं तप के धारी की यथायोग्य विनय करना जो तप या तपधारी की विनय करते हैं उनके जीवन में पुण्य का संचय होता है जिसके फल से उनके जीवन में तप के योग्य सभी साधन उच्च कुल, सर्वांग शरीर, उत्तम संहनन, सम्यक् दर्शन, मनुष्य गति, पुरुष वेद, पर्याप्त अवस्था इन सबसे श्रेष्ठ मोक्ष प्राप्ति की भावना एवं साधना करने के भाव प्राप्त होते हैं। यह तप विनय के विशद फल हैं।

उपचार विनय

उवयारओ वि विणओ, मण वय कायेण होइ तिवियप्पो।

सो पुण दुविहो णेओ, पच्चक्ख परोक्ख भेएण॥118॥

तीन भेद उपचार विनय के, मन वच काय रूप पहिचान।

प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष भेद यह, दो प्रकार भी रहे प्रधान॥118॥

अन्वयार्थ :- (उवयारओ विणओ वि) उपचार विनय भी (मणवयकायेण) मन-वचन-काय से (तिवियप्पो) तीन प्रकार की (होइ) होती है (पुण) पुनः (सो) वह (पच्चक्खपरोक्खभेएण) प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से (दुविहो) दो प्रकार की (णेओ) जानना चाहिए।

अर्थ :- उपचार विनय भी मन-वचन-काय के भेद से तीन प्रकार की होती है तथा पुनः प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार की जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् उपचार विनय को परिभाषित करते हुए कहते हैं। गृहस्थजन अपनी जाति व कुल के बड़े पुरुषों को आता देख उनका आदर करना व उनकी आज्ञा के अनुसार अपना आचरण करना उपचार विनय है। अपने गुरुजनों, विद्यागुरु जिन्होंने विद्या अध्ययन कराया हो उनको आता देख आगे जाकर उनको प्रणाम करना, उच्चासन देना, कुशलता पूँछना, नीचे बैठना, प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा का पालन करना, माता-पिता, बाल वृद्धों की, सेवा करना यह उपचार विनय है। यदि रोगी व असाध्य रोग हो तो उनकी औषधि व रहने के स्थान, तखत, चटाई, प्रकाश पानी आदि की भक्तिपूर्वक व्यवस्था करना उपचार विनय है। यदि दीक्षा में छोटे हैं अथवा बड़े हैं ऐसे मुनियों को सामने से आता हुआ देखकर अपने आसन को छोड़कर कुछ दूर आगे जाकर आगवानी करें फिर विनयपूर्वक नमोस्तु या प्रति नमोस्तु करें। तत्पश्चात् मार्ग में गमन करने से जिनका शरीर कृष हो गया है तथा थकावट आ गई है व शीत की बाधा से घबराए हुए हैं व उष्णता की बाधा से व्याकुल चित्त हो रहा है व

(248)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
परीषद्‌हों के आ जाने पर, उपसर्ग के होने से अत्यंत अधीर हो रहे हैं, उनको अपने स्थान पर लाकर उच्चासन देना, हाथ-पैर का मर्दन करना, उनको योग्य आसन शैया, उपकरणों की विधि मिला देना, उनकी थकावट व आकुलता को दूर करना। पुनः पास में दाई-बाई ओर बैठकर सविनय हो रत्नत्रय की कुशलता पूछना कि आपका रत्नत्रय कुशल है। आप कहाँ से विहार कर आ रहे हैं? आपका शुभ नाम क्या है? आपके गुरु का शुभ नाम क्या है?

हे भगवन्! आपका रत्नत्रय कुशल तो है। स्वाध्याय अध्ययन तो कुशलतापूर्वक चल रहा होगा। आपका चरित्र तो वृद्धि युक्त होगा। हे गुरु! सेवक को भी कोई आज्ञा दीजिए जिससे हम आपकी सेवा वैयावृत्ति कर सकें। उपचार कर उनकी थकावट को दूर करना कि हम आपके ही हैं, आपकी सेवा हमारे से जितनी बनेगी वह हम करेंगे। आप अपना ही हमको जानना इस प्रकार सान्त्वना देकर धैर्य बँधाना। ये सभी उपचार विनय के अंतर्गत आते हैं।

जिस प्रकार नदी के किनारे पर रहने वाली लघु घास विनय के भार से नम्र होने के कारण कितना ही वेग से बहने वाला पानी उसको नष्ट नहीं कर सकता। किन्तु अकड़ के खड़े रहने वाले बड़े से बड़े पेड़ों को पानी बहा ले जाता है इसलिए विनय ही सब गुणों का भूषण है।

एक बार शिष्य गुरु के पास आए। गुरु का अन्तिम समय चल रहा था। शिष्य ने गुरु से कहा— गुरुदेव कोई अन्तिम सन्देश दीजिए। तब गुरु ने मुँह खोलकर जीभ दिखा दी कुछ समय बाद पुनः शिष्य ने पूछा तो गुरु ने कहा— मैंने संदेश दे दिया। शिष्य ने कहा— आप भूल रहे हैं आप कुछ बोले ही नहीं। तब गुरु ने कहा— मैंने मुँह खोलकर उपदेश दिया। शिष्य फिर भी नहीं समझा तब गुरु ने कहा, मुँह में पहले जीभ आती या दाँत। उत्तर मिला जीभ। जाता कौन है पहले— दाँत ऐसा क्यों?

तब गुरु ने कहा बेटा! यही हाल दुनिया का है जो अकड़ता है वह टूट जाता है और मुलायम नम्र होता है वह हमेशा बना रहता है और जीवन का सारा आनन्द प्राप्त करके विशद सुख भोग करता है।

मानसिक विनय

जं दुप्परिणामाओ, मणं णियत्ताविऊण सुहयोगे।

ठाविज्जइ सो विणयो, जिणेहि माणस्सिओ भणिओ॥119॥

मन के सारे भाव हटाकर, जो शुभ योग में होवे लीन।

विनय मानसिक धारी है वह, जिनवर कहते ज्ञान प्रवीण॥119॥

Y X Y

Y X Y

अन्वयार्थ :- (जं) जो (मणं) मन को (दुष्परिणामाओ) खोटे भावों से (णियत्ताविऊण) हटाकर (सुहयोगे ठाविज्जइ) शुभ योग में स्थापित करता है, (सो) उसे (जिणेहि) जिनेन्द्र भगवान ने (माणस्सिओ विणयो) मानसिक विनयधारी (भणिओ) कहा है।

अर्थ :- जो मन को खोटे भावों से हटाकर शुभयोग में स्थापित करता है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने मानसिक विनयधर कहा है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं मानसिक विनय बहुत महत्वपूर्ण है जिस प्रकार मन्दिर में वेदी और वेदी में जिनबिम्ब का सर्व प्रमुख स्थान होता है। सबसे ज्यादा महत्व होता है। सभी जिनबिम्ब (मूर्ति) के ही दर्शन करने आते हैं और अपने सौभाग्य जगाते हैं, उसी प्रकार जीवन में की गई मानसिक क्रिया ही व्यक्ति के सौभाग्य बदलने वाली होती है। किसी भी कार्य में मानसिक चेष्टा सर्वप्रथम महत्वपूर्ण है इसीलिए हमेशा मन, वचन, काय से कार्य करें तो मन को प्रथम स्थान पर रखा गया है। यदि मन है तो वचन और फिर काय के द्वारा कोई कार्य किया जा सकता है। किन्तु मन नहीं है तो कोई कार्य करना ना करना समान है। मानसिक विनय के अभाव में की गई चेष्टा असंज्ञी जीव के समान होगी। जिस प्रकार असंज्ञी जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं हो सकता और सम्यक्त्व के अभाव में जीव का कल्याण नहीं हो सकता है। उसकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ होती हैं। उसी प्रकार मन रहित वचन काय की चेष्टाएँ भी व्यर्थ हैं। इसलिए मन के भावों की मुख्यता को यहाँ पर ग्रहण किया गया है। बिना काय के वचन और मान हो ही नहीं सकता। प्रथम तो मान का ही प्रादुर्भाव होता है फिर मन आविर्भाव होता है। इससे सिद्ध है कि मानसिक विनय सर्वोत्कृष्ट है, कोई वचन और काय से विनय करता रहे, पूजा, भक्ति, आराधना करता रहे तो उसका कभी कल्याण नहीं होगा किन्तु जो मन से विनय या पूजा, भक्ति, आराधना ध्यान करेगा तो निश्चित ही अल्प समय में उसका कल्याण हो जाएगा। माना कि विनय ड्राइवर का काम करती है गाड़ी चलती हुई नजर आती है। गाड़ी की आवाज भी आती है, बस ड्राइवर के चलाने से बिना ड्राइवर के गाड़ी चल तो जाएगी, आवाज भी आएगी पर कहाँ जाके टकरा जाए कोई भरोसा नहीं है किन्तु ड्राइवर को ज्ञात है कि हमको गाड़ी किस दिशा में मोड़ना, किस स्पीड से चलाना, किस स्थान तक ले जाना है? वह अपनी सूझबूझ का काम करता है, उसी सूझबूझ का नाम है 'मानसिक विनय'।

अतः जीवन में वाचनिक और कायिक विनय के साथ मानसिक विनय को प्रमुख रखकर चेष्टा करना विनय करना है। हमारे जीवन में लक्ष्य को प्रदान कराकर 'विशद' सुख शांति आनन्द को प्रदान करेगा।

Y X Y

वाचनिक विनय

हियमियपुजं सुत्ताणुवीचि अफरुसमकक्कसं वयणं।

संजमिजणम्मि जं चाडुभासणं सो वाचिओ विणओ॥120॥

हित मित पूज्य शास्त्र सम्मत जो, कोमल कर्कष रहित वचन।

संयमी जन के प्रति जो कहना, विनय वाचनिक है पावन॥120॥

अन्वयार्थ :- (हिय मिय पुजं) हित-मित पूज्य (सुत्ताणुवीचि) शास्त्र की परम्परा के अनुसार (अफरुसमकक्कसं) कोमल कर्कषता रहित मधुर सम्भाषण (संजमिजणम्मि) संयमीजनों के प्रति किया जाता है (सो) उसे (वाचिओ) वाचनिक (विणओ) विनय कहते हैं।

अर्थ:- हित-मित पूज्य जिनदेव शास्त्र की परम्परा के अनुसार कोमल कर्कषता रहित मधुर वचनों का संयमीजनों के प्रति जो मधुर सम्भाषण किया जाता है उसे वाचनिक विनय कहते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जो वचनों के द्वारा हितमित प्रिय वचन बोलकर विनय की जाती है उसे वाचनिक विनय कहते हैं। अपने से पूज्य, गुरु आदि पुरुषों से वार्तालाप करते समय पूजा सत्कार सम्मान सूचक शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। गुरु आज्ञा में चलना चाहिए। जब कभी कोई बात करना हो तो इस प्रकार शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। हे भगवन्! मैं यह कार्य आपकी आज्ञा लेकर करना चाहता हूँ, हे भगवन्! आपके पादमूल के प्रताप से यहाँ ज्ञान की, संयम की आराधना निर्विघ्न संपन्न हो रही है, इत्यादि हित-मित और मधुर वचन बोलना चाहिए। गुरु आदि के लिए दोनों लोक में हितावह वचनों का उच्चारण करना हित भाषण है। उतना ही बोलना चाहिए जिससे अपने अभिप्राय को गुरु आदि समझ जायें उसे मित कहते हैं। बिना प्रयोजन की गुरु से व्यर्थ की वार्तालाप नहीं करना चाहिए। ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो प्रिय मधुर हो सुनने वालों को अच्छा लगे उसे मधुर कहते हैं। रागद्वेष से रहित पुरुषों के वचन को उपशांत वचन कहते हैं, ऐसे उपशांत महापुरुषों के समान वचन बोलना चाहिए। हमारे मुख से सदैव इस प्रकार के वचन निकलना चाहिए कि जिससे किसी भी जीव की अवहेलना ना हो। कर्कश, कटु, अप्रिय वचनों का कभी भी प्रयोग नहीं करना चाहिए।

एक बार अकबर की सभा में सभी प्रकार के सभासद बैठे हुए थे। बड़ा आनन्द का वातावरण था। उसी बीच बात चली सबसे अधिक मीठी वस्तु क्या है? कोई चीनी, कोई आम फल, कोई किसमिस इत्यादि अपनी-अपनी रुचि अनुसार बताने लगे। तब अकबर ने कहा वीरबल बताइये सबसे अधिक मीठी वस्तु क्या है? वीरबल ने कहा हुजूर 'वचन'। तब अकबर ने कहा यह कैसे होगा। तब वीरबल ने

Y X Y
कहा एक सप्ताह में इसका उत्तर दिया जाएगा।

एक सप्ताह बाद वीरबल ने अकबर को अपने घर भोजन को बुलाया और मात्र दाल रोटी से भोजन कराया। साथ ही अकबर की प्रशंसा करता रहा, हुजूर आपके राज्य में चारों ओर खुशहाली है। 'शरीर माध्यम् खलुभोग साधनम्' अगर शरीर रहा तो सब कुछ है। शरीर नहीं तो कुछ नहीं अतः सात्त्विक भोजन शरीर के लिए लाभदायक होगा। तले चटपटे मीठे पदार्थ रोग की जड़ है, कभी ब्लडप्रेसर तो कभी शुगर बढ़ाते हैं अतः शुद्ध और सादा भोजन करके स्वस्थ रहना चाहिए। राजा बड़ा खुश हुआ। दूसरे दिन रानी को आमंत्रण दिया। बढ़िया-बढ़िया मीठे पकवान बनाकर तैयार कराए और रानी को भोजन के लिए बैठाया। कहा ले कितने अच्छे भोजन हमारे राज्य में मिल रहा। कभी तूने अपने बाप के राज्य में नहीं खाया होगा री भैंस खाके देख तेरा पेट फूल जाएगा। इतना कहते ही रानी उछलकर आधा खाना छोड़कर चल दी। राजा के सामने जाकर कहा कि मूर्ख के यहाँ खाने को भेज दिया तब वीरबल ने कहा, हुजूर आप खाके देखो कितने मीठे-मीठे पदार्थ हैं। अकबर खाके खुश हुआ फिर क्या वीरबल ने कहा हुजूर भोजन नहीं वाणी मीठी होती है। कहा भी है—

वाणी मीठी बोलिए, मन को आपा खोय।
औरों को शीतल करे, आपौं शीतल होय॥
मधुर वचन है औषधि, कटुक वचन है तीर।
कर्ण द्वार से संचरे, शाले शकल शरीर॥
शब्द सम्हारे बोलिए, शब्द के हाथ ना पाँव।
एक शब्द शीतल करे, एक हृदय में घाव॥
छुरी का तीर का, तलवार तो घाव भरा।
लगा जो जख्म जुबा, का वह हमेशा रहा हरा॥

काययिक विनय

कायाणुरूपमद्वय-करणं कालाणुरूपपडिचरणं।
संथारभणियकरणं, उवकरणाणं च पडिलिहणं॥121॥
कायानुरूप देह का मर्दन, करणानुरूप परिचर्या जान।
संस्तर चटाई आदि उपकरणों, का शोधन तप विनय महान॥121॥

Y X Y

Y X Y

अन्वयार्थ :- (कायाणुरूवमहणकरणं) शरीर के अनुरूप मर्दन (मालिश) करना (कालाणुरुवपडिचरणं) काल व ऋतु के अनुरूप परिचर्या करना (संथारभणियकरणं) संस्तर घास-चटाई लगा देना (च) और (उवकरणाणं) उपकरणों का (पडिलिहणं) शोधन (साफ-स्वच्छ) कर देना कायिक विनय है।

अर्थ :- शरीर के अनुरूप मर्दन करना, काल व ऋतु के अनुरूप परिचर्या करना, संस्तर घास-चटाई लगा देना और उपकरणों का शोधन कर देना। कायिक विनय है।

विशदार्थ :- ज्ञानवारिधि गुरुदेव ज्ञान गंगा में अवगाहन कराते हुए कहते हैं विनय करने से जीव इस लोक में यश, प्रतिष्ठा और सम्मान पाता है, गुरुजनों का स्नेह प्राप्त करता है। वचनों से ना तो कभी गुरु इत्यादि जनों, की निंदा करता है और ना ही करने वालों की अनुमोदना करता है। गुरु सेवा करने का अवसर बहुत दुर्लभता से प्राप्त होता है। एक समय था जब साधु संतों के दर्शन प्राप्त करने के लिए लोग दूर-दूर तक जाते थे। तब कहीं दर्शन मिल पाते थे किन्तु आज हर जगह गुरु सुलभता से मिल जाते हैं किन्तु फिर भी उनकी चर्या परिचर्या नहीं करा पाते हैं। विहार करके साधु संत आते हैं तो थक जाते हैं, समय निकाल कर उनके हाथ पैर दबाना, उनको किसी प्रकार का कष्ट हो उसे दूर करने का प्रयत्न करना, समय और ऋतु के अनुसार आहार कराना। ऐसा नहीं कि गर्मी का मौसम है और खूब हलवा पूड़ी गरिष्ठ पदार्थ, जिनकी तासीर गर्म है ऐसी वस्तुओं को आहार में देना इसका ध्यान रखकर कौनसी वस्तु देने योग्य और कौनसी वस्तु देने योग्य नहीं है। इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। उनकी चटाई संस्तर घास आदि लगा देना, उपकरणों का शोधन करना जैसे कमण्डल सुखा देना, प्रासुक जल भर देना आदि। गुरु के बैठने पर बैठना, खड़े होने पर खड़े होना, हर कार्य की आज्ञा लेना, यथायोग्य शारीरिक विनय में अपने दोनों हाथों को जोड़कर ललाट पर रखते हुए गवासन से बैठकर भूमि स्पर्शनात्मक नमस्कार करना। जैसे कि जैनागम में तीन प्रकार की नमस्कार आसन बताई गई है। अष्टांग अर्थात्

जिसमें शरीर के आठों अंग (2 हाथ, 2 पैर, कमर, पीठ, हृदय और सिर) झुके यानि उलटे लेटकर हाथ आगे करके दण्डवत की भांति जो नमस्कार किया जाए वह अष्टांग नमस्कार है तथा जिसमें 5 अंग झुकाकर भूमि से स्पर्श कर नमस्कार किया जाए वह पंचांग नमस्कार है तथा जब गौ आसन की तरह बैठकर नमस्कार किया जाए वह गवाशन नमस्कार कहा है। यह तो मुद्राएँ विशेष बताई गई हैं इसके अलावा द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की स्थिति के अनुसार स्वयं ही विचार कर भाव सहित द्रव्य विनय की जाए। विनय एक ऐसा गुण है जो सामने वाले व्यक्ति को भी प्रभावित करता है और विनयवान के जीवन में भी उच्च फल पुण्य फल प्रदान करता है। आचार्यश्री उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-

Y X Y

Y X Y
 'परात्मनिन्दा प्रशंसे सदसद गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर् गोत्रस्य' अर्थात् पर की निन्दा स्वयं की प्रशंसा औरों के सद्गुण का ढाकना अपने गुणों को उजागर करने से नीच गोत्र का आस्रव एवं 'तदविपर्ययो नीचैर् वृत्यनुत्सको चोत्तरस्य' अर्थात् नीच गोत्र के हेतुओं से विपरीत एवं लघुवृत्ति से उच्च गोत्र की प्राप्ति होती है यह लघुता ही विनय का श्रेष्ठ गुण है अतः लघुता के साथ विनय गुण सहित ही काय विनय है जो विशद शांति का हेतु है।

देशव्रती श्रावक को यथायोग्य काययिक विनय करना चाहिए

इच्चेवमाइ काइय विणओ रिसि-सावयाण कायव्वो।

जिण वयण-मणुगणंतेण देसविरएण जहाजोगं॥122॥

पूर्व कथित कार्यों को ले ऋषि, श्रावक की जिन वचनानुसार।

यथा योग्य श्रावक व्रत धारी, कायिक विनय करे मनहार॥122॥

अन्वयार्थ :- (इच्चेवमाइ) इत्यादि पूर्व गाथा में कथित कार्यों को लेकर (रिसिसावयाण) ऋषि (मुनि) और श्रावकों की, (जिणवयणमणुगणंतेण) जिनेन्द्र भगवान के वचनों का अनुसरण करने वाले (देसविरएण) देशव्रती श्रावकों को (जहाजोगं) यथा योग्य (काइय विणओ) कायिक विनय (कायव्वो) करना चाहिए।

अर्थ :- इत्यादि पूर्व गाथा में कथित कार्यों को लेकर ऋषि (मुनि) और श्रावकों की, जिनेन्द्र भगवान के वचनों का अनुसरण करने वाले देशव्रती श्रावक को, यथा योग्य काययिक विनय करना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कायिक विनय के विषय में पहले ही बहुत कुछ कह चुके हैं जैन धर्म के अनुसार आप्त, आगम, तपोभृत (देव शास्त्र गुरु) की यथायोग्य विनय करना श्रावक का परम कर्तव्य है 'विनय मोक्ष का द्वार है' अतः भाव से विनय करें जैसे कि शरीर के अनुसार तेल मालिश करना, समय व ऋतु के अनुसार परिचर्या करना, संस्तर घास चटाई लगा देना, पीछी बनाकर देना या खराब हो गई हो तो उसे सही कर देना। कमण्डलु भी टूट गया हो या देखने में खराब लग रहा हो तो साफ कर देना, पॉलिस आदि भी करवा देना। शास्त्र स्वाध्याय के लिए उपयोगी, वह जीर्ण-शीर्ण हो गया हो तो कवर आदि लगाकर वैयावृत्ति करना एवं जिनालय या वेदी की सफाई तथा जिनमूर्ति की यथायोग्य शुद्धि और सफाई का ध्यान रखना वैयावृत्ति है। इन सभी की जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार देशव्रती श्रावक को मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका की यथायोग्य शरीर द्वारा विनय करना चाहिए। विनय

Y X Y

(254)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
करने में छोटे-बड़े का ध्यान नहीं रखा जाता है बल्कि भावना को देखा जाता है।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विनय

इति पच्चक्खा एसो भणिदो गुरुणा विणा विआणाए।

अणुवट्टज्जदि जं तं परुक्खविणओ त्ति विण्णेओ॥123॥

पूर्व कथित प्रत्यक्ष विनय है, गुरु से रहकर के भी दूर॥

गुरु आज्ञा से चर्या करना, परोक्ष विनय जानो भरपूर॥123॥

अन्वयार्थ :- (इति) इस प्रकार (पूर्व गाथा में कथित) काय विनय को (पच्चक्खा) प्रत्यक्ष विनय (भणिदो) कहा है (गुरुणा विआणाए विणा) गुरु के न होने पर भी गुरु की आज्ञा से (जं) जब (अणुवट्टज्जदि) गुरु के अनुकूल चर्या करता है या अनुकरण करता है (तं) उसे (परुक्खविणओत्ति) परोक्ष विनय कहते हैं, इस प्रकार (विण्णेओ) जानना चाहिए।

अर्थ :- इस प्रकार पूर्व गाथा में कथित काय विनय को प्रत्यक्ष विनय कहा है, गुरु के न होने पर भी गुरु की आज्ञा से जब गुरु के अनुकूल चर्या करता है या अनुकरण करता है, वह परोक्ष विनय है, इस प्रकार जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं गुरु के निकटवर्ती होने पर गुरु की विनय करना प्रत्यक्ष विनय है। गुरु के विद्यमान न होने पर गुरु की आज्ञा के अनुकूल सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय में उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रवृत्ति करना ही परोक्ष विनय है। केवल गुरु का ही विनय नहीं अन्य सभी साधुओं की भी विनय करना शिष्य का कर्त्तव्य है- गुरु के बैठ जाने पर बैठना, खड़े होने पर खड़े होना, शिष्य को नीचे बैठना, गुरु आज्ञा का पालन करना, गुरु को जवाब नहीं देना, गुरु से व्यर्थ की बकवास नहीं करना, गुरु से गाली-गलौच और लड़ाई नहीं करना, गुरु की बाईं तरफ ही बैठना, उच्च स्वर में बात नहीं करना, गुरु को किस समय किस वस्तु की आवश्यकता है उसे बिना कहे उपस्थित कर देना, शीत से पीड़ित गुरु आदि को उष्ण स्थान और गर्मी से पीड़ित गुरु को शीत स्थान अर्थात् हवा वाला स्थान देना चाहिए। इस प्रकार किसी प्रकार का भेदभाव ना करते हुए देव, शास्त्र, गुरुओं की विनय अवश्य करना चाहिए।

विनयगुण के समान कोई गुण नहीं

अमयसमो णच्छि रसो, ण तरु कप्पदुमेण परितुल्लो।

विणयसमो णच्छि गुणो, ण मणि चिंतामणि सरिसो॥124॥

Y X Y

Y X Y

अमृत सम कोई रस न जग में, सुरतरु सम ना वृक्ष महान।

चिन्तामणि सम रत्न ना कोई, विनय समान ना गुण है जान॥124॥

अन्वयार्थ :- (अमयसमो णत्थिरसो) अमृत के समान कोई रस नहीं है, (कप्पदुमेण) कल्पवृक्ष के (परितुल्लो) समान (तरु ण) अन्य वृक्ष नहीं है, (चिन्तामणि सरिसो मणि ण) चिन्तामणि रत्न के समान अन्य कोई रत्न नहीं है, इसी प्रकार (विणयसमो णत्थि गुणो) विनय गुण के समान अन्य कोई गुण नहीं है अर्थात् विनय गुण सर्व गुणों में श्रेष्ठ है।

अर्थ :- अमृत के समान कोई रस नहीं है, कल्प वृक्ष के समान अन्य वृक्ष नहीं है, चिन्तामणि रत्न के समान अन्य कोई रत्न नहीं है, इसी प्रकार विनय गुण के समान अन्य कोई गुण नहीं है अर्थात् विनय गुण सर्व गुणों में श्रेष्ठ है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् विनय के समान कोई रस नहीं है, कल्पवृक्ष के समान अन्य वृक्ष नहीं है। चिन्तामणि रत्न के समान अन्य कोई रत्न नहीं है। विनय के समान अन्य गुण नहीं है। जिसके जीवन में विनय गुण आ जाता है उसे संसार की हर वस्तु प्राप्त हो जाती है। विनय संजीवनी औषधि के समान है।

चार मिले चौंसठ खिले, बीस मिले कर जोर।

अनुपम ऐसे मिलन से, पुलकित रोम करोड़॥

विनय की महिमा

विणएण ससंकुज्जल, जसोहधवलियदियंतओ पुरिसो।

सव्वत्थ हवइ सुहओ, तहेव आदिज्जुवयणो य॥125॥

विनयवान का रवि सम उज्ज्वल, धवल सुयश फैले चहूँ ओर।

वचन ग्राह्य होते हैं सबके, सुनकर हों नर भाव विभोर॥125॥

अन्वयार्थ :- (विणएण) विनय से (पुरिसो) पुरुष (ससंकुज्जल) चन्द्रमा के समान उज्ज्वल (जसोह धवलिय दियंतओ) यश के समुदाय से धवलित किया है दिशाओं के अन्तराल को जिसने, ऐसा यशस्वी होता है तथा (सव्वत्थ सुहओ हवइ) उसके लिए सभी पदार्थ सुखद होते हैं (तहेव) उसी तरह (आदिज्जुवयणो) उसके वचन सभी को ग्राह्य होते हैं, अर्थात् विनयी पुरुष के वचन सभी लोग स्वीकार करते हैं।

अर्थ :- विनय से पुरुष चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश के समुदाय से धवलित किया है दिशाओं के अन्तराल को जिसने, ऐसा यशस्वी होता है तथा वह सर्वत्र सुखद होता है, उसी तरह उसके वचन

Y X Y

Y X Y
सभी को ग्राह्य होते हैं अर्थात् विनयी पुरुष के वचन सभी लोग स्वीकार करते हैं।

विशदार्थ :- काव्यालंकाराचार्य आचार्य भगवन् विनय गुण की महिमा का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं जो भव्य जीव विनय गुण को धारण करते हैं उनका यश दशों दिशाओं में व्याप्त होता है और सुख ही सुख प्राप्त करते हैं। एक स्थान पर रानी और ज्योति नाम की 2 लड़कियाँ एक ही मुहल्ले में रहती थी किन्तु दोनों के रंग, रूप, व्यवहार में बहुत अंतर था अर्थात् रानी सुंदर थी किन्तु मानी और क्रोधी थी किन्तु ज्योति असुंदर किन्तु सरल, प्रिय भाषी, मिलनसार थी। एक बार पिकनिक के समय रानी अपना टिफिन भूल कर छोड़ आई, ज्योति ने देखा यह तो रानी का टिफिन है, रास्ते में उसके घर देती चली जाऊंगी किन्तु जैसे ही द्वार पर जाकर आवाज दी तो रानी बाहर आते ही खीझते हुए बोली तूने मेरा टिफिन छू लिया अशुद्ध हो गया, फैंक दे नाली में कलूटी मेरे द्वार पर क्यों आई? यह सुनकर रानी के पापा द्वार पर आ जाते हैं और उन्होंने कहा बेटी रानी यदि किसी के चेहरे पर काला तिल हो तो कैसा दिखता है? अच्छा और चेहरे पर सफेद दाग हो तो अशुभ होता फिर तूने क्यों ज्योति को कलूटी कहा। कोई इंसान तन से नहीं मन से महान होता है, उसकी महानता देखो कि वह अपनत्व मानकर तुम्हारा टिफिन घर पर देने को आई और तुम हो कि उसके लिए इस प्रकार बोल रही। रानी शर्मिन्दा होकर पश्चाताप कर ज्योति से क्षमा याचना करके गले लग जाती है।

तापसी की कथा

गुरुओं की विनय के बल पर ही अर्जुन विशेष धनुर्धारी प्रसिद्ध हुए हैं। अनेकों मुनि व श्रावकों ने भी विनय के बल से मोक्ष मार्ग को प्रशस्त किया है।

एक तापसी जलस्तंभिनी विद्या के बल से यमुना के मध्य रहता था। किसी एक समय विद्याधर की पत्नी अपने पति से उसकी प्रशंसा करने लगी। विद्याधर ने कहा— ‘यह मिथ्यातपस्वी है, देखो इसकी अज्ञानता मैं तुम्हें दिखाता हूँ।’ विद्याधर युगल ने चांडाल का वेष बनाकर नदी के किनारे बड़ा सा महल बनाया और भी अनेकों चमत्कार करने लगे। साधु ईश्वर का ध्यान आदि छोड़कर आकर बोला, ‘महाशय! यह विद्या हमें भी दे दीजिए।’ विद्याधर ने कहा— ‘मैं चांडाल हूँ, तुम ब्राह्मण हो, कैसे गुरु शिष्य संबंध बन सकेगा।’ खैर उसक अनुनय विनय पर विद्याधर ने उसे वह विद्या दे दी। उस तापसी ने राजा के पास अपना चमत्कार दिखाना चाहा। इसी बीच में ये विद्याधर युगल चांडाल वेष में उसके सामने पहुँचे। साधु ने मन में सोचा ये नीच इस समय मेरा चमत्कार घटाने के लिए क्यों आ गये। उसी समय उसकी विद्या समाप्त हो गई। तब लज्जित होकर तापसी ने सारी बातें बता दी। राजा ने उस चांडाल दम्पति को नमस्कार कर विद्या देने का निवेदन किया। चांडाल ने कहा ‘यदि आप कहीं भी मुझे देखें तो ऐसा कहें कि ‘मैं आपकी ही चरण कृपा से जीता हूँ तब मैं आपको विद्या दे सकता हूँ।’ राजा ने स्वीकार

Y X Y

Y X Y
कर लिया चांडाल ने उसे विद्या दे दी।

एक दिन राजा सिंहासन पर बैठे थे, उनके पास बहुत से मन्त्रीगण व सभासद बैठे हुए थे। उसी समय ये चांडाल युगल आये। राजा ने सिंहासन से उठकर उनको नमस्कार करके विनय से कहा— ‘प्रभो! मैं आपके चरणों की कृपा से ही जीता हूँ।’ इतना सुनते ही सम्यग्दृष्टि विद्याधर बहुत प्रसन्न हुआ। राजा की विनय से प्रभावित होकर उन्होंने अपने विद्याधर दम्पति के असली रूप को प्रकट कर दिया। सम्यक्त्व के माहात्म्य को तथा विनय गुण के माहात्म्य को बतला कर राजा को अनेकों और भी विद्यायें देकर विजयार्थ पर्वत पर चले गये। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब लौकिक कार्य भी बिना गुरु की विनय के सिद्ध नहीं हो सकते हैं। तब परमार्थिक कार्य की सिद्धि बिना विनय के कैसे संभव हो सकती है। अतः जो मनुष्य दर्शन, ज्ञान आदि की विनय करते हुए अपने गुरुओं की अतिशय विनय करते हैं, वे जीव विनय सम्पन्नता को प्राप्त कर लेते हैं।

गुरुजनों की विनय का फल

जे केइ वि उवएसा, इह परलोए सुहावहा संति।

विणएण गुरुजणाणं, सव्वे पाउणइ ते पुरिसो॥126॥

इस पर भव में जो सुखदायी, और रहा जो भी उपदेश।

गुरु की विनय से ही वे सारे, प्राप्त करें जग जीव विशेष॥126॥

अन्वयार्थ :- (इह परलोए) इस लोक और परलोक में (जे केइ वि) जो कोई भी (सुहावहा) सुख को उत्पन्न करने वाले (उवएसा) उपदेश (संति) हैं (ते सव्वे) वे सब (पुरिसो) पुरुष को (गुरुजणाणं विणएण) गुरुजनों की विनय से (पाउणइ) प्राप्त होते हैं।

अर्थ :- इस लोक और परलोक में जो कोई भी सुख को उत्पन्न करने वाले उपदेश हैं, वे सब पुरुषों को गुरुजनों की विनय से प्राप्त होते हैं।

विशदार्थ :- गुरुओं की विनय के बल पर ही अर्जुन विशेष धनुर्धारी प्रसिद्ध हुए हैं। अनेकों मुनियों व श्रावकों ने भी विनय के बल से मोक्ष मार्ग को प्रशस्त किया है।

‘सेवा बिन विद्या नहीं’

एक सिद्ध पुरुष था। वह अधिकतर जंगल में ही रहा करता था। नगर में तो कभी कभार ही आता था। कन्द-मूल, फल खाकर भगवान का भजन किया करता था। उसे पीतल से सोना बनाने की विद्या आती थी, लेकिन वह उस विद्या का उपयोग अपने लिए कभी नहीं करता था। दिन दुखियों के लिए अवश्य समय-समय पर थोड़ा बहुत उपयोग कर लेता था।

Y X Y

(258)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अपने यहाँ नागार्जुन नामक एक वैद्य ने ऐसा कहा था कि— रस सिद्धि से स्वर्ण बन सकता है। उन्होंने अपनी इस विद्या द्वारा सारे जगत से दारिद्र्य हटाने की बात कही थी। उनका वचन है— ‘सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमयं जगत्’

एक दिन जब वह फकीर नगर में आया हुआ था, तो एक बहुत ही दीन—दरिद्री ब्राह्मण उसके पास आया और विनीत स्वर में बोला, “मैं बहुत दुःखी हूँ; मेरे एक लड़की है, वह उम्र में काफी बड़ी हो गई है, लेकिन मैं अब तक उसका विवाह नहीं कर सका हूँ। मैं तो दो जून का खाना ही बड़ी मुश्किल से जुटा पाता हूँ, तो विवाह कैसे हो? देखता हूँ कि आप स्वयं भिक्षाटन करके खाते हैं, किसी प्रकार का परिग्रह भी नहीं करते, अतः आपसे आर्थिक सहायता की आशा तो मैं नहीं कर सकता, पर आपके चेहरे पर तेज देखकर मुझे विश्वास होता है कि आप मुझे कोई युक्ति अवश्य बता देंगे।”

फकीर को विश्वास हो गया कि आदमी सुपात्र और सच्चा है, इसलिये उसने उस ब्राह्मण से कहा— “तुम सायंकाल मेरे पास आ जाना। मैं तुम्हें युक्ति क्या बताऊँ, तुम्हारे लिए पूरी व्यवस्था ही कर दूँगा।”

ब्राह्मण अपने घर चला गया और इधर फकीर बाबा नगर के बाहर जाकर अपने एक पीतल के लोटे को सोने का बनाकर ले आया।

सायंकाल जब वह ब्राह्मण उसके पास आया तो उसे वह लोटा देते हुए कहा, “जा, इसे बेचकर अपनी कन्या का विवाह कोई सुपात्र वर देखकर अच्छी तरह कर दे।”

ब्राह्मण तो कृतकृत्य हो गया।

जब वह लोटा लेकर बाजार में बेचने निकला तो एक दुकानदार ने उसे पकड़ लिया और बोला, “यह सोने का लोटा तुम्हारे पास कहाँ से आया? जरूर यह राजा का होगा। तुम या तो इसे चोरी करके लाये हो या तुमने किसी चोर से खरीदा है—” ऐसा कहकर वह उसे राजा के पास ले गया।

राजा ने लोटा देखकर कहा, “यह लोटा मेरा तो नहीं है, लेकिन इस ब्राह्मण के पास कहाँ से आया?”

ब्राह्मण से पूछने पर उसने सारी बात सही—सही बता दी।

राजा ने ब्राह्मण को तो लोटे—सहित मुक्त कर दिया, पर उसने अपने मन में तय किया कि उस महात्मा से मिलना चाहिए। हो—न—हो, सिद्ध बाबा के पास कोई चमत्कारी विद्या है। किसी तरह उस फकीर बाबा से वह विद्या अपने को सीखनी चाहिए।

राजा ने अपने आदमियों को भेजकर उस सिद्ध बाबा का पता लगाकर दरबार में लाने को कहा।

Y X Y

Y X Y
जब राजा का आदमी उस महात्मा के पास पहुँचा तो उन्होंने आने से इन्कार कर दिया। वे बोले— “मेरा राजा से क्या लेना-देना? मैं किसी के यहाँ क्यों जाने लगा?”

आदमी ने आकर सिद्ध महात्मा की कही हुई बात राजाजी को बता दी। राजा के ऊपर इस बात का गहरा प्रभाव पड़ा और उसको विश्वास हो गया कि यह महात्मा पहुँचा हुआ तो है ही, निस्पृह भी खूब है। यह सोचकर राजा स्वयं उसके पास गया, क्योंकि उसके सिर पर तो लोभ सवार था।

राजा ने जाकर महात्मा को प्रणाम किया और बाबा को ब्राह्मण और उसके स्वर्ण लोटे की बात कही, साथ ही बड़े विनम्र शब्दों में बाबा से वह विद्या सिखाने के लिए प्रार्थना की।

सिर्फ दीन-दुखियों के लिए उनकी सहायतार्थ चमत्कारिक विद्या का उपयोग करने वाले उस फकीर बाबा की खुशामद की। उससे यह भी कहा, “देखो, यह विद्या तो राजा को ही शोभा दे सकती है, उसके ही काम आ सकती है, इस विद्या से सारे राज्य में खुशहाली छा जायेगी और कोई भी दीन-दरिद्री नहीं रहेगा। फकीर लोगों के यह विद्या किस काम की!”

लेकिन फकीर जानता था कि राजा के पास जितना ही अर्थ होगा, उतना ही वह अनर्थकारी होगा, अतः वह उसे विद्या सिखाने को राजी नहीं हुआ।

अब तो राजा का सोया हुआ अहम् जागा और उसने फकीर से कहा, “ऐ फकीर, राजा के सामने तेरी ‘ना-नक्कड़’ नहीं चलेगी। राजी-राजी बता दे तो अच्छी बात, वरना व्यर्थ मैं तुझे अपनी जान से हाथ धोना पड़ेगा।”

फकीर तो आखिर पहुँचा हुआ फकीर था। उसे इस तरह डरा-धमका कर झुकाया थोड़े ही जा सकता था। उसने राजा से कहा, “तेरी इच्छा हो-सो कर, मैं तो विद्या सिखाने से रहा।”

फकीर की यह बात सुनकर राजा को बहुत क्रोध आया और उसने चाहा कि उस फकीर को उसी वक्त जमीन में जिन्दा गड़वा दे, लेकिन स्वर्ण बनाने की विद्या सीखने का लोभ अब भी उसके मन में था, इसलिये उसने ऐसा नहीं किया। फिर वह फकीर से बोला, “आज से पन्द्रह दिन के भीतर-भीतर या तो तुम मुझे यह विद्या सिखा दो, नहीं तो पन्द्रहवें दिन तुम्हें फाँसी दे दी जायेगी।”

फकीर के पास तो अब भी वही जवाब था।

राजा बड़े असमंजस में पड़ गया और तय नहीं कर सका कि अब उसे क्या करना चाहिए। उसे तो किसी तरह से विद्या सीखनी थी। फकीर को मारने से तो विद्या आने से रही। अतः वह रोज एक आदमी उस फकीर को समझाने के लिए भेजने लगा, लेकिन फकीर के पास तो वही रटा-रटाया जवाब था।

Y X Y

Y X Y

इस तरह जब सात दिन बीत गये तब राजा को विश्वास हो गया कि यों काम बनने वाला नहीं है। अतः उसने दूसरी युक्ति सोची और उसके अनुसार वह वेष बदलकर फकीर के पास गया और शिष्य के रूप में उनकी तन-मन से सेवा करने लगा। ऐसा करते करते एक सप्ताह बीत गया।

राजा की सेवा से फकीर प्रसन्न हुआ और उसने सोचा कल तो अपने को मरना है ही, चलो अपनी विद्या इस शिष्य को सिखा दें।

उन्होंने वेष बदले हुए राजा को सुपात्र शिष्य समझ लिया और उसे बुलाकर कहा, “देख, मैं तो कल मरने वाला हूँ, लेकिन मरने से पहले तुझे एक विद्या सिखा देना चाहता हूँ, किन्तु मुझे वचन दे कि तू इस विद्या का उपयोग कभी अपने स्वार्थ के लिए नहीं करेगा।”

छद्मवेषी राजा ने वचन दे दिया और फकीर बाबा ने उसे अपनी करामाती विद्या सिखा दी।

राजा अपने महल में लौट आया।

दूसरे दिन राजा का आदमी फकीर के पास गया और बोला, “राजाजी के हुक्म के अनुसार आज तुम्हें फाँसी दी जायेगी।”

फकीर ने कहा, “मैं तो इसके लिए तैयार ही बैठा हूँ।”

राजा के आदमी ने वापस आकर सारी हकीकत राजाजी से बयान कर दी। तब राजा स्वयं आया, लेकिन फकीर ने उसे पहचाना नहीं कि पिछले सप्ताह इसने मुझसे शिष्य बनकर विद्या सीखी थी।

राजा ने कहा, “क्यों फकीर, बोल! विद्या सिखाना मंजूर करता हो तो तेरे प्राण अब भी बच सकते हैं, नहीं तो आज तुझे फाँसी लगने वाली है, तैयार हो जा!”

फकीर के पास तो वही उत्तर तैयार था।

राजा गर्वीली मुस्कान के साथ बोला, “तुम अपनी विद्या का इतना अभिमान करते हो और मानते हो कि दूसरा कोई इसे जानता ही नहीं, लेकिन मैं भी इस विद्या को जानता हूँ” ऐसा कहकर उसने पीतल के एक पात्र को सोने का बनाकर दिखा दिया।

फकीर हँसा ओर बोला, “राजा तुमने यह विद्या किसी को डरा-धमकाकर नहीं सीखी होगी। किसी-न-किसी की सेवा चाकरी करके ही सीखी होगी। ऐसी विद्या डराने धमकाने से नहीं सीखी जा सकती, यह तो सेवा से ही सीखी जा सकती है।”

राजा ने फकीर के चरणों पर सिर रख दिया और फिर से अपने दिये हुए वचन को “कि वह इस विद्या का उपयोग अपने या अपने परिवार के लोगों के लिए कदापि नहीं करेगा” दोहराकर अपने घर

Y X Y

Y X Y
चला आया।

निर्वाण सुख भी विनय का फल

देविंद चक्रहर मंडलीय, रायाइ जं सुहं लोए।

तं सव्वं विणय फलं, णिव्वाणं सुहं तहच्चेव॥127॥

चक्रवर्ति देवेन्द्र मण्डलीक, राजाओं के सब सुख जान।

कहा विनय का फल इस जग में, 'विशद' विनय से हो निर्वाण॥127॥

अन्वयार्थ :- (लोए) लोक में (देविंद चक्रहर मंडलीय रायाइ) देवेन्द्र चक्रवर्ति मंडलीक राजादिक का (जं) जो (सुहं) सुख है (तं सव्वं) वह सब (विणय फलं) विनय का फल है (तहच्चेव) इसी प्रकार (णिव्वाण सुहं) निर्वाण सुख को भी विनय का फल जानना चाहिए।

अर्थ :- लोक में देवेन्द्र चक्रवर्ति, मंडलीक, राजादिक का जो सुख है, वह सब विनय का फल है; इसी प्रकार निर्वाण सुख को भी विनय का फल जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् विनय गुण का फल बताते हुए कहते हैं कि इस लोक में सभी प्राणी सुख चाहते हैं किन्तु दुख से डरते हैं। सुख अर्थात् आकुलता से रहित अवस्था को सुख कहते हैं। एक नगर में एक सेठ रहता था वह हर प्रकार से सुखी संपन्न था। किसी प्रकार की कमी नहीं थी। एक दिन उसका पुत्र मर गया है। वह अपने पुत्र को बहुत प्यार करता था। मोह के वशीभूत होकर वह बहुत दुखी था। वह कई डाक्टर, वैद्यों के पास गया किन्तु उसका बेटा जीवित नहीं हुआ। अंत में किसी ने कहा आप किसी ऐसे व्यक्ति के जो पूर्ण रूप से सुखी हो वस्त्र लाकर बेटे को पहना दीजिए वह ठीक हो जाएगा। वह मुनिराज के पास नमोस्तु करके बैठ गया और निवेदन किया— मुनिवर हमारे बेटे के प्राण बचा लीजिए हमें आपके वस्त्र दे दीजिए। मुनिवर ने कहा— भैया हम दिगंबर संत हैं जिनकी दिशाएँ ही अंबर हैं इसलिए हम दिगंबर हैं जिनकी न ड्रेस होती है और ना ही एड्रेस होता है। इसलिए उनको जो सुख प्राप्त होता है वह अद्वितीय है कहा भी है—

संसार में देवेन्द्र, चक्रवर्ती, राजादिक का जो सुख प्राप्त होता है वह सब पूर्व जन्म में विनय का ही फल पाते हैं और मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

मन-वचन-काय तीनों योगों से विनय करें

सत्तू वि मित्तभावं जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स।

विणओ तिविहेण तओ कायव्वो देसविरएण॥128॥

Y X Y

Y X Y
 विनय शील मानव के शत्रू, हो जाते हैं मित्र समान।

अतः देशव्रत धारी श्रावक, तीन योग से धरो महान॥128॥

अन्वयार्थ :- (विणयसीलस्स) विनयशील पुरुष के (सत्तु वि) शत्रु भी (मित्त भावं) मित्रभाव को (उवयाइ) प्राप्त हो जाता है। (जम्हा) इसलिए (देसविरण्ण) देशव्रती श्रावक को (तिविहेण) मन-वचन-काय तीनों योगों से (विणओतओ) विनय तप (कायव्वो) करना चाहिए।

अर्थ :- विनयशील पुरुष के शत्रु भी मित्रभाव को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये देशव्रती श्रावक को मन-वचन-काय तीनों योग से विनय करना चाहिए।

विशदार्थ- अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् निरन्तर ही विनय गुण का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं कि विनयवान पुरुषों के शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। 'विणयोमोक्ख द्वारं' विनय को मोक्ष का द्वार कहा है। विनय को पाँच प्रकार से बताया गया है-

(1) दर्शन विनय- सम्यक्दर्शन के हेतु श्री देव शास्त्र गुरु की विनय करना।

(2) ज्ञान विनय- सम्यक्ज्ञान के उपकरण जिन जिनवाणी उपदेशक की विनय करना।

(3) चारित्र विनय- अर्थात् 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति, 13 प्रकार का चारित्र कहा गया है। वह चारित्र धारण करने की भावना रखना एवं चारित्र के धारी ऋषि, मुनि, यति, अनगार चतुर्विध संघ की यथारीति विनय करना।

(4) तप विनय- तप के मुख्यतः 2 भेद कहे- (1) बाह्य तप (2) अभ्यन्तर तप। उनके भी 6-6 भेद हैं- (1) अनशन, ऊनोदर, व्रत संख्यान, रस त्याग, विविक्तशैयाशन, कायक्लेश ये बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्ती, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान एवं उनके धारी की विनय करना।

(5) उपचार विनय- अपने से अधिक गुणवान की यथायोग्य विनय करना उभय लोक में सुख प्रदायक कही गई है।

इति विनय प्रकरण समाप्तम्।

जिन्दगी के फूल

एक दिन एक मनुष्य ने अपने को काँटों से बचाकर बड़े ध्यान पूर्वक कुछ गुलाब के फूल तोड़े। तभी एक पौधे ने आदमी से पूछा, क्यों भाई! जब भी तुम यहाँ पौधों के पास आते हो, तो उनके फूल-फूल तोड़ लेते हो, काँटों को वहीं छोड़ देते हो। मनुष्य बोला- यह तो मैं सही करता हूँ। पौधा बोला-

Y X Y

वेयावच्चपयरणं (वैय्यावृत्य प्रकरण)

Y X Y

Y X Y
 भक्तिपाठ पढ़कर उन्हें नमस्कार करते हैं, निर्विचिकित्सा गुण का धारी दोष को नहीं देखता है बल्कि गुणों को देखकर उनकी प्रशंसा करता है। ज्ञानी की दृष्टि गुणों पर होती है किन्तु अज्ञानी की दोषों पर होती है। रानी लक्ष्मीमति की घटना जग प्रसिद्ध है। वह अत्यंत सुंदर थी। वह राजा-रानी मनोविनोद व क्रीड़ा में रत थे तभी द्वारपाल ने सूचना दी कि नगर में संत आये हैं राजा मुनि भक्त था। इसलिए मुनि दर्शन की मुख्यता थी किन्तु उसी समय राजा को राजकीय कार्य से विदेश जाना पड़ा और रानी को मुनि सत्कार में नियुक्त करके विदेश चले गये। रानी बहुत भोगी थी, उसकी क्रीड़ा में अवरोध आ जाने से वह मुनिराज के प्रति ग्लानि पूर्ण विचार करती है, इनके ही कारण हमारे सुख में अवरोध आया है, उनके प्रति निरादर पूर्ण भाव रखती है। रानी अभिमान से युक्त ग्लानि पूर्ण वचनों से पड़गाहन करती है किन्तु मुनिराज रानी के अभिमान युक्त वचन व नवधा भक्ति से रहित मुखमण्डल देखकर बिना आहार लिये ही वन को लौट जाते हैं। जिस देह के अभिमान में वह चकनाचूर थी। मुनि निंदा के प्रभाव से गलित कुष्ठ रोग हो गया। जब राजा को मुनि के अपमान का पता चला तो रानी को देश निकाला दे दिया। तब रानी ने अनेक गतियों में भव भ्रमण करके अनेक कष्टों को सहन किया इसलिए स्वप्न में भी कभी निरादर, अपमान, निंदा के भाव नहीं होना चाहिए। साधुओं की वैयावृत्ति निर्विचिकित्सा भाव से करना चाहिए।

चतुर्विध संघ मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका में अतिबाल, अतिवृद्ध, रोग से पीड़ित अथवा अन्य शारीरिक क्लेश से संयुक्त जीवों का तथा मनोज्ञ अर्थात् लोक में प्रभावशाली साधु या श्रावकों का यथायोग्य हाथ, पैर, पीठ, सिर आदि का मर्दन करना, दबाना, मालिश करना, सेंक करना, दवाई लगाना आदि क्रियाओं के द्वारा और बीमार रोगी साधु के लिए उठाना, बैठाना, करवट बदलना, हाथ-पैर आदि अंगों को सिकुड़वाना आदि के द्वारा उनकी सेवा करना। उस समय जागरण के द्वारा, शरीर के योग्य, आहार पानी आदि के द्वारा तथा औषधियों के द्वारा, मल-मूत्र आदि फेंकने के द्वारा शरीर को धोने के द्वारा (उनकी लघु शंका, दीर्घ शंका की शुद्धि करना), संस्तर (बिछौना) के शोधन के द्वारा ग्लानि रहित निर्विचिकित्सा भाव से अपनी शक्ति अनुसार सदा प्रयत्नपूर्वक वैयावृत्ति करना चाहिए। वैयावृत्ति करने वाला इस लोक में यशकीर्ति को पाता है और परलोक में स्वर्ग के सुखों को पाकर निर्वाण सुख को प्राप्त करता है। निर्विचिकित्सा गुण का धारी गुण ग्राही होता है, गंदे से गंदे पदार्थ में अच्छाई ढूंढ लेता है। एक बार अर्जुन व श्रीकृष्ण रथ पर सवार हो जा रहे थे कि अर्जुन ने मुख बिगाड़कर कहा- भगवन् रथ का मुख मोड़िए। श्रीकृष्ण ने कहा- इतनी ग्लानि की क्या बात है पार्थ, क्या हुआ? अर्जुन गुस्से में कहते हैं क्या सामने पड़ा वीभत्स शरीर वाला मृत कुत्ता आपको नहीं दिखता जिससे बदबू आ रही है। श्रीकृष्ण बोले पार्थ! मुझे तो उसमें कुछ बुरा नहीं दिखता देखो तो जरा! उसके दाँत कितने सुंदर हैं। इस प्रकार गुण ग्रहण का भाव होना चाहिए किन्तु यह कलिकाल का प्रभाव है कि साधुमीजनों से ईर्ष्या, निंदा करना,

तत्त्व विचार सार

(265)

Y X Y
आपस में नहीं मिलना, मिलना तो दूर की बात है अगर कोई श्रावक किसी दूसरे साधु की प्रशंसा कर देता है तो उसे वही डाँट देते हैं, कैसी विडंबना है अपने साधर्मी से ग्लानि करोगे तो क्या निर्विचिकित्सा अंग सुरक्षित रह पायेगा, क्या उसका पालन हो पाएगा? अर्थात् नहीं।

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

कर चरण पिट्ट सिरसामणद्वणअब्भंगसेवकिरियाहि।

उव्वत्तण परियत्तण पसारणा कुंचणाईहिं॥130॥

कर सिर पैर पीठ का मर्दन, मालिश सेंक आदि कर जान।

करवट हाथ उठाएँ विठाएँ, हाथ पैर फैलाएँ महान॥130॥

अन्वयार्थ :- (कर चरण पिट्ट सिरसा मणद्वण) हाथ, पैर, पीठ, सिर आदि का मर्दन करना, दबाना (अब्भंगसेवकिरियाहि) मालिश करना, सेंक करना आदि क्रियाओं के द्वारा और (उव्वत्तण परियत्तण पसारणा कुंचणाईहिं) उठाना-बैठाना, करवट बदलाना, हाथ-पैर आदि अंगों को फैलवाना, सुकड़वाना आदि के द्वारा -

अर्थ :- हाथ, पैर, पीठ, सिर आदि का मर्दन करना, दबाना, मालिश करना, सेंक करना आदि क्रियाओं के द्वारा और उठाना, बैठाना करवट बदलाना, हाथ-पैर आदि अंगों को फैलवाना, सुकड़वाना आदि के द्वारा-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

पडिजग्गणेहिं तणुयोगभत्तपाणेहिं भेसजेहिं तहा।

उच्चारार्इणिक्खे, वणेहिं तणुधोवणेहिं च॥131॥

करे जागरण आहारादिक, औषधि के द्वारा उपचार।

मल मूत्रादिक करे विसर्जन, तन प्रक्षालन कर उपकार॥131॥

अन्वयार्थ :- (पडिजग्गणेहिं) जागरण के द्वारा, (तणुयोगभत्तपाणेहिं) शरीर के योग्य आहार-पानी आदि के द्वारा (तहा) तथा (भेसजेहिं) औषधियों के द्वारा, (उच्चारार्इणिक्खेवणेहिं) मल-मूत्र आदि के फेंकने के द्वारा (च) और (तणुधोवणेहिं) शरीर को धोने के द्वारा-

अर्थ :- जागरण के द्वारा, शरीर के योग्य आहार-पानी आदि के द्वारा तथा औषधियों के द्वारा मल-मूत्र आदि के फेंकने के द्वारा और शरीर को धोने के द्वारा-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

संथारसोहणेहि य, वेइयावच्चं सया पयत्तेण।

Y X Y

(266)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

कायव्वं सत्तीए, णिव्विदिगिच्छेण भावेण॥132॥

निर्जुगप्स या निर्विचिकित्स हो, करें संस्तर का शोधन।

निज शक्ती से यत्न पूर्वक, वैय्यावृत्ती कर पावन॥132॥

अन्वयार्थ :- (य) और (संथारसोहणेहि) संस्तर॥बिछौना॥ शोधन के द्वारा, (णिव्विदिगिच्छेण भावेण) ग्लानिरहित निर्विचिकित्सा भाव से (सत्तीए) अपनी शक्ति अनुसार (सयापयत्तेण) सदा प्रयत्न पूर्वक (वेइयावच्चं) वैय्यावृत्य (कायव्वं) करना चाहिए-

अर्थ :- और संस्तर (बिछौना) के शोधन के द्वारा ग्लानिरहित निर्विचिकित्सा भाव से अपनी शक्ति अनुसार सदा प्रयत्न पूर्वक वैय्यावृत्य करना चाहिए-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

णिस्संकियसंवेगाई, जे गुणा वणिदा गुणोविसया।

ते होंति पायडा पुण, विज्जावच्चं कुणंतस्स॥133॥

निःशंकित संवेग आदि गुण, पहले किए गये वर्णन।

वैय्यावृत्ती के सब वे गुण, प्रगट होंय उसके पावन॥133॥

अन्वयार्थ :- (पुण) पुनः (णिस्संकिय) निःशंकित आदि और (संवेगाई) संवेग आदि (जे गुणोविसया) जो गुण विशेष पहले वर्णन किये गये हैं (ते) वे सब गुण (विज्जावच्चं कुणंतस्स) वैय्यावृत्य करने वाले जीव के (पायडा होंति) प्रकट होते हैं।

अर्थ :- निःशंकित आदि और संवेग आदि जो मनोविषयक गुण पहले वर्णन किए गए हैं, वे सब गुण वैय्यावृत्य करने वाले जीव के प्रकट होते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जो श्रावक चतुर्विध संघ की (ऋषि, मुनि, यति, अनगार) आर्यिका, श्रावक, श्राविका, रोगी, बच्चे, बूढ़े, बुजुर्ग आदि के कष्टों को दूर करता है। हाथ, पैर, पीठ, सिर दर्द आदि अंगों में दर्द होने पर उन्हें दबाना, दवाई आदि लगाना, मालिश करना, सेंक करना आदि क्रियाओं के द्वारा और उठाना, बैठाना, करवट बदलना, हाथ-पैर आदि अंगों को फैलाना, सुकड़वाना आदि के द्वारा उनकी वैयावृत्ति करना। जागरण के द्वारा, शरीर के योग्य आहार पानी आदि के द्वारा तथा औषधियों के द्वारा, मलमूत्र आदि फेंकने के द्वारा शरीर को धोने के द्वारा, शरीर में किसी प्रकार की बदबू आदि आने पर ग्लानि नहीं करना, शरीर में जल्ल-मल्ल लग जाने पर उसे हटाना, चटाई आदि संस्तर के शोधन के द्वारा ग्लानि रहित निर्विचिकित्सा भाव से अपनी शक्ति अनुसार सदा प्रसन्नचित्त होकर, प्रयत्नपूर्वक वैयावृत्ति करना चाहिए। वैयावृत्ति करने वाले जीव में निशंकित आदि गुण और जो संवेग आदि गुण हैं जिनका वर्णन आगे कह चुके हैं वे संपूर्ण गुण वैयावृत्ति करने वाले जीव के प्रकट होते हैं। अतः सभी जीवों को वैयावृत्ति करनी चाहिये।

Y X Y

देह तव णियम संयम, सील समाही य अभयदाणं च।

संयमशील समाधि सुतप अरु, देह समाधी या हो दान।

अन्वयार्थ :- (वेय्यावच्चं करंतेण) वैयावृत्य करने वाले श्रावक के द्वारा (देह) शरीर (तव) तपस्या (णियम) नियम (संयम) संयम (सील) शील (समाही) समाधि ॥ध्यान॥ (च) और (अभयदानं) अभयदान (च) तथा (गइ) गति (मइ) मति (च) और (बलं) बल (दिण्णं) दिया जाता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् जीवों पर करुणा बरसाते हुए कहते हैं कि वैयावृत्ति करने वाला श्रावक इस लोक और परलोक दोनों जगह ही यश को प्राप्त होता है। संपूर्ण जगत में उसकी प्रशंसा होती है। वैयावृत्ति का भाव कैसा होना चाहिए? उसमें छोटा-बड़ा नहीं देखा जाता है कि हम बड़े हैं तो हाथ-पैर दबाने से सेवा करने में अपने को छोटा महसूस करना। नहीं बल्कि हमेशा यही भावना भाना कि हे भगवन् जब-जब भी हमें अवसर मिले तो सेवा करने का भाव जरूर बनता रहे। जब आचार्य श्री विशदसागर जी महाराज ब्रह्मचारी थे और अचानक उन्हें आचार्य सन्मति सागर जी महाराज के दर्शन का लाभ हुआ। इत्फाक से उनके में चोट लगी हुई थी। आचार्यश्री के दर्शन करने के बाद थोड़ी सी बातचीत हुई। आचार्यश्री की दृष्टि पैर पर पड़ गई, उन्होंने पूछा- भैया जी क्या लग गया पैर में और अपने संघस्थ क्षुल्लक जी से कहा- भैया जी हमारे अतिथि हैं और अतिथि सम्मान कैसे किया जाता है तुरंत गुरुजी की बात सुनकर वह अपने कमरे में ले गए। हाथ से सफाई की और पट्टी बाँधी। कहने का तात्पर्य है कि वैयावृत्ति किसी प्रकार का भेद नहीं सिखाती है वह तो निश्चल, निष्पक्ष, निरीह होकर सेवा करती है।

वैयावृत्य, परिणाम शुद्धि का हेतु

Y X Y

(268)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

जिणसमयतिलयभूओ, लब्भइ यत्तो वि गुणरासी॥135॥

सेवा कर परिणाम शुद्ध हों, जिन आज्ञा का पालन जान।

गुण समूह को प्राप्त करें शुभ, श्री जिन मत में होय प्रधान॥135॥

अन्वयार्थ :- वैयावृत्य करने से (शुभपरिणामो जायइ) शुभ परिणाम होते हैं (य) और (जिणिंदआणा पालिया होइ) जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का परिपालन होता है, (जिणसमयतिलयभूओ) जिनेन्द्र भगवान के मत का तिलक भूत ॥प्रधान॥ होता है, (अयत्तो वि) और प्रयत्न के बिना भी (गुणरासी) गुणों का समूह (लब्भइ) प्राप्त करता है।

अर्थ :- वैयावृत्य करने से शुभ परिणाम होते हैं और जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का परिपालन होता है, जिनेन्द्र भगवान के मत का तिलकभूत (प्रधान) होता है और प्रयत्न के बिना भी गुणों का समूह प्राप्त करता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि वैयावृत्ति अर्थात् साधु संघों की सेवा करने से पुण्य की प्राप्ति होती है और शुभ परिणाम होते हैं। शुभ परिणाम होने से पुण्य, पुण्य प्राप्ति से निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है। जहाँ पर यह जीव अनंतकाल तक सुखी होकर जन्म-मरण से छूट जाता है। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन होता है। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक का परम कर्तव्य होता है कि वह मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका की वैयावृत्ति करे। वैयावृत्ति किसे कहते हैं इसके विषय में रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समंतभद्राचार्य स्वामी कहते हैं।

व्यापत्ति व्यपनोदः पदयोः, संवाहनं च

ग ण र ा ग ा त ।

वैयावृत्यं यावा-नुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥ र.श्रा. 112॥

गुणी पुरुषों या साधर्मि जनों के जीवन में आने वाले दुखों को दूर करना वैयावृत्ति तप है। हाथ-पैर दबाना ही वैयावृत्ति नहीं है बल्कि यथायोग्य चारों प्रकार के दान को करना वैयावृत्ति है किंतु आज वैयावृत्ति का स्वरूप बिगड़ गया है ना तो कोई आहारदान आदि के लिए अथवा चौका लगाने को तैयार होते हैं और ना साधुजन की हाथ-पैर दबाने की वैयावृत्ति होती है। आज तो श्रावकों की सोच में आ गया है अमुक महाराज होंगे तो मैं वैयावृत्ति करने जाऊँगा और अमुक महाराज होंगे तो उन्हें ही चौका लगाऊँगा। ये भेदभाव की भावना ही हमें आगे बढ़ने से रोकती है। मनभेद हुआ तो कभी न कभी कल्याण हो ही जाएगा किन्तु मतभेद हुआ तो कभी कल्याण नहीं हो सकता। अतः हे ज्ञानी जीवो वैयावृत्ति करने में भेद नहीं करना बल्कि अपना कर्तव्य समझ कर सेवा करते रहना। इसी से जीवन में सुख शांति का वास होगा और हमारे परिणाम भी शुद्ध होंगे जिससे जीवन में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा

Y X Y

Y X Y
का परिपालन होता है और लोगों में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

वैयावृत्य से यश कीर्ति का विस्तार

भमइ जए जसकिती, सज्जन सुह हिङ्ग णयण सुहजणणी।

अण्णे वि य होंति गुणा, विज्जावच्चेण इह लोए॥136॥

सेवा से सज्जन पुरुषों के, कर्ण हृदय हों नयन सुखाय।

यशः कीर्ति फैले इस जग में, स्वतः अन्य गुण भी आ जाय॥136॥

अन्वयार्थ :- (सज्जनसुह-हिङ्ग-णयण-सुहजणणी) सज्जन पुरुषों के कान, हृदय, नेत्र को सुख देने वाली (जसकिती) उसकी यशकीर्ति (जए) जग में (भमइ) फैलती है, (या) और (इहलोए) इस लोक में (विज्जावच्चेण) वैयावृत्य से, (अण्णे वि) अन्य भी (गुणा होंति) बहुत से गुण प्राप्त होते हैं।

अर्थ :- वैयावृत्य से सज्जन पुरुषों के कान, हृदय, नेत्र को सुख देने वाली उसकी यशकीर्ति जग में फैलती है और इस लोक में अन्य भी बहुत से गुण प्राप्त होते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जो अपने बल वीर्य को न छिपाकर जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा से समर्थ होकर भी वैयावृत्ति नहीं करता है उसका जीवन निष्फल है जो वैयावृत्ति नहीं करता है उसको अनेक दोष लगते हैं और जो वैयावृत्ति करता है वह अनेक गुण प्राप्त करता है। भगवती आराधना ग्रंथ में आचार्य शिवकोटि मुनिराज कहते हैं, हे जीवो! वैयावृत्ति के 16 गुण बताये हैं-

गुण परिणामो सङ्गहा, वच्छल्लं भत्तिवत्तलंभो य।

संधाणं तवयशा, अव्वीच्छित्ती समाधी य॥309॥

आणा संजम साखिल्लदा, य दाण च अविदिमिच्छा य।

वेज्जावच्चस्स गुणा, प्रभावणा कज्जपुण्णाणि॥310॥भग.आ.॥

1. गुण परिणाम, 2. श्रद्धा, 3. वात्सल्य, 4. भक्ति, 5. पात्र लाभ, 6. संधान, 7. तप, 8. पूजा, 9. तीर्थ की अव्युच्छित्ति, 10. समाधि, 11. आज्ञा पालन, 12. संयम सहायता, 13. दान, 14. निर्विचिकित्सा, 15. प्रभावना, 16. कार्य निर्वाह।

गुण परिणाम- यह संपूर्ण विश्व धग्-धग् करता हुआ महावेदना से प्रकट हुई बड़ी भारी मोहरूपी अग्नि द्वारा जल रहा है, उस अग्नि को शांत करने के लिए ज्ञानरूपी जल से बुझा देने पर इंद्रिय दमन रूपी महासागर में साधु सुखी हो जाते हैं। **श्रद्धा-** जैसी-जैसी श्रद्धा बढ़ती जाती है सम्यक्त्वगुण

Y X Y

Y X Y
 उतना ही विशद होता जाता है। **वात्सल्य**— साधर्मिजनों के प्रति गौ वत्स की तरह प्रेम का भाव रखता है। **भक्ति**— जिसने वैयावृत्ति की उसने पंच परमेष्ठी की परमोत्कृष्ट भक्ति की है। उनकी पूजा की है। **पात्र लाभ**— इसके 2 अर्थ होते हैं, प्रथम तो जो वैयावृत्य करता है वह स्वयं पात्रभूत होता है अर्थात् जैसे पात्र अनेक वस्तुओं के रखने का आधार होता है वैसे ही वैयावृत्ति करने वाला कषायों का शमन, इंद्रियों का दमन, धैर्य, शास्त्रों में पारंगतपना इत्यादि गुणों का स्वयं पात्र होता है ये गुण उसका आश्रय लेते हैं। **संधान**— जोड़ को कहते हैं जो चीज टूट जाती है उसे किसी उपाय से जोड़ा जाता है यहाँ पर रोग आदि से रत्नत्रय में शिथिलता आकर वह आत्मा से टूट जाता है तो वैयावृत्ति द्वारा रोग दूर कर उस रोगग्रस्त साधु का रत्नत्रय पुनः जोड़ा जाता है। **तप**— वैयावृत्ति स्वयं एक अंतरंग तप है इसके दो लाभ हैं एक तो जिसकी वैयावृत्ति की उसकी रोग वेदना शांत होती है, दूसरा स्वयं की कर्म निर्जरा होती है। **पूजा**— पंच परमेष्ठी की अष्ट से द्रव्य पूजन करना ही पूजा नहीं है बल्कि उनकी आज्ञा का पालन करना ही वास्तविक पूजा है। **तीर्थ की अव्युच्छिन्ति**— धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति आचार्य आदि की वैयावृत्ति से होती है। साधु समुदाय संघ कहलाता है और संघ का आधार आचार्य है। आचार्य की वैयावृत्ति करने से संघ का संधारण हो जाता है। 'न धर्मो धार्मिकेर्विना' इस सूक्ति के अनुसार रत्नत्रय साधु, आचार्यजनों के आधार से रहता है और रत्नत्रयधारी सदा बने रहना उनका अभाव नहीं होना यही तीर्थ की अव्युच्छिन्ति है। **समाधि**— का अर्थ है एकाग्रता। सिद्धि के सुख में एकाग्रता अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करने में तत्परता होना यह भी वैयावृत्ति का एक गुण है। **जिनाज्ञा**— जिनेन्द्र देव की आज्ञा है कि साधु आपस में वैयावृत्ति करें। **संयम सहाय**— जो जिनाज्ञा का पालन करके मुनि के संयम की रक्षा करता है। **दान**— जो स्व पर कल्याण के लिये दिया जाता है जो वैयावृत्ति करता है वह सातिशय दान देता है। **निर्विचिकित्सा**— रोगी साधुओं के शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा है, वैयावृत्ति वाला साधु या श्रावक निर्विचिकित्सा का पालन करता है। **प्रभावना**— वैयावृत्ति से जिन धर्म की अतीव प्रभावना होती है। धर्म की प्रभावना ही निज की प्रभावना है। धन व्यय करके, पंचकल्याणक करवा करके, विधान पूजा करवा के दुखी, कुमुश्रित जीवों को भोजनादि देकर आदि कार्यों से धर्म प्रभावना होती है। **संघ कार्य**— आचार्य आदि साधु संघों का कार्य भी वैयावृत्ति से ही संभव होता है। इस प्रकार वैयावृत्ति करने से यश कीर्ति की प्राप्ति होती है और संपूर्ण जगत में उसका ही यशगान गाया जाता है। अतः हे भव्य जीवो! निज को ही देखना और जानना चाहिए जिससे विशद मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

वैयावृत्य से परलोक में भी पूर्ण प्रतापी

परलोगे वि सरूओ, चिराउगो रोय सोय परिहीणो।

Y X Y

Y X Y

बल तेज सत्त जुत्तो, जाइय अखिलप्पभाओ य॥137॥

जीव चिरायू रूपवान हो, तेज सत्व बल युक्त महान।

वैय्यावृत्ती का फल पावे, रोग शोक ना पावे जान॥137॥

अन्वयार्थ :- वैयावृत्य के फल से (परलोगे वि) परलोक में भी जीव (सरूओ) सुरूपवान (चिराउगो) चिरायु, (रोय सोय परिहीणो) रोग-शोक से रहित (बल तेल सत्त जुत्तो) बल, तेल और सत्व से युक्त (य) तथा (अखिलप्पभाओ) पूर्ण प्रतापी (जाइय) होता है।

अर्थ :- वैयावृत्य के फल से परलोक में भी जीव सुरूपवान, चिरायु रोग-शोक से रहित, बल तेज और सत्व से युक्त तथा पूर्ण प्रतापी होता है।

वैयावृत्य से अनेक रिद्धियों की प्राप्ति

जल्लोसहि सव्वोसहि, अक्खीणमहाणसाइ रिद्धीओ।

अणिमाइ गुणा य तहा, विज्जावच्चेण पाउणइ॥138॥

वैय्यावृत्ती से जल्लौषधि, सर्वौषधि अक्षीण महान।

आदि ऋद्धियाँ अणिमा आदिक, अष्ट सुगुण धारी हो जान॥138॥

अन्वयार्थ :- (विज्जावच्चेण) वैयावृत्य करने से (जल्लोसहि) जल्लौषधि (सव्वोसहि) सर्वौषधि (य) और (अक्खीण महाणसाइ रिद्धीओ) अक्षीण महानस आदि ऋद्धियों (तहा) तथा (अणिमाइ गुणा) अणिमा आदि अष्ट गुण (पाउणइ) प्राप्त करता है।

अर्थ :- वैयावृत्य करने से भक्त जल्लौषधि, सर्वौषधि और अक्षीण महानस आदि ऋद्धियों तथा अणिमा आदि अष्ट गुण प्राप्त करता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि साधुजन कर्म क्षय करने के लिए अनेक तप करते हैं। एक, दो, चार, पाँच, आठ, सोलह दिन, एक मास, चार माह आदि के उपवास करते हैं तथा अनेक प्रकार के काय क्लेश आदि तप करते हैं। तप करना ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं। इसी में साधुओं का वैयावृत्ति करना भी प्रमुख कर्त्तव्य है जिन मुनि ने वैयावृत्ति तप का भली भाँति पालन किया उनने अपने कार्य का पूर्ण प्रकार से निर्वाह किया ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि इसका आचरण करने वाला स्व और पर का उपकार करता है। वैयावृत्ति तप का पालन करके वह अपने कर्म की निर्जरा करता है और अपने रत्नत्रय की वृद्धि करता है और अनेक प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करता है। शास्त्रों में अनेक ऐसे

उदाहरण

Y X Y

(272)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
आते हैं जिनकी ऋद्धि के प्रभाव से नीरस भोजन सरस बन गया, सर्प का जहर उतर गया, जल में चलने लगे, आकाश में चलने लगे आदि ये सब तप, वैयावृत्ति के प्रभाव से प्राप्त होते हैं। ऋद्धियाँ अनेक होती हैं।

वैयावृत्य से श्रेष्ठ तीर्थकर प्रकृति का बंध

किं जंपिण बहुणा, तिलोय संखोह कारय महंतं।

तिथ्यरणाम पुण्णं, विज्जावच्चेण अज्जेदि॥139॥

अधिक कहें क्या वैयावृत्ति, से तीनों लोकों में हर्ष।

आठ ऋद्धियाँ आश्चर्य कर, हो तीर्थकर प्रकृति उत्कर्ष॥139॥

अन्वयार्थ :- (बहुणा जंपिण किं) बहुत कहने से क्या (विज्जावच्चेण) वैयावृत्य करने से यह जीव (तिलोयसंखोहकारयमहंतं) तीन लोक में संक्षोभ अर्थात् हर्ष और आश्चर्य को करने वाला महान (तिथ्यरणामपुण्णं) तीर्थकर नामक पुण्य को (अज्जेदि) उपार्जित करता है।

अर्थ :- बहुत कहने से क्या वैयावृत्य करने से यह जीव तीन लोक से संक्षोभ अर्थात् हर्ष और आश्चर्य को करने वाला महान तीर्थकर नामक पुण्य को अर्जित करता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् वैयावृत्ति भावना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वैयावृत्ति करने से तीर्थकर जैसी महान् पदवी की प्राप्ति होती है। संसार के सारे पद तो नाशवान हैं किन्तु जिसने ए

क

बार तीर्थकर प्रकृति का बंधकर लिया वह संसार से पार हो जाएगा। तीर्थकर का महान् वैभव होता है। तीर्थकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ 4 गुण स्थान से आठवें गुणस्थान तक मनुष्य गति में प्रारम्भ होता है किन्तु पूर्णता कहीं भी किसी भी गति में कर सकता है। तीर्थकर प्रकृति का बंध 16 कारण भावना के भाने से होता है। यदि इसमें से कोई भावना कम हो जाए तो भी इस प्रकृति का बंध हो सकता है, इसमें प्रमुख भावना दर्शन विशुद्धि भावना है- दर्शन विशुद्धि अर्थात् सम्यक्त्व में विशेष निर्मलता करना है, इस भावना के ना होने पर तीर्थकर प्रकृति प्राप्त नहीं हो सकती। संसार के प्रत्येक प्राणी मात्र के प्रति ये भावना रखना कि सभी प्राणियों का कल्याण हो, कोई दुखी न रहे इस प्रकार का चिंतन मनन से तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है। सभी तीर्थकर राजा ही होते हैं, ऐसा क्यों होता है जिस प्रकार से किसान फसल को बोता है और समय आने पर अनाज के मिलने पर ही भूषा तो अपने आप ही प्राप्त हो जाता है वैसे ही तीर्थकर प्रकृति के बंधक जीव को मोक्ष प्राप्त होता है तथा संसार की सुख सुविधाएँ अपने आप

Y X Y

Y X Y
 ही मिल जाती हैं।

‘पुण्य फला अरहंता’ विश्व में सर्वश्रेष्ठ पुण्य का फल अर्हन्तों का प्राप्त होता है। जब सर्वश्रेष्ठ पुण्य प्राप्त होगा तो संसार का सर्व वैभव उनके चरणों में समर्पित हो जाता है जब केवलज्ञान प्रकट होता है तब धनकुवेर समवशरण की रचना करता है उस समय अपना सारा खजाना खोल देता है। स्वर्ण-चाँदी रत्नों से सज्जित समवशरण में कमलाशन पर जिन प्रभु अधर विराजमान होते हैं।

समवशरण के चारों द्वारों पर 108 निधियाँ और 108 रत्न दोनों ओर पड़े रहते हैं जैसा कि देखा जाता है कि चक्रवर्ती के पास 9 निधियाँ और चौदह रत्न होते हैं तो चक्रवर्ती के वैभव को लोग देखकर सुनकर आँहें भरते हैं किन्तु तीर्थंकर का वैभव अपरम्पार है जिसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। बृहस्पति या इन्द्र भी जिनके वैभव का वर्णन करने बैठे तो पूर्ण नहीं कर पाएँगे ऐसे असीम पुण्य धारक तीर्थंकर के लिए स्वतः ही लक्ष्मी सिर झुकाकर वन्दन करती है।

वैयावृत्य से वसुदेव कामदेव हुये

तरुणि जण णयण मण हारि, रूव बल तेज सत्त संपण्णो।

जाओ वेजावच्चं, पुव्वं काऊण वसुदेवो॥140॥

तरुणी के मन नयन हरण हर, तेज रूप बल सत्त्व प्रधान।

पूर्व भवों में वैयावृत्ति, कर वसुदेव हुआ गुणवान॥140॥

अन्वयार्थ :- (वसुदेवो) वसुदेव का जीव (पुव्वं) पूर्व भव में (वेजावच्चं) वैयावृत्त (काऊण) करके (तरुणि जण णयण मण हारि रूव बल तेज सत्त संपण्णो) तरुणीजनों के नयन और मन को हरण करने वाले रूप, बल, तेज और सत्त्व से सम्पन्न (वसुदेवो जाओ) वसुदेव नाम का कामदेव हुआ।

अर्थ :- वसुदेव का जीव पूर्व भव में वैयावृत्ति करके तरुणीजनों के नयन और मन को हरण करने वाले रूप, बल तेज और सत्त्व से सम्पन्न वसुदेव नाम का कामदेव हुआ।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् वैयावृत्ति की विशदता बताते हुए कहते हैं तीर्थंकर जैसा महान् पद कामदेव जैसे पद और भी अनेक पद वैयावृत्ति से ही प्राप्त होते हैं। कामदेव अर्थात् जिनका सबसे सुंदर रूप होता है, कामदेव 24 होते हैं और जनमानस को आकर्षित करता है। साथ ही दिगंबर दीक्षा धारण करके समस्त कर्मों को नष्ट करके उसी भव से मोक्ष जाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

1. बाहुबलि, 2. प्रजापति, 3. श्रीधर, 4. दर्शनभद्र, 5. प्रसेनचंद्र, 6. चंद्रवर्ण, 7. अग्निमुख, 8.

Y X Y

(274)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
सनत्कुमार, 9. वत्सराज, 10. कनकप्रभ, 11. मेघप्रभ, 12. शांतिनाथ, 13. कुंथुनाथ, 14. अरनाथ,
15. विजयराज, 16. श्रीचंद, 17. नलराज, 18. हनुमान, 19. बलिराज, 20. वसुदेव, 21. प्रद्युम्न,
22. नागकुमार, 23. जीवंधर, 24. जंबूस्वामी।

इस प्रकार वसुदेव ने पूर्वभव में वैयावृत्ती की थी उसके पुण्य प्रभाव से कामदेव पदवी के धारी हुए थे इसलिए सदैव वैयावृत्ती की भावना रखना चाहिए।

आचार्य भगवन् कामदेव की विशदता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पुण्यकर्म के उदय से अत्यंत रूपधारण करने वाला जितेन्द्रिय सत्पुरुष कामदेव पदवी का धारक होता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति ग्रंथ में आचार्य भगवन् कहते हैं—

कालेसु जिणवराणं, चउवीसाणं हवन्ति चउवीसा।

ते बाहुलबलि पमुहा, कंदप्पा णिरूवमायरा॥

अर्थात् चौबीस तीर्थंकरों के काल में 24 कामदेव होते हैं इनका सौंदर्य अनुपम होता है परन्तु इस हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से कामदेव पदवी प्राप्त महापुरुषों में भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ तीर्थंकरों का कथन आगम में आया है। काम शब्द द्वारा लोक में जीव के विकारी भावों को ग ह ण किया जाता है। यह विकार मन में उत्पन्न होने से काम को मनसिज, मनोज, मनोभू आदि नामों से पुकारते हैं। इस कामभाव के कारण पुरुष स्त्री शरीर के प्रति उसी प्रकार आकर्षित होकर विनाश को प्राप्त करता है जिस प्रकार प्रकाश प्रेमी पतंगा दीपक की ज्योति में आसक्त होकर जल जाता है। जिनेन्द्र भगवान ने अपने आत्मबल और समाधि की प्रचण्ड अग्नि में उस काम विकार को सदा के लिये नष्ट कर दिया है।

जैन आगम में 169 महापुरुषों में 24 को कामदेव कहा गया है। ये चतुर्थ काल में होते हैं। बाहुबलि भगवान का 24 कामदेव में आद्यस्थान है, हनुमान जी की भी कामदेव में गणना की गई है। नारायण श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की भी गणना की जाती है। ये कामदेव पदवी के धारी, जिनदेव तथा जिनशासक के परम भक्त होते हैं। इनका अनुपम सौंदर्य स्त्री वर्ग को मुग्ध करता है।

वैयावृत्य से श्री कृष्ण द्वारा तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का उपार्जन

वारवईए विज्जावच्चं किच्चा असंजदेणावि।

तित्थयरणामपुण्णं समज्जियं वासुदेवेण॥141॥

वैयावृत्ती का फल पाए, वासुदेव श्रीकृष्ण महान।

Y X Y

Y X Y
तीर्थकर प्रकृति पाएँगे, द्वारावति के अधिपति मान॥141॥

अन्वयार्थ :- (वारवईए) द्वारकावती नगरी में (असंजदेणावि) व्रत संयम से रहित असंयत (वासुदेवेण) वासुदेव श्रीकृष्ण ने (विज्ञावच्चं किच्चा) वैयावृत्य करके (तित्थयरणामपुण्णं) तीर्थकर नाम पुण्य प्रकृति का (समज्जियं) समार्जन / उपार्जन किया।

अर्थ :- द्वारकावती नगरी में व्रत संयम से रहित असंयत वासुदेव श्री कृष्ण ने वैयावृत्य करके तीर्थकर नाम पुण्य प्रकृति का समार्जन / उपार्जन किया।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जो रोगादि से पीड़ित हैं— कोढ़, पेट के रोग, आमवात संग्रहणी, कठोदर, सफोदर, नेत्र शूल, शिर शूल, दंत शूल तथा ज्वर, कास, श्वास—जरा इत्यादि रोगों से पीड़ित जो मुनि या श्रावक हैं यथायोग्य उनका आदर सम्मान करना, सेवा करना वैयावृत्य है जो तप द्वारा तपे हुए हों किन्तु रोग सहित शरीर हो, उनका दुख देखकर उनके लिये प्रासुक औषधि आदि देकर रोग का उपशमन करना वैयावृत्ति है। दश प्रकार के मुनियों की (आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ साधु की) सेवा आदि करना वैयावृत्ति है। वैयावृत्ति में संयम की स्थापना ग्लानि का अभाव, प्रवचन में वात्सल्यता, सनाथपना आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं। वैयावृत्ति ही परम धर्म है। आहारदान द्वारा भी वैयावृत्ति होती है, औषधिदान द्वारा भी वैयावृत्ति होती है। श्रीकृष्ण ने औषधिदान द्वारा वैयावृत्ति की थी जिसके प्रभाव से तीर्थकर प्रकृति का बंध हुआ था। एक बार द्वारिका नगर में एक साधु आये। जो अत्यंत रुग्ण अवस्था में थे। श्रीकृष्ण ने जीवंधर वैद्य को बुलाकर उनकी सेवा वैयावृत्ति की और औषधि को लड्डू में मिलाकर जितने चौके लगे थे सभी के चौके में भिजवा दिये। क्योंकि मुनिराज का कोई पता नहीं होता कि किस चौके में जाएँगे इसलिए कृष्ण ने ऐसी युक्ति लगाई। उस समय के औषधिदान का प्रभाव हुआ कि उन्हें तीर्थकर प्रकृति का बंध हुआ। जो समर्थ होने पर भी अपनी शक्ति को छिपाकर वैयावृत्ति नहीं करता है वह धर्म रहित है। धर्म हीन मनुष्य पशु के समान है। कहा भी है— ‘धर्म हीन नर पशुहि समाना’ जिस प्रकार से पशु के दो हाथ, दो पैर, मुँह, हृदय, कान, नाक आदि होते हैं वैसे ही दो हाथ, दो पैर, मुँह, हृदय, कान, नाक आदि मनुष्य में भी होते हैं। बस अंतर मात्र मूँछ और पूँछ का होता है। पशु की पूँछ होती है मनुष्य की मूँछ होती है। धर्म हीन मनुष्य का अस्तित्व शून्य की भांति है अगर किसी संख्या के आगे कितने भी शून्य रखे हो उसका कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु संख्या के बाद कितने भी शून्य हों तो निरंतर ही उसका महत्व बढ़ता जाता है। मनुष्य कैसा भी हो काला, गोरा, लूला, लंगड़ा, जैन, ब्राह्मण, नीच जाति आदि किन्तु जैन धर्म को जिसने धारण कर लिया उसका महत्व बढ़ गया और वह धर्म को प्राप्त करके परंपरा से विशद सुख को प्राप्त कर लेता है।

Y X Y

वैयावृत्य की महिमा को जानकर सदा वैयावृत्य करें

एण णाऊण फलं, वेयावच्चस्स परमभत्तीए।

णिच्छयजुत्तेण सया, कायव्वं देसविरएण॥142॥

जान के वैयावृत्ती का फल, निश्चय कर भक्ती के साथ।

वैयावृत्य देशव्रति श्रावक, करके बनें श्री के नाथ॥142॥

अन्वयार्थ :- (एव) इस प्रकार (वेयावच्चस्स) वैयावृत्य के फल को (णाऊण) जानकर (णिच्छयजुत्तेण) दृढ़ निश्चय होकर (परमभत्तीए) परम भक्ति के साथ (देसविरएण) देशव्रती श्रावक को (सया) सदा वैयावृत्य (कायव्वं) करना चाहिए।

अर्थ :- इस प्रकार से वैयावृत्य के फल को जानकर दृढ़ निश्चयी होकर परम भक्ति के साथ देशव्रती श्रावक को वैयावृत्य करना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् वैयावृत्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवो! प्रसन्नचित्त होकर, दृढ़ निश्चय होकर, किसी प्रकार की आकांक्षा ना रखते हुए, शक्ति के अनुसार, मन, वचन, काय पूर्वक, भक्ति पूर्वक, देशव्रती श्रावक को, मुनि आर्यिका, श्रावक, श्राविका की सदैव वैयावृत्ति करना चाहिए। वैयावृत्ति करने से इस लोक में भी यश और प्रशंसा की प्राप्ति होती है और परलोक में भी देवगति के भोगोपभोग की प्राप्ति होती है। आचार्य भगवन् कुंदकुंदाचार्य रयणसार ग्रंथ में वैयावृत्ति की महिमा बताते हुए कहते हैं।

अणयाराणं वेजा, वच्चं कुज्जा जहेड जाणिज्जा।

गब्भब्बमेव मादा, पिदुच्च णिच्चं तहा णिरालसया॥25॥

जिस प्रकार इस लोक में माता और पिता गर्भस्थ शिशु का सावधानीपूर्वक पालन करते हैं उसे किसी प्रकार का कष्ट ना हो इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं। माता के द्वारा खाया भोजन, माता के द्वारा की गई क्रिया कैसी हो रही है इन सब बातों का विशेष ध्यान रखा जाता है। तथा बच्चे की रुचि व प्रकृति का ध्यान रखते हुए माँ बच्चे को भोजन कराती है उसी प्रकार साधु की रुचि व प्रकृति का ध्यान रखते हुए श्रावक इसी प्रकार मुनियों के स्वास्थ्य की जानकारी करके, उनकी प्रकृति की अनुसार कौन सी वस्तु ग्रहण करने योग्य है इन बातों का ध्यान रखते हुए आलस्य से रहित होकर वैयावृत्ति करना चाहिए।

Y X Y
॥इति वैयावृत्य प्रकरण॥

अहो आत्मन्!

संसारी प्राणी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में निमग्न है। अर्थशास्त्र के आधार पर वे आवश्यकताएँ मुख्यतः 3 प्रकार से कही हैं— (1) आवश्यक (2) आरामदायक (3) विलासितापूर्ण।

(1) आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्येक जीव के जीवन में होना आवश्यक है जिसके बिना जीवन नहीं चल सकता है वे हैं— (1) रोटी (2) कपड़ा (3) मकान। रोटी—कोई संत हो या असन्त, बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष सभी के लिए भोजन अत्यावश्यक है जिसके बिना जीवन सम्भव नहीं। वस्त्र—आवश्यक है किन्तु भोजन समान नहीं क्योंकि संत वस्त्र का त्याग करके प्राकृतिक जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु गृहस्थों के लिए आवश्यक है। मकान— आवश्यक है किन्तु रोटी और कपड़ा के जैसे नहीं संत प्राप्त करके भी छोड़कर चले जाते हैं और प्राकृतिक छटा के मध्य रहकर आत्म साधन में रत रहते हैं।

(2) आरामदायक आवश्यकताएँ— जो व्यक्ति के मन, वचन, काय की क्रियाओं में सहयोगी हो वे आरामदायक आवश्यकताएँ हैं जैसे मन से सोचने के लिए। वचन से बोलने के लिए माइक और काय से चलने के लिए साधन, व्यापार के लिए उपकरण।

(3) विलासिता की आवश्यकता— जो उपयोगी नहीं है मात्रा दिखावा के लिए या अहं की पूर्ति के लिए होती है। इनका परित्याग कर परोपकारी जीवन व्यतीत करना चाहिए।

सावयट्ठाण पयरणं (श्रावक स्थान प्रकरण)

प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक

पंचुंबर सहियाइं, सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेदि।

सम्मत्त विसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ॥143॥

हो सम्यक्त्व विशुद्धी वाला, पंच उदुम्बर कर परित्याग।

दर्शन प्रतिमा धारी श्रावक, सप्त व्यसन का करता त्याग॥143॥

अन्वयार्थ :- (जो सम्मत्त विसुद्ध मई) जो सम्यक् दर्शन से विशुद्ध बुद्धि वाला (पंचुंबर सहियाइं) पाँच उदुम्बर फलों से सहित (सत्त वि विसणाइं) सातों ही व्यसनों को (विवज्जेदि) त्यागता है (सो दंसणसावओ भणिओ) वह प्रथम प्रतिमा धारी, दर्शन श्रावक कहा गया है।

Y X Y

(278)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अर्थ :- जो सम्यक् दर्शन से विशुद्ध बुद्धि वाला, पाँच उदुम्बर फलों से सहित, सातों व्यसनों का परित्याग करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शनिक श्रावक कहा गया है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं श्रावक शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है। श्र अर्थात् श्रद्धावान, व अर्थात् विवेकवान, क अर्थात् क्रियावान। जिनके अंदर में ये तीनों गुण समाहित हैं वही श्रावक कहला सकता है। आचार्य भगवन् ने श्रावक के लिए और श्रमण के लिए अलग-अलग प्रकार से धर्म की व्याख्या की है। किसी ने प्रश्न किया। श्रावक का धर्म और श्रमण का धर्म क्या है? इसके उत्तर में पूज्य गुरुदेव कहते हैं- श्रावक धर्म अर्थात् 11 प्रतिमा रूप व्रत जिन्हें अणुव्रत कहते हैं। श्रमण धर्म अर्थात् 10 धर्म, महाव्रत आदि। 11 प्रतिमाओं से पहले हमें यह समझना होगा कि गृहस्थ श्रावक का जो धर्म है वह धर्म कैसे प्रारंभ होता है? वह धर्म सम्यक्दर्शन से प्रारंभ होता है उसी सम्यक्दर्शन के साथ वह पाक्षिक श्रावक कहलाने लगता है। श्रावक तीन प्रकार के होते हैं- 1. पाक्षिक श्रावक, 2. नैष्ठिक श्रावक, 3. साधक श्रावक।

पाक्षिक श्रावक का अर्थ होता है जो वीतरागता का पक्ष धारण करता है। वीतरागता की आराधना करता हो। वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है, जब वह श्रावक और आगे बढ़ता है तो नैष्ठिक श्रावक की पदवी को भी प्राप्त कर लेता है। नैष्ठिक का अर्थ होता है उसकी निष्ठा, श्रद्धा, आस्था। जो भगवान ने उपदेश दिया है उसमें उसकी आस्था बढ़ती जाती है, उसकी आस्था इतनी बढ़ती चली जाती है कि वह व्रतों को भी स्वीकार करता चला जाता है तब श्रावक 12 व्रतों का पालन करने लग जाता है। सम्यक्दर्शन को अपने हृदय में धारण करता है तो नैष्ठिक श्रावक की पहली सीढ़ी पर होता है। नैष्ठिक श्रावक के लिए ही इन 11 प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है।

प्रतिमा का अर्थ कोई भगवान की प्रतिमा से नहीं है। एक बार एक सज्जन से पूछा कि भैया आपकी कितनी प्रतिमा है। उन्होंने कहा 24। महाराज ने पुनः कहा- प्रतिमा कितनी है आपकी। भैया ने कहा महाराज दो हैं, कौन-कौनसी नाम बताओ तो उत्तर मिला एक आदिनाथ की दूसरी महावीर स्वामी की। इसका मतलब प्रतिमा का अर्थ मूर्ति से था। यहाँ प्रतिमा का मतलब भगवान से नहीं है बल्कि प्रतिमा का अर्थ संकल्प जब हमारे अंदर किसी प्रतिज्ञा का, किसी संकल्प का उदय होता है तो उसे प्रतिमा नाम से जाना जाता है। कहा भी है-

संयम अंश जाग्यो जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।

उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम॥

एक प्रकार से हम यूँ समझें कि इस श्रावक को भी प्रतिमा की तरह पूज्य बनाने वाले ये एक से

Y X Y

Y X Y
 ग्यारह तक के व्रत व संकल्प आदि हैं। प्रथम प्रतिमा दर्शन प्रतिमा है— दर्शन से तात्पर्य मंदिर में जाकर प्रतिमा के दर्शन से नहीं है बल्कि सम्यक्दर्शन के साथ संकल्प लेकर के आगे बढ़ना है। इस प्रकार दर्शन प्रतिमाधारी कम से कम अष्ट मूलगुणों को पालन अवश्य करता है। अष्ट मूलगुण क्या हैं इसके उत्तर में आचार्य भगवन् कहते हैं— पाँच अणुव्रत (अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह परिमाणानुव्रत) मद्य, मांस, मधु का त्याग। यदि हम संकल्प लेकर के सम्यक्दर्शन पूर्वक आगे बढ़ते हैं तो पहली प्रतिमा के श्रावक कहलाने के योग्य बन जाते हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में प्रथम प्रतिमा का लक्षण इस प्रकार कहा है—

बहु तस समणिदं जं, मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं।

जेण ये सेवदि णियदं, सो दंसण सावओ होदि॥320॥

अर्थात् जो बहुत से त्रस जीवों से युक्त पदार्थ एवं मद्य, मांस, मधु आदि निंदनीय वस्तुओं के सेवन का नियम से जो त्याग करता है वह दार्शनिक श्रावक है। त्रस जीवों की जिसमें हिंसा हुई है तो वह भी उसके लिए मांस सेवन के बराबर हो जाता है। जिन पदार्थों की मर्यादा जितने दिनों की बतायी है अगर वह पदार्थ मर्यादा से बाहर हो जाते हैं तो उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। पदार्थों की मर्यादा तीन प्रकार होती है। ठंड में 7 दिन की, गर्मी में 5 दिन की और वर्षात में 3 दिन की होती है। ये आगम की वाणी है। यह अरहंत भगवान के वचनों से हमें ज्ञात है हमें यह नहीं देखना कि मर्यादा से बाहर हुई वस्तु में त्रस जीव उत्पन्न हुये कि नहीं बल्कि जिनवाणी को चक्षु से देखना है कि उसमें त्रस जीव उत्पन्न हुए हैं। पहली प्रतिमा वाला निर्दोष रूप से पालन करने लग जाता है। जब तक हमने संकल्प नहीं लिया तब तक हम अविरत सम्यक्दृष्टि तो हो सकते हैं लेकिन व्रती या प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक नहीं हो सकते हैं। कम से कम 2 प्रतिमा धारण करो। पहली कक्षा पास करने के बाद ही दूसरी कक्षा पास होती है। दूसरी कक्षा पास होने पर ही तीसरी कक्षा में प्रवेश मिलता है। क्रमशः दसवीं तक पहुँच जाता है अब 11वीं में हायर सैकेण्डरी कहलाने लगता है अर्थात् प्रतिमा वाला अब नीचे नहीं उतरा बल्कि वह ऊपर की ओर बढ़ता है। ग्यारहवीं प्रतिमा वाला ऐलक, क्षुल्लक बन जाता है। अब आप उनसे कहो महाराज अब तो घर में ही रहना पड़ेगा। नहीं ना वह गृह में नहीं वन में रहकर महाव्रती बनने की साधना करता है।

जो श्रावक अणुव्रती और महाव्रती नहीं बन सकते हैं वह सामान्य श्रावक बनकर भी अपने षट् आवश्यक के साथ-साथ श्रावक की तिरेपन क्रियाओं का पालन कर सकते हैं। आचार्य भगवन् ने रयणसार ग्रंथ के अंतर्गत क्रियाओं का वर्णन इस प्रकार किया है।

Y X Y

(280)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

गुण वय-तप-सम पडिमा दाणं, जलगालणं

अ ण त थ ि म य ं ।

दंसण णाण चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया॥र.सा. 137॥

अष्टमूल गुण- पंच उदुंबर फल खाने का त्याग (बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पारूर या अंजीर) मद्य पीने का त्याग, माँस भक्षण का त्याग, मधु खाने का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, अनछने जल का त्याग, नित्य देवदर्शन, जीवों पर दया करना।

12 व्रत- पाँच अणुव्रत (अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह परिमाणुव्रत) तीन गुणव्रत (दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड व्रत), 4 शिक्षा व्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, वैयावृत्त, भोगोपभोग परिमाण व्रत)

12 तप- अनशन, ऊनोदर, व्रत परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शैय्याशन, कायक्लेश ये बहिरंग तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान (समता भाव) ये अंतरंग तप हैं।

11 प्रतिमा- दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्त त्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा, आरंभ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा।

4 दान- आहार दान, औषधि दान, अभय दान और शास्त्र दान।

जल गालन, अनस्तमित भोजन (सीमित भोजन, दिन में करना) **रत्नत्रय** (सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) ये श्रावक को 53 क्रियाएँ कहलाती हैं जिनको करके श्रावक धर्मधारी परम्परा से विशद मोक्ष मार्गी बनता है।

पाँच उदुम्बर फल त्यागने योग्य

उंबर बट पिप्पल, पिंपरीय संधाण तरुपसूणाइं।

णिच्चं तससिद्धाइं, ताइं परिवज्जियव्वाइं॥144॥

ऊमर और कठूमर पीपल, बड़ पाकर ये पञ्च सुजान।

कुछ तरुओं के फल संधानक, त्रस घातक छोड़ो विद्वान॥144॥

अन्वयार्थ :- (उंबर बट पिप्पल पिंपरीय) ऊमर, बड़, पीपल, कठूमर और पाकर ये पाँच उदुम्बर फल तथा (संधाणतरु-पसूणाइं) संधानक ॥आचार॥ और कुछ वृक्षों के फूल (णिच्चंतससिद्धाइं) जो निरन्तर त्रस जीवों से व्याप्त रहते हैं, इसलिये (ताइं) ये सब

Y X Y

Y X Y
(परिवर्ज्यव्वाङ्) छोड़ने योग्य हैं।

अर्थ :- ऊमर, बड़, पीपल, कटूमर और पाकर पाँच उदुम्बर फल तथा संधानक (अचार) और कुछ वृक्षों के फूल ये सब नित्य त्रस जीवों से भरे हुए रहते हैं, इसलिये इन सब का त्याग करना चाहिए।

विशदार्थ :- प.पू. आचार्य भगवन् जन्म कल्याण हेतु कहते हैं कि हे भव्य जीवो! यह मानव पर्याय बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुआ। इसे व्यर्थ की सुख सुविधाओं में रहकर अपने मन को भ्रमित कर रहे हो। कभी रसना इन्द्रिय का सुख तो कभी स्पर्शन इन्द्रियों का सुख तो कभी चक्षु इन्द्रिय तो कभी कर्ण इन्द्रिय का सुख। जिसे पाकर हम सुख मान रहे हैं वह सुख नहीं बल्कि सुखाभास है। एक-एक इन्द्रिय के वशी होकर जीवों को प्राण गवाना पड़े। कहा है-

अलि पतंग मृग मीन गज, विषय एक-एक पर मरते हैं।

नतीजा क्यों ना पाएँगे, विषय पाँचों जो करते हैं।

सुखी रहने के लिए आत्मा परमात्मा को समझना होगा, हिताहित का विवेक जागृत करना होगा, सुख पर मैं नहीं स्व में स्थित है, जोड़ने में नहीं छोड़ने में अर्थात् त्याग करने में है। जिन वस्तुओं के सेवन करने से सुख और लाभ मिलते ही नहीं है उसका हम सेवन करते हैं जैसे पंच उदुम्बर फल अचार इनको कोई खाता नहीं है फिर भी उसका पाप लगता है, देखने में तो सुंदर दिखते हैं किन्तु तोड़ने पर असंख्यात त्रस जीव मर जाते हैं और खाने में भी हिंसा होती है। अरे आत्मन्! जब प्रकृति ने भक्ष्य पदार्थ हमें खाने के लिए प्रदान किए हैं तो फिर अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने से क्या लाभ है।

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है-

वासना मात्र मेवै तत्, सुखं दुखं चा देहनाम्।

तथा-ह्युद-वेज-यन्तैते, भोगा रोगा

इ व ा प ि द । ।

इन्द्रिय विषय सेवन मात्र देह की वासना है जिसमें सुख दुख यह जीव मानता है, उससे आकुलता ही प्राप्त करता है। उदाहरण देते हुए कहा है- जिस प्रकार किसी को खुजली होती है तो खुजाते समय आनन्द मनाता है। कहा है-

दाद खाज अरु सेउआ, बड़भागी के होय।

पड़े खुजावें पलग पर, आनन्द मंगल होय॥

Y X Y

(282)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

खुजाने के बाद जलन होती, उसके कारण चीखता चिल्लाता और रोता है। उसी प्रकार इन्द्रिय विषमभोग भी खुजली रोग समान हैं।

सातों व्यसन दुर्गति गमन के कारण

जूयं मज्जं मंसं वेसा, पारिद्धि चोर परयारा।

दुग्गङ्गमणस्सेदाणि, हेउभूयाणि पावाणि॥145॥

जुआ खेलना वेश्या सेवन, चोरी मांस शराब शिकार।

परस्त्री सेवन दुर्गति के, कारण सप्त व्यसन परिहार॥145॥

अन्वयार्थ :- (जूयं) जुआ (मज्जं) मद्य, शराब (मंसं) माँस (वेसा) वेश्या (पारिद्धि) शिकार (चोर परयारा) चोरी, परस्त्री सेवन (एदाणि) ये सातों व्यसन (दुग्गङ्ग मणस्सेदाणि हेउभूयाणि) दुर्गति गमन के कारण भूत (पावाणि) पाप हैं।

अर्थ :- जुआ, शराब, माँस, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री सेवन ये सातों व्यसन दुर्गति गमन के कारण भूत पाप हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जुआ खेलना, शराब पीना, माँस भक्षण करना, वेश्या से सम्बन्ध रखना, शिकार खेलना, चोरी करना तथा अन्य की स्त्री के प्रति अनुराग रखना, ये सात महापाप रूप व्यसन हैं। जो असत्प्रवृत्तियाँ मनुष्य को सन्मार्ग से भ्रष्ट करती हैं, उनका नाम व्यसन है। व्यसन बुरी आदत को कहा जाता है। बुद्धिमान पुरुष को इन सबका त्याग करना चाहिए।

जुआ- यह जुआ निंदा का स्थान है तथा चोरी एवं वेश्या गमन आदि अन्य व्यसनों में प्रमुख है। समस्त आपत्तियों का स्थान है, पाप का कारण है तथा दुःखदायक नरक के मार्गों में अग्रगामी है। जो दुर्बुद्धि मनुष्य हैं, वे ही इस अनेक आपत्तियों के उत्पादक जुआ को अपनाते हैं, विवेकी मनुष्य नहीं।

शराब- शराब के पीने से मनुष्य के मस्तिष्क की क्रियाएँ अस्वाभाविक होकर विकृत हो जाती हैं। शराबी मनुष्य न तो धर्म कार्य कर सकता है, न अर्थोपार्जन कर सकता है और न ही यथेच्छ भोग ही भोग सकता है। इस प्रकार वह इस भव में तीनों पुरुषार्थों धर्म-अर्थ-काम से वंचित हो जाता है। परभव में मद्यजनित दोषों से नरकादि दुर्गतियों में पड़कर असह्य दुःखों को भी भोगता है। इसी विचार से बुद्धिमान मनुष्य उसका सदा के लिए परित्याग करते हैं।

माँस- कव् मांसं कव् शिवे भक्तिः, कव् मद्यं कव् शिवार्चनम्।

मद्यमांसानुरक्तेभ्यो, दूरे तिष्ठति शंकरः॥महाभारत॥

Y X Y

Y X Y

‘माँस’ का भक्षण करना तो कहाँ! और कहाँ महादेव में भक्ति करना, कहाँ! वो मदिरा पीना और कहाँ महादेव की पूजा करना, कारण कि मदिरापान में और माँस भक्षण में अनुराग करने वाले मनुष्यों से शंकर॥महादेव॥ कोसों दूर रहते हैं।

जो माँस घृणा को उत्पन्न करता है, मृग मीन आदि प्राणियों के घात से उत्पन्न होता है, अपवित्र है, जिसकी उत्पत्ति निंदनीय है तथा महापुरुष जिसका हाथ से स्पर्श तक नहीं करते हैं और आँखों से जिसे देखने में ग्लानि महसूस करते हों, ऐसा अपवित्र माँस खाने के योग्य कैसे हो सकता है? माँस चूँकि प्रथम तो मृगादिक मूक प्राणियों के वध से उत्पन्न होता है, दूसरे उसमें असंख्य अन्य त्रस जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। जिनकी हिंसा होना निश्चित है, इस कारण उसके भक्षण में हिंसाजनित पाप का होना अवश्यंभावी है। अतएव सज्जन पुरुष उसका परित्याग ही नहीं करते, अपितु उसका हाथ से स्पर्श करना एवं आँख से देखना भी बुरा समझते हैं।

न गंगा न च केदारं न प्रयागो न पुष्करम्।

न च ज्ञानं न ध्यानं न होमो न जपक्रिया॥

न दानं न च होमं न पूजा न गुरोर्नतिः।

ये विरवादन्ति मांसानि सर्वमेव निरर्थकम्॥महाभारत॥

‘जो पुरुष माँस भक्षण करते हैं; उनके गंगा का स्नान करना व्यर्थ है, केदार क्षेत्र की यात्रा करना भी सफल नहीं है, प्रयाग राज की यात्रा भी सफल नहीं है, पुष्कर क्षेत्र की यात्रा भी विफल है, उनका ज्ञानार्जन करना भी बेकार है, उनका ध्यान करना भी आत्मा के लिए लाभादायक नहीं है; उनका यज्ञानुष्ठान करना भी असफल है और उनका जाप करना भी लक्ष की सिद्धि में सहायक नहीं होता है अर्थात् माँस भक्षकों को सारी सत्क्रिया उत्तम फल को देने में असमर्थ होती है।’

‘जो मनुष्य माँस खाते हैं; उनका दान करना भी निरर्थक है और होम करना भी निष्फल है, परमात्मा की पूजा करना भी फलदायक नहीं है, गुरु की वन्दना भी व्यर्थ है अर्थात् उनकी समस्त धार्मिक क्रियायें प्रायः व्यर्थ होती हैं।’

वेश्या- मन में अत्यंत कुटिलता को धारण करने वाली जो पापिष्ठ वेश्यायें माँस का भक्षण करती हैं, मद्यपान करती हैं, असत्य वचन बोलती हैं, केवल धन प्राप्ति के लिये स्नेह वचन कहती हैं, ऐसी वेश्याएँ धन और प्रतिष्ठा दोनों को ही नष्ट करती हैं। ये वेश्याएँ नीच पुरुषों की भी लार को पीती हैं, उन वेश्याओं को छोड़कर जग में दूसरा नरक नहीं दिखता है अर्थात् ये वेश्याएँ नरक गति गमन का

Y X Y

Y X Y
कारण हैं। अतएव इस भव और पर-भव में आत्मकल्याण चाहने वाले सत्पुरुषों को वेश्या गमन का परित्याग करना चाहिये।

चोरी- जो मनुष्य धन आदि के कमाने में अनेक प्रपंचों को रचकर दूसरों को ठगा करते हैं या उनके धन को चुराते हैं, वे निश्चय से उस पाप के प्रभाव से दूसरों के सामने ही नरक में जाते हैं। कारण यह है कि प्राणियों में प्राण धन के निमित्त से ही ठहरते हैं; धन के नष्ट हो जाने पर मनुष्यों को जितना दुख होता है उतना प्रायः उसे मरते समय भी नहीं होता है।

शिकार- ये एक प्राचीन पद्धति रही है कि 'जो शत्रु दाँतों के मध्य में तिनका दबाकर सामने आता था, उसे वीर पुरुष विजित समझकर छोड़ देते थे।' फिर उसके ऊपर वे शस्त्र प्रहार नहीं करते थे; किन्तु दुःख इस बात का है कि शिकारी जन मृगों आदि मूक प्राणियों का घात करते हैं, जो घास का भक्षण करते हुये भी मुख में तृण दबाये रहते हैं। जब अपने शरीर में छोटी सी चींटी, कीड़ा आदि लग जाता है, तब वह मनुष्य व्याकुल होकर चपल नेत्रों से इधर उधर दूँढ़ता है। फिर वही मनुष्य अपने समान दूसरे प्राणियों के दुःख का अनुभव करके भी शिकार से प्राप्त होने वाले आनंद की खोज में क्रोधादि विकारों से रहित, निरपराध मूक मृग आदि प्राणियों के ऊपर शस्त्र चलाकर कैसे उनका वध करता है? जो मनुष्य वध करता है, उसका वध भी उन प्राणियों द्वारा अन्य भवों में किया जाता है। इस प्रकार जन्म-जन्मांतर तक यह बैर-भाव चलकर दुःख का कारण बनता है। अतः ज्ञानी पुरुष को शिकार खेलना या शिकार करने हेतु कभी प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए।

परस्त्री सेवन- परस्त्रियों में अनुराग बुद्धि रखने वाले व्यक्ति को जो इसी जन्म में चिंता, आकुलता, भय, द्वेष भाव, बुद्धि का विनाश, अत्यंत संताप, भ्रांति, भूख, प्यास, अघात, रोग वेदना और मरण रूप दुःख तो होते ही हैं; किन्तु परस्त्री सेवन जनित पाप के प्रभाव से जन्मांतर में नरक गति के प्राप्त होने पर अग्नि में तपायी हुई लोह मयी स्त्रियों के आलिंगन से चिरकाल तक दुःख प्राप्त करता है इसलिये धर्मात्मा पुरुष आजीवन परस्त्री सेवन का त्याग करते हैं।

जुआ व्यसन से राजा युधिष्ठिर वनवास गये

रज्ज्वंसं वसणं, बारहसंवच्छराणि वणवासे।

पत्तो तहावमाणं, जूएण जुहिट्टिलो राया॥146॥

भृष्ट युधिष्ठिर हुए राज्य से, बारह वर्ष पाए वनवास।

जुआ खेलने से अपमानित, हुए प्राप्त जो कीन्हे त्रास॥146॥

Y X Y

Y X Y

अन्वयार्थ :- (जूएण) जुआ खेलने से **(जुहिट्टलो राया)** राजा युधिष्ठिर **(रज्जव्भंसं)** राज्य से भ्रष्ट होते हुये **(बारहसंवच्छराणि)** बारह वर्ष तक **(वणवासे)** वनवास में रहकर **(तहा)** तथा **(अवमाणं पत्तो)** अपमान को प्राप्त हुये।

अर्थ :- जुआँ खेलने से राजा युधिष्ठिर राज्य से भ्रष्ट हुये और बारह वर्ष तक वनवास में रहे तथा अपमान को प्राप्त हुये।

विशदार्थ :- मात्र एक बार जुआँ खेलने से धर्मनिष्ठ राजा युधिष्ठिर को जहाँ सभा में घोर अपमान सहना पड़ा, वहीं पर अपने चारों भाईयों के साथ बारह वर्ष तक असंख्य तकलीफों को झेलते हुए वनवास में रहना पड़ा।

आचार्य भगवन् कहते हैं जिसमें धन पैसे की बाजी लगाकर हार जीत का खेल खेला जाता है वह जुआ है। जिन पुरुषों को बिना परिश्रम किए हुए द्रव्य के प्राप्त होने की अधिक तृष्णा होती है ऐसे ही पुरुष विशेषतया जुआ खेलते हैं। यह जुआ सात व्यसनों का मूल और सब पापों की खान है। जुआरी मनुष्य नीच जाति के मनुष्यों के साथ भी स्पर्शनीय अस्पर्शनीय का विचार न करके राज्य के भय से छिपकर मलिन और शून्यागारों में जुआ खेलते हैं। अपने विश्वास पात्र कुटुम्ब जनों से सदा द्वेष रखते हैं। इस व्यसन के निराकरण संबंधी शिक्षा देने वाले पूज्य और बड़े तथा कुटुम्बवर्गियों को अपना शत्रु समझते हैं। चोरी तथा जुआरी इनके मित्र होते हैं, लुच्चे, लफंगे, इनके सहायक होते हैं। जुआरी सब झूठों का सरदार होता है इसके समान कोई झूठा नहीं होता। जीतने पर सभी व्यसन करने लगते हैं। जुआरी की बात का कोई विश्वास नहीं करता और न कोई आदर सत्कार करता है। जुआरी, पुत्र, पुत्री, स्त्री, गृह, क्षेत्रादिक पदार्थों को जुए में हारकर दरिद्री हो उनके वियोग जनित आर्तध्यान के प्रभाव से मरने पर दुर्गति में अनेक प्रकार के दुस्सह दुःख भोगते हैं इसकी कथा निम्न है—

युधिष्ठिर की कथा

हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र नाम का एक प्रसिद्ध राजा हुआ करता था। उसके अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा नाम की तीन रानियाँ थी। अम्बिका से धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु तथा अम्बा से विदुर उत्पन्न हुये थे। इनमें से धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र तथा पाण्डु के युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव नामक पाँच पुत्र हुये। पाण्डु राजा के स्वर्गवास हो जाने पर कौरवों और पाण्डवों में राज्य के निमित्त से परस्पर विवाद होने लगा था। एक समय युधिष्ठिर दुर्योधन के साथ द्यूतक्रीड़ा करने में उद्यत हुए। वे उसमें समस्त सम्पत्ति हार गये। अन्त में उन्होंने द्रौपदी को भी दाव पर लगा दिया और दुर्योधन ने उसे भी जीत लिया। इससे भरे दरबार में द्रौपदी को खुली जाँघ पर बैठा कर कौरवों ने घोर अपमानित

Y X Y

(286)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
कर कुंती सहित बारह वर्ष के लिये वनवास जाने पर मजबूर कर दिया। इस तरह मात्र एक बार जुआ खेलने से पाण्डवों को घोर अपमान व बारह वर्ष तक वनवास में अनेक दुःख झेलने पड़े। जब एक बार जुआ खेलने से ऐसी दुर्गति हो सकती है तो जो रोज जुआ खेलते हों, उनका क्या होगा, ईश्वर ही जाने? कहा भी है—

जुआ खेलकर के मनुज, करें स्वपर की हान।

व्यसन त्याग करके 'विशद' होवें सद्गुणवान॥

मद्य व्यसन से द्वारिका नगरी भस्म हुई

उज्जाणमि रमंता, तिसाभिभूया जलं ति णाऊण।

पिविऊण जुणमज्जं, णट्ठा ते जादवा तेण॥147॥

उपवन में क्रीड़ाकर यादव, प्यास से पीड़ित हुए कुमार।

मद्य पुरानी को जल जाने, पीकर नशे तथा अनगार॥147॥

अन्वयार्थ :- (उज्जाणमि रमंता) उद्यान में क्रीड़ा करते हुये (तिसाभिभूया) प्यास से पीड़ित होकर (जादवा) यादव कुमार (जुणमज्जं) पुरानी शराब को (जलं तिणाऊण) यह जल है ऐसा जान (पिविऊण) पीकर (तेण) उससे वे (णट्ठा) वे नष्ट हो गये।

अर्थ :- उद्यान में क्रीड़ा करते हुये प्यास से पीड़ित होकर यादव कुमारों ने पुरानी शराब को यह जल है, ऐसा जानकर पी लिया, जिससे वे नष्ट हो गये।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं मदिरा को बनाने के लिए गुड़, महुआ, दाख तथा बबूल आदि वृक्षों की छाल को बहुत दिनों तक पानी में सड़ाते हैं। वह सड़कर दुर्गन्धित हो जाती है उसमें असंख्यात, त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं पीछे उसको मसलकर यंत्रों द्वारा अर्क निकालते हैं मानो उसमें उत्पन्न होने वाले असंख्यात त्रस जीवों के माँस का अर्क ही है और इसको प्रायः नीच जाति के मनुष्य ही बनाते हैं उस अर्क में कुछ पदार्थों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की तारतम्यता से एक प्रकार का ऐसा नशा उत्पन्न हो जाता है जिसको पीने से मनुष्य अपने आप को भूलकर कर्तव्याकर्तव्य के विचार रहित हो जाता है कहा भी है—

चित्ते भ्रांति-जायते मद्यपानाद्, भ्रांते चित्ते पापचर्या मुपैति।

पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति, मूढास्तमान्मद्यं नैव पेयम्॥

अर्थात् मद्य के पान करने से चित्त में भ्रांति उत्पन्न हो ही जाती है और चित्त में भ्रांति होने से फिर

Y X Y

Y X Y
मनुष्य पाप कर्मों को करता है पाप करके फिर दुर्गति को प्राप्त हो जाता है इस कारण से ही मूढ़ पुरुषों की तथा विवेकी जनों को शराब पीना योग्य नहीं है अतः तन, मन, धन खराब ना हो उसे बचाने के लिए शराब का त्याग अवश्य ही करना चाहिए। मद्यपान व्यसन के सेवन करने से यादवों ने अनेक कष्ट उठाये जिसकी कथा निम्न है।

द्वीपायन मुनि की कथा

किसी समय भगवान नेमीनाथ का समवशरण गिरनार पर्वत पर आया था। उस समय अनेक पुरवासी उनकी वंदना करने एवं उपदेश श्रवण करने के लिये गिरनार पर्वत पर पहुँचे थे। धर्म श्रवण के अंत में बलदेव ने पूछा – कि ‘हे भगवान! ये द्वारकापुरी कुबेर के द्वारा निर्मित की गयी है उसका भविष्य क्या है?’

उत्तर में भगवान नेमि जिन बोले कि “यह पुरी मद्य के निमित्त से बारह वर्ष में द्वीपायनकुमार के द्वारा भस्म की जावेगी।” यह सुनकर रोहिणी का भाई द्वीपायनकुमार दीक्षित हो गये और इस अवधि को पूर्ण करने के लिये पूर्व देश में जाकर तप करने लगे। तत्पश्चात् वह द्वीपायनकुमार भ्रांति वश “अब बारह वर्ष बीत चुके हैं” ऐसा विचार कर फिर से वापस आ गये और द्वारिका के बाहर पर्वत के निकट ध्यान करने लगे। इधर जिन वचन के अनुसार मद्य को द्वारिका दाह का कारण समझकर कृष्ण ने प्रजा को मद्य और उसकी साधन-सामग्री को भी दूर फेंक देने का आदेश दिया। तदनुसार मद्यपायी जनो ने मद्य और उसके साधनों को कादम्ब पर्वत के पास एक गड्ढे में फेंक दिया। इसी समय शम्बु आदि राजकुमार वन-क्रीड़ा के लिये उधर गये हुये थे। उन लोगों ने प्यास से पीड़ित होकर पूर्व निक्षिप्त उस मद्य को पानी समझकर पी लिया। इससे उन्मत्त होकर वे नाचते गाते हुये द्वारिका की ओर वापस आ रहे थे। तभी उन्होंने मार्ग में द्वीपायन मुनि को स्थित देखकर तथा उन्हें द्वारिका दाहक समझकर उनके ऊपर नशे की हालत में पत्थरों की वर्षा आरंभ कर दी। जिससे द्वीपायन मुनि को क्रोधवश मरण को प्राप्त होकर अग्नि कुमार देव हुये। उन्होंने चारों ओर से द्वारिकापुरी को अग्नि से प्रज्ज्वलित कर दिया। इस दुर्घटना से कृष्ण और बलदेव को छोड़कर अन्य कोई प्राणी जीवित नहीं बचा सका। यह मद्यपान के दोष से ही हुआ।

माँस भक्षण व्यसन से वक राजकुमार नरक गया

मंसासणेण गिद्धो, वग रक्खो एय चक्क णयरम्मि।

रज्जाओ पब्भट्ठो, अयसेण मओ गओ णिरयं॥148॥

एकचक्र नगरी में राक्षस, मांसाशक्त रहा वकराज।

Y X Y

(288)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
भ्रष्ट हुआ जो राज्य सुपद से, अपयश पाया नरक निवास॥148॥

अन्वयार्थ :- (य) तथा (एय चक्क णयरम्मि) एक चक्र नामक नगर में (मंसा सणेण) माँस खाने में आसक्त (वग-रक्खो) वक राक्षस (रज्जाओ) राज पद से (पब्भट्ठो) भ्रष्ट होकर (अयसेणमओ) अपयश से मरकर (णिरयं गओ) नरक गया।

अर्थ :- एक चक्र नामक नगर में माँस खाने में आसक्त वक नामक राक्षस राजपद से भ्रष्ट होकर अपयश से मरकर नरक गया।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि यह (माँस) जंगम जीवों की द्रव्य हिंसा करने के कारण उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श आकृति नाम गंध से ही चित्त में घृणा उत्पन्न होती है इसकी दुर्गन्ध से उल्टी भी हो सकती है जब इसका स्पर्श तक भी महा बुरा है तो उत्तम लोग इसे कैसे ग्रहण कर सकते हैं, जब स्त्री रक्त के बहाने मात्र से निंद्य और अपवित्र कहीं जाती है माँस भक्षण करने वाले जीव कैसे पवित्र हो सकते हैं। अर्थात् कदापि नहीं। माँस पिंड चाहे कच्चा हो या पक्का उसमें प्रत्येक समय अनंत साधारण निगोद जीवों का समूह सदा उत्पन्न होता रहता है उसकी कोई अवस्था ऐसी नहीं कि जिस समय इसमें जीव उत्पन्न ना हो। कहा भी है-

आमां वा पक्कवां वा, खादतियः स्पृशति वा पिशित पेशी।

सनिहन्ति सतत्, निचितं पिंडं बहुजीव कोटीनां॥

अर्थात् जो जीव कच्ची या पकी हुई माँस पेशी को अपना माँस पुष्ट करने के लिये खाता है अथवा माँस खाने के संकल्प से स्पर्श करता है वह पुरुष निरंतर इकट्ठे हुए अनंत साधारण जीवों को नष्ट करता है और पाप का बंध करता रहता है माँस भक्षी के हृदय से दया, धर्म, सत्य आदि सद्गुण विलीन हो जाते हैं। माँस भक्षण में बकराजा प्रसिद्ध हुआ इसकी कथा निम्न है.....,

बक राजकुमार की कथा

कुशाग्रपुर में भूपाल नाम का पराक्रमी राजा था। उसकी पत्नी का नाम लक्ष्मीमती था। इनके बक नाम का एक पुत्र था, जो माँस भक्षण का बहुत लोलुपी था। राजा प्रतिवर्ष अष्टाह्निका पर्व के प्रारंभ होने पर जीव हिंसा न करने की घोषणा कराता था। उसने माँस पक्षी अपने पुत्र की प्रार्थना पर केवल एक प्राणी की हिंसा की छूट देकर उसे भी द्वितीयादि प्राणियों की हिंसा न करने पर नियम कराया था। तदनुसार ही उसने अपनी प्रवृत्ति चालू कर रखी थी।

एक समय रसोड़या माँस को रखकर कार्यवश बाहर कहीं चला गया था। इसी बीच एक बिल्ली उस माँस को खा गई। रसोड़यों को इससे बड़ी चिंता हुई। वह व्याकुल होकर माँस की खोज में नगर से

Y X Y

Y X Y
 बाहर गया। उसने एक मृत बालक को जमीन में गाढ़ते हुये देखा। अवसर पाकर वह उसे निकाल लाया और उसका माँस पकाकर बक राजकुमार को खिला दिया। उस दिन का माँस उसे बहुत स्वादिष्ट लगा। बक ने जिस किसी प्रकार रसोइये से यथार्थ स्थिति जान ली। उसने प्रतिदिन इसी प्रकार का माँस खिलाने के लिये रसोइये को बाध्य किया। बेचारा रसोइया प्रतिदिन चना एवं लड्डू आदि लेकर जाता है और किसी एक बालक को फुसला कर ले आता। उसे मारकर माँस पकाकर खिलाने लगा। इससे नगर में बच्चों की कमी होने लगी। पुरवासी इससे बहुत चिंतित हो रहे थे। आखिर एक दिन वह रसोइया बालक के साथ पकड़ लिया गया। लोगों ने उसे लात घूसों से मार-मार कर अधमरा कर दिया। तब घबराकर उसने यथार्थ स्थिति प्रकट कर दी। इसी बीच पिता के दीक्षित हो जाने पर बक राजा को राज्य की भी प्राप्ति हो चुकी थी। पुरवासियों ने मिलकर उसे राज्य से भ्रष्ट कर दिया। वह नगर से बाहर रहकर मृत मनुष्यों के शवों को खाने लगा। जब कभी उसे यदि जीवित मनुष्य भी मिलता था, तो वह उसे भी खा जाता था। लोग उसे राक्षस कहने लगे थे। अंत में वह किसी प्रकार वसुदेव के द्वारा बेमौत मारा गया। उसे माँस भक्षण व्यसन से इस प्रकार दुःख सहना पड़ा एवं मरकर नरक में गया।

वेश्यागमन व्यसन से चारुदत्त का सर्वस्व नाश

सव्वत्थणिउणबुद्धि, वेसासंगेण चारुदत्तो वि।

खड़ऊण धणं पत्तो, दुक्खं परदेसगमणं च॥149॥

सर्व विषय में निपुण बुद्धि युत, चारुदत्त वेश्या के साथ।

धन खोकर के पाया दुख अति, भटका देश विदेश अनाथ॥149॥

अन्वयार्थ :- (सव्वत्थणिउणबुद्धि) सब विषयों में निपुण, बुद्धिमान (चारुदत्तो वि) चारुदत्त ने भी (वेसासंगेण) वेश्या की संगति से (धणं खड़ऊण) धन को खोकर (दुक्खंपत्तो) दुःख को पाया (च परदेसगमणं) और परदेस जाना पड़ा।

अर्थ :- सब विषयों में निपुण बुद्धिमान चारुदत्त ने भी वेश्या की संगति से धन को खोकर दुःख को पाया और परदेस जाना पड़ा।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जिस अविवेकी ने तीव्र प्रलोभ के वश होकर वेश्यावृत्ति को अंगीकार कर अपने कोमल तन को अपनी प्रतिष्ठा, लज्जा को अपने अमूल्य पतिव्रत धर्म को नीच लोगों को बेच दिया है, ऐसी वेश्या का सेवन करना महानिन्द्य है। जो एक बार भी इसके पास आ जाता है। उसको अपने जाल में फँसाने के लिए मीठी-2 बातें करती है फिर दूसरे का विश्वास तो अपने

Y X Y

(290)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
ऊपर करा लेती है परन्तु आप स्वयं दूसरों के ऊपर विश्वास नहीं करती है और धन के लोभ से उसको अपने हाव भाव विलास आदि के द्वारा अपने पर आसक्त कर द्रव्य हरण का प्रयास करती है, इसलिये किसी कवि ने कहा है—

दर्शनात् हरते चित्तं, स्पर्शात् हरते बलं।

भोगात् हरते वीर्यः वेश्या साक्षात् रासक्षी॥

अर्थात् देखने मात्र से मन का हरण करती है, स्पर्श करने से बल को हरती है और काम सेवन करने से वीर्य को नष्ट करती है। अत एव वेश्या साक्षात् राक्षसी है। यह धन की दासी है जब तक धन होता है तभी तक अपने प्रेमी का साथ देती है वरना जैसे कि लक्ष्मी, पुण्य क्षीण होने पर पुरुष को छोड़ देती है। जैसा कि कहा है—

दृष्टि विषा यह नागनी, देखत विष चढ़ जाए।

जीविज काढ़े प्राण को, मरे नरक ले जाए॥

हीन दीनतें लीन को, लेती अंग मिलाय।

लेती सरबस संपदा, देती रोग लगाय॥

वेश्या सेवन से सेठ चारुदत्त नाम के पुरुष ने कैसे दुख सहे इसकी कथा निम्न है—

चारुदत्त सेठ की कथा

चंपापुरी में एक भानुदत्त नाम के सेठ थे। उनकी पत्नि का नाम सुभद्रा था। इन दोनों की यौवनावस्था बिना पुत्र के ही व्यतीत हुई। तत्पश्चात् उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम चारुदत्त रखा ग
य
।
उसे बाल्यकाल में ही अणुव्रत दीक्षा दिलायी गई थी। उसका विवाह मामा सर्वार्थ की पुत्री मित्रवती के साथ संपन्न हुआ था। चारुदत्त को शास्त्रों से लगाव था, इसलिये पत्नि के प्रति उसका किंचित् भी अनुराग नहीं था।

चारुदत्त की माता ने उसे काम-भोग में आसक्त करने के लिये रुद्रदत्त (चारुदत्त के चाचा) को प्रेरित किया। वह किसी बहाने से चारुदत्त को कलिंग सेना वेश्या के यहाँ ले गया। उसके एक बसंत सेना नाम की सुंदर पुत्री थी। चारुदत्त को उसके प्रति प्रेम हो गया। उसने अनुरक्त होने से कलिंग सेना ने बसंत सेना के साथ चारुदत्त का पाणिग्रहण संस्कार कर दिया। बसंत सेना के साथ वह बारह वर्ष तक रहा। इस बीच कलिंग सेना के यहाँ चारुदत्त के घर से सोलह करोड़ दीनारें आ चुकी थी। तत्पश्चात् जब

Y X Y

Y X Y
 कलिंग सेना ने मित्रवती के आभूषणों को आते देखा तब उसने बसंत सेना से धन से हीन चारुदत्त को अलग कर देने को कहा। माता के इन वचनों को सुनकर बसंत सेना को बहुत दुःख हुआ। उसने कहा— हे माता! चारुदत्त को छोड़कर मैं कुबेर जैसे संपत्तिशाली भी अन्य पुरुष को नहीं चाहती। माता ने पुत्री के दुराग्रह को देखकर उपायान्तर से चारुदत्त को अपने घर से निकाल दिया। तत्पश्चात् उसने घर पहुँचकर दुःख से कालयापन करने वाली माता और पत्नि को देखा। उनको आश्वासन देकर चारुदत्त धनोपार्जन के लिये देशान्तर चला गया। अनेक देशों और द्वीपों में गया; परन्तु सर्वत्र उसे महान कष्टों का सामना करना पड़ा। अंत में वह पूर्वोपकृत पुण्य से दो देवों की सहायता से महाविभूति के साथ चंपापुर वापस आ गया। उसने बसंत सेना को अपने घर बुला लिया। पश्चात् मित्रवती एवं बसंत सेना के साथ सुखपूर्वक कुछ काल बिताकर इस निस्सार संसार की वास्तविकता जानकर जिन दीक्षा लेकर समाधि पूर्वक मरण के परिणाम स्वरूप सर्वार्थ सिद्धि में देव उत्पन्न हुआ; इसलिये जिस वेश्या व्यसन के कारण चारुदत्त को अनेक कष्ट सहने पड़े, ऐसे व्यसन को विवेकी जनों को सदा के लिये छोड़ देना चाहिए।

शिकार व्यसन से ब्रह्मदत्त नरक गया

होऊण चक्कवट्टी, चउदसरयणाहिवो वि संपत्तो।

मरिऊण बंभदत्तो, णिरयं पारद्धिरमणेण॥150॥

चक्रवर्ति चौदह रत्नों का, स्वामी ब्रह्म दत्त भी जान।

खेल शिकार मरण कर नरकों, में जाकर दुख पाए महान॥150॥

अन्वयार्थ :- (होऊण चक्कवट्टी) चक्रवर्ती होकर (चउदसरयणाहिवो) चौदह रत्नों के स्वामित्व को (संपत्तो वि) प्राप्त होकर भी (बंभदत्तो) ब्रह्मदत्त (पारद्धिरमणेण) शिकार खेलने से (मरिऊण) मरकर (णिरयं) नरक में (गओ) गया।

अर्थ :- चक्रवर्ती होकर और चौदह रत्नों के स्वामित्व को प्राप्त होकर भी ब्रह्मदत्त शिकार खेलने से मरकर नरक में गया।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जो जीव अपनी रसना इन्द्रिय की लोलुपता से तथा अपना शौक पूरा करने के लिए अथवा कौतुक निमित्त बेचारे निरपराधी, भयभीत अरण्यवासी पशु पक्षियों को मारना इससे बढ़कर और क्या निष्ठुरता हो सकती है? जैसे हमें अपने प्राण प्यारे हैं इस शिकार के व्यसनी मनुष्य का हृदय बड़ा ही कठोर और निर्दय होता है जैसा कि कहा गया है

कानन में बसैरो सो आनन गरीब जीव, प्रानन सो प्यारों।

Y X Y

Y X Y

कायर सुभावधरै काहूसों, न द्रोह करें, प्रान पूंजी जिस यहै है।

सबही सो डरै दाँत लिये तृव रहै हैं।

काहूसो न रोष पुनि काहुँ पै न पोषच है, काहू के परोष पर दोष नाहि कै है।

नैक स्वाद सारिवे को ऐसे मृग मारिवे को हा हारे कठोर! तेरी कैसे कर बहे है।

इस शिकार के व्यसनी मनुष्यों का हृदय बड़ा ही कठोर और निर्दय होता है। बुद्धि उनकी बड़ी क्रूर होती है और निरंतर उनके हृदय में छलछिद्र और विश्वासघात रूप पाप वासनाएँ जाग्रत रहती हैं। बहुत से लोग इस व्यसन के सेवन को बड़ी वीरता का कार्य बताते हैं परन्तु वह केवल उनकी स्वार्थपरता है। वीरों का कर्तव्य है कि निस्सहाय, गरीब, दीन अनाथ जीवों की कष्ट से रक्षा करे वही सच्चा बलवान क्षत्रिय है। जो बलवान होकर भी इस निंद्य कार्य को करता है वह वीर नहीं किन्तु धर्म हीन अविवेकी है वे इस निर्दय व्यसन के द्वारा इस लोक में निंद्य और दुखित होते हैं। परलोक में कुगति को प्राप्त होते हैं देखो इसी व्यसन के कारण ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती राज्य भ्रष्ट होकर नरक गया। उसके दुखों से परिचित होने पर सर्व साधारण को शिक्षा प्राप्त हो अतः उसका उपाख्यान कहते हैं।

ब्रह्मदत्त की कथा

उज्जयिनी नगरी में एक ब्रह्मदत्त नाम का राजा था। वह मृगया (शिकार) व्यसन में अत्यन्त आसक्त था। किसी समय वह मृगया के लिये वन में गया था, उसने वहाँ पर शिलातल पर ध्यानावस्थित मुनि को देखा। इससे उसका मृगया कार्य निष्फल हो गया। वह दूसरे दिन भी मृगया निमित्त गया, किन्तु पुनः मुनि के प्रभाव से उसे इस कार्य में सफलता नहीं मिली। इस प्रकार वह कितने ही दिन वहाँ गया, किन्तु उसे प्रत्येक बार मुनि महाराज के कारण सफलता नहीं मिल सकी। इससे उसे मुनि के ऊपर अतिशय क्रोध उत्पन्न हुआ।

किसी एक दिन जब मुनि महाराज आहार के लिए नगर में गये हुये थे, तब ब्रह्मदत्त ने अवसर पाकर उस शिला को अग्नि से प्रज्ज्वलित कर दिया जहाँ मुनि महाराज बैठा करते थे। उसी समय मुनिराज भी वहाँ वापस आ गये और शीघ्रता से अनजाने में उस जलती हुई शिला के ऊपर बैठ कर ध्यान लगा लिया। उन्होंने आये हुये उपसर्ग को महसूस कर ध्यान को नहीं छोड़ा। इससे उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। इधर ब्रह्मदत्त राजा मृगया व्यसन एवं मुनिघात के कारण सातवें नरक में जाकर नारकी उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् बीच-बीच में क्रूर हिंसक तिर्यच होकर क्रम से छठे और पाँचवे आदि शेष नरकों में गया। मृगया व्यसन में आसक्त होने से प्राणियों को ऐसे ही भयानक कष्टों को सहना पड़ता है।

Y X Y

Y X Y

गबन (चोरी) व्यसन से श्रीभूति पुरोहित ने कष्ट भोगा

णासावहारदोसेण, दंडण पाविऊण सिरिभूई।
मरिऊण अट्टझाणेण, हिंडिओ दीहसंसारे॥151॥
श्री भूतिधन न्यासापहार कर, दण्ड प्राप्त कीन्हा तब तीन।
आर्त ध्यान कर मरण किया जो, दुख पाया कई होकर दीन॥151॥

अन्वयार्थ :- (णासावहारदोसेण) धरोहर को अपहरण करने के दोष से (दंडण पाविऊण) दंडों को पाकर (सिरिभूई) श्रीभूति पुरोहित (अट्टझाणेण) आर्त ध्यान से (मरिऊण) मरकर (दीहसंसारे) दीर्घ संसार में (हिंडिओ) घूमता रहा।

अर्थ :- धरोहर का अपहरण करने के दोष से दंड पाकर श्रीभूति पुरोहित आर्तध्यान से मरकर संसार में दीर्घ काल तक भटकता रहा।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं बिना दिये किसी की वस्तु लेने को चोरी कहते हैं। चोरी करने में आसक्त हो जाना चोरी व्यसन है। जिनको इस निंदनीय कर्म को करने का व्यसन पड़ जाता है वह धन सम्पत्ति युक्त होते हुए भी तीव्र लोभ के वशीभूत हो महान कष्ट आपदा का कारण जानते हुए भी चोरी करता है ऐसे पुरुषों का न तो कोई विश्वास करता है और ना ही कोई अपने पास बैठने देता है चोर से सब ही जन भयभीत रहते हैं। वह स्वयं भयभीत रहता है प्रतिक्षण प्राण जाने का संकट उपस्थित रहता है। धन का हरण करना तो चोर का ही काम है। यदि धन का हरण करते हुए यदि कोई जाग्रत हो जाए तो चोर प्राणों का भी हरण कर लेता है और पकड़ा जाए तो आप भी अनेक दुखों का भागी होता है। शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाने पड़ते हैं और परभव में नीच गतियों के दुख भोगते हैं ऐसा जानकर दृढ़ चित्त शुभबुद्धि पुरुषों को उचित है कि दूसरे की भूली हुई गिरी हुई अथवा मार्ग में पड़ी हुई तथा अपने पास धरोहर रखी हुई वस्तु को दबा लेने की इच्छा न करे और बहुमूल्य में अल्पमूल्य को मिला कर देने की इच्छा न करें क्योंकि ये सब चोरी की ही पर्याय हैं। इस में प्रसिद्ध व्यक्ति की कथा निम्न है।

सत्यघोष की कथा

बनारस नगर में राजा जयसिंह राज्य करता था। उसकी रानी का नाम जयावती था। इस राजा के एक शिवभूति नाम का पुरोहित था, जो अपनी सत्यवादिता के कारण पृथ्वी पर 'सत्यघोष' नाम से प्रसिद्ध हो गया था। उसने अपने यज्ञोपवीत में छुरी बाँध रखी थी। वह कहा करता था कि 'यदि मैं कदाचित् असत्य बोलू तो इस छुरी में अपनी जिह्वा काट डालूंगा।' इस विश्वास से बहुत से लोग उसके पास सुरक्षार्थ अपना धन रखा करते थे। किसी एक दिन पदमपुर से एक धनपाल नाम का सेठ आया

Y X Y

(294)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
और उसके पास अपने बेशकीमती चार रत्न रखकर व्यापारार्थ देशांतर चला गया। वह 12 वर्ष तक विदेश में रहकर और बहुत सा धन कमाकर वापस आ रहा था; तभी मार्ग में उसकी नाव डूब गई और उसका सब धन नष्ट हो गया। इस प्रकार वह धनहीन होकर बनारस वापस पहुँचा। उसने शिवभूति पुरोहित से अपने चार बेशकीमती रत्न वापस माँगे। पुरोहित ने उसे पागल बतलाकर घर से बाहर निकलवा दिया। पागल समझकर ही उसकी बात राजा आदि किसी ने भी नहीं सुनी।

एक दिन रानी ने उसकी बात सुनने के लिए राजा से आग्रह किया। राजा ने उसे पागल बताया। जिसे सुनकर रानी ने कहा— कि ‘वह पागल नहीं है।’ तत्पश्चात् राजा की आज्ञानुसार रानी ने उसके लिये कुछ उपाय सोचा। उसने पुरोहित के साथ जुआ खेलते हुये उसकी मुद्रिका और छुरी युक्त यज्ञोपवीत भी जीत लिया। प्रत्याभिज्ञानार्थ पुरोहित की पत्नि के पास वे चीजें अपनी दासी के साथ देखकर वे चारों रत्न मंगा लिये। पुरोहित की पत्नि ने पुरोहित की इन वस्तुओं को देखकर बिना आनाकानी किये, वे रत्न दे दिये थे। राजा को जब इस बात का पता चला कि शिवभूति ने ही उस सेठ के चारों बेशकीमती रत्न रख लिये थे, तो वह शिवभूति के इस व्यवहार से बड़ा दुखी हुआ। राजा ने उसे तीन थाली गोबर भक्षण, त्रय मुष्टि घात अथवा निज द्रव्य समर्पण में से किसी एक दण्ड को सहने के लिए बाध्य किया। तदनुसार शिवभूति ने गोबर भक्षण की इच्छा व्यक्त की; लेकिन वह तीन थाली में से दो मुट्ठी भी गोबर भक्षण नहीं कर सका। तब उसने मल्लों के द्वारा मुष्टि घात दण्ड सहने की इच्छा व्यक्त की। तदनुसार मल्लों द्वारा मुष्टि घात किये जाने पर वह मर गया और राजा के भण्डारागार में सर्प हुआ। इस प्रकार चोरी व्यसन के वशीभूत होकर अनेक कष्ट सहना पड़ा।

परस्त्री हरण से लंकेश नरक गया

होऊण खयरणाहो, वियक्खणो अद्धचक्कवट्ठी वि।

मरिऊण गयउ णिरयं, परित्थिहरणेण लंकेसो॥152॥

अर्ध चक्रि अति बुद्धी वाला, खचरों का स्वामी लंकेश।

परस्त्री के हरण से रावण, नरक गती में गया विशेष॥152॥

अन्वयार्थ :- (वियक्खणो) विलक्षण बुद्धिमान (अद्धचक्कवट्ठी वि) अर्धचक्रवर्ती भी (खयरणाहो होऊण) विद्याधरों का स्वामी होकर (लंकेसो) लंका का स्वामी रावण (परित्थिहरणेण) परनारी के हरण से (मरिऊण) मरकर (णिरयं) नरक में (गयउ) गया।

अर्थ :- विलक्षण बुद्धिमान, अर्धचक्रवर्ती प्रतिनारायण विद्याधरों का स्वामी होकर भी लंका का स्वामी रावण पर-स्त्री के हरण से मरकर नरक में गया।

Y X Y

Y X Y

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं देव, शास्त्र, गुरु और पंच परमेष्ठी की साक्षापूर्वक पणिग्रहण की हुई स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ समागम करने में आसक्त हो जाना परस्त्री व्यसन कहलाता है। परस्त्री सेवन करने वालों के धर्म, धन, यौवन आदि उत्तम पदार्थ सहज ही नष्ट हो जाते हैं। लज्जा, मर्यादा, उज्ज्वल सुयश, सत्यता, अचौर्य आदि उत्तम गुण नष्ट होकर राजदंड, जातिदंड जनित धन हानि और शारीरिक कष्ट को प्राप्त हो निंदा एवं परलोक में नरक आदि कुगतियों के पात्र बनते हैं कहा भी है—

कुगति बहन गुण गहन, दहन दावानल सी है।

सुजश चंद धन घटा, देह कृश करन खई है॥

धन सर सोषण धूप धर्म दिन सांझ समानी।

विपति भुजंग निवास, बांबड़ वेद लखानी॥

कुगति में जो ले जाने वाली है गुण समूह को जलाने के लिए दावानल के समान है। सुयश रूपी चन्द्रमा को ढाकने के लिए घनघोर बादल है। देह को कमजोर करने के लिए क्षयकारी है, धनरूप समुद्र को शोषण करने हेतु धूप (घाम) धर्म के लिए सांझ के समान है। विपत्तियों के लिए सर्प के बिल समान है अतः इस पापाचार से होने वाली हानियों का विचार कर बुद्धिमानों को उचित है कि इसका शुद्ध चित्त से सर्वथा परिहार करें। जो परस्त्री संसर्ग का परित्याग कर देते हैं वे संसार में निर्भय हो जाते हैं। उनकी उज्ज्वल कीर्ति सब दिशाओं में विस्तृत हो जाती है। इस व्यसन की इच्छा करने मात्र से रावण जैसा ज्ञानी पुरुष भी मरण करके नरक में गया इसकी कथा निम्न है—

रावण द्वारा परनारी हरण की कथा

किसी समय अयोध्या नगरी में राजा दशरथ राज्य करते थे। उनकी चार रानियाँ थी— कौशल्या, सुमित्रा, कैकयी और सुप्रभा। इनके यथा क्रम से ये चार पुत्र उत्पन्न हुये थे— रामचंद्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। एक दिन राजा दशरथ के साथ भरत के भी दीक्षित हो जाने का विचार ज्ञात कर उसकी माता कैकयी बहुत दुखी हुई। उसने राजा दशरथ से पूर्व में दिया गया वर माँगा राजा की स्वीकृति पाकर उसने भरत के लिये राज्य देने की इच्छा प्रगट की। राजा दशरथ को इस मुश्किल की घड़ी से उबारने के लिये रामचंद्र सीता और लक्ष्मण के साथ अयोध्या से बाहर चले गये। इस प्रकार जाते हुए ये वे दण्डक वन के मध्य में पहुँचकर वहाँ ठहर गए।

शम्बूक की माता सूर्पणखा अपने पुत्र को खोजती हुई उस वन में पहुँची। वहाँ रामचन्द्र और लक्ष्मण को देखकर उनके रूप पर मोहित हो गई। दोनों से क्रमशः उसने प्रणय प्रार्थना की, किन्तु जब दोनों में से किसी ने भी उसकी बात स्वीकार नहीं की, तब वह अपने शरीर को विकृत कर अपने पति

Y X Y

(296)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
खरदूषण के पास पहुँची और उसे युद्ध के लिये उत्तेजित किया। खरदूषण भी अपने साले रावण को उसकी सूचना देकर युद्ध के लिए चल पड़ा। खरदूषण को आता देखकर लक्ष्मण, रामचन्द्र से यह कहते गये कि “यदि मैं विपत्ति ग्रस्त होकर सिंहनाद करूँ, तभी आप मेरी सहायता के लिये आना अन्यथा यहीं स्थित रहकर सीता माँ की रक्षा करना।” जब पुष्पक विमान में आरूढ़ होकर रावण खरदूषण की सहायतार्थ आ रहा था तब उसने वहाँ सीता को बैठी देखकर उसके रूप पर मोहित हो गया और उसके हरण का उपाय सोचने लगा। उसने विद्या विशेष से ज्ञात करके कुछ दूर से सिंहनाद किया। इससे रामचन्द्र लक्ष्मण को आपत्ति ग्रस्त समझकर उसकी सहायतार्थ चले गये। रावण ने अवसर पाकर सीता का हरण कर लिया। इधर लक्ष्मण खरदूषण को मारकर युद्ध में विजय प्राप्त कर चुका था। रामचन्द्र को आता देख मन में संशय लिये दोनों शीघ्रता से वापस आये। लेकिन वहाँ सीता को न पाकर व्याकुल हो गए। सुग्रीव आदि विद्याधरों से समाचार जानकर हनुमान को लंका भेजा। हनुमान ने सीता को सांत्वना देकर वापस रामचंद्र के पास आकर समस्त वृत्तांत कह सुनाया। अंत में युद्ध की तैयारी करके रामचन्द्र के पास आकर समस्त वृत्तांत कह सुनाया। तब रामचन्द्र सेना सहित लंका जा पहुँचे थे। दोनों में घमासान युद्ध हुआ जिसमें रावण के अनेक कुटुंबी जन्य एवं स्वयं रावण भी मारा गया। परस्त्री मोह से अर्द्ध चक्रवर्ती, प्रति नारायण, विद्याधरों का स्वामी होकर भी लंकेशपति रावण परस्त्री के हरण से मरकर नरक गया।

सातों व्यसनधारियों का दुःख अवर्णनीय

एए महाणुभावा, दोसं एक्केक्क विसण सेवाओ।

पत्ता जो पुण सत्त वि, सेवइ वणिज्जए किं सो॥153॥

एक-एक व्यसनों के सेवन, करके दुख ये पाये आन।

सप्त व्यसन जो सेवन करते, क्यों दुख ना वे पाएँ महान॥153॥

अन्वयार्थ :- (एए महाणुभावा) ऐसे-ऐसे महानुभाव (एक्केक्क विसण सेवाओ) एक एक व्यसन के सेवन करने से (दोसं) दोष को॥दुख को॥ (पत्ता) प्राप्त हुये (पुण जो) फिर जो (सत्त वि) सातों ही व्यसनों को (सेवइ) सेवन करता है, (वणिज्जए किं) उसके दुःख का क्या वर्णन किया जा सकता है?

अर्थ :- ऐसे-ऐसे महानुभाव एक-एक व्यसन के सेवन करने से दोष को (दुःख को) प्राप्त हुये। फिर जो सातों ही व्यसनों का सेवन करता है, उसके दुख का क्या वर्णन किया जा सकता है?

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं सप्त ऋषियों की तरह सप्त व्यसनों से स्वतः स्फूर्त दूर

Y X Y

Y X Y
 तथा सप्त तत्त्वों का मनन, चिंतवन, स्तवन कर निज आत्म तत्त्व की प्राप्ति हेतु साधनारत आचार्य भगवन् कहते हैं कि सात ही नरक हैं और सात ही व्यसन हैं (व्यसन के बारे में एक-2 व्यसन की विस्तृत चर्चा आगे कर चुके हैं) जुआ खेलना, माँस खाना, मद्य पीना, वेश्यागमन, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन जैसे सातों व्यसनों को घातक रोग की भांति मानकर उनके साये से भी दूर रहता है तथा सर्वज्ञ देव को कुशल चिकित्सक मान न सिर्फ सातों व्यसनों के विषयों से दूर रहता है बल्कि इनसे बचने के पूर्व उपाय के रूप में इनके विचार भी मन में नहीं आने देता तथा एक भी व्यसन में रत लंपट की न तो संगति करता है और न ही उससे थोड़ा सा भी व्यवहार बनाता है। बल्कि सदा प्रभू भजन में मस्त रहकर अपने आत्मिक गुणों का विकास करता है। दुनियाँ में ढोंगियों की कमी नहीं है भगवान के नाम पर चोरी, नशा करते हैं परनारी के साथ भोग भोगने में लगते हैं परन्तु मूर्ख यह नहीं समझते कि भगवान में कभी दुर्गणों का वास नहीं होता वह तो दुर्गणों से दूर होने के कारण ही भगवान जैसी पवित्रता को प्राप्त हुये हैं फिर क्यों तू दोषीजनों को भगवान कहता है तथा स्वयं भगवान के नाम पर सप्त व्यसनों को भोगकर नरकों की घोर वेदना भोगने के लिए स्वयं को नरक कुण्डों में फेंकता है। नरक में शारीरिक, मानसिक आदि असहनीय दुखों को भोगकर महान कष्टों को पाकर दुखी होता है और आर्त्त, रौद्र परिणाम करके और अनंत कर्मों को बाँधता है। अतः सावधानीपूर्वक मन में पवित्रता धारण करके व्यसनों को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। जिससे हमारे लिये सुख की प्राप्ति हो।

व्यसन सेवन से रुद्रदत्त नरक गया

साकेते सेवंतो, सत्त वि वसणाई रुद्रदत्तो वि।

मरिऊण गओ णिरयं, भमियो पुण दीहसंसारे॥154॥

रुद्रदत्त साकेत नगर में, सप्त व्यसन सेवी व्याख्यात।

नरक गति में गया मरण कर, भ्रमता फिरा वर्ष असंख्यात॥154॥

अन्वयार्थ :- (साकेते) साकेत नगर ॥अयोध्या॥ में (रुद्रदत्तो वि) रुद्रदत्त भी (सत्त वि वसणाई) सातों ही व्यसनों का (सेवंतो) सेवन करता हुआ (मरिऊण) मरकर (णिरयं गओ) नरक गया (पुण) और (दीहसंसारे) दीर्घ काल तक संसार में (भमियो) भटकता रहा।

अर्थ :- साकेत नगर (अयोध्या) में रुद्रदत्त सातों ही व्यसनों का सेवन करता हुआ मरकर नरक गया और दीर्घकाल तक संसार में भटकता रहा।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् कहते हैं रुद्रदत्त नामक व्यक्ति चारूदत्त के परिवार का ही सदस्य था। चारूदत्त अनेक कष्टों को भोगता हुआ एक ठग संयासी द्वारा अंधकूप में गिराया जाता है। वहाँ कूप में उसी के समान धोखे से पहुँचे हुए मरणासन्न पुरुष को णमोकार मंत्र सुनाकर समाधि कराता है जिससे

Y X Y

(298)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
वह देव बनता है वहाँ से निकलकर परिवार के रूद्रदत्त नामक व्यक्ति से भेंट होती है उसके साथ द्वीपांतर जाने का विचार होता है। दुष्ट रूद्रदत्त बकरे को मारकर उसकी खाल उल्टीकर उसमें बैठकर पक्षी द्वारा रत्नद्वीप में जाने का उपाय करता है। चारूदत्त के मना करते हुए भी उसके सो जाने के बाद चारूदत्त बकरे को मारता है। पापी रूद्रदत्त बीच में मर गया और अनेक कष्टों को सहन करते हुए नरक चला गया।

व्यसन से ही संसार रूपी सागर में भ्रमण

एवं बहुप्पयारं दुक्खं संसार सायरे घोरे।

जीवो शरण विहीणो वसणस्स फलेण पाउणई॥155॥

इस प्रकार संसार सिन्धु में, शरण रहित वह व्यसनी जीव।

अपने ही कृत कर्मों का फल, से दुख पाये तीव्र अतीव॥155॥

अन्वयार्थ :- (एवं) इस प्रकार (घोरे संसार सायरे) भयंकर संसार रूपी सागर में (शरण विहीणों) शरण से रहित (जीवो) जीव (वसणस्स फलेण) व्यसन के फल से (बहुप्पयारं दुक्खं) बहुत प्रकार के दुःखों को (पाउणई) पाता है।

अर्थ :- इस प्रकार भयंकर संसार रूपी सागर में शरण से रहित जीव व्यसन के फल से कई प्रकार के दुःखों को पाता है।

विशदार्थ :- व्यसनों को छोड़कर मोक्ष मार्ग में निरत आचार्य भगवन् कहते हैं कि जिस प्रकार से सागर में अगर कोई जीव डूबने लग जाए तो उसे वहाँ कोई भी बचाने वाला नहीं है। इतने बड़े सागर के बीच में कोई भी उसकी शरण नहीं है। इसी प्रकार भयंकर संसार रूपी सागर में शरण से रहित जीव व्यसन के फल से अनेक प्रकार के दुखों को पाता है। देखो पांडवों ने जुआ खेलने से कैसी-कैसी भयंकर आपदाएँ और दारुण दुख सहे, उनके अतिरिक्त भी नल प्रभृति कितने ही राजाओं ने इसके खेलने से दुख भोगे तो सामान्यजनों का क्या कहना और सब व्यसनों के लिए तो द्रव्य की अवधि हो सकती है और वे सब धीरे-धीरे उजाड़ते हैं परन्तु जुए के लिए धन की कोई सीमा नहीं क्योंकि वस्त्राभूषण तथा स्त्री तक को दाव पर लगा देते हैं और एक क्षण में कंगाल बन बैठते हैं। यदि देवयोग से जीत भी जाए तो जीतने पर मद्यपान, माँस भक्षण, वेश्या सेवन, परस्त्री सेवन आदि निन्द्यकर्म कर इन व्यसनों की कृपा से इनकी सहायता पाकर और भी शीघ्र ही अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं। किसी कवि ने कहा है- कवित्त

Y X Y

Y X Y

सात विसन का राजा है यह, यातें अहित बनें सब काम।

हारत चोरी परचित धारत, करै पाप धन कारण ताम।

अथवा हनत जीव नहीं डरपै, जीते सेवत खोटे धाम।

या सम पाप और नहीं जग में, जाते परम नीच अति नाम।

आचार्य भगवन् कहते हैं कि हे भव्य जीव! तू क्यों नहीं संभलता तथा मूर्खता की हदों को पारकर स्वविवेक को तिलांजली देता है। तथा सदैव दुख ही दुख, वेदना ही वेदना पाने की भूमिका तैयार करता है तथा इसी वेदना को सुख मानता है, विष खाकर मरता है और मुक्ति मानता है। हे भव्य आत्मन्! जाग अब तो चेत तथा निज स्वरूप को पहचान। सप्त व्यसन में नहीं तेरे सच्चे स्वरूप में ही तेरा चिरस्थायी चिदानन्द है उसकी अनुभूति कर उसे ही प्राप्त कर तो तेरा कल्याण हो जाएगा।

नष्ट बुद्धि

बहुत समय पहले राजाओं का राज्य चलता था। एक राज्य में राजा था जो जुआ खेलने का बड़ा शौकीन था जिससे उसकी रानी बहुत चिढ़ती थी, उसने कई बार रोकने का प्रयत्न किया किन्तु राजा नहीं माना।

एक दिन राजा जब लेट आये तो रानी ने कहा— आईये नष्ट बुद्धि विराजिए! सुनकर राजा कुछ समझ नहीं पाया। राजा सभा में पहुँचा तब मंत्री से कहा— आईये नष्ट बुद्धि। तब मंत्री ने युक्ति लगाई। मंत्री कंधे पर जाल डालकर सभा में आया। तब राजा ने कहा— अरे! मंत्री यह जाल क्यों रखता है तब मंत्री ने कहा क्या करूं हुजूर माँस खाने को शिकार नहीं मिलता तो मछली पकड़ लेता हूँ। राजा ने कहा— अच्छा तू शिकार भी खेलता है? तब मंत्री ने कहा जी हुजूर, माँस खाने से शराब पीने का मन करता है तो पी लेता हूँ। तब राजा ने कहा— अच्छा तू शराब भी पीता है तब मंत्री ने कहा जी हुजूर। शराब पीता तो वेश्या के पास चला जाता हूँ। तब राजा ने कहा अरे! तू वेश्यावृत्ति भी करता है, जी हुजूर। जब वेश्या के लिए पैसा नहीं पड़ौस की स्त्री के पास जाना पड़ता है। अच्छा तो परस्त्री गमन भी करता है जी हुजूर। उसको पैसे देने पड़ते हैं तो चोरी भी कर लिया करता हूँ तब राजा ने कहा अच्छा तो तू चोरी भी करता है। तब मंत्री ने कहा— जब पैसे अधिक मिलते हैं तो जुआ भी खेला करता हूँ यह सुनकर राजा ने कहा अच्छा तो तू जुआ भी खेलता है। तब मंत्री ने कहा जी हुजूर नष्ट बुद्धि हूँ ना। यह सुनकर राजा को नष्ट बुद्धि का सार ज्ञात हो गया और मन ही मन सोचने लगा। मेरे द्वारा किये गये व्यसन के कारण ही मेरी रानी ने नष्ट बुद्धि कहा था। यह सोचकर उसने जुआ खेलना आदि सर्व व्यसन का त्याग कर दिया और विशद जीवन को मंगलमय बनाया।

Y X Y

(300)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

प्रथम दार्शनिक श्रावक स्थान का वर्णन पूर्ण

एवं दंसण सावय ठाणं, पढमं समासओ भणियं।

वय सावय गुणठाणं, एत्तो विदियं पवक्खामि॥156॥

प्रथम दार्शनिक श्रावक का, सापेक्ष कथन यह कहे जिनेश।

द्वितीय व्रत प्रतिमा के धारी, श्रावक का यह कथन विशेष॥156॥

अन्वयार्थ :- (एवं) इस प्रकार (पढमं) पहला (दंसणसावयठाणं) दार्शनिक श्रावक का स्थान (समासओ) संक्षेप से (भणियं) कहा (एत्तो) अब इसके आगे (वय सावय गुणठाणं) व्रतिक श्रावक का दूसरा प्रतिमा स्थान (पवक्खामि) कहता हूँ।

अर्थ :- इस प्रकार पहला दार्शनिक श्रावक का स्थान संक्षेप से कहा। अब इससे आगे व्रतिक श्रावक का दूसरा प्रतिमा स्थान कहता हूँ।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं आगे-आगे की गाथाओं में श्रावक की क्रिया, व्यसन, त्याग आदि का वर्णन संक्षेप से किया गया है। अब इसके आगे की गाथाओं में द्वितीय आदि प्रतिमाओं का वर्णन किया जाता है।

द्वितीय प्रतिमा स्थान-5 अहिंसादि अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षा व्रत

पंचेव अणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।

सिक्खावयाइं चत्तारि, जाण विदियम्मि ठाणम्मि॥157॥

द्वितीय प्रतिमा धारी के हैं, पंच अणुव्रत गुणव्रत तीन।

शिक्षाव्रत हैं चार व्रती जन, पालन में रहते लवलीन॥157॥

अन्वयार्थ :- (विदियम्मि ठाणम्मि) द्वितीय स्थान में अर्थात् दूसरी प्रतिमा में (पंचेव अणुव्वयाइं) पाँचों अहिंसादि अणुव्रत (तिण्णिगुणव्वयाइं) तीन गुण व्रत (तह) तथा (चत्तारि सिक्खावयाइं) चार शिक्षा व्रत (हवंति) होते हैं। (जाण) ऐसा जानना चाहिये।

अर्थ - द्वितीय स्थान में अर्थात् दूसरी प्रतिमा में पाँचों अहिंसादि अणुव्रत, तीन गुण व्रत तथा चार शिक्षा व्रत होते हैं, ऐसा जानना चाहिये।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं श्रावक की दूसरी प्रतिमा अर्थात् व्रत प्रतिमा में पाँच अणुव्रत (अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह परिमाणुव्रत) तीन गुणव्रत (दिग्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत) चार शिक्षाव्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग,

Y X Y

Y X Y
सल्लेखना) ये श्रावक के बारह व्रत होते हैं। द्वितीय प्रतिमाधारी इन 12 व्रतों का पालन अवश्य ही करता है।

पाँच अहिंसादि अणुव्रत

हिंसाविरई सच्चं, अदत्तपरिवज्जणं च थूलवयं।
परमहिलापरिहारो, परिमाणं परिग्रहस्से य॥158॥
हिंसानृत चोरी कुशील अरु, परिग्रह पाँच पाप स्थूल।
त्याग से पाँच अणुव्रत होते, श्रावक के बारह व्रत मूल॥158॥

अन्वयार्थ :- (हिंसाविरई) हिंसाविरति ॥अहिंसाणुव्रत॥ (असच्चविरई) स्थूल असत्य का त्याग ॥सत्याणुव्रत॥ (च अदत्त परिवज्जणं) और बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण का त्याग ॥अचौर्याणुव्रत॥ (पर महिला परिहारो) परस्त्री का त्याग ॥ब्रह्मचर्याणुव्रत॥ (य) और (परिग्रहस्से परिमाणं) परिग्रह का परिमाण॥परिग्रह परिमाणाणुव्रत॥ (थूलवयं) ये पाँच स्थूल अहिंसादि अणुव्रत हैं।

अर्थ :- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों के स्थूल (मोटे रूप में) त्याग को अणुव्रत कहते जो पाँच है (अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा परिग्रह परिमाणाणुव्रत।)

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं स्थूल रूप से, प्रमाद के योग से हिंसा करना अहिंसाणुव्रत है। स्थूल रूप से स्थूल असत्य का त्याग करना, सत्याणुव्रत है। स्थूल रूप से स्थूल चोरी का त्याग करना अचौर्याणुव्रत है। स्थूल रूप से कामवासना का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। स्थूल रूप से परिग्रह (मूर्छा) का त्याग करना परिग्रह परिमाणाणुव्रत है।

अणुव्रत का स्वरूप

प्राणानाशिनी हिंसा का और अनुचित असत्य भाषण का,
चोरी मैथुन-सेवन का भी तथा संग के धारण का।
पूर्ण नहीं कर स्थूल रूप से पापों का जो त्याग रहा,
'अणुव्रत' माना जाता है वह सुख का ही अनुभाग रहा॥

अर्थ :- अणुव्रत का स्वरूप-स्थूल प्राण-घात से, स्थूल असत्य-भाषण से, स्थूल चोरी से, स्थूल काम से और स्थूल ममतारूप मूर्च्छा से, इन पाँच स्थूल पापों से विरक्त होना अर्थात् स्थूल पापों

Y X Y

Y X Y
का त्याग करना अणुव्रत कहलाता है।

विशदार्थ :- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का स्थूल रूप से त्याग करना अणुव्रत कहलाता है। स्थूल का अर्थ है – सर्वसाधारण की दृष्टि में भी खटकने वाले जिनको बाल-गोपाल भी बुरा समझते हों, ऐसे कार्य पाप रूप होते हैं, अतः ऐसे पाप कार्यों से गृहस्थ को भी बचना चाहिए। यद्यपि कुछ लोग ऐसा कहते हुए देखे जाते हैं कि गृहस्थ तो कभी पापों से बच नहीं सकते, उसे तो पाप करने ही पड़ते हैं। अगर गृहस्थ भी पाप न करे तो कौन करे? किन्तु उनका ये ख्याल बिल्कुल गलत है, क्योंकि चोरी करना आदि भी यदि गृहस्थ का काम मान लिया तो फिर उसे ऐसा करने वालों को दण्ड देने की आवश्यकता ही न रहें।

अतः चोरी वगैरह करना क्या गृहस्थ संस्था और क्या त्यागी संस्था, कोई भी संस्था हो, किसी के लिए भी उपयुक्त कार्य नहीं है। ऐसा करने वाले तो मनचले लोग हैं जिनके मन को नियन्त्रित करने के लिए राज्य सत्ता में दण्ड आदि विधान है, किन्तु उपर्युक्त पापों से तो बचना प्राणिमात्र का कर्तव्य है।

अहिंसाणुव्रत का स्वरूप

कभी भूलकर काया से भी और वचन से निजमति से,
कृत से भी औ कारित से भी अन्य किसी की अनुमति से।
संकल्पित हो त्रस जीवों का प्राण घात भी नहीं करना,
‘अहिंसाणुव्रत’ वही रहा है जिन कहते तू उर धरना॥

अर्थ :- अहिंसाणुव्रत का स्वरूप—मन—वचन—काय इन तीनों योगों के संकल्प से कृत, कारित और अनुमोदना से जो त्रसजीवों को नहीं मारता है, उसे धर्म में निपुण ज्ञानियों ने स्थूल हिंसा से विरमणरूप अहिंसाणुव्रत कहा है।

विशदार्थ :- बड़े पुरुषों ने, पुराण पुरुषों ने स्थूल हिंसा से बचते रहने को अहिंसाणुव्रत माना है। हिंसा किसी भी जीव को सताने का नाम है, यह तो सभी जानते ही हैं, किन्तु भूतल पर दो प्रकार के जीव होते हैं— एक तो स्थावर और दूसरे जंगम। इनमें स्थावर जीवों के शरीर की बनावट सूक्ष्म होती है और जंगम की स्थूल। इसलिये जंगम जीवों की हिंसा का नाम स्थूल हिंसा है अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि लट, चींटी आदि चलने फिरने वाले जीव हरेक जीव के देखने समझने में आते हैं, अतः उनकी हिंसा को स्थूल हिंसा कहते हैं।

इन जंगम जीवों की हिंसा का प्रयोग चार तरह से होता है। पहला – मनुष्य की जीविका के

Y X Y
 काम-धंधों के द्वारा। दूसरा- कार्य व्यवहार करने में, इन दोनों अवसरों पर जीव मरते तो हैं, किन्तु आनुसांगिक रूप से मरते हैं। वहाँ मनुष्य का उनको मारने का उद्देश्य नहीं होता, अतः वह हिंसा सर्वसाधारण के लिए क्षमा की कोटि में आ जाती है, स्वल्प समझी जाती है।

सरकार के नियमानुसार किसी अपराधी का अपराध यदि साबित भी हो रहा हो, किन्तु साथ में इतना भी प्रतीत होता हो कि इस अपराध को करने की उसकी कोई भावना नहीं थी, अकस्मात् ही इससे यह अपराध हो गया है तो फिर वह अपराधी होते हुए भी दण्डित नहीं किया जाता, अपितु चेतावनी भले ही दे दी जावे।

अब रहा 'इरादा करके मारना' तो उसके भी दो भेद हो जाते हैं। एक तो वह, जहाँ पर सामने वाला खुद हमको मारना चाहे या हमारा कुछ बिगाड़ करना चाहे, तब हम अपनी आत्म-रक्षा के लिए उसे मारते हैं। इसी को हमारे पूर्वाचार्यों ने विरोधिनी-हिंसा कहा है। दूसरा वह भेद है- जहाँ पर सामने वाला हमारा किसी भी प्रकार का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर रहा हो, फिर भी हम अपनी आदत के वश होकर उसे मार रहे हों।

ऊपर वाली हिंसा और इस हिंसा इन दोनों में ही सामने वाले जीव को कष्ट पहुँचाने का या उसे बरबाद कर देने, मार डालने आदि का विचार होता है। फिर भी इन दोनों प्रकार की हिंसा में फर्क है और वह यह कि अगर समाने वाला प्राणी हमें तकलीफ न देना चाहे तो हम भी उसे तकलीफ नहीं होने देंगे। हमें अपनी तकलीफ सहन नहीं होती इसलिये हम अपने बचाव के लिए उन्हें तकलीफ पहुँचाते हैं, उद्देश्य आत्म रक्षा का है। दूसरी हिंसा जिसको बोलचाल की भाषा में शिकार भी कहते हैं, इसमें तो हम मनोरंजन हेतु ही दूसरे प्राणी के प्राणों के ग्राहक होते हैं; यही इन दोनों में परस्पर भेद है।

संकल्प नाम इरादे का है। हालाँकि पहली वाली हिंसा में भी संकल्प है, किन्तु इसमें संकल्प अर्थात् पक्का ही इरादा है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि पहली वाली हिंसा में सिर्फ आत्मरक्षा के विचार होते हैं, किन्तु दूसरी में सामने वाले जीव को बरबाद करने के भाव हैं, वस्तुतः हिंसा करने वाले लोग इसी हिंसा को करते रहते हैं, इसलिये इस स्थूल हिंसा से बचना मनुष्य के लिए आवश्यक ही है।

इससे जो परहेज नहीं करता उस मनुष्य को ही पापी कहा जाता है, क्योंकि वह मनुष्यता से ही गिर जाता है। यही कारण है कि जिन लोगों ने विरोधवश लाखों मनुष्यों को अपनी तलवार की धार से मार दिया, उन्हीं लोगों ने रास्ते चलते कुत्तों को एक छड़ी मारना भी अपने लिए बुरा माना है। ऐसे अनेक उदाहरण हमें देखने को मिलते रहते हैं।

इसी प्रकार खेती के कार्य में किसान के हाथ से अनेक जीव मरते हैं फिर भी वह हिंसक और

Y X Y

(304)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
पापी नहीं कहा जाता। मछुवारे जो कि मछली पकड़ने का कार्य करते हैं भले ही उनके हाथ दिन भर एक भी मछली न आ पाई हो, किन्तु वह तो अपराधी ही कहा जाता है; क्योंकि उसके विचार मछलियों के मारने के होते हैं, जबकि किसान के विचार जीवों को मारने के नहीं होते।

पापरूप बंध का होना और उनसे छूटना ये दोनों ही मनुष्यों के विचारों पर ही निर्भर है; किसी दूसरे प्राणी के मर जाने या मारे जाने पर नहीं। यह संसार जीवों से भरा पड़ा है और मनुष्यादि के चलने फिरने में जीव मरते ही हैं, किन्तु जहाँ मनुष्यादि के विचार जीव घात के नहीं हैं, तो वे अपराधी नहीं हैं। यदि मनुष्य के विचार मारने के हैं तब किसी भी जीव के मरने न मरने पर भी वह अपराधी ही होता है। इसलिये जो महापुरुष होते हैं वे तो किसी भी जीव का बुरा करने का विचार ही नहीं करते, अपितु वे तो— ‘जो तुम को काँटा बुवे, ताहिं बोय तुम फूल। फूल बुवे को फूल है, वाको है त्रिशूल।’ इस दोहे को याद करते हुए वे अपने अपकारी का भी उपकार ही करते हैं। जो उन्हें कष्ट देता है वे उसे आराम पहुँचाने का विचार किया करते हैं। जो उनसे कुछ नीची स्थिति के लोग होते हैं जिनका दिल इतना विशाल नहीं हो पाया है, विचारों में इतनी दृढ़ता नहीं हुई है वे लोग ‘‘शठे शाठ्यं समाचरेत्’’ इस कहावत के अनुसार लाठी का जवाब लाठी से ही देना जानते हैं, लेकिन निरपराध जीवों को नहीं सताते। रास्ते चलते हुए जीव को सताना किसी के लिए उचित माना गया तो फिर प्राणी मात्र के लिए आपत्ति खड़ी हो जावेगी। कोई भी कहीं भी शान्ति से नहीं रह सकेगा।

अजब न्याय

एक बार एक राजा सफर को निकले और घूमते हुए जंगल में पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर रास्ता भूल गये। बहुत चक्कर लगाने, भटकने के बाद वे करीब बारह—एक बजे वापस महल में पहुँच सके। स्नानादि करके भोजन प्रारम्भ ही करने वाले थे कि दैवगत्या संयोग से एक बन्दर आया और सारा खाना खराब कर गया। तब राजा साहब भूखे रह गये। वे सोचने लगे कि आखिर आज ऐसा क्यों हो रहा है? आज सबेरे सबेरे किसका मुँह देख लिया? सोचने पर याद आया कि अमुक कंजूस का मुँह देखा था। उसे बुलवाया गया और जल्लाद के लिए आदेश हुआ— ‘इसे फाँसी की सजा दी जाये।’ कंजूस था तो चतुर ही; अतः बोला— ‘‘महाराज! मुझसे ऐसी कौन सी गलती हो गई, जिससे कि मुझे फाँसी की सजा दी गई है।’’ राजा ने कहा— ‘‘आज मैंने तेरा मुँह देखा था, जिससे मुझे अब तक खाना नहीं मिल पाया। अगर तुमको जीवित रखा जावेगा तो औरों को भी तुम परेशान करोगे।’’ कंजूस ने साहस के साथ कहा— ‘महाराज! मैंने भी तो आज सबेरे पहले पहले आपका ही मुँह देखा था, जिसका कि फल मुझे आज प्राणदण्ड मिल रहा है, फिर कहिये कि अब आपको कौन सा दण्ड भोगना पड़ेगा।’ उक्त बात सुनकर

Y X Y

Y X Y
 राजा को अपनी गलती समझ में आ गई उसे प्राणदण्ड की सजा से मुक्त करा दिया।

ठीक ऐसी ही बात यहाँ पर भी है कि हम हिंसक जानवरों को हिंसक समझकर मारते हैं किन्तु हम हिंसकता से दूर कैसे रह सकते हैं? यह सोच विचार करने पर यह बात भी ध्यान में आ जाती है कि हमें भी तो वही अवस्था प्राप्त हो सकती है। तात्पर्य यह है कि 'संकल्पी हिंसा किसी भी हालत में किसी भी माध्यम से ठीक नहीं है।'

यदि हम उन हिंसक जीवों को बुरा समझकर मारना चाहते हैं तो पशुबल से न मारकर आत्मबल से मारना सीखें अर्थात् हम ऐसे विचार सोचें कि उनकी हिंसात्मक वृत्ति किस प्रकार सात्विक रूप में परिणित हो जावे। हम ऐसा कार्य न करें कि उन्हें मारने का संकल्प कर हम भी उन्हीं सरीखे बन जावें। प्रकृति से जीव एक दूसरे के उपकारक हैं। सृष्टि के पर्यावरण का यही नियम है इसे जैन शास्त्रों में 'परस्परपरोपग्रहो जीवानाम्' के महान सूत्र से मान्य किया है। हम मनुष्य कहलाने का हक रखते हैं तो कम से कम इसी संकल्प भरी हिंसा को मन-वचन काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से अवश्य ही छोड़ दें।

मारना चाहो गर किसी को मार दो एहसान से।
 क्या मिलेगा गर किसी को मार दो जान से॥
 जान से मारा गया वापिस कभी आता नहीं।
 एहसान का मारा हुआ सिर कभी उठा पाता नहीं॥

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

निर्बल नौकर पशु पर भारी भार लादना रोज व्यथा,
 छेदन भेदन पीड़न करना देना कम ही भोज तथा।
 “अहिंसाणुव्रत के पाँचों ये अतीचार” हैं त्याज्य रहे,
 तजता वह भजता सुर-सुख औ क्रमशः शिव-साम्राज्य गहे॥

अर्थ :- इस अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं- पशु-पक्षी आदि जीवों के अंगों का छेदन करना, रस्सी आदि से बाँधना, डंडे आदि से पीड़ा देना, शक्ति से अधिक भार लादना और उनके आहार को रोक देना आदि, ऐसे कार्य करने से अहिंसा अणुव्रत में दोष लगता है।

व्याख्या- बैल, ऊँट आदि के नाक, कान छेदना, उनमें नथ डालना, बैल आदि को बधिया कराना, उनके अण्डकोष नष्ट करना इत्यादि क्रियाओं को 'छेदन' शब्द में संग्रहित करना चाहिए।

Y X Y

Y X Y
 किसी के हथकड़ी बेड़ी आदि डालना कैदखाने में बंद कर देना, पक्षियों को पिंजरे में बंद करके रखना इत्यादि को 'बंधन' शब्द से समझना चाहिए। लाठी-चाबुक आदि मारना, मुट्ठी का प्रहार करना इत्यादि 'पीड़न' शब्द में जान लेना चाहिए। किसी भी घोड़ा, बैल, ऊँट आदि पर उसकी हिम्मत, ताकत से अधिक वजन रख देना। जिस बैल के द्वारा दो मन वजन को ढोया जाता था, लालच के वशीभूत होकर उस पर तीन मन वजन को रख देना तथा किसी भी आदमी पर नाजायज दबाव डालना, उसकी योग्यता के बाहर उससे काम लेने की चेष्टा करना यह 'अतिभारोण' है। इसी तरह किसी भी प्राणी को समय पर भोजन-पान न देना भूल जाना या जानबूझकर भी निर्दयता से उन्हें भूखा रखना यह 'आहार वारणा' है।

इन उपर्युक्त तरीकों को उपयोग में लाना एक अहिंसा प्रेमी आदमी के लिए तो दोष की बात है; परन्तु यह बातें कभी कभी गुणकारक भी मानी जाती हैं जैसे पिता अपने लड़के को दुर्व्यसनों से बचाने के लिए चपत लगाना यानि थप्पड़ मारता है या अध्यापक अपने शिष्य को पाठ याद करने के लिए धमकाता है वैद्य लोग रोगी को लंघन करवाया करते हैं, एवं डॉक्टर फोड़े की चीर-फाड़ करता है; किन्तु वह सब उसके भले के लिए करता है इसलिये उसे दोष नहीं है। पर यही काम अगर कोई अनभिज्ञ आदमी करता है तो वह जरूर दोषी है क्योंकि वह अनधिकार चेष्टा करता है। जो कार्य जिसका है वह उसे ही के लिए ठीक है। दूसरा उसे करता है तो गलती करता है, जिसका कार्य होने पर भी यदि वह नहीं करता है या उसके करने में आनाकानी करता है, मनमैला करता है तो वह दोषी है। मतलब यही है कि अहिंसा को संभालने के लिए, सुरक्षित रखने के लिए योग्यता का ख्याल भी होना चाहिए एवं अहिंसा को पुष्ट बनाने के लिए झूठ से बचना भी जरूरी है।

अपना काम आप करें

एक गाँव में एक फेरी वाला व्यापारी निवास करता था। उसके यहाँ एक गधा और एक कुत्ता पला था। व्यापारी गधे पर सामान ढोता था एवं कुत्ता रक्षा का कार्य करता था। समय व्यतीत हो रहा था। एक दिन गधे से कुत्ते ने पूछा। आप क्या करते हैं? तब गधे ने कहा— मेरी तो हालात बदतर हो रही है। व्यापारी पीठ पर बोझ लेकर चलता है। पीठ डूब जाती है, ऊपर से डंडे और पीटता है। जीवन जीना दूभर हो रहा है, जो है सो ठीक है। फिर गधे ने कुत्ते से भी पूछ लिया, आप क्या करते हैं? क्या खाना पीना करते हैं? तब कुत्ते ने कहा— कुछ नहीं, बैठे रहते हैं, कोई आया-गया तो भौंक दिया और खाने में तो दूध-रोटी खाते हैं। गधा सुनकर भौचक्का रह गया। मैं मेहनत करता हूँ, भूषा खाने को मिलता है। बैठे-बैठे दूध-रोटी खाता है। उसका मन ललचा गया। उसने कहा क्यों न एक दिन को अपने काम को चेन्ज कर लें तो हमको भी अच्छा खाना मिल जाएगा। तब कुत्ते ने ना बाबा ये नहीं हो सकता। अपना-अपना काम करें। सुनकर गधा खीझ गया, उसने कहा कोई बात नहीं हम भी भौंकना जानते हैं और रात होते ही गधा रेंकने

Y X Y

Y X Y
 लगा तो व्यापारी ने जाकर देखा क्या बात है। आज गधा क्यों रेंक रहा, कोई परेशानी तो नहीं है, देखा तो कुछ नहीं था। जाकर व्यापारी लेटा तो फिर से गधा रेंका फिर देखा तो भी कुछ नहीं था। लेटते ही नींद आने को थी कि पुनः रेंका तो फिर गुस्से में जाके डण्डे से गधे की पूजा कर दी। अपना सा मुंह लेकर बैठ गया, पुनः दोनों मिलने पर बातें हुईं क्यों भाई क्या हाल है तब गधे ने कहा मैंने रात में बोलने की कोशिश की तो पीट और गये। अच्छा खाने के लालच में पिटाई हो गई।

कहावत सिद्ध है 'अनाधिकार चेष्टा करने पर पिटाई ही होती है।'

गधे ने अनधिकार चेष्टा की तो कुछ मिला तो नहीं व्यर्थ में पीट और गया।

सत्याणुव्रत का स्वरूप

स्थूल झूठ न स्वयं बोलता तथा न पर से बुलवाता,
 तथा सत्य से बचे, बचावत पर वे यदि संकट आता।
 'स्थूल सत्यव्रत' यही रहा है श्रावक पाले मन हरषे,
 पर-उपकारों से रत गणधर इस विध कहते सुख बरसे॥

अर्थ :- सत्याणुव्रत का स्वरूप - जो लोक-विरुद्ध, राज्य-विरुद्ध एवं धर्म-विघातक ऐसी स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलता है, न बुलवाता है तथा दूसरे की विपत्ति के लिए कारणभूत सत्य को भी न स्वयं कहता है न कहलवाता है, उसे सन्त जन स्थूल मृषावाद से विरमण अर्थात् सत्याणुव्रत कहते हैं।

विशदार्थ :- किसी को नीचा दिखलाने के विचार से कोई बात कहना 'परिवाद' कहलाता है, किसी के भी गुप्त रहस्य को किसी भी प्रकार से जानकर उसे प्रकट कर देना 'रहोभ्याख्या' नाम से कहा जाता है; किसी भी व्यक्ति के पीठ पीछे उल्टी सीधी बात कहकर लोगों को उसके विरुद्ध भड़काना 'पैशून्यता' या चुगली करना कहलाता है, बहाना बाजी, छल और प्रतारण संबंधी लेख लिखना 'कूटलेखकरण' होता है, किसी की भी धरोहर को हड़पने की बात करना 'न्यासपहार' एवं मर्मच्छेद के वचन कहना, भंड वचन बोलना आदि भी असत्यता की कोटि में आते हैं।

ये सब सत्यभाषी लोगों के व्यवहार योग्य वचन नहीं हैं। वस्तुतः वचन से ही मनुष्यों की कीमत है। बातचीत के माध्यम से ही मनुष्य की शिष्टता और अशिष्टता का पता चलता है। वचन ही अमृत हैं और कभी वे ही जहर का भी काम कर जाते हैं। मनुष्य के मधुर वचन बोलने से सुनने वालों को वह सुख शान्ति प्राप्त होती है, जो अमृत से भी नहीं हो सकती, किन्तु कटुक वचन से वह बुरा परिणाम होता है, कि आपस में कलह विसंवाद होकर सदा के लिए दुख भोगना पड़ता है। इन वचनों के माध्यम से ही

(308)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
विश्व का व्यवहार होता है, इसलिये मनुष्य को चाहिए कि अपने वचन को परिष्कृत बनावे और सोच-समझकर बड़ी होशियारी के साथ ऐसे वचन बोलें, जिससे सुनने वाले लोगों को प्रसन्नता प्राप्त होवे। कहा भी है—

“कागा किसका क्या करे, कोयल क्या कुछ देत।

मिष्ट वचन से जगत को, झट अपना कर लेत॥”

मतलब यह है कि मधुर भाषण में सबसे बड़ा आकर्षण है, जो कि मंत्र का भी काम करता है। इससे विश्व भर को अपना बनाया जा सकता है। अतः अपने वचन को संभालना मनुष्य का सबसे पहला कार्य है और उस वचन की सत्यता को कायम रखने के लिए सबसे पहले वस्तु तत्त्व का चिंतन करने की जरूरत है।

सत्याणुव्रत के अतिचार

कभी धरोहर डकार जाना, अहित पंथ को “हित” कहना,

नर-नारी के गुप्त प्रणय को, प्रकटाना चुगली करना।

ईर्ष्यावश नहिं किये कहे को, किये कहें यों लिख देना,

“स्थूल-सत्यव्रत के ये दूषण” रस इनका ना चख लेना॥

अर्थ :- सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं— दूसरे की निन्दा करना, दूसरे की एकान्त या गुप्त बात को प्रकट करना, चुगली करना, नकली दस्तावेज आदि लिखना और दूसरे की धरोहर का अपहरण करने वाले वचन बोलना। यह 5 अतिचार हैं।

विशदार्थ :- अहिंसा धर्म का पालन करने वाला समझता है कि सत्य बोलना ही विश्वास की मूलाधार है और विश्वास की अहिंसा की प्रधान भूमिका है, इसीलिए वह सत्य बोलने का पूरा ध्यान रखता है। वह झूठी बात न तो स्वयं बोलता है और न ही झूठी बात किसी से बुलवाना ही चाहता है तथा ऐसी सत्य बात को भी नहीं कहता, जिसके कहने से किसी दूसरे पर या अपने आप पर भी कोई आपत्ति आ जाए। सत्यवादी पुरुष किसी भी प्रकार के आवेश में आकर ऐसी बात नहीं कहता जिस बात के कहने में किसी का घात होता हो, उसे कलंकित होना पड़े, उसकी बदनामी फैल जाये अथवा वह सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाये, कलह विसंवाद को तूल प्राप्त हो, किसी को चिन्ता में पड़ना पड़े किसी की आजीविका में धक्का लग जावे ऐसे घृणापूर्ण वचन से भले वह सत्य क्यों न हो, सभ्य, पुरुष सर्वथा दूर रहता है।

Y X Y

Y X Y

अचौर्याणुव्रत का स्वरूप

रखी हुई या गिरी हुई या कभी भूल से कहीं रही,
औरों की जो वस्तु रही हो दी न गई हो, निजी नहीं।
उसे न लेना अन्य किसी को तथा न देना भूल कभी,
“अचौर्य अणुव्रत” यही रहा है राह सौख्य का मूल यही॥

अर्थ :- दूसरे की रखी हुई गिरी हुई भूली हुई वस्तु को और बिना दिये हुए धन को जो न तो स्वयं लेता है और न उठाकर दूसरों को देता है उसे स्थूल चोरी से विरक्त होने रूप अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

विशदार्थ :- किसी भी व्यक्ति को गिरी हुई, रखी हुई अथवा भूली हुई किसी भी चीज को बिना दिये ही लेना या उठाकर किसी दूसरे को दे देना, ये सभी कार्य चोरी में शामिल हैं। चोरी करना बुरी बात है इसलिये भला आदमी इनसे दूर रहता है। मनुष्य जीवन के साथ आवश्यकताओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन की जरूरत होती है। अतः मनुष्य की निगाह में धन बड़ी भारी इज्जत हो जाती है और वह उसे जीवन से भी अधिक कीमती समझता है और ऐसा समझता है कि दुनिया में सभी काम धन से ही होते हैं।

अगर किसी आदमी में या उसके कुल में कोई दुर्गुण भी हो, उसके पास धन होने से उस के दोषों की तरफ निगाह न करके उसे बड़ा आदमी लोक-व्यवहार में समझा जाता है। किसी भी कार्य के करने में उससे सलाह सबसे पहले ली जाया करती है, वह बड़ा चतुर एवं योग्य समझा जाने लगता है। उसके दर्शन करके लोग अपने आपको धन्य मानते हैं और यदि उसके साथ बातचीत करने का मौका मिल जाये, फिर तो कहना ही क्या? क्योंकि हर एक आदमी अपनी कला-कौशलता को उसके सामने प्रकट करके उसे अपनाना चाहता है।

इसके ठीक विपरीत अगर किसी व्यक्ति के पास धन नहीं रहा या किन्हीं कारणों से नष्ट हो गया तो फिर उसे कोई भी पूछता ही नहीं, भले ही उसके पास कितने ही सुगुण हों। ऐसी परिस्थिति में दरिद्र की तो बात ही क्या? उसकी तरफ तो कोई देखना भी नहीं चाहता, अतः लोग निर्धनता पूर्वक जीने की अपेक्षा मर जाना ही ठीक मानते हैं।

मनुष्य के जीवित रहने के साधन प्राण रूप से जहाँ पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी 5, मन, वचन, शरीर या कायबल रूपी 3, आयु और श्वासोच्छ्वास 2, ये दस साधन माने गये हैं। व्यवहार में इन सबमें शिरोमणि रूप ग्यारहवाँ प्राण धन को माना जाता है। इस ग्यारहवें धन रूपी प्राण की रक्षा करने के लिये

Y X Y

(310)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
यह मानव, उपर्युक्त अपने दसों प्राणों को न्यौछावर कर देता है। अतः उस ग्यारहवें धन-प्राण को हड़पने वाला, ठगने वाला चोर महाहिसंक होता है। जिसके कारण यह मानव अपना पराया सभी कुछ भूल जाता है। दुनियाँ में जितने भी कर्म हैं, उन सबमें चोरी करना सबसे बड़ा पाप है। चोरी करने वाले का विश्वास खुद उसके माता-पिता सरीखे आत्मीय जनों को भी नहीं होता है; तब औरों की तो बात ही क्या? अतः चोरी जैसे कुकर्म से दूर रहना ही हर एक समझदार इंसान का काम है।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

चोरी करने प्रेरित करना चौर्य द्रव्य पर से लेना,
काम मिलावट का करना औ सत्ता का कर नहीं देना।
मापतौल में बढ़न-घटन कर लेन-देन करते रहना,
“अचौर्य अणुव्रत के ये पाँचों दोष” इन्हें हरते रहना।।

अर्थ :- अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं - किसी को चोरी के लिए भेजना, चोरी की वस्तु को लेना, राज्य के नियमों का उल्लंघन करना, बहुमूल्य वस्तु में समान रूप वाली अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना और कम-अधिक नापतौल करना।

विशदार्थ :- खुद चोरी तो न करे, फिर भी दूसरे लोगों को चोरी करने के लिए प्रेरित करना, चोरी करके लाये हुए माल को खरीदना या उसकी संभालकर चोर के लिए मददगार बनना, न्यायोचित राज्य के कानूनों से विरुद्ध चलना, अधिक मूल्यवान वस्तु में कम मूल्यवान चीज मिलाना, यथा-शुद्ध घी में वेजीटेबिल या मूंगफली आदि का तेल मिलाकर रखना या बेचना एवं लेते समय परिमाण से अधिक वस्तु को लेने की और देते समय परिमाण से कम वस्तु देने की भावना करना आदि भी चोरी में ही शामिल है। अन्यायपूर्वक कार्य करने वाले की अपेक्षा अन्याय का समर्थक तो दुनिया को ही अन्यायी बनाने में अग्रसर होता है।

इसी प्रकार चोरी करने वाले की अपेक्षा समर्थन देने वाला या उसकी पीठ ठोंक कर प्रशंसा करने वाला व्यक्ति लोगों के लिए चोर से भी अधिक हानिकारक हो सकता है। इसी प्रकार से राज्य-शासन के कानूनों को भंग करने वाले को भी समझना चाहिए। हाँ, यह दूसरी बात है कि जो राज्य कानून नये ढंग से बनाया जा रहा है और वह वस्तुतः अहिंसा धर्म के विरुद्ध पड़ रहा हो, उस समय उसका प्रतिवाद करने के रूप में विरोध किया जाये। यदि लोभ-लालच में पड़कर सर्वसम्मत राज्य कानून को भंग किया जाता है तो वह बिल्कुल ही गलत बात है। ऐसा करने से जनता के हक में धक्का पहुँचता है और वस्तुतः इसी का ही नाम चोरी है, इसलिये चोरी के त्याग रूप संकल्प लेने वाले को इनसे परहेज करना ही

Y X Y

Y X Y
चाहिए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप

पाप-कर्म से डरते हैं जो पर वनिता का भोग नहीं,
स्वयं तथा पर को प्रेरित नहीं करते हैं बुध लोग कभी।
पर-वनिता का त्याग रूप वह “ब्रह्मचर्याणुव्रत” भाता,
तथा उसी का अपर नाम है “स्वदार सन्तोषित” साता।।

अर्थ :- जो पाप के भय से पराई स्त्रियों के पास न तो स्वयं जाता है और न दूसरों को भेजता है वह परदार-निवृत्ति अथवा स्वदारसन्तोष नाम का ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

विशदार्थ :- जो आदमी पापों से डरता है वह अपनी पत्नी के सिवा दूसरी स्त्री जात पर बुरी निगाह न तो स्वयं ही करता है और न ही दूसरे बुरी निगाह से देखने वालों का ही साथी बनता है। दूसरे की पत्नी को बुरी निगाह से देखना तो अपनी ही माता-बहिन आदि को बुरी निगाह से देखने के समान है क्योंकि वे भी तो परस्त्री ही हैं।

जो आदमी जिस पथ का पथित होता है, वह उस मार्ग पर चलने वालों को कष्टों से उबारने वाला भी होता है; जो व्यभिचारी होता है वह दुनिया के स्त्री-पुरुषों को व्यभिचारी देखना या बनाना चाहता है; अन्यथा उसके काम में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। जब सभी जन व्यभिचारी बन जायें तो उसकी मता-बहिर्न आदि शीलवती बनी रहें, ऐसा होना भी संभव नहीं होगा।

आजकल के कुछ लोगों का ऐसा ही सोचना है कि जैसे रोटी खाना, पानी पीना, कपड़ा पहनना वगैरह मनुष्य के सहज स्वाभाविक काम हैं, वैसे ही काम-सेवन करना भी आवश्यक है, जब उत्कण्ठा जागृत हुई तब उसके प्रतिकार हेतु जिस किसी भी व्यक्ति के द्वारा उसकी पूर्ति कर ली जाये, इसमें क्या नुकसान है, अमुक के साथ ही सम्पर्क किया जाये एवं अमुक के साथ न किया जाये इसमें कोई विशेषता नहीं है, यह तो पक्षपात है प्रत्युत बुरी बात ही है इत्यादि। उन ऐसा कहने वाले लोगों से हम विशेष कुछ न कहकर इतना ही कहते हैं कि फिर पशुओं में और मनुष्यों में क्या फर्क है तथा माता-पिता, भाई-बहिन आदि कौटुम्बिक सम्बन्धों के बिना गृहस्थ-जीवन की सार्थकता क्या एवं कैसी होगी?

तात्पर्य यह हुआ कि गृहस्थ-जीवन को सुव्यवस्थित एवं यथार्थ बनाये रखने के लिये स्वस्त्री से ही सम्बन्ध रखकर के कौटुम्बिक व्यवस्था को बनाये रखना चाहिए एवं परस्त्री से परहेज रखना विशेष बात होगी। परस्त्री शब्द के दो अर्थ होते हैं- एक तो षष्ठी तत्पुरुष रूप एवं दूसरा कर्मधारय विशेषण

Y X Y

Y X Y

‘काम’ यह संस्कृति भाषा में ‘इच्छा’ का पर्यायवाची माना गया है। वैसे तो मनुष्य नाना प्रकार की इच्छाओं का केन्द्र होता है, किन्तु उन इच्छाओं में तीन तरह की इच्छायें प्रसिद्ध हैं खाने की, सोने की और स्त्री प्रसंग की। इनमें से दो इच्छायें बालकपन में ही प्रादुर्भूत होती हैं। तो स्त्री प्रसंग की इच्छा युवावस्था में विकसित हुआ करती है। पहले वाली दोनों इच्छाओं को सम्पोषण देना एक प्रकार से शरीर के सम्पोषण के लिये होता है। स्त्री प्रसंग की कार्यान्वित करना केवल शरीर के संतोष का ही हेतु होता है। अतः पूर्व की दो इच्छाओं को हमारे महर्षियों ने काम न कहकर आवश्यकता कहा है एवं कुछ हद तक उन्हें पूर्ण करना भी अभीष्ट बताया है। इसलिये गृहस्थ की तो बात ही क्या—साधुओं तक को उनकी पूर्ति के लिये यथोचित आज्ञा प्रदान की है। स्त्री—प्रसंग की इच्छा को तो सर्वथा नियन्त्रण योग्य ही कहा है, यह बात दूसरी है कि हरेक आदमी उसका पूर्ण नियन्त्रण करने में समर्थ न हो सके। कामेच्छा को नियन्त्रण करना इसलिये आवश्यक कहा गया है कि काम सेवन करना बुद्धि के विध्वंस के लिए होकर मृत्यु को नियन्त्रण देना है अपने आप मरण मार्ग का निर्माण करना है कोई भी मरना नहीं चाहता, हर समय अमर रहने के लिये ही अपनी बुद्धि से सोचता है। काम को जीतना सो बुद्धि के विकास का हेतु और मृत्यु को जीतना है।

हमारे हितचिन्तक महात्माओं ने उपर्युक्त सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर ही हम लोगों के लिये ब्रह्मचर्य का विधान किया है। उन्होंने कहा है कि मनुष्य अपने विचारों में स्त्री को स्त्री ही नहीं समझना, चित्त में उसकी कभी भी याद नहीं आने देना, ऐसे पूर्ण ब्रह्मचर्य को यदि धारण नहीं कर सके तो एक देश ब्रह्मचर्य का पालन तो आवश्यक ही करें।

हाँ यदि कुलीन औरत हो एवं उसका पति स्वर्गवासी हो जाये तब तो उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपना शेष जीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक व्यतीत करे और कामवासना के ऊपर विजय प्राप्त करे, दुःसंग से बचते हुए सत्संग में रहते हुए, आत्मचिंतन पूर्वक धर्म ध्यान करते हुए, शेष जीवन वैराग्यतापूर्ण बितायें; किन्तु यदि किसी प्रकार से दुःसंसर्ग वगैरह के कारण मन के चंचल होने से अपना काम कर गया तो

Y X Y
 फिर भ्रूणहत्या जैसा पाप नहीं करना चाहिए, अपितु अपना जीवन उसी प्रकार सुख और शान्ति के साथ बिताये और हो सके तो फिर आगे के लिए ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करे वरना जिसके साथ मन पड़ा था तो उसके साथ ही रहकर अपना जीवन यापन करें।

धर्म का क्षेत्र उदार है, वह संकीर्ण दिल का नहीं है, तथा वह किसी से भी घृणा नहीं रखता, अपितु वह कहता है कि सभी मनुष्य एक सी ही प्रवृत्ति के नहीं हो सकते। एक पथ के पथिक होते हुए भी कोई आगे निकल जाता है तो कोई पीछे रह जाता है और कोई तो ठोकर खाकर गिर भी पड़ता है। उसे धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए अपितु पुनः खड़े होकर मार्ग को धारण कर लेना चाहिए, किन्तु किसी भी मार्ग को छोड़ने की भावना नहीं रखनी चाहिए।

विवाहित स्त्री-पुरुष का संसर्ग परोपकारमय होने से पुण्य सम्पादन रूप है। किन्तु अन्य स्त्री या पुरुष के साथ संसर्ग करने में सिर्फ स्वार्थपरता की दृष्टि होती है। विवाहित स्त्री पुरुष सुन्दर या कुरूप, र ग ी
 या निरोगी जैसा भी हो अपने जीवन साथी के साथ रहकर उसको निभाते हुए अपना जीवन निर्वाह करते हैं। विवाहित स्त्री पुरुष का संसर्ग होने में संतानोत्पत्ति की दृष्टि हुआ करती है। अन्यथा तो सिर्फ अपनी इन्द्रियों के संतृप्त करने मात्र का ही विचार होता है। अतः विवाहित स्त्री पुरुष का साथ संसर्ग करने पर संतोष सुख और पुण्यरूप कार्य होता है किन्तु अन्य स्त्री और पुरुष के साथ सम्बन्ध करने की व्यर्थ की अभिलाषा पापरूप ही होती है। इसलिये परस्त्री और पुरुष के त्याग का संकल्प प्रत्येक समझदार व्यक्ति का होना चाहिए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

पर के विवाह करना, अनुचित अंग-संग मैथुन करना,
 गाली गलौच देना, इच्छा काम-भोग की अति करना।
 व्यभिचारिणी के घर जाना, आना वार्तादिक करना,
 ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँचों, दूषण हैं इनसे डरना॥

अर्थ :- ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच अतिचार - दूसरों का विवाह कराना, काम-सेवन के अंगों के सिवाय अन्य अंगों से काम-सेवन करना, अश्लील वचन या कामोत्तेजक वचन कहना काम-सेवन की अधिक तृष्णा रखना और व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ गमन करना।

विशदार्थ :- अपनी संतान के सिवाय दूसरे लोगों के शादी विवाह आदि में अधिक भाग लेना, एक-दूसरे का सम्बन्ध मिलाने के कार्य में विशेष रुचि लेना, योनि और शिश्न को छोड़कर अन्य तरीकों

Y X Y

(314)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
से अपनी काम-वासना को पूर्ण करना तथा हस्त मैथुन आदि, स्त्रियों के प्रति विशेष रुचि रखना, दूसरे-स्त्री पुरुषों का संयोग मिलाने में तत्पर रहना, दलाली करना, अपनी स्त्री या अपने पुरुष के साथ संसर्ग करने की अति उत्कृष्ट इच्छा रखना, व्यभिचारिणी औरत के साथ संयोग करना ये सभी बातें शीलव्रत को ढीला बना देने वाली हैं। अन्य हर एक के बालक बालिकाओं का तथा स्त्री पुरुष का परस्पर संयोग जुटाते रहने में उनसे सम्मोह जागृत हो जाता है, जिससे स्वयं की काम वासनाओं में उत्तेजन मिलता है।

हस्तमैथुन की चाहत बहुत ही बहुत बुरी चीज है। इसकी अपेक्षा से तो स्त्री पुरुष का सम्पर्क हो जाना कहीं अच्छा है। संयोग में दोनों की अनुकूलता की आवश्यकता होती है, अतः वहाँ पर तो काम वासना सीमित रूप में होती है। किन्तु हस्तमैथुन करने वाला आदमी तो एकदम आजाद हो जाता है। वह जानवरों से भी बदत्तर कामवासना में लिप्त हो जाता है। फिर तो वह जब चाहे तब दिन हो या रात का ख्याल न रखते हुए कई दफा भी इस क्रिया को कर सकता है। जिससे कि उसकी कामवासना सीमातिक्रान्त होकर उसे प्रमेह, कुटेव आदि भयंकर बीमारियों का शिकार बना देती है।

भोजन और मैथुन यह दोनों कार्य हर हालत में मनुष्य को शिकार बना लेते हैं; मित मात्रा में ही ठीक होते हैं। भोजन अधिक मात्रा में करने से अजीर्ण होकर वह बुखार का कारण बन जाता है, उसी प्रकार अति मैथुन भी मनुष्य को संतप्त बना देता है। जैसे-जैसे मैथुन सेवन किया जाता है वैसे वैसे स्त्री प्रसंग की इच्छा निवृत्त न होकर प्रत्युत वृद्धि को ही प्राप्त होती है। अतः जहाँ तक हो सके मैथुन सेवन से मनुष्य को दूर ही रहना चाहिए। अगर शरीर अपने जोश पर हो, मन चुप बैठना नहीं चाहता तो उसे बहलाने के लिए उचित मात्रा में योग्य रीति से संतोष के साथ काम सेवन करना चाहिए। वास्तव में संतोष ही आत्मा के लिए शान्ति का साधन है।

परिग्रह परिमाणानुव्रत का स्वरूप

दशविध परिग्रह धान्यादिक का समुचित सीमित कोष करें,

संग्रह उससे अधिक संग का नहीं करें मनतोष धरें।

“परिमित परिग्रह” पंचम अणुव्रत यही रहा सुन सही जरा,

“इच्छा परिमाणक” भी प्यारा नाम इसी का तभी परा।।

अर्थ :- धन-धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में निःस्पृह रहना, परिमित परिग्रह व्रत है, इसी का दूसरा नाम इच्छा परिमाणानुव्रत भी है।

विशदार्थ :- धन और धान्य वगैरह बाह्य पदार्थों का परिमाण करके उससे अधिक पदार्थों में

Y X Y

Y X Y
 निस्पृह होकर रहना, उनके प्रति उपेक्षा भाव होना परिग्रह परिमाण है। वह परिग्रह परिमाण दो प्रकार का होता है जैसे— उत्कृष्ट वानप्रस्थ को धारण करने वालों के पास एक लंगोटी और एक चादर मात्र परिग्रह रहा करता है, इससे अधिक परिग्रह उनके पदस्थ पद के विरुद्ध होता है। इस प्रकार के व्रत में जहाँ निश्चित परिग्रह से कम—ज्यादा परिग्रह नहीं हो सकता, उसको परिमित परिग्रह नाम से कहा जाता है। साधारण व्रती आदमी अपनी इच्छा के अनुसार कम या ज्यादा जितना उचित समझे, उतने परिग्रह का नियम धारण करके बाकी परिग्रह का त्याग कर देता है। इसे इच्छा—परिमाण नामक व्रत कहा जाता है।

यह मनुष्य जीवन विषयक आवश्यकताओं का केन्द्र स्थान है और आवश्यकता चिन्ता की जन्मदायी है। जैसे—जैसे आवश्यकताओं का विकास होता जाता है, वैसे वैसे ही चिन्ताओं का प्रसार होता है। वह चिन्ता ही मनुष्य को व्याकुल बनाने वाली होती है। इसी चिन्ता को बुजुर्गों ने चिता की उपमा दी है। तदैव—

“चिन्ता चिता समान है, बिन्दु मात्र का भेद।

चिता दहे निर्जीव को, चिन्ता जीव समेत॥”

चिन्ता का स्थान चिता से पहले नम्बर पर है क्योंकि चिता तो मुर्दा शरीर को दग्ध किया करती है, परन्तु चिन्ता रूपी अग्नि तो जीवित को ही जलाती रहती है। अतः सुखी होने के लिए चिन्ता से मुक्त होना जरूरी है और चिन्ता से मुक्त होने के लिए आवश्यकताओं को घटाने की जरूरत है। इसीलिए हर मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को घटाकर संतोष धारण करने या सत्पुरुषों का उपदेश है। संतोष ही इस आत्मा को सुखी और शान्त बनाने वाला है। संतोष न होने पर अनेक प्रकार की धन—सम्पत्ति होने पर भी यह मनुष्य सुखी नहीं बन सकता; अपितु दुःख का ही वेदन करता रहता है।

निन्यानवै का चक्कर

एक सेठ— साहूकार के अनेक प्रकार की कारें बेचने का व्यापार था। उस व्यापार में व्यस्त होने के कारण साहूकार को खाने—पीने, उठने—बैठने, सोने आदि के लिए भी समय नहीं मिल पाता था। रात्रि को बारह एक बजे उसे अपने व्यापार से छुट्टी मिलती, तब वह घर पर वापिस आ पाता और दिनभर की व्यस्तता के कारण थका होने से आते ही सो जाता। इस प्रकार की चर्या जब कई दिनों तक हो गयी, जब कई दिनों तक विचार करते—करते एक दिन सेठानी जी ने कहा कि सेठ जी अपने यहाँ सभी तरह क

(316)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
सुख-सामग्री मौजूद है किसी भी बात की कमी नहीं है फिर भी मैं देखती हूँ कि आपको किसी भी प्रकार की शान्ति नहीं है। आप दौड़ते से आते हैं और जल्दी से खाकर चले जाते हैं एवं रात्रि में आते ही सो जाते हैं। आपको परिवार के प्रति सुख-दुख की भी बात करने की फुरसत नहीं मिलती। इससे तो हमारी अपेक्षा अपना पड़ौसी ही अच्छा है जो मजदूरी करके पेट भरता है। वह सुबह आठ बजे काम पर जाता है और सायंकाल छः बजे वापिस आ जाता है। आनन्द से भोजन-पान करके दोनों पति पत्नी सितार लेकर मधुर ध्वनि में प्रभु-भजन किया करते हैं, जिसे सुनकर दूसरे लोगों को भी आनन्द मिला करता है। वे रात के दस बजे तक भगवद्-भजन किया करते हैं जिसे मैं भी सुना करती हूँ और आनन्द विभोर हो जाती हूँ।

सेठानी की उपर्युक्त बात सुनकर सेठजी ने कुछ विचार किया और एक मौका पाकर उसने एक थैली में एक रुपया कम सौ यानि निन्यानवे रुपये रखकर उसे गरीब पड़ौसी के घर में डाल दी। गरीब मजदूर ने उस थैली को उठाकर देखा तो उसमें रुपये रखे दिखे, तब उसने विचार किया ये रुपये तो प्रभु की कृपा से मिले हैं। उन रुपयों के गिनने पर पाया कि निन्यानवें रुपये ही हैं। वह विचारने लगा कि इस थैली में सौ में एक रुपया कम है। अतः किसी भी तरह एक और मिलाकर सौ रुपये पूरे कर लेना चाहिए किन्तु मैं तो एक रुपया रोज कमा कर लाता हूँ सो वह दोनों की खुराक में पूरा हो जाता है। एक-दो घंटा रात को काम अधिक करके इसे जैसे-तैसे पूरा कर लेना चाहिए। अब तो वह सितार बजाना वगैरह सब भूल गया। रात को नौ बजे तक मेहनत करने लगा और थका-माँदा होने के कारण आते ही सो जाता। मतलब यह कि पहले एक रुपया रोज लाकर उसी में संतोष किया करता था लेकिन उसे अब तृष्णा ने घेर लिया था, जिससे सब आनंद मौज मारा गया।

अतः तृष्णा बड़ी बुरी बात है। जैसे-जैसे अपनी खुराक मिलती है, वैसे वैसे यह लालसा बढ़ती जाती है मिटती नहीं है। इसे कम करने का अगर कोई मार्ग है तो एक संतोष ही है। फिर भी वह संसारी प्राणी आशा के चौराहे में दौड़ लगाता रहता है। अपने पास एक कौड़ी न होते हुए भी वह चक्रवर्ती बनना चाहता है जो कि उसके बस की बात नहीं है। प्रकृति का स्वभाव मनुष्य की छाया के समान है, जैसे कि हम अपनी छाया को पकड़ने दौड़े तो वह आगे आगे दौड़ती है किन्तु जब हम उस छाया से मुँह मोड़कर चले तो वह हमारे साथ ही पीछे हो लेती है। बस इसी प्रकार सांसारिक सम्पत्ति का हाल है। इसे जैसे जैसे हम पकड़ना चाहते हैं वैसे वैसे ही यह हमसे दूर होती जाती है। इसलिये इसे दूर करने का तरीका भी यही है कि इसे छोड़कर इससे दूर रहकर ही संतोष को धारण किया जाये।

परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत का अतिचार

Y X Y

Y X Y

बहुत भार को ढोना संग्रह, व्यर्थ संग का अति करना,

पर धन लख विस्मित होना, अति लोभी बहु वाहन रखना।

‘परिमित परिग्रह पंचम अणुव्रत के पाँचों ये दोष’ रहे,

इस विध कहते जिनवर हमको वीतराग गत दोष रहे॥

अर्थ :- परिग्रह परिमाणु अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं- आवश्यकता से अधिक वाहनों (रथ, घोड़े, मोटर आदि सवारी के साधनों) को रखना अधिक वस्तुओं का संग्रह करना, दूसरों के लाभादिकों देखकर आश्चर्य करना, अधिक लोभ करना और घोड़े आदि को उनकी शक्ति से अधिक जोतना, लादना, उन पर अधिक बोझा ढोना।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- तृष्णा के वशीभूत होकर आवश्यकता से भी अधिक घोड़ा-गाड़ी, व्यापार, खाने-पीने पहनने वगैरह की चीजें अधिक संग्रह करना। दूसरे व्यक्ति को अधिक सम्पत्तिशाली देखकर आश्चर्य में पड़कर अति लोभ करना और अधिक भार आदि का ढोना, ये सभी बातें संतोष भावना के प्रतिकूल और आशा एवं तृष्णा को पल्लवित कराने वाली है।

तृष्णा का फल

एक शिकारी ने वन में जाकर अपने धनुर्बाण से एक हिरण को मारा। तभी एक काले सर्प ने उसे काट खाया, जिसके काटने से वह शिकारी धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा। उसके ही नीचे आ जाने के कारण वह साँप मर गया और जहर के कारण शिकारी भी मर गया। अपने अपने दुष्कृत्य का फल दोनों को मिल गया। तभी वहाँ से एक शृंगाल निकला और तीनों को ही भूमि पर पड़े देखकर सोचने लगा कि आज तो मुझे बहुत सी-भोजन सामग्री प्राप्त हो गयी है। एक हरिण, मनुष्य और साँप, इनसे तो मेरा कितने ही दिनों का गुजारा होगा। चूंकि आज तो प्रारम्भिक दिन है अतः इस धनुष की शुष्क प्रत्यंचा की ताँत का ही भक्षण करके पेट भर लेना चाहिए, शेष सामग्री को बाद में खाया जाये। ऐसा विचार कर उसने ज्यों ही प्रत्यंचा की ताँत को खाना शुरू किया तभी तपाक से धनुष का बाँस लग जाने से मरण को प्राप्त हो गया। यह सब अति लोभ का दुष्फल था। अतः सुख शांति चाहने वाले को लोभ, तृष्णा से दूर रहकर संतोष को धारण करना परमावश्यक है। संतोष धारण करने से पंच अणुव्रत सहज रूप में ही पालन होते रहते हैं एवं पंचाणुव्रतों को निर्दोष रीति से पालने के कारण आगे के लिए दुर्गति का अभाव हो जाता है और नियम से सुगति की प्राप्ति होती है।

पंचाणुव्रत धारण करने का फल

Y X Y

(318)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अतीचार से रहित रही हैं, सारी अणुव्रत की निधियाँ,

नियम-रूप से शीघ्र दिखाती, स्वर्गों की स्वर्णिम गलियाँ।

अणिमा-महिमादिक आठों गुण, अवधिज्ञान से सहित मिले,

भव्य-भव्य मणिमय-सी काया, छाया से जो रहित मिले॥

अर्थ :- उपर्युक्त अतिचारों से रहित होकर धारण की गयी पाँच अणुव्रतरूप निधियाँ देवलोक को फलती है जहाँ पर कि अवधिज्ञान, अणिमादि आठ ऋद्धियाँ और दिव्यशरीर प्राप्त होता है।

विशदार्थ :- पाँच अणुव्रतों को निर्दोष रीति से पालन करने वाला मनुष्य नियम से स्वर्ग में ही जन्म धारण करता है। जहाँ पर जन्म लेने मात्र से ही उसे वह दिव्यज्ञान प्राप्त होता है। जिससे कि वह अपने और दूसरों के भी पूर्व जन्मादि का हाल-चाल अच्छी तरह से साफ-साफ जान सकता है। उसे अणिमा-महिमादि आठ गुण प्राप्त होते हैं एवं हाड़-माँस वगैरह से रहित दिव्य मनोहर वैक्रियक शरीर प्राप्त होता है, जिसे हलका-भारी, छोटा-बड़ा आदि जैसा चाहे वैसा बनाया जा सकता है। अतः अणुव्रतों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

॥रत्नकरण्डश्रावकाचार 'मानवधर्म' से साभार॥

तीन गुण व्रत

दिसि विदिसि पच्चक्खाणं, अणत्थदंडाण होइ परिहारो।

भोओवभोयसंख एएह, गुणव्वया तिण्णि॥159॥

प्रत्याख्यान दिशाओं का है, दिग्व्रत अनर्थ दण्ड का त्याग।

भोगोपभोग परिमाण तृतीय यह, गुणव्रत तीन का रहा विभाग॥159॥

अन्वयार्थ :- (दिसि विदिसि पच्चक्खाणं) दिशाओं और वि-दिशाओं में मर्यादा करके उसके बाहर जाने का त्याग करना, यह पहला (दिग्व्रत) नामक गुणव्रत है। (अणत्थ दंडाण परिहारो) दूसरे दिग्व्रत में अनर्थ दण्डों का परित्याग किया जाता है। (भोओवभोयसंखा) भोगोपभोगों की संख्या की सीमा की जाती है, ये भोगोपभोग परिमाण नाम का तीसरा गुणव्रत है। (एएह गुणव्वया तिण्णि होइ) इस प्रकार गुणव्रत तीन होते हैं।

अर्थ :- दिशाओं और विदिशाओं में मर्यादा करके उसके बाहर जाने का त्याग करना, यह पहला दिग्व्रत नाम का गुणव्रत है। दूसरे दिग्व्रत में अनर्थदण्डों का परित्याग किया जाता है तथा तीसरे दिग्व्रत में भोगोपभोग पदार्थों की संख्या की सीमा की जाती है, ये भोगोपभोग परिमाण नाम का तीसरा गुणव्रत है। इस प्रकार गुणव्रत तीन होते हैं।

Y X Y

Y X Y

चार शिक्षाव्रत

देवे थुवइ तियाले, पव्वे पव्वे य पोसहोवासं।

अतिहीण संविभाओ, मरणंते कुणइ सल्लिहणं॥160॥

जिन स्तुति त्रयकाल सामायिक, पर्व-पर्व प्रोषध उपवास।

अतिथि दान तृतीय शिक्षाव्रत, मरण समाधि शिक्षाव्रत खास॥160॥

अन्वयार्थ :- प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल (तियाले देवे थुवइ) इन तीनों कालों में अरिहंत देव की स्तुति करता है, यह सामायिक नामक का पहला शिक्षाव्रत है। (पव्वे पव्वे पोसहोवासं) प्रत्येक महीने की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में प्रोषधोपवास करता है, यह प्रोषधोपवास नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है। (अतिहीण संविभाओ) अतिथियों को दान देता है, यह तीसरा अतिथि संविभाग नाम का शिक्षाव्रत है (य) और (मरणंते सल्लिहणं कुणइ) मरते समय शरीर और कषायों को कृष करते हुए सल्लेखना धारण करता है, यह सल्लेखना नाम का चौथा शिक्षाव्रत है।

अर्थ :- प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल इन तीनों कालों में अरिहंत देव की स्तुति करता है, यह सामायिक नाम का पहला शिक्षाव्रत है। प्रत्येक महीने की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में प्रोषधोपवास करता है, यह प्रोषधोपवास नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है। अतिथियों को दान देता है यह तीसरा अतिथि संविभाग नाम का शिक्षाव्रत है और मरते समय शरीर और कषायों को कृष करते हुए सल्लेखना धारण करता है, यह सल्लेखना नाम का चौथा शिक्षाव्रत है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- सल्लेखना को चौथे शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है, यहाँ कुन्द कुन्दादि आचार्यों के समान जो मुनियों की शिक्षा का हेतु अतः प्रतिदिन शरीर व कषाय को वश में रखना चाहिये श्री समन्तभद्र देव ने अतिथि की जगह वैयावृत्य व सल्लेखना के स्थान पर देशावकाशिक रहा है यहाँ देशावकाशिक को गुण व्रत में गर्भित किया है।

शिक्षाव्रत के प्रकार

प्रथम “देश अवकाशिक” प्यारा दूजा “सामयिक” जानो,

तृतीय “प्रोषधोपवासा” है चौथा “वैयावृत्ती” है मानो।

मुनिव्रत की शिक्षा मिलती है ये चार कहे।

मुनि बनने की इच्छा रखते श्रावक इनको धार रहे॥

अर्थ :- जिनेन्द्र देव ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत

Y X Y

Y X Y
कहे हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं क्योंकि इनके माध्यम से ही साधु को जीवन-सन्यास मार्ग पर शनैः शनैः आगे बढ़ने की शिक्षा मिलती है। इनके परिशीलन/परिपालन करने से संयत बनने में कुशल हो सके। अतः इन्हीं शिक्षाव्रतों को क्रमशः आगे कारिकाओं में बतलाते हैं।

देशावकाशिक शिक्षाव्रत

बहुत क्षेत्र की दशों दिशाओं में सीमा आजीवन की,
उसे काल की मर्यादा से कम-कम करना प्रतिदिन भी।
यही “देश अवकाशिक व्रत” है अणुव्रत पालक श्रावक का,
यही देशनामृत मृतिनाशक जिन-शासन के शासक का॥

अर्थ :- दिग्व्रत में ग्रहण किये विशाल देश का काल की मर्यादा से प्रतिदिन संकोच करना अणुव्रतधारी श्रावकों का देशावकाशिक व्रत है॥

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- अणु व्रतधारियों ने अपने अपने दिग्व्रतों में आने जाने सम्बन्धी जो क्षेत्र निश्चित किया था उस विशाल देश, क्षेत्र, काल आदि की मर्यादा को कुछ समय, कुछ दिनों के लिए या रोजमर्रा ही संकोच / कम कर लेना ही देशावकाशिक नामक शिक्षाव्रत कहलाता है। जैसे किसी गृहस्थ ने नियम कर लिया है कि फाल्गुन सुदी अष्टमी से लेकर फाल्गुन सुदी पूर्णिमा तक इन आठ दिनों में मैं अपने ग्राम को छोड़कर दूसरे अन्य गाँव को नहीं जाऊँगा एवं आज अष्टमी के दिन मैं चौबीस घंटों के लिए अपना ही मकान छोड़कर बाहर नहीं जाऊँगा बल्कि यहीं पर ठहरकर निराकुलतापूर्वक शान्तिपूर्वक भगवद् भजन और ज्ञानाभ्यास करता रहूँगा। यही संकल्प उसका देशावकाशिक नामक देशव्रत हुआ जो कि शिक्षाव्रत कहलाता है।

देशावकाशिक व्रत की सीमा

ग्राम तथा आराम धाम निजपुर गोपुर औ भवन महा,
यथा प्रयोजन योजन-योजन नद नदिका वन गहन अहा।
सुनो! “देश अवकाशिकव्रत में इनकी सीमा” की जाती,
गणी कहें, भव-तीर लगाती वीर-भारती भी गाती॥
एक स्थान पर रहूँ या एक अयन ऋतु पक्ष कभी,
चार मास या मास बनाना नियम कभी नक्षत्र कभी।

Y X Y

Y X Y

यदि “देश अवकाशिक व्रत की कालावधि” मानी जाती,

ज्ञानी ध्यानी कहते हैं और जिनवर की वाणी गाती॥

अर्थ :- घर, मोहल्ला, ग्राम, खेत नदी वन और योजनों की मर्यादा करने को वृद्ध तपस्वी जन देशावकाशिक व्रत की सीमा बतलाते हैं। अर्थात् मैं अमुक समय तक अमुक देश से बाहर नहीं जाऊँगा, ऐसा नियम करना देशावकाशिक व्रत है।

वर्ष, ऋतु, मास, चातुर्मास, पक्ष और नक्षत्र के आश्रय से नियत प्रदेश में रहने के नियम करने को ज्ञानी जन देशावकाशिक व्रत की काल मर्यादा कहते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं— किन्हीं भी घर—मन्दिर, गली मुहल्ला, गाँव—खेत, नदी, वन या योजन की मर्यादा करके देशावकाशिक शिक्षाव्रत धारण किया जाता है। इसी प्रकार से साल भर, छह महिना, चार माह, दो माह एक पखवाड़ा यानि पन्द्रह दिन या एक दिन को लेकर भी व्रतीजन देशावकाशिक शिक्षाव्रत को धारण करते हैं एवं उसका सन्तोष / समतापूर्वक पालन करते हैं।

महाव्रतों का साधन

देश—काल की सीमायें जब निर्धारित कर पाने से,

उनके बाहर स्थूल सूक्ष्म अथ पाँचों ही मिट जाने से।

स्वयं “देश अवकाशिक व्रत भी अणुव्रत होकर कहा” बने,

व्रत की महिमा यही रही है दुख बनता सुख—सुधा सने॥

अर्थ :- सीमाओं के अन्त में परवर्ती क्षेत्र में स्थूल और सूक्ष्म पाँचों पापों के त्याग को जाने से देशावकाशिक व्रत के द्वारा महाव्रतों का साधन किया जाता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं— इस देशावकाशिक व्रत को धारण कर सीमा कर लेने से उस सीमा से बाहर के सूक्ष्म या स्थूल सभी तरह के पाप होना बंद हो जाते हैं। अतः इस व्रत के माध्यम से महाव्रतों की शिक्षा प्राप्त होती है। अतएव सदाचार की उन्नति चाहने वाले गृहस्थ को देशावकाशिक व्रत भी धारण करना चाहिये और उसे निर्मल बनाये रखने के लिये सदैव निम्न बातों से बचते रहना चाहिए—

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

कभी भेजना सीमा बाहर पर को अथवा बुलवाना,

कंकर आदिक फेक सूचना देना ध्वनि देकर गाना।

Y X Y

Y X Y

सीमा के अन्दर रहना पर रूप दिखाना बाहर को,

दोष “देश अवकाशिक व्रत” के वे हैं तज अघ आकर को॥

अर्थ :- देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं— देशव्रत की सीमा से बाहर किसी को भेजना, किसी को शब्द सुनाना, किसी को बुलाना, अपना रूप दिखाकर संकेत करना और कंकर— पत्थर फेंककर दूसरे का ध्यान अपनी और आकृष्ट करना। इन कार्यों को करने से सीमा के बाहर स्वयं नहीं जाने पर भी व्रत में दोष लगता।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं— देशावकाशिक व्रत संतोष और शांति की प्राप्ति के लिए धारण किया जाता है। अतः इस व्रत को धारण कर लेने से यह आत्मा व्यर्थ की दौड़-धूप और ऊहा-पौहों को दूर करके स्वस्थता का लाभ प्राप्त करती है। यही इस व्रत को धारण करने का प्रयोजन है, किन्तु इस देशावकाशिक व्रत को लेकर भी जिनकी कषायें शान्त नहीं होतीं, जिन्हें वास्तविक संतोष प्राप्त नहीं होता, तब वह भले ही स्वयं उस हृद के बाहर न जायें किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति को भेजकर अथवा अपनी आवाज या कागज पत्र आदि पहुँचाकर अन्यत्र से कोई भी चीज में मंगवाकर अथवा अपनी शक्ति दिखाकर या फोटो आदि भेजकर अपना काम करते/कराते हैं। ऐसी हालत में उनकी आशा-तृष्णा के प्रति कोई रोकथाम नहीं लग पाती तब उनका वह देशावकाशिक व्रत निष्फल हो जाता है। अतएव समझदार व्यक्ति को चाहिये कि अपने व्रत को सफल और सार्थक बनाने के लिए उपर्युक्त बातों से बचता रहे।

सामायिक शिक्षाव्रत का वर्णन

सीमा के भीतर बाहर पाँचों पापों का त्याग करो,

तन से मन से और वचन से आत्म में अनुराग करो।

यही रहा “सामायिक नाम का शिक्षाव्रत” अघहारक है,

ऐसे कहते गणधर आदिक अगाध आगम धारक हैं॥

अर्थ :- सामायिक का समय पूर्ण होने तक हिंसादि पाँचों पापों का पूर्ण रूप से अर्थात् मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करने को आगम के ज्ञाता पुरुष “सामायिक” कहते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं— संसार में जितने भी कार्य होते हैं वे सब समय के द्वारा हुआ करते हैं। अन्य समय में अथक/जी तोड़ परिश्रम करने पर भी जो कार्य नहीं होता वह समय को

Y X Y

Y X Y
पाकर साधारण प्रयास के द्वारा सम्पादित हो जाता है। शिशिर-ऋतु में जिस पेड़ को सींचते-सींचते हुए भी पतझड़ हो जाता है वही पेड़ बसंत को पाकर बिना सींचे हरा-भरा होकर लोगों के चित्त को चुराने लगता है। वैसे मोती का प्राप्त होना दुर्लभ होता है किन्तु स्वाति नक्षत्र में सीप के मुख में प्रवेश हुई पानी की बूँद मोती के रूप में ढल जाती है इत्यादि बातों को ध्यान में रखते हुए संयम की कदर/आवश्यकता पहचानने वाले लोग निश्चित समय तक के लिए पाँचों व्रतों को निर्दोष पालन करने के लिए एवं उतने समय तक स्थिर बने रहने को सामायिक व्रत कहते हैं।

समय शब्द का अर्थ

केशबन्ध का, मुष्टिबन्ध का, वस्त्र-बन्ध का काल रहा,
तथा बैठने थित होने का जो आसन का काल रहा।
वही रहा “सामायिक समय” है कहते आगम ज्ञाता हैं,
जो करता सामायिक नियम से बोधि समागम पाता है॥

अर्थ :- केशबन्धन, मुष्टिबन्धन, वस्त्रबन्धन, पर्यकासनबन्धन, स्थान (खड़े रहना) और उपवेशन (बैठना) इनको सामायिक के जानकार सामायिक का समय जानते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- जिसमें कि सम्पूर्ण पापों का त्याग किया जाता है उस सामायिक के काल में मस्तिष्क के बाल, चोटी आदि को किस तरह रखना या बाँधना वस्त्र कैसा और किस प्रकार पहिनना, अपना आसन किस तरह लगाना, कहाँ पर बैठकर सामायिक करना, किस चीज के और कैसे आसन पर बैठकर सामायिक करना और कितने समय सामायिक करना इन बातों को विशेषज्ञ लोग जानते हैं, महर्षिजन समझते हैं। सामायिक करते समय मैं अपने मन, वचन और काय इन तीनों योगों को बाँधकर अपने वश में रखूँगा, ऐसा संकल्प करके अपनी चोटी को गाँठ दे लेवें, उसे खुली नहीं रखें। अपने मन को पवित्र बनाये रखने के लिए शुद्ध हुए सफेद धोती और दुपट्टे को पहने जिसकी स्वच्छता एवं निर्मलता के कारण भाव /परिणाम शुद्ध बने रहें। ऐसा न होने पाये जिसके कारण अपने आपके और देखने वालों के भी मन में किसी तरह की घृणा या विकार भाव उत्पन्न होने पावे।

जहाँ तक संभव हो सामायिक करते समय सिद्धासन, पद्मासन या सुखासन या पालथी लगाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर या मन्दिर मूर्ति की तरफ मुख करके बैठें। चित्त को स्थिरी भूत और शान्त करने / रखने के लिए यही आसन प्रशस्त माने गये हैं और यद्वा तद्वा आसन चित्त को विक्षिप्त और विकल बनाने वाले होते हैं एवं साथ ही कष्टसाध्य भी होते हैं। सामायिक करने के लिए ऐसी जगह पर

(324)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
बैठना चाहिये जहाँ पर अत्यन्त शीत-उष्णादि, छोटे बड़े जीव-जन्तु, डॉस-मच्छर आदि की बाधा न हो।

बिल्कुल

निर्जन वनादि में होने से यदि भयंकर भी न हो तो जन व्याकीर्ण होने के कारण चित्त को व्याकुल करने वाला स्थान भी न हो। सामायिक करते समय अपने नीचे बिछाने के लिये प्रायः डाभ का आसन होना चाहिए, क्योंकि वह जीव को एकदम आरामदायक भी नहीं होता है तो अत्याधिक कष्टप्रभ भी नहीं होता। सामायिक करने का समय सुबह सूर्योदय के पहिले उत्कृष्ट रूप से एक घण्टा बारह मिनट से प्र I र इ भ

करके सूर्योदय के बाद में एक घण्टा बारह मिनट तक होता है। ऐसे ही सायंकाल सूर्यास्त के समय सूर्यास्त होने के पूर्व एक घंटा बारह मिनट पहिले से आरम्भ करके सूर्यास्त के बाद एक घण्टा बारह मिनट तक

करना चाहिए। इसी प्रकार मध्याह्न में दस बजकर अड़तालीस मिनट से प्रारम्भ करके एक बजकर बारह मिनट तक का समय उत्कृष्ट काल माना गया है। इसी प्रकार से लगभग एक घंटा छत्तीस मिनट का काल मध्यम एवं अड़तालीस मिनट का काल सामायिक हेतु जघन्य माना गया है। दिन भर में ये समय सहज और पुनीत पावन माने गये हैं। इसलिये भगवान की दिव्य धर्म-देशना भी इन्हीं समयों में हुआ करती थी। अतएव इन समयों में हर एक समझदार व्यक्ति को आत्म चिंतन में अवश्य ही तत्पर होना चाहिए।

दुनिया के तमाम कार्यों के होने का एक समय होता है एवं प्रत्येक कार्य अपनी अपनी योग्यता के अनुसार अपने समयों में ही हुआ करता है। जैसे कि जब भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थ जीवन को छोड़कर सन्यास धर्म को धारण किया। उस सन्यास अवस्था में अन्तराय कर्म के कारण कोशिश / प्रयास करने पर भी उनको तेरह महिने नौ दिन तक आहार-प्राप्त नहीं हुआ। जिनके लिए इन्द्र सरीखा भी सेवा-सुश्रुषा के लिए सदैव खड़ा रहता था किन्तु अन्तराय कर्म के कारण उनके आहार प्राप्ति का वह समय नहीं था जबकि समय आने पर सहज ही श्रेयांस राजा को जाति-स्मरण हो गया और आहार क्रिया निर्विघ्न संपन्न हो गयी। अतः मनुष्यों को चाहिये कि वे समय की महत्ता समझें और समय का ध्यान रखते हुए, नियम काल में ही सामायिक किया करें।

सामायिक करने का स्थान

व्यभिचारी महिलाजन पशु से, रहित रहे एकान्त रहे,
सभी तरह की बाधाओं से, रहित रहे पै शान्त रहे।

Y X Y

Y X Y

निजी भवन में वन उपवन में, चैत्य भवन या जंगल में,
परिषह आदि को, सहने की प्रेरणा,
श्रावक जब सामायिक कार्य को, करने संकल्पित होता,
बाँधी सीमा तक अपने में, पूर्णरूप अर्पित होता,
मच्छर आदिक काट रहे हों, शीत लहर हो अनल दहे,
सहे परीषह उपसर्गों को, मौन योग में अचल रहे॥

अर्थ :- सामायिक को प्राप्त हुये गृहस्थों को चाहिये कि वे सामायिक के समय शीत, उष्ण और दंश मशक आदि परीषह को तथा अकस्मात् आये हुए उपसर्ग को भी मौन-धारण करते हुए अचलयोगी होकर अर्थात् मन-वचन-काय की दृढता के साथ सहन करें।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- जिस प्रकार मुनि लोग उपसर्ग और परीषहों को सहन करते हैं उसी प्रकार से सामायिक में बैठे हुए गृहस्थ लोग भी शीत की बाधा, गर्मी का कष्ट, डाँस-मच्छर के काटने आदि क्लेश एवं चेतन या अचेतन उपद्रवों को भी मौन पूर्वक निश्चल चित्त से सहते रहते हैं। सामायिक के अवसर पर कोई कितना भी कैसा भी उपद्रव क्यों न आये फिर भी वे अपनी सामायिक वृत्ति से विचलित नहीं हुआ करते अपितु वारिषेण सुदर्शन आदि की तरह। बड़ी से बड़ी विपत्ति से भी सहज ही शान्ति पूर्वक सहन करते रहना ही उनका कर्तव्य होता है।

सामायिक में विचारों की उत्कृष्टता

अशरण होकर अशुभ रहा है, सार नहीं दुःख क्षार रहा,
पर है परकृत तथा रहा है, क्षणभंगुर संसार रहा।
किन्तु शरण है शुभ है सुख है, स्वयं मोक्ष ध्रुव-सार रहा।
यह चिन्तन सामायिक काल में, करता वह भव पार रहा॥

अर्थ :- सामायिक के समय श्रावक को ऐसा विचार करना चाहिए कि जिस संसार में मैं रह रहा हूँ वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःखरूप है और मेरे आत्मस्वरूप से भिन्न है तथा मोक्ष इससे विपरीत स्वभाव वाला है, अर्थात् शरणरूप है शुद्धरूप है नित्य है, सुखमय है और आत्मस्वरूप है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- सामायिक के समय वे सोचते हैं कि जिस संसार में मैं

Y X Y

(326)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
निवास करता हूँ वह तो स्वभावतः ही अशरण और अशुभरूप ही है। अनित्य और दुःखमय है। मेरी आत्मा से बिल्कुल ही भिन्न रूप है। जबकि मोक्ष इससे ठीक विपरीत है यानि संसार से छूटना या इसके चक्कर करने वाले लोगों को आपत्ति और संपत्ति इन दोनों में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। ये दोनों ही अवस्थायें संसार की ही है जो कि शरीर के साथ सम्बन्ध रखती है। शरीर से भिन्न होने पर आत्मा पर इनका कोई भी असर नहीं हो सकता।

आत्मा तो आकाश के समान ही बिल्कुल अखण्ड और अमूर्त रूप है तब फिर उपसर्ग और परीषह इसके लिये क्यों कष्ट दे सकते हैं? ये उपसर्ग और परीषय क्या चीज हैं? इनके द्वारा जो कुछ भी बिगाड़ या सुधार अथवा अच्छाई / बुराई होती है वह सब इस जड़ शरीर की ही होती है क्योंकि यह शरीर संसार का प्रतीक है जिससे छूटना ही इस आत्मा के लिए अभीष्ट इत्यादि विचारों में निमग्न हो जाने के कारण उन महात्माओं के एवं उन गृहस्थों के शरीर, मन और वचन तीनों एक मय और अडिग अडोल रूप हो जाते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

मन-वचन-तन के योग तीन ये, पाप सहित जो बन जाना,
तथा अनादर होना- होना, सहसा विस्मृत अनजाना।
ये पाँचों सामायिक नाम के, शिक्षाव्रत के दोष रहे,
दोष रहित जिनदेव बताते, गुण-गण के जो कोष रहे॥

अर्थ :- इस सामायिक शिक्षाव्रत के ये पाँच अतिचार हैं- सामायिक करते समय वचन का दुरुपयोग करना, मन में संकल्प विकल्प करना, काय का हलन-चलन करना सामायिक में अनादर करना और सामायिक करना भूल जाना। इनको सामायिक करते समय नहीं करना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- सामायिकधारियों के अगर मन चंचल हो जाये, इधर का उधर चला जाये वचनों से कुछ का कुछ बोला जाता है अथवा शरीर इधर-उधर हिलता/डोलता है। अथवा सामायिक सम्बन्धी क्रियाओं का याद न रहे एवं उत्तरोत्तर इस क्रिया के पालने में उत्सुकता या उत्साह कम होता चला जाये तो ये सभी बातें उस सामायिक व्रतधारी की कमियाँ मानी जायेंगी। ऐसा जानना/ समझना चाहिए क्योंकि ये सब बातें उसे उस वास्तविक सामायिक के रहस्य से दूर रखती हैं। आंतरिक विचारों से सामायिक को अपनाने / पालन करते समय इन बातों का होना कदापि सम्भव नहीं है।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के लक्षण

Y X Y

Y X Y

सदा अष्टमी चतुर्दशी को, भोजन का बस त्याग करें,

अशन-पान को खाद्य-लेह्य को, याद करें ना राग करें।

यही “प्रोषध उपवासा” कहा है, व्रतीजनों का ज्ञाता रहे,

किन्तु मात्र व्रत पालन करना, सत्य प्रयोजन साथ रहे॥

अर्थ :- चतुर्दशी और अष्टमी के दिन सद्भावनाओं के साथ चारों प्रकार के आहारों के त्याग करने को प्रोषधोपवास जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- यहाँ पर्व नाम अष्टमी और चतुर्दशी तिथियों का समझना चाहिए। एक मास में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी होती हैं। अतएव एक महिने में चार दिन तो सहज से ही प्रोषधोपवास के दिन होते हैं।

इन अष्टमी और चतुर्दशी को ही पर्व मानने के ये भी कारण हो सकते हैं। जिसमें आत्मा / समय ख्याति में चौदह भुवन माने गये हैं अर्थात् सात राजू ऊपर एवं सात राजू नीचे की ओर प्रसिद्ध विद्यायें चौदह होती हैं, मार्गणायें एवं गुणस्थान भी चौदह हैं अतएव चतुर्दशी को तथा मातृका देवियों आठ होती हैं, वसुदेव भी आठ होते हैं इसलिये अष्टमी को ये दो दिन संभव हैं इसलिये परम्परा से पर्व के दिन के रूप में माने जाते हैं।

आत्मकल्याण की भावना को रखने वाले लोग / सदैव प्रोषधोपवास को करने की भावना रखते हैं/ क्रिया करते हैं। एक दिन में दो भोजन की बेलायें होती हैं। अतएव जिस दिन उपवास करना हो उसके दिन की दो और उसके पहिले दिन की एक एवं उससे बाद वाले दिन की एक, इस तरह चार बेलों के भोजन के त्याग को प्रोषधोपवास कहा जाता है। जैसे अष्टमी के दिन का उपवास करना है तो सप्तमी के रोज दिन के बारह बजे से पहिले भोजन करने के उपरान्त एक बेला, अष्टमी कहलाती है। इतना अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि मात्र आहार के त्याग का नाम ही उपवास नहीं है किन्तु आहार-त्याग के साथ ही गृहकार्य आदि आरम्भ सम्बन्धी कार्यों का भी त्याग होना चाहिए।

उपवास के दिन कौन से कार्य न करें

लोचन अंजन नासा रंजन दाँत न मंजन स्नान नहीं,

नस तमाखू अलंकार ना फूल-माल का मान नहीं।

अहि मसि कृषि आदिक षट्कर्मों पापों का परिहार करें,

निराहार उपवास दिनों में निज का ही श्रृंगार करें॥

अर्थ :- उपवास के दिन हिंसादिक पाँच पापों का अलंकार, आरम्भ, गन्ध पुष्प, स्नान, अंजन,

Y X Y

Y X Y
और सूंघनी आदि का परित्याग करें।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- वैसे तो प्रत्येक सद्गृहस्थ के पाँच पापों का त्याग / परित्याग होता ही है किन्तु उपवास के दिन विशेष रूप से इन पापों से बचना चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान रखे कि उस दिन पापों के अतिरिक्त आनुसांगिक कथायें भी उत्पन्न न हों। व्यापार कार्य, श्रृंगार भिन्न-भिन्न वेश-भूषायें, तेल-झ्र लगाना, फूल-माला आदि पहिनना, स्नान करना, आँखों में काजलादि आँजना, सूंघनी तम्बाकू आदि सूंघना इत्यादि पाप एवं हिंसा आरम्भ वर्धक कार्यों से भी बचना चाहिए। उपवास करने वाले के लिए दातौन-कुल्ले आदि भी करना वर्जित है।

उपवास करने वाले का कार्य

पूर्व चाव से निजी श्रवण से धर्माभूत का पान करें।

बने अन्य को पान कराते सहधर्मों का ध्यान करें।

ज्ञानाराधन द्वादशभावन धर्म-ध्यान में लीन रहें।

किन्तु व्रती उपवास दिनों से प्रमाद-भर से हीन रहें।

अर्थ :- उपवास करने वाले श्रावक को चाहिए वह तन्द्रा और आलस्य से रहित होकर उपवास करते हुए अति उत्कण्ठा के साथ धर्मरूप अमृत को दोनों कानों से पान करें और दूसरों को भी पिलायें तथा ज्ञान और ध्यान में तत्पर रहें।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- प्रोषध उपवास के दिन किसी भी एकान्त समुचित स्थान पर अपनी चटाई या आसन को बिछाकर के सोलह प्रहरों के लिए संतोष को धारण कर वहीं पर बैठे बैठे ही किसी धार्मिक ग्रन्थ का स्वाध्याय करता रहे अथवा कोई अन्य भाई स्वाध्याय करता हो तो स्वयं शांतिपूर्वक उसे सुने एवं सुनकर अनुमनन करें। स्वाध्याय के अतिरिक्त भिन्न समय में ध्यान में निमग्न होकर शुद्ध आत्मस्वरूप का चितवन करें। उससे उपयोग हटते ही पुनः स्वाध्याय में चिन्तन मनन में निमग्न होवे। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय इन दो कामों को करते रहकर अपने सोलह प्रहर (48 घण्टे) के समय को शांति पूर्वक यथासंभव मौन पूर्वक पूरा करें।

आलस्य और प्रमाद से दूर रहकर अपनी इन्द्रियों को और मन को अपने काबू में रखे तभी वास्तविक प्रोषधोपवास होता है। उपवास नाम ही इन्द्रियों और मन को वश में रखने का है। ध्यान रहे यह एक शिक्षाव्रत है जिसमें मुनीपने की शिक्षा मिलती है या यों कहें कि मुनीपन की प्राप्ति हेतु अभ्यास किया जाता है। आमतौर से परिग्रह से हटकर दुनियाँदारी की झंझटों से दूर रहकर ध्यान आदि करना ही

Y X Y

Y X Y
मुनि के कार्य हैं और वही एक प्रोषधोपवासी के भी होना चाहिए।

यदि कोई उपवास को धारण करके भी अपनी आरम्भ और परिग्रह की क्रियाओं को कम न करे प्रत्युत उसमें और ही अधिकता से जुट जाये तो जैसा कि अधिकांश देखने में भी आता है कि उपवास को ग्रहण करके दिल बहलाने के लिए, मनोरंजन करने के लिए ताश खेलना, सिनेमा देखना, गप्पे करना आदि क्रियाएँ अथवा कोई अन्य सांसारिक कार्यों को करके दिन बिताने की कोशिश करते हैं। तब ऐसा उपवास, उपवास न होकर लंघन कहलावे। जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में निम्न श्लोक में कहा भी है—

‘आत्मानमुपेत्य वसन्तीन्द्रियाणि स उपवास’— इस युक्ति के अनुसार आहार के त्याग के साथ ही साथ क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कथाओं का भी परिहार किया जाये। अपनी इन्द्रियों को अपने वश में किया जाये, उन्हें अपने अपने विषयों की तरफ दौड़ने से रोका जाये, उसे ही वास्तविक उपवास कहा जाता है। मात्र भोजन के त्याग को तो उपवास नहीं अपितु लंघन ही अर्थ हमारे पूज्य आचार्यों ने नीचे लिखे अनुसार किया है—

प्रोषधोपवास का लक्षण

अशन-पान का खाद्य-लेह्य का पूर्ण त्याग उपवास रहा,
एक बार ही भोजन करना ‘प्रोषध’ उसका नाम रहा।
तथा पारणा के दिन भोजन एक बार ही जो गहना,
रहा “प्रोषधा उपवासा” वह बार-बार गुरु का कहना॥

अर्थ :— चारों प्रकारके आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है और एक बार भोजन करने को प्रोषध कहते हैं। इस प्रकार एक अशन रूप प्रोषध के साथ उपवास करने को प्रोषधोपवास कहते हैं। इस प्रकार के प्रोषधोपवास को करके ही श्रावक गृहस्थी के आरम्भ को करता है। अर्थात् प्रोषधोपवास के काल में वह सर्व प्रकार के गृहारम्भ से रहित होकर रहता है।

विशदार्थ :— आचार्य भगवन् कहते हैं— “आहियन्ते भुज्यन्ते से पदार्थास्ते आहारः” खाने पीने योग्य चीजों का नाम आहार है न भुक्ति का या भोजन करने का / ऐसे आहार के चार भेद हैं जो कि खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय के चार भेद से चार प्रकार के हैं। जो चीज खायी जाये ऐसी चीजें जैसे रोटी, पूरी, हलुआ, लड्डू आदि का नाम खाद्य है। जिन चीजों को पेट भरने की दृष्टि से न खाई जाये अपितु स्वाद की दृष्टि से खाई/ चबाई जाये जैसे पान-सुपारी, मसाले इत्यादि ऐसी चीजों को स्वाद वाली

Y X Y

(330)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
समझना चाहिये। जो चीजें चाटी जाती है यानि चाटकर खायी जाती है जैसे रबड़ी, चटनी, चाकलेट, बरफ आदि को लेह्य और पीने के काम में आती हो ऐसी दूध, शरबत, पानी आदि को पेय समझना चाहिये।

जहाँ पर इन चारों प्रकार के आहारों का, खाने पीने की चीजों का परित्याग होता है, अर्थात् जहाँ पानी तक भी न पीया जाये उसको उपवास कहते हैं। परन्तु एक समय एवं एक ही स्थान पर जो कुछ भी खाया-पिया जाये उसका नाम प्रोषध है तथा पहिले दिन और अंत के दिन एकासन करते हुए बीच के दिन पूर्ण अनशन / उपवास किया जाये उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। एक पक्ष के एक अष्टमी और चतुर्दशी, इस प्रकार कम से कम दो प्रोषधोपवास करना एक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य माना जाता है। जैसा कि पूर्व में ही लिखा / कहा जा चुका है कि ऐसा प्रोषधोपवास करने से एक तो सात-आठ दिनों में संग्रहीत हुआ किसी भी प्रकार का अजीर्णांश समाप्त होकर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त होता है। दूसरे किसी भी एवं कभी भी आपत्ति विपत्ति के समय में उचित भोजन के न मिलने पर किसी भी तरह को बेचैनी/परेशानी न होकर सहिष्णुता प्राप्त होती है, चित्त की स्थिरता होती है। तीसरे घरेलू काम-धन्धों के कम हो जाने या नहीं करने के कारण धर्मारामन/आत्म चिंतवन के लिए विशेष समय प्राप्त हो जाता है एवं निराकुलता को प्राप्त होता है। अतः अन्य व्रतों की अपेक्षा से इस व्रत का अधिक महत्व है अत एव ऐसी विशेषताओं को याद रखकर हम लोगों को प्रसन्नतापूर्वक, उत्साह सहित प्रोषधोपवास करना चाहिए ताकि नीचे लिखी त्रुटियाँ / गलतियों न होने पायें-

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

देख-भाल बिन शोधे बिन ही पूजन-द्रव्यों को लेना,
जहाँ कहीं भी दरी-बिछाना मल-मूत्रों को तज देना।
तथा अनादर होना होना विस्मृति भी वह कभी-कभी,
दोष 'प्रोषधा-उपवासा' के हैं कहते हैं सुधी सभी॥

अर्थ :- इस प्रोषधोपवास व्रत के उल्लंघन करने वाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं- उपवास के दिन बिना-देखे-शोधे किसी वस्तु का ग्रहण करना। बिना देखे शोधे मल-मूत्रादिका उत्सर्ग करना बिना देखे शोधे बिस्तर वगैरह बिछाना, उपवास करने में आदन नहीं करना और उपवास करना भूल जाना। अतः उपवास के दिन धर्म साधन देख शोधकर आदर और उत्साह के साथ सावधानी से करें।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- स्वाध्याय करने के लिये शास्त्र आदिक बिना देखकर बिना शोधकर या घसीटकर ग्रहण किये जायें। लघुशंका-दीर्घशंका वगैरह की बाधा को मिटाते समय जीव-जन्तुओं की ओर विशेष दृष्टि किये बिना जहाँ-कहीं भी कर लेना, बिछाई के आसन चटाई आदि

Y X Y

Y X Y
को भी जहाँ तहाँ बिना देखे ही सीधे ही उठाना बिछाना, प्रोषधोपवास का काल अनुत्साहपूर्वक जैसे तैसे व्यतीत करना एवं उपवास के कारण अपनी आवश्यक क्रियाओं को याद न रखना, इत्यादि बातें प्रोषधोपवास के दूषण/अतिचार हैं। इनसे बचने के लिए हर एक प्रोषधोपवास को विशेष सावधानी पूर्वक चेष्टा करनी चाहिये।

वैयावृत्य (अतिथिसंविभाग) शिक्षाव्रत का लक्षण

तपोधनी हैं गुण के निधि हैं गृह-त्यागी संयम धर हैं,
उनको अन्नादिक देना यह “वैयावृत्या व्रतवर हैं।”
पर प्रतिफल की मन्त्र-तन्त्र की इच्छा बिन हो दान खरा,
यथाशक्ति से तथा यथाविधि धर्म-भाव पर ध्यान धरा॥

अर्थ :- गृह से रहित अर्थात् गृहत्यागी, गुणानिधान, तपोधन को अपना धर्म पालन करने के लिए उपचार (प्रतिदान) और उपकार की अपेक्षा से रहित होकर विधिपूर्वक अपने विभव के अनुसार दान देने का वैयावृत्त कहते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं- लोगों के ऊपर उपकार करने के लिए तन, मन और धन का अर्पण करना “दान” कहलाता है। दान वैयावृत्य, त्याग और अतिथि- संविभाग से सभी सामान्य तौर पर एकार्थ वाचक शब्द हैं। देना और लेना प्रायः मनुष्य मात्र का काम है। कोई भी मनुष्य क्यों न हो वह किसी को कुछ दिये और किसी से कुछ लिये बिना नहीं रहता, किन्तु देने देने में भेद/फर्क है।

एक व्यक्ति किसी को कुछ देता है। अगर वह “देना” किसी न किसी निजीस्वार्थ से वशीभूत होकर देता है तब वह देना सांसारिक प्रयोजन-कारक ही होता है। जैसे कि कोई सेठ/साहूकार अपने गुमास्ता नौकर चाकर को पारितोषिक / इनाम दिया जाता है। यदि वह दान इसलिये करता है कि जिससे वह खुश रहे और हमारा कार्य दिलचस्पी के साथ करे तो ऐसे दान को तामसदान या लौकिक दान समझना चाहिये क्योंकि इस दान का फल सिर्फ अपना / निजी काम निकालना है। यहीं तक ही उसका परिणाम सन्निहित है उसके आगे कुछ नहीं।

कभी कभी आदमी दूसरों की देखादेखी में अर्थात् हमारे साथ के मित्र लोग हमें बुरा न बतलायें इसलिये या मात्र मान-प्रशंसा लोभ / लालच के कारण देता है। जैसे कि राजा आदि चरणों या भाटों को इसलिये देते थे जिससे कि वे प्रसन्न होकर हमारे यश को भूमण्डल पर प्रकट करते रहें। ऐसे दान को राजदान कहते हैं और उसका भी फल प्रायः इन्हीं उद्देश्य तक सन्निहित रहता है। पर जो दान बिना किसी निजी स्वार्थ के या बिना किसी प्रकार की मान-बड़ाई के सिर्फ अपना कर्तव्य मानकर दिया जाता है वही वास्तविक दान है, जिसे सात्विक दान भी कहते हैं।

Y X Y

(332)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

सात्विक दान के चार भेद हैं— करुणादत्ति, समदत्ति, अन्वयदत्ति और पात्रदत्ति। किसी भी अंधे लूले, लंगड़े, दीन-दुःखी अपाहिज आदि जन को देखकर उसका कष्ट दूर होवे इस लिहाज से उसके योग्य भोजन-वस्त्रादिक को देना करुणादत्ति है। अपने साथी, मित्र-दोस्त, जातिभाई, साधर्मी जनों को उदारवृत्ति के साथ कुछ भी देना समदत्ति कहलाता है। खुद को शांति लाभ हो इस ख्याल को लेकर अपनी सम्पूर्ण जायजाद को अपने पुत्र या किसी भी योग्य पुरुष के अधीन कर देना या उन्हें सौंप देना की अन्वयदत्ति है और दुनिया में गुणों की कदर हो, लोग गुणवान बनें, इस विचार को लेकर गुणवान, सुशील, सदाचारी, त्यागी-तपस्वीजनों की सहायता करने का नाम पात्रदत्ति है।

इन चारों प्रकार की दत्तियों में पात्रदत्ति को छोड़कर बाकी के शेष तीनों दान तो सापेक्ष होते हैं क्योंकि हम आज जिस किसी गरीब, दुखी, दरिद्रजन को देखकर उसकी सहायता करते हैं कल वही हमसे भी अधिक हट्टा-कट्टा, तन्दुरुस्त, सबल होकर हमारी मदद करने लग जाता है। इसी भांति अन्वयदत्ति में भी हम जिसको भी अन्वयदत्ति के अन्तर्गत अपनी जायदाद-सम्पत्ति सौंपते हैं तब वही दृष्टि सर्वप्रथम रखते हैं कि वहाँ पर उसका अपव्यय /दुरुपयोग न हो, अपितु सदैव सदुपयोग हो। समदत्ति में तो सापेक्षता स्पष्ट सी है क्योंकि इसमें जो भी कार्य करते हैं वे ऐसे ही व्यक्तियों पर करते हैं जिनसे कि हम समय-समय पर उसका प्रतिफल लेते हों या ले सकते हैं। पर, पात्रदत्ति इनसे सर्वथा ही भिन्न है क्योंकि इसमें जो भी दानादि किया या दिया जाता है वह किसी भी प्रकार के बदले की प्रति उपकार की भावना के बिना ही किया जाता है। यह तो मात्र श्रद्धाबुद्धि से भक्तिपूर्वक ही दिया जाता है। अथवा दूसरी तरह यों भी कह सकते हैं कि उपर्युक्त तीनों ही तरह के दान जिन भी लोगों को दिये जाते हैं वे लोग अपने खाने-पीने आदि की आवश्यक चीजों को अपने आप ही किन्हीं उपायों से प्राप्त करने की योग्यता / पात्रता रखते हैं परन्तु आखिरी वाला दान प्रायः उन्हीं लोगों को दिया जाता है जो कि गृह के त्यागी होकर आरम्भ और परिग्रह से रहित हुआ करते हैं। अतः अपनी आवश्यक चीजों को अपने आप / स्वयं ही प्राप्त न कर सकने के कारण गृहस्थों से प्राप्त करने के योग्य होते हैं। अतएव दान शब्द के द्वारा दान कहे जाने के योग्य वास्तविक यही दान है और उसी को यहाँ पर लक्षित करके कहा गया है क्योंकि इस दान के बिना उक्त पात्रता रखने वाले त्यागीजन अपनी जीवन-यात्रा को निराकुलता से नहीं बिता सकते। अतः उन गृह-त्यागियों को दिया जाने वाला दान ही वास्तविक दान है जिसके करने का ध्यान गृहस्थों को अवश्य रखना चाहिये जो गृहस्थों का कर्तव्य है। अपने वित्त वैभव के अनुसार उसके द्वारा उन संयमीजनों की सेवा करना चाहिये। जिससे कि उनका संयम, उनकी साधना, ध्यान आदि सतत् वृद्धिगत हो सके।

वैयावृत्य का अन्य स्वरूप

Y X Y

Y X Y

संयमधर पर आया संकट उसे मिटाना कार्य रहा,

पैर थके हों पीड़ा हो तो उन्हें दबाना आर्य महा।

गुण के प्रति अनुराग जगा हो अन्य-अन्य उपकार सभी,

“वैयावृत्या” कहलाता है लाला है भवपार वही॥

अर्थ :- गुणानुराग से संयमी पुरुषों की आपत्तियों को दूर करना, उनके चरणों का मर्दन करना (दाबना) तथा इसी प्रकार की और भी जो उनकी सेवा- टहल या सार संभाल की जाती है वह सब वैयावृत्य है।

विशदार्थ :- “सम्यक् प्रकारेण यमनं इन्द्रिय-मनसां दमनं वशीकरणं येषामस्ति इति ते संयमिनः” अर्थात् अपनी इन्द्रियों और मन के ऊपर अधिकार रखने वाले संयमीजनों के गुणों के प्रति अनुराग रखते हुए उन्हें आदर्श मानकर उनके कर्तव्य-मार्ग में सहायक बनना, उन पर आयी हुई किसी भी प्रकार की आपत्ति/विपत्ति को दूर करने की हटाने की चेष्टा करना उनके शरीर में आयी हुई थकावट को हटाने के लिए उनकी (पगचम्पी) पैर दबाना, इत्यादि के नाम वैयावृत्य हैं। तात्पर्य यह है कि सेवाभाव से बंदगी करने को वैयावृत्य कहते हैं। यह गृहस्थ-मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

अपने तन, मन और धन को जनता के हित के लिये परित्याग करके अपनी योग-साधना में तल्लीन होना ही संयमीजन का कार्य है। जब संयमीजन अपनी योग-साधना करे अपनी आत्मोन्नति हेतु सतत प्रयत्नशील रहते हैं तो गृहस्थ लोग उनकी सेवा-सुश्रुषा करके ही अपना भला मान लेते हैं। साधारणरूप से ऐसे लोग तीन तरह के होते हैं एक तो ऐसे लोग जो किसी भी प्रकार के स्वार्थ को ध्यान में रखकर इन्द्रियों का दमन करते हैं। मान-बड़ाई, पूज्यता, ख्याति बगुले / नदी के किनारे निश्चल खड़े रहते हैं। किन्तु उसका प्रयोजन मात्र यह रहता है कि कोई भी मछली दृष्टि में आये और वह उसे चट से साफ करें हड़प जाये, खा जाये। उसी प्रकार जो लोग दम्भवृत्ति से संयम धारण करते हैं वे अपात्र कहलाते हैं। ऐसे लोगों की सेवा करके गृहस्थजन लाभ के बदले में नुकसान भी उठा सकते हैं। अतः ऐसे लोगों से सचेत रहने की आवश्यकता होती है।

कितने ही संयमी ऐसे होते हैं जो अपनी प्रभुता या हिम्मत के बल पर ही उन अनुचित कार्यों से बचते रहते हैं। जैसे कि वन का केसरी सिंह भले ही अनेक दिनों का भूखा क्यों न हो लेकिन वह फिर भी किसी अन्य के द्वारा किये हुए शिकार को नहीं खाया करता, अपितु वह सब खाना अनुचित समझता है। उसी प्रकार से हम यदि चोरी, चुगलखोरी इत्यादि करेंगे तो लोगों की दृष्टि में नजरों में गिर जायेंगे। ऐसा सोचकर जो भले बुरे कामों से बचते रहते हैं और उनसे बचते हुए अपने आपको प्रभावशाली समझते हैं

Y X Y

(334)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
तथा जो दोषों को आत्मपतन कारण जानकर आत्मोन्नति हेतु पापों का त्याग करते हैं, उन्हें सुपात्र समझना चाहिए।

जैसे मरम्मत कराये हुए बर्तन का कार्य तो निकलता है किन्तु वह बिना टूटे-फूटे यानि नवीन/नूतन बर्तन की भांति प्रशंसा के योग्य नहीं होता है वैसे ही उपर्युक्त लोगों की सेवा आदि करने से बचकर भले ही अच्छे कार्यों को करने में प्रस्तुत होने लगेंगे, परन्तु फिर भी कमी इस बात की बनी रहेगी कि हम उन विश्वकल्याणकारिणी सरलता/सहजता के दर्शनों से वंचित ही रहेंगे। ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम होती है जो कि सांसारिक विषय-भोगों को वस्तुतः हेय मानकर कभी भी, किसी भी हालत में उन्हें स्वीकार नहीं करते। इन विषयों में उन्हीं किसी भी तरह की रस-प्रतीति नहीं होती बल्कि उनके प्रति नीरसता मालूम होती है। जैसे कि किसी कबूतर को कितनी भी भूख क्यों न सता रही हो तो भी वह कभी भी मांस, जीव-जन्तु आदि का भक्षण नहीं करता बल्कि बिना घुने हुए अनाज को ही खाया करता है, वैसे ही सहज, सात्विक जीवन व्यतीत करने वाले संयमीजनों को ही सत्पात्र या प्रशंसा योग्य त्यागीजन कहते हैं। जो जितना अधिक गुणवान हो, जितना ही इन्द्रिय विजयी हो उनके प्रति उतना ही अधिक अनुराग रखकर उनकी सेवा/टहल/वैयावृत्त करना गृहस्थ लोगों का कर्तव्य है।

इस सेवा धर्म के द्वारा गृहस्थ मनुष्य को आनन्द प्राप्त कर लेता है वह इन्द्र महेन्द्र आदि को भी दुर्लभ होता है। योगीजन अपने योग्य धर्म के द्वारा अपने ही कर्मों को जीतकर अपने आप ही बैकुण्ठ-धाम/स्वर्ग या मुक्ति को प्राप्त होते हैं परन्तु यह ध्यान रहे कि यह महिमाकारक स्थान उन्हें गृहस्थों के द्व I I र I सम्पन्न होने वाले सेवाधर्म का प्रतिफल है। वे गृहस्थ-सेवा आदि करके अपने आपका और साथ ही साथ विश्व के लिए भी भलाई का कार्य करते हैं। तात्पर्य यह है कि इस सेवा धर्म की महिमा अपरम्पार है, अगम है, अकथ्य है जो कि किसी कवि की युक्ति से भी स्पष्ट है कि - “सेवाधर्मो परमगहनो योगिनाप्यगम्यः” अस्तु।

॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार ‘मानवधर्म’ से साभार॥

तीसरी सामायिक प्रतिमा का वर्णन

एवं बारसभेयं वयठाणं वणिण्यं मए विदियं।

सामाइयं तइज्जं ठाणं संखेवओ वोच्छं॥161॥

इस प्रकार द्वितिय प्रतिमा में, बारह व्रत का किया कथन।

करते अब संक्षेप में कोई, सामायिक का भी वर्णन॥161॥

Y X Y

अन्वयार्थ :- (एवं मए) इस प्रकार मेरे ॥वसुनन्दि आचार्य के॥ द्वारा (विदियं वयठाणं)

Y X Y

(336)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
प्रकार के स्थावर जीवों की हिंसा से वह विरक्ति नहीं ले पाता लेकिन त्रस हिंसा से वह विरक्ति ले लेता है। यदि दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय आदि जीवों की हिंसा का त्याग है तो वह व्रती हो गया। उसने भी बहुत बड़ी हिंसा का त्याग किया है इसलिए आचार्य भगवन् कहते हैं कि जिस समय से यह जीव व्रत ग्रहण कर लेता है उसी समय से उसकी आत्मा में लगे हुए कर्म असंख्यात गुणी निर्जरा हो प्राप्त होते रहते हैं। ऐसी
अ स र य त
गुणी कर्म निर्जरा केवल व्रत ग्रहण करने से ही होती है। अन्य किसी कारण से कर्म निर्जरा संभव नहीं है। हमारे पूजन करने से संकल्प रखने से वह निर्जरा जो पहले हो रही थी उसमें थोड़ी सी वृद्धि हो जाती है। जिन्होंने संकल्पपूर्वक जीवन पर्यंत के लिए व्रत लिया है उनकी ही असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है। यदि गृहस्थ ने यह व्रत लिया और उसके बाद भी वह दैनिक कार्यों को करता है, दुकान चलाता है, सर्विस करता है तो भी उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। व्रत लेने के बाद भी वह भोजन कर रहा है तो भी उसकी निर्जरा असंख्यात गुणी हो रही है क्योंकि उसने जीवन पर्यंत के लिए व्रतों को स्वीकार किया है। जब कभी भी व्रत लिये जाते हैं तो जीवन पर्यंत के लिये ही लिये जाते हैं न कि थोड़े से समय के लिए। जैन दर्शन में दो पाँच साल के लिये न तो कोई श्रावक व्रत लेता है और न ही मुनिराज स्वयं लेते हैं। वह तो प्राण जाय पर वचन न जाये के सिद्धांत पर अटल रहकर अपने व्रतों का पालन करते हैं। जब कभी श्रावक अथवा मुनिराज के सामने विकट परिस्थिति आ जाती है तो उस समय कर्म का उदय समझकर स्वयं को सम्हालने की कोशिश करना चाहिए ना कि उनकी हँसी उड़ाना चाहिए। जो दूसरों की मजाक उड़ाता है, कालांतर में उसकी भी मजाक उड़ाई जाती है और ऐसा कर्म का बंध होता है जिनकी हम कभी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

होऊण सुई चेइयगिहम्मि, सगिहे व चेइयाहिमुहो।

अण्णत्थ सुइपएसे, पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा॥162॥

जिणवयणधम्मचेइय, परमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।

जं वंदणं तियाल, करेइ सामाइयं तं खु जुगवं॥163॥

जिनगृह में या निजगृह में ही, प्रतिमा के सम्मुख हो शुद्ध।

पूरव या उत्तराभिमुख होकर, अन्य स्थान जो होय विशुद्ध॥162॥

परमेष्ठी जिनधर्म जिनागम, चैत्य जिनालय की जो नित्य।

Y X Y

Y X Y
निश्चय से त्रय काल वन्दना, सामायिक के हैं अश्रित्य॥163॥

अन्वयार्थ :- (सुई होऊण) शुचि होकर अर्थात् शुद्ध होकर (चेइयगिहम्मि) चैत्यालय में (व) अथवा (सगिहे) अपने घर में / गृह चैत्यालय में (चेइयाहिमुहो) प्रतिमा के सम्मुख होकर (अण्णत्थ) अन्यत्र (सुइपए से) पवित्र स्थानों में (पुव्वमुहो) पूर्वाभिमुख (वा) या (उत्तरमुहो) उत्तराभिमुख होकर—

अन्वयार्थ :- (जिणवयण) जिनवाणी (जिणधम्म) जिनधर्म (जिणचेइय) जिनबिम्ब (परमेट्ठि) पंचपरमेष्टि और (जिणालयाण) कृत्रिम – अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की (जं णिच्चं पि) जो नित्य ही (तियालं) त्रिकाल (वंदणं) वंदना (करेइ) करता है (तं खु) वह निश्चय से (सामाइयं) सामायिक नाम का तीसरा प्रतिमा स्थान है।

अर्थ :- शुचि होकर अर्थात् शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सम्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थानों में पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर – एवं

अर्थ :- जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब पंचपरमेष्टि और कृत्रिम-अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की जो नित्य त्रिकाल वंदना करता है, वह निश्चय से सामायिक नाम का तीसरा प्रतिमा स्थान है।

विशदार्थ :- परम पूज्य समता शिरोमणी वात्सल्य दिवाकर आचार्य भगवन् कहते हैं। हम सभी ने प्रथम और द्वितीय प्रतिमा के स्वरूप को समझा अब तृतीय प्रतिमा के स्वरूप को समझने का प्रयास करते हैं। तीसरी प्रतिमा का नाम है सामायिक प्रतिमा। सामान्य भाषा में सामायिक का अर्थ समताभाव अर्थात् अपने स्वभाव में आ जाना, अपने आपको पा लेना। जब कुछ पाना है तो उसे तुम भीतर से प्राप्त करो। अंतरंग से प्राप्त स्वरूप को तभी पा सकते हैं जब सामायिक करनी आती हो। हम जब सामान्य परिस्थिति में सामायिक कर सकते हैं तो विपरीत परिस्थिति में भी सामायिक कर सकते हैं। सामायिक अपने आप में व्यापक व एकाग्र करने वाली है। सामायिक यानी समता भाव। जहाँ पर स्थिति विपरीत हो या सही किसी भी प्रकार की स्थिति क्यों ना हो समता पूर्वक सब कुछ सहन करने का नाम ही सामायिक है। आचार्य भगवन् कहते हैं, दूसरी प्रतिमा वालों को दो बार की सामायिक जरूरी है किन्तु सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक को तीन बार की सामायिक आवश्यक है। वह चारों दिशाओं की वंदना करके संकल्पपूर्वक 48 मिनट तक आरंभ परिग्रह का त्याग करके सामायिक करता है। इसके लिए वह शुद्धि पूर्वक चैत्यालय में या घर, गृह चैत्यालय में या अन्य स्थान पर जहाँ शोरगुल ना हो रहा हो। जिनेन्द्र भगवान के समक्ष या गुरु के निकट जाकर पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके सामायिक करता है। सामायिक करते समय उसके मन में बस यही भावना होती है कि हे प्रभु! मेरा वह दिन कब आये जब

Y X Y

(338)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
मुनिव्रत अंगीकार करके समताधारी बन सकूंगा। सामायिक में बारह भावना, वैराग्य भावना, तीर्थ क्षेत्र, सिद्ध क्षेत्र आदि धार्मिक चीजों का चिंतन करता है जिससे कि हमारा मन यत्रतत्र ना भटके। मन को रोकने के लिए कोई न कोई आलंबन तो अवश्य ही लेना पड़ेगा। सामायिक में हो या अन्य समय में सभी समय में अपने परिणामों को संभाले और अच्छा-अच्छा सोचने की कोशिश करें। अपने बारे में ही या दूसरों के बारे में अच्छा ही सोचें। कहा भी है-

सुखी रहें सब जीव जगत के, कोई कभी ना घबरावें।

बैर पाप अभिमान छोड़, जग नित्य नये मंगल गावे॥

काउस्सगम्हि ठिओ, लाहालाहं च सत्तुमित्तं च।

संजोयविप्पजोय, तिण कंचण चंदणं वासिं॥164॥

जो पस्सइ समभावं मणम्मि धरिऊण पंच णवयारं।

वर अट्ठपाडिहारेहिं संजुयं जिणसरूवं च॥165॥

सिद्धसरूवं झायइ, अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं।

खणमेक्कमविलंगो, उत्तमसामाइयं तस्स॥166॥

कायोत्सर्ग में स्थित होकर, शत्रु-मित्र या लाभालाभ।

इष्ट वियोग अनिष्ट योग को, चंदनवासि या तृण स्वर्णाभि॥164॥

जो समभाव से देखे मन में, पंच नमस्कार मंत्र को धार।

श्रेष्ठ अष्ट प्रातिहार्यो संयुत, जिन स्वरूप को भली प्रकार॥165॥

सिद्धों के स्वरूप को अथवा, हो संवेग सहित गुणवान।

निश्चय से लागे क्षणभर को, भी ध्यानी सामायिक वान॥166॥

अन्वयार्थ :- (काउस्सगम्हि ठिओ) कायोत्सर्ग में स्थित होकर (लाहालाहं च) लाभ और अलाभ को (सत्तुमित्तं च) शत्रु और मित्र को (संजोय विप्पजोयं) अनिष्ट संयोग तथा इष्ट वियोग को (तिणकंचण) तिनका और स्वर्ण को (चंदणं वासिं) चंदन और वसूला को-

अन्वयार्थ :- (जो समभावं पस्सइ) जो समभाव को देखता है (च) और (मणम्मि) मन में (पंचणवयारं धरिऊण) पंच नमस्कार मंत्र को धारण कर (वरअट्ठपाडिहारेहिं) श्रेष्ठ अष्टप्रातिहार्यो से (संजुयं) सहित (जिणसरूवं) अर्हंत भगवान के स्वरूप को (च) और-

Y X Y

Y X Y

अन्वयार्थ :- (सिद्धसरूवं) सिद्ध भगवान के स्वरूप को (अहवा) अथवा (ससंवेयं) संवेग सहित (अविचलंगो) निश्चल अंग होकर (खणमेक्कं) एक क्षण को भी (झाणुत्तमं झायइ) उत्तम ध्यान करता है (तस्स) उसके (उत्तमसामाइयं) उत्तम सामायिक होती है।

अर्थ :- कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ और अलाभ को, शत्रु और मित्र को, अनिष्ट संयोग एवं इष्ट वियोग को, तिनका और स्वर्ण को चंदन और वसूला को-

अर्थ :- जो समभाव से देखता है और मन में पंच नमस्कार मंत्र को धारण कर श्रेष्ठ अष्ट प्रातिहार्यों से सहित अर्हत भगवान के स्वरूप को और-

अर्थ :- सिद्ध भगवान के स्वरूप को अथवा संवेग सहित निश्चल अंग होकर एक क्षण को भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं

जीविय मरणे लाहालाहे, संजोग विप्पजोगेय।

बंधुरिय सुह दुक्खादो, समदा सामाङ्गिं णाम॥

अर्थात् जीवन में, मरण में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, मित्र में, शत्रु में, सुख में, दुख सभी स्थिति में समता भाव धारण करता है। सामायिक धारी कायोत्सर्ग में स्थित होकर अर्थात् शरीर से ममत्वभाव से रहित होकर लाभ अलाभ में, सुख-दुख में, शत्रु-मित्र में, अनिष्ट संयोग एवं इष्ट वियोग को, काँच और सुवर्ण को, चंदन और बबूल को जो समता भाव से देखता है एवं मन में णमोकार मंत्र का निरंतर स्मरण करता है और अष्ट प्रातिहार्यों से (अशोक वृक्ष, सिंहासन, छत्र, भामंडल, दिव्यध्वनि, दुंदुभि, चँवर, पुष्पवृष्टि) सहित होकर अर्हत भगवान जिन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया जिन्होंने 46 मूलगुणों को प्राप्त किया है।

सिद्ध परमेष्ठी जिन्होंने अष्ट कर्मों अर्थात् संपूर्ण कर्मों को नष्ट कर दिया है और लोकाग्र शिखर में विराजमान हैं विशद सुख को प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का जो ध्यान करता है संवेग अर्थात् संसार शरीर भोगों से विरक्ति की भावना होना इस प्रकार की भावना धारण करके जो भव्य जीव एक पल को भी उत्तम ध्यान करता है उसके उत्तम सामायिक होती है। इस प्रकार सामयिक का कथन पूर्ण हुआ।

प्रोषध विधि नाम का चौथा प्रतिमा स्थान का वर्णन

एवं तइयं ठाणं, भणियं सामाइयं समासेण।

Y X Y

(340)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
पोसहविहिं चउत्थं, ठाणं एत्तो पवक्खामि॥167॥

इस प्रकार संक्षेप में तृतीय, सामायिक का किया कथन।

आगे चौथी प्रोषध प्रतिमा, का भी करते हैं वर्णन॥167॥

अन्वयार्थ :- (एवं) इस प्रकार (सामाइयं तइयं) सामायिक नाम का तीसरा (ठाणं) प्रतिमा स्थान (समासेण) संक्षेप से (भणियं) कहा। (एत्तो) अब इसके आगे (पोसहविहिं) प्रोषध विधि नाम के (चउत्थं ठाणं) चौथे प्रतिमा स्थान को (पवक्खामि) कहता हूँ।

अर्थ :- इस प्रकार सामायिक नाम का तीसरा प्रतिमा स्थान संक्षेप से कहा; अब इसके आगे प्रोषध विधि नाम के चौथे प्रतिमा स्थान को कहता हूँ।

उत्तम मज्झ जहण्णं, तिविहं पोसह विहाण मुदिट्ठं।

सगसत्तीए मासम्मि, चउस्सु पव्वेसु कायव्वं॥168॥

उत्तम मध्यम जघन्य भेद त्रय, प्रोषध व्रत का किया कथन।

निज शक्ती अनुसार माह के, चार पर्व में करें यतन॥168॥

अन्वयार्थ :- (उत्तम मज्झ जहण्णं) उत्तम-मध्यम और जघन्य के भेद से (तिविहं) तीन प्रकार का (पोसहविहाणमुदिट्ठं) प्रोषध विधान कहा गया है। यह श्रावक को (सगसत्तीए) अपनी शक्ति अनुसार (मासम्मि चउस्सु पव्वेसु) एक माह के चारों पर्वों में (कायव्वं) करना चाहिए।

अर्थ :- उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का प्रोषध विधान कहा गया है। यह श्रावक को अपनी शक्ति अनुसार एक माह के चारों पर्वों में करना चाहिए।

सत्तमि तेरसि दिवसम्मि, अतिहिजन भोयणा वसाणम्मि।

भोत्तूण भुंजणिज्जं, तत्थ वि काऊण मुहसुद्धिं॥169॥

सातें और त्रयोदशि के दिन, अतिथियों के भोजनोपरान्त।

भोज्य वस्तुओं का भोजन कर, मुख शुद्धी करके उपरान्त॥169॥

अन्वयार्थ :- (सत्तमि तेरसि दिवसम्मि) सप्तमी और त्रयोदशी के दिन (अतिहिजन भोयणावसाणम्मि) अतिथिजनों के भोजन के अन्त में स्वयं (भोत्तूण भुंजणिज्जं) भोज्य वस्तुओं का भोजन कर (तत्थ वि) वहीं पर (मुह सुद्धिं काऊण) मुख शुद्धि करके-

अर्थ :- सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथिजनों के भोजन के अन्त में स्वयं भोज्य वस्तुओं का भोजन कर वहीं पर आसपास में मुख शुद्धि करके-

Y X Y

Y X Y
अगली गाथा के साथ पढ़ें-

पक्खालिऊण वयणं, करचरणं णियमिऊण तत्थेव।

पच्छा जिणिंदभवणं, गंतूण जिणं णमंसित्ता॥170॥

हाथ पैर मुख धोय वहीं पर, करें नियम लेकर उपवास।

फिर जिन मंदिर में जाकर के, नमन करें जिनवर के पास॥170॥

अन्वयार्थ :- (वयणं करचरणं) मुख और हाथ-पैर (पक्खालिऊण) धोकर (तत्थेव) वहीं पर ही (णियमिऊण) उपवास सम्बन्धी नियम करके (पच्छा) पश्चात् (जिणिंदभवणं) जिन मन्दिर (गंतूण) जाकर (जिणं णमंसित्ता) जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके-

अर्थ :- मुख और हाथ-पैर धोकर वहीं पर ही उपवास सम्बन्धी नियम करके, पश्चात् जिन मन्दिर को जाकर जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

गुरुपुरओ किदियम्मं, वंदणपुव्वं कमेण काऊण।

गुरुसक्खियमुववासं, गहिऊण चउव्विहं विहिणा॥171॥

गुरु पद वन्दन करके क्रमशः, गुरु साक्षी में कर कृतिकर्म।

चउ प्रकार आहार सुविधि से, तज उपवास करें सद्धर्म॥171॥

अन्वयार्थ :- (गुरुपुरओ) गुरु के सामने (वंदणपुव्वं) वंदना पूर्वक (कमेण) क्रमशः (किदियम्मं) कृतिकर्म को (काऊण) करके (गुरुसक्खियं) गुरु की साक्षी में (विहिणा) विधिपूर्वक (चउव्विहं) चारों प्रकार के आहार के त्याग रूप (उववासं गहिऊण) उपवास को ग्रहण कर-

अर्थ :- गुरु के सामने वंदनापूर्वक क्रमशः कृतिकर्म को करके गुरु की साक्षी में विधिपूर्वक चारों प्रकार के आहार के त्याग रूप उपवास को ग्रहण कर-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण चिंतणोवओगेहिं।

णेऊण दिवससेसं, अवराण्हियवंदणं किच्चा॥172॥

शास्त्र श्रवण अनुप्रेक्षा चिन्तन, धर्म कथादि पठन पाठन।

Y X Y

(342)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
में उपयोग के द्वारा दिन को, समय बिताए कर वन्दन॥172॥

अन्वयार्थ :- (वायणकहाणुपेहण सिक्खावण चिंतणो व ओगेहिं) शास्त्र वाचन, धर्म कथा श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा चिंतन, पठन-पाठन आदि के उपयोग द्वारा (दिवससेसं णेऊण) शेष दिन को व्यतीत करके (अवराण्हियवंदणं) आपराह्निक वंदना (किच्चा) करके-

अर्थ :- शास्त्र वाचन, धर्म कथा श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा चिंतन, पठन-पाठन आदि के उपयोग द्वारा शेष दिन को व्यतीत करके आपराह्निक वंदना करके-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

रयणि समयम्हि ठिच्चा, काउस्सग्गेण णिङ्ग सत्तीए।

पडिलेहिऊण भूमिं, अप्पपमाणेण संथारं॥173॥

रात्री में निज शक्ती पूर्वक, कायोत्सर्ग में स्थित होय।

भूमि का प्रतिलेखन करके, देह बराबर बिस्तर सोय॥173॥

अन्वयार्थ :- (रयणि समयम्हि) रात्रि के समय में (णिङ्ग सत्तीए) अपनी शक्ति के अनुसार (काउस्सग्गेण) कायोत्सर्ग से (ठिच्चा) स्थित होकर (भूमि) भूमि का (पडिलेहिऊण) प्रतिलेखन करके (जमीन को शोधकर) (अप्पपमाणेण) अपने शरीर के बराबर (संथारं) बिस्तर-

अर्थ :- रात्रि के समय में अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग से स्थित होकर भूमि को प्रतिलेखन करके अपने शरीर के बराबर बिस्तर-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

दाऊण किंचि रत्तिं, सइऊण जिणालए णियधरे वा।

अहवा सयलं रत्तिं, काउस्सग्गेण णेऊण॥174॥

यत्नपूर्वक लगा रात्रि में, कुछ समयों तक अपने गेह।

अथवा पूर्व रात्रि में जिनगृह, में सो कायोत्सर्ग करेय॥174॥

अन्वयार्थ :- (दाऊण) लगाकर (किंचिरत्तिं) कुछ रात्रि तक (णियधरे) अपने घर में (वा) अथवा (जिणालए) जिनालय में (सइऊण) सोकर (अहवा) अथवा (सयलं रत्तिं) सम्पूर्ण रात्रि (काउस्सग्गेण णेऊण) कायोत्सर्ग से बिताकर-

अर्थ :- लगाकर रात्रि में कुछ समय तक अपने घर में अथवा जिनालय में सोकर अथवा संपूर्ण

Y X Y

Y X Y
रात्रि में कायोत्सर्ग से बिताकर-

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् प्रोषधोपवास चौथी प्रतिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं एक माह में चार पर्व होते हैं दो अष्टमी और दो चतुर्दशी। उसके उत्तम, मध्यम जघन्य के भेद से तीन प्रकार का प्रोषध का कथन है सप्तमी और नवमी का एकाशन और अष्टमी का उपवास ऐसे ही तेरस और पूर्णिमा का एकाशन चौदह का उपवास करना।

सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथियों के भोजन के अंत में स्वयं भोज्य वस्तुओं का भोजन कर वहीं पर आस-पास में मुख शुद्धि करके मुख और हाथ पैर धोकर वहीं पर ही उपवास संबंधी नियम करके पश्चात् मंदिर में जाकर जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके, गुरु के सामने वंदना पूर्वक क्रमशः कृतिकर्म को करके गुरु की साक्षी में विधिपूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास ग्रहण करता है। उपवास के दिन शास्त्र स्वाध्याय, धर्मकथा श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा चिंतन, पठन-पाठन आदि के उपयोग द्वारा शेष दिन को व्यतीत करता है। अपराह्निक वंदना करके रात्रि के समय में अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग से स्थित होकर पृथ्वी को परिमार्जन करके शरीर के बराबर संस्तर अर्थात् बिस्तर चटाई आदि लगाकर रात्रि में कुछ समय तक घर में अथवा मंदिर, धर्मशाला में सोकर अथवा संपूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग से व्यतीत करता है।

पचूसे उट्ठिता, वंदन विहिणा जिणं णमंसित्ता।

तह दव्व-भावपुज्जं, जिण-सुय-सुय-साहूण काऊण॥175॥

प्रातः उठकर वन्दन विधि से, जिन चरणों में करे नमन।

अष्ट द्रव्य से देवशास्त्र गुरु, की शुभ करे नित्य पूजन॥175॥

अन्वयार्थ :- (पचूसे) प्रातःकाल में (उट्ठिता) उठकर (वंदन विहिणा) वंदना विधि से (जिणं णमंसित्ता) जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके (तह) तथा (जिण-सुय-साहूण) देव-शास्त्र-गुरु की (दव्व-भाव पुज्जं) द्रव्य-भाव पूजा (काऊण) करके-

अर्थ :- प्रातःकाल में उठकर वंदना विधि से जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके तथा देव-शास्त्र-गुरु की द्रव्य भाव पूजा करके-

विशदार्थ :- अष्ट द्रव्यों से अथवा वचनों के द्वारा जो पूजा की जाती है, उसे कायिक पूजा कहते हैं। हमारे द्वारा जिस भी रीति से पूजा की जाती है वह सभी कायिक पूजा होती है; कायिक पूजा के क्षणों में जब भी भाव जिनेन्द्र प्रभु में स्थिर हो जाते हैं वह क्षण ही भाव पूजा कहलाता है।

Y X Y

(344)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
अगली गाथा के साथ पढ़ें-

उत्तविहाणेण तहादियहं, रत्तिं पुणो वि गमिऊण।

पारणादिवसम्मि पुणो, पूयं काऊण पुव्वं व॥176॥

पूर्वोक्त विधि से उसी तरह से, दिन अरु रात बिताकर भ्रात।

पारणा के दिन पुनः पूर्व के, जैसे पूजा करके प्रात॥176॥

अन्वयार्थ :- (उत्तविहाणेण) पूर्वोक्त विधि से (तहा) उसी तरह (पुणो वि) फिर भी (दियहं रत्तिं) दिन रात को (गमिऊण) बिताकर (पारणा दिवसम्मि पुणो) पारणा के दिन पुनः (पुव्वं व) पूर्व की तरह (पूयं काऊण) जिन पूजा करके-

अर्थ :- पूर्वोक्त विधि से उसी तरह दिन रात को बिताकर पारणा के दिन पुनः पूर्व की तरह पूजा करके-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

गंतूण णिङ्गोहं, अतिहिविभागं चउ तत्थ काऊण।

जो भुंजइ तस्स फुडं, पोसहविहि उत्तमं होति॥177॥

अपने घर में जाए वहाँ पर, अतिथि संविभाग करके भोजन।

करते जो उनके होता है, प्रोषधोपवास सुविधि पालन॥177॥

अन्वयार्थ :- (णिङ्गोहं गंतूण) अपने घर जाकर (तत्थ च) और वहाँ (अतिहिविभागं) अतिथि संविभाग करके (जो भुंजइ) जो भोजन करता है (तस्स) उसके (फुडं) स्पष्ट रूप से (उत्तमं पोसहविहि) उत्तम प्रोषधविधि (होति) होती है।

अर्थ :- अपने घर जाकर और वहाँ अतिथि संविभाग कर जो भोजन करता है, उसके स्पष्ट रूप से उत्तम प्रोषधविधि होती है।

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

जह उक्कस्सं तह, मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।

णवरविसेसो सलिलं, छंडित्ता वज्जए सेसं॥178॥

ज्यों उत्कृष्ट प्रोषध विधान है, त्यों मध्यम भी रहा महान।

यह विशेष है जल के अलावा, त्यागे सारा भोजनपान॥178॥

अन्वयार्थ :- (जह उक्कस्सं) जैसे उत्कृष्ट (पोसह विहाण मुद्दिट्ठं) प्रोषध विधान कहा

Y X Y

Y X Y
 (तह) उसी तरह (मज्झिम वि) मध्यम भी है: (णवर) केवल (विसेसो) विशेषता यह है कि
 (सलिलं छंडिता) जल को छोड़कर (सेसं वज्जए) शेष सब प्रकार के भोजन का त्याग करता है।

अर्थ :- जैसे उत्कृष्ट प्रोषध विधान कहा उसी तरह मध्यम भी है: केवल विशेषता यह है, कि जल को छोड़कर शेष सब प्रकार के भोजन का त्याग करता है-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

मुणिऊण गुरुवज्जं, सावज्जविवज्जियं णियारंभं।

जइ कुणइ तं पि कुज्जा, सेसं पुव्वं व णायव्वं॥179॥

गृहारम्भीसावद्य रहित हो, करे सुगुरु का कार्य विशेष।

अन्य कार्य सब कहा पूर्ववत्, इसके अलावा है जो शेष॥179॥

अन्वयार्थ :- (सावज्जविवज्जियं) सावद्य से॥पाप से॥ रहित (णियारंभं) निजी आरम्भ से रहित (गुरुवकज्जं मुणिऊण) गुरु कार्य को जानकर (जइ कुणइ) यदि करता है (तं पि कुज्जा) तो उसको भी कर सकता है। (सेसं) शेष (पुव्वं व) पूर्व की तरह (णायव्वं) जानना चाहिए।

अर्थ :- गुरु के जरूरी कार्य को समझकर सावद्य रहित अपने गृह आरम्भ को यदि करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है किन्तु शेष विधान पूर्व के समान ही जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं अपनी दैनिक क्रियाओं से मुक्त होकर पूर्वोक्त विधि से उसी तरह रात-दिन को व्यतीत करके पारणा के दिन भी पुनः पूर्व की तरह पूजा करके षट् आवश्यक कर्तव्यों का पालन करता है। यदि नगर में चतुर्विध संघ में से कोई भी विराजमान हो तो अपनी शक्ति अनुसार आहार दान करता है पश्चात् स्वयं भोजन करता है अर्थात् अतिथि संविभाग व्रत का पालन करता है। उसी जीव को उत्तम प्रोषध विधि होती है। जिस प्रकार से उत्कृष्ट विधान कहा गया है

वैसा ही मध्यम विधान है केवल इतनी विशेषता है कि जल को छोड़कर शेष सब प्रकार के भोजन का त्याग करता है।

गुरु के जरूरी कार्य को समझकर संपूर्ण प्रकार के सावद्य रहित अपने गृह आरंभ परिग्रह को यदि करना चाहे तो उसे भी कर सकता है किन्तु शेष विधान पूर्व के समान ही जानना चाहिए।

Y X Y

जघन्य प्रोषध विधान

आयंबिलणिव्वयडी, एयट्टाणं वा एयभत्तं वा।

जं कीरइ तं णेयं, जहण्णयं पोसहविहाणं॥180॥

आठें आदि पर्व के दिन जो, एकाशन हो एक स्थान।

आचाम्ल या निर्विकृत भोजन, करना जघन्य प्रोषध है मान॥180॥

अन्वयार्थ :- (जं) जो अष्टमी आदि पर्व के दिनों में (आयंबिलणिव्वयडी) आचाम्ल निर्विकृति / नीरस भोजन (एयट्टाणं) एक स्थान (वा) तथा (एयभत्तं) एक बार भोजन को (कीरइ) करता है (तं) उसे (जहण्णयं) जघन्य (पोसह विहाणं) प्रोषधविधान (णेयं) जानना चाहिये।

अर्थ :- जो अष्टमी आदि पर्व के दिनों में आचाम्ल (मांड) निर्विकृति (नीरस भोजन) एक स्थान तथा एक बार भोजन करता है, उसे जघन्य प्रोषधविधान जानना चाहिये।

विशदार्थ- परम तपस्वी आचार्य भगवन् पर्व की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं जो भव्य जीव पर्व के दिनों में चाहे वह तीर्थकरों के कल्याणक की तिथियाँ हों, या फिर अष्टमी, चतुर्दशी का दिन हो या अन्य कोई भी व्रत का दिन हो उस दिन नीरस भोजन अर्थात् घी, नमक, दूध, दही, तेल, मीठा का त्याग करके रूखा-सूखा भोजन एक स्थान पर एक बार भोजन करता है उसे जघन्य प्रोषध विधान जानना चाहिये। प्रोषधोपवास उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से 3 प्रकार के हैं जो भव्य जीव प्रोषधोपवास के बारे में विशेष वर्णन अन्य श्लोकों में आ चुका है इसलिए भव्य जीवों को यथायोग्य उसका पालन करना चाहिए।

यहाँ प्रोषध-उपवास = प्रोषधोपवास इस व्युत्पत्ति के आधार पर एकाशन और उपवास दोनों को मिलाकर प्रोषधोपवास बना है जो जीवों के लिए साधना के पथ पर बढ़ने की क्षमता प्रदान करता है। जो विशद मोक्ष का हेतु है।

प्रोषध के दिन राग के उपकरणों का त्याग

सिरण्हाणुव्वट्टण, गंधमल्ल केसाइदेह संकप्पं।

अण्णं पि रागहेउं, विवज्जए पोसह दिणम्मि॥181॥

प्रोषध के दिन गंध माल या, उवटन या फिर से स्नान।

देह बाल संस्कार आदि सब, राग के कारण छोड़े मान॥181॥

Y X Y

अन्वयार्थ :- (पोसह दिणम्मि) प्रोषध के दिन (सिरण्हाणुव्वट्टण) सिर से स्नान करना, उबटन लगाना (गंधमल्ल केसाइदेह संकप्पं) सुगंधित द्रव्य लगाना, माला पहनना, बालों आदि को सजाना और शरीर का संस्कार ॥शृंगार॥ करना (अण्णं पि) तथा अन्य भी (रागहेउं) राग के कारणों को (विज्जए) छोड़ देना चाहिए।

अर्थ :- प्रोषध के दिन सिर से स्नान करना, उबटन लगाना, सुगंधित द्रव्य लगाना, माला पहनना, बाल आदि को सजाना और शरीर को संस्कारित/शृंगारित करना आदि राग के कारणों को छोड़ देना चाहिए।

विशदार्थ- वात्सल्य रत्नाकर आचार्य भगवन् प्रोषध प्रतिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं प्रोषध के दिन जिस दिन उपवास करते हैं उस दिन राग के कारणों का जैसे- सिर के बाल धोकर नहाना, शरीर में उबटन आदि लगाना, शरीर में सुगंधित द्रव्य लगाना, इत्र, फुलेल आदि लगाना (फूलों की) माला पहनना, बालों को सुंदर-सुंदर सजाना, शरीर को संस्कारित (शृंगारित) करना आदि शरीर में राग बढ़ाने वाले अधिक से अधिक कारणों का निरंतर त्याग करना चाहिए।

चौथा प्रतिमा स्थान का वर्णन पूर्ण

एवं चउत्थठाणं, विवण्णिंयं पोसहं समासेण।

एत्तो कमेण सेसाणि, सुणह संखेवओ वोच्छं॥182॥

इस प्रकार प्रोषध प्रतिमा का, किया गया संक्षेप कथन।

शेष सर्व प्रतिमा स्थानों, का क्रम से करते वर्णन॥182॥

अन्वयार्थ :- (एवं) इस प्रकार (पोसहं) प्रोषध नाम का (चउत्थठाणं) चौथा प्रतिमा स्थान (समासेण) संक्षेप से (विवण्णिंयं) वर्णन किया। (एत्तो) अब इसके आगे (कमेण) क्रम से (सेसाणि) शेष प्रतिमा स्थानों को (संखेवओ) संक्षेप से (वोच्छं) कहूँगा, (सुणह) सो सुनो।

अर्थ :- इस प्रकार प्रोषध नाम का चौथा प्रतिमा स्थान संक्षेप से वर्णन किया, अब इसके आगे क्रम से शेष प्रतिमा स्थानों को संक्षेप से कहूँगा, सो सुनो।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् कहते हैं अनेक प्रकार के श्लोकों के माध्यम से प्रोषध नाम का चौथी प्रतिमा का संक्षेप में वर्णन किया गया है। अब इसके आगे क्रम से शेष प्रतिमाओं का संक्षेप से कथन कहूँगा सो ध्यानपूर्वक सुनिएगा।

Y X Y

पाँचवा सचित्त त्याग प्रतिमा स्थान

जं वज्जिज्जइ हरियं, तुय पत्त पवाल कंद फल वीयं।

अप्पासुगं च सलिलं, सचित्त णिव्वत्ति तं ठाणं॥183॥

हरित छाल पत्ते प्रवाल जल, अप्रासुक फल शाखा फूल।

कंद बीजादिक को जो त्यागे, हो सचित्त प्रतिमा धर मूल॥183॥

अन्वयार्थ :- (जं) जो (हरियं तुय) हरित छाल (पत्त) पत्ते (पवाल) प्रवाल (कंद) कंद (फल) फल (वीयं) बीज (च) और (अप्पासुगं सलिलं) अप्रासुक जल (वज्जिज्जइ) का त्याग किया जाता है (तं) वह (सचित्त णिव्वत्ति) सचित्त त्याग नाम का पाँचवाँ (ठाणं) प्रतिमा स्थान है।

अर्थ :- जो हरित छाल, पत्ते, प्रवाल, कंद, फल, बीज और अप्रासुक जल का त्याग किया जाता है, वह सचित्त-त्याग पाँचवाँ प्रतिमा स्थान है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं अचित्त करने के अनेक तरीके - सुखाना-सूखना, पकना-पकाना, तपना-तपाना, लवण मिश्रण, यंत्र पेलन आदि। प्रथम तो वृक्ष से पृथक् होने पर ही शाक-भाजी प्रासुक हो जाती है, फिर गर्म ठंडे जल से धोने से प्रासुक जानना, फिर सब्जी बनाने से प्रासुक होती है। आचार्यों ने प्रासुक की विधि इस प्रकार कही।

सुक्कं पक्कं तत्तं, अंवल लवणेण मिस्सयं दव्वं।

जं जंतेण या छिन नं, तं स्वयं फासुय भणियं॥मूलाचार

पाँचवी प्रतिमाधारी सचित्त त्यागी होता है। सचित्त अर्थात् स+चित् = सचित्त, जो जीव से सहित होता है और अचित्त जो जीव से रहित होता है वह अचित्त होता है। कम से कम श्रावक को व्रतों की मर्यादा में बाँधकर हिंसा से बचाना ही दयामूर्ति आचार्यों का कार्य है। श्रावक जब भोजन करता है तो प्रत्येक वस्तुओं को प्रासुक करके ही सेवन करता है वह सचित्त पदार्थों का त्यागी होता है। जैनदर्शन में जितने वैज्ञानिक ढंग से खाने योग्य पदार्थों का वर्णन किया गया है और उसके अंदर जीवत्व का विवेचन किया गया है वह अद्भुत है। कहीं पर भी आपको यह पढ़ने-सुनने को नहीं मिलेगा कि वनस्पति में भी जीव होता है। 40-50 वर्ष से वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि वनस्पति में भी जीव होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु भी जीव है। पृथ्वी में जीव होते हैं। विज्ञान स्वीकार नहीं करता है किन्तु कुछ समय से जल में जीव होते हैं यह विज्ञान स्वीकार करने लगा है। वनस्पति में भी जीव होते हैं ऐसा विज्ञान स्वीकार करने लगा है किन्तु अग्नि व वायु में जीव होते हैं इस बात की पुष्टि वैज्ञानिकों द्वारा अभी तक नहीं हुई है।

Y X Y
 सचित्त त्याग प्रतिमा अर्थात् ऐसा भोजन नहीं करना जिसमें जीव रहते हैं यह त्रस जीव का भोजन नहीं करता। त्रस जीवों की उत्पत्ति होना अर्थात् वहाँ से माँस, रक्त का संबंध बन जाता है इसलिए उन पदार्थों को अभक्ष्य कहा गया है। अभक्ष्य पदार्थ अर्थात् जो पदार्थ भक्षण करने योग्य नहीं है, जिसमें त्रस जीवों के माँस का संबंध हो गया है। आचार्यों ने 5 प्रकार के पदार्थ बताये हैं जिनके सेवन से हानियाँ होती हैं—
 1. **त्रस घातक अभक्ष्य**— त्रस जीवों का घात करने वाले पदार्थ जैसे होटल की मिठाई, मुरब्बा, अंडा, माँस, आचार, द्विदल पदार्थ आदि। आचार में जितने ज्यादा त्रस जीवों की उत्पत्ति होगी वह उतना ज्यादा स्वादिष्ट लगता है। व्रती श्रावक 24 घंटे की मर्यादा का ही आचार का सेवन करता है। उससे अगर अधिक होता है तो वह हिंसा का ही कारण होता है। ऐसा नहीं है कि अगर हम इन चीजों को ना खाये तो हमारा मरण हो जायेगा। किन्तु जरा से स्वाद के लिए आदमी इसे छोड़ नहीं पाता है। 2. **प्रमादकारक अभक्ष्य** अर्थात् आलस्य को बढ़ाने वाली चीजें जिनसे नशा उत्पन्न होता है जैसे— शराब, भाँग, गाँजा, तंबाकू, गुटखा आदि। इनका सेवन कभी नहीं करना चाहिए। 3. **अनंत स्थावर घात अभक्ष्य**— कुछ वस्तुयें जिनमें अनंतानंत निगोद जीव का घात होता है। निगोद जीव अर्थात् वह वनस्पति कायिक ऐकेंद्रिय जीव जो अनंत संख्या में हमेशा जन्म लेते हैं और अनंत संख्या में मरण होता है। जमीकंद अर्थात् जो जमीन के अंदर फल सब्जी लगते हैं उनमें अनंत जीवों का घात होता है। इसके अंतर्गत आलू, प्याज, लहसुन, शकरकंद आदि आता है। आलू व सोंठ, हल्दी, मूंगफली में बहुत अंतर होता है जब तक हल्दी, अदरक गीले होते हैं तब उनका सेवन अभक्ष्य कारक होते हैं किन्तु सूखने पर वह सेवनयोग्य माने जाते हैं।

सचित्त करने के अनेक उपाय होते हैं। मूलाचार के ग्रंथ के अन्तर्गत आचार्य भगवन् वट्टकेट स्वामी कहते हैं—

4. **अनिष्टकारक पदार्थ**— जो हमारे शरीर की प्रकृति के अनुकूल ना हों अर्थात् जो हमारे खाने योग्य तो हैं लेकिन जिनके खाने से हमारे शरीर में रोगों की उत्पत्ति हो जाये, ऐसे पदार्थ अनिष्टकारी होते हैं। उदाहरण स्वरूप शुगर होने पर चीनी अनिष्टकारी वस्तु है, अल्सर होने पर मिर्च मसाले ये शरीर को अनिष्टकारी पदार्थ हैं। ऐसा अक्सर देखा जाता है कि शुगर होने पर चीनी के प्रति आसक्ति बढ़ जाती है जो रोग को बढ़ाने की क्षमता रखती है जिससे रोगी को अनेक प्रकार के कष्टों को उठाना पड़ता है— जिस प्रकार से गाड़ी को चलाने के लिए समय-समय पर तेल, पेट्रोल सावधानी पूर्वक डालते हैं ताकि गाड़ी सही सलामत चलती रहे। इसी प्रकार शरीर रूपी मशीन में भी सावधानी पूर्वक भोजन का प्रयोग करें जिससे हमारा जीवन चलता रहे।

5. **अनुपसेव्य पदार्थ**— अर्थात् समुद्र में होने वाले शंख, सीप, मोती, शंख भस्मलार को

Y X Y

(350)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
सुखाकर भोजन में ग्रहण करना। ये सभी माँसाहार हैं जो कि ग्रहण करने योग्य नहीं होता। गोमूत्र आदि भी अनुपसेव्य पदार्थ हैं। भेड़-ऊँटनी का दूध अनुपसेव्य हैं किन्तु गाय, भैंस, बकरी का दूध सेवन करने योग्य है। पेप्सी कोल्ड ड्रिंक्स भी अनुपसेव्य पदार्थ हैं। यह पेप्सी सुअर की जुकाम की लार से, खकार से बनती है। ऐसे पदार्थ जिनका सेवन तो दूर स्पर्श करना भी पाप बंध का कारण है, उनसे सदा दूर रहना चाहिये।

छठवाँ प्रतिमा स्थान – मैथुन का त्याग

मण वयण काय कय, कारियाणु मोएहिं मेहुणं णवधा।

दिवसम्मि जो विवज्जइ, गुणम्मि सो सावओ छट्ठो॥184॥

मन वच तन कृत कारित मोदन, नौ प्रकार से करके जान।

मैथुन त्याग करे वह प्रतिमा, कहलावे छठवाँ स्थान॥184॥

अन्वयार्थ :- (जो) जो (मण वयण काय कय कारियाणु मोएहिं) मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना के द्वारा (णवधा) नौ प्रकार से (दिवसम्मि) दिन में (मेहुणं) मैथुन का (विवज्जइ) त्याग करता है (सो) वह (गुणम्मि) प्रतिमा रूप गुण स्थान में (छट्ठो) छठवाँ (सावओ)॥प्रतिमाधारी॥ श्रावक है।

अर्थ :- जो मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदना के द्वारा नौ प्रकार से दिन में मैथुन का त्याग करता है, वह प्रतिमा रूप गुण स्थान में छठवाँ प्रतिमाधारी श्रावक है।

विशदार्थ :- इस पद में नवकोटि से रात्रि भोजन त्याग करना भी गर्भित है अन्यत्र इस प्रतिमा का नाम रात्रि भुक्त (रात में भोग करना, दिन में भोग का त्याग) तथा रात्रि भुक्त त्याग (रात में भोजन का त्याग) कहा गया है 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार में रात्रि भुक्ति विरत है।'

इस प्रतिमा का नाम दिवा मैथुन त्याग अर्थात् दिन में मैथुन क्रिया का त्याग है। श्रावक मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना और समरंभ, समारंभ, आरंभ, इन नौ कोटि से मैथुन का त्याग करता है इसलिए उसे दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा कहा गया है। कुछ आचार्यों के द्वारा इसका नाम रात्रि भुक्ति त्याग भी आया है। पहली प्रतिमा में श्रावक का स्वयं तो रात्रि भोजन का त्याग होता है किन्तु अन्य परिवारजनों को कराने का त्याग नहीं होता है। रात्रि भोजन तो सामान्य श्रावक को त्याग करने योग्य किया है फिर व्रती श्रावक को तो दूर से ही त्याग कर देना चाहिए। यह तो प्रत्यक्ष भी देखने में आता है कि रात्रि भोजन करने से कितनी हानियाँ होती है। सूर्य के प्रकाश में अल्ट्रा वायलेट किरणें होती हैं जिनके माध्यम से वातावरण में जीवों की उत्पत्ति न के बराबर होती है किन्तु सूर्य अस्त होते ही त्रस जीव उत्पन्न

Y X Y

Y X Y
 हो जाते हैं। जो आके भोज्य पदार्थ पर बैठते हैं जिससे रात्रि में भोजन के साथ उक्त जीवों का भी भक्षण हो जाता है। रात्रि के समय पाचन शक्ति हीन होने से अनेक प्रकार की बीमारियाँ होती हैं, अपच होता है, इन्द्रिय लोलुपता बढ़ती है जिससे असंयम में प्रवृत्ति होती है। शास्त्रों में कहा गया है कि हाथी, सिंह आदि ने भी रात्रि भोजन त्याग किया था जिसके प्रभाव से वह देवगति को गये। रात्रि भोजन में सियार की कथा अधिक प्रसिद्ध है।

एक नगर में एक मुनिराज जंगल में साधना कर रहे थे। साधना में लीन मुनिराज का ध्यान जब भंग हुआ तब देखा कि वहाँ बहुत से श्रावक वचनामृत सुनने के लिए लालायित थे। मुनिराज का उपदेश चल रहा था कि रात्रि भोजन करने से जीव हिंसा का पाप लगता है और जो भी जीव रात्रि में चारों प्रकार के आहार पानी का त्याग करता है उसे 6 महीने के उपवास का फल मिलता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आचार्य कार्तिकेय स्वामी कहते हैं—

जो णिसि भुत्तिं वज्जदि, सो उपवास करेदि छम्मासं।

संवच्छरस्स मज्झे, आरंभ चयदि रयणीए॥383॥

अर्थात् जो पुरुष रात्रि भोजन छोड़ देता है वह एक वर्ष में 6 माह के उपवास करता है और रात्रि में आरंभ का त्याग करता है। क्योंकि चारों प्रकार के आहार का त्याग होने से ही उपवास होता है। वह प्रतिदिन रातभर के त्याग का उपवासी है। अतः एक वर्ष में 6 माह तो भोजन करता है और 6 माह उपवास करता है। ऐसा उपदेश वहीं पास में बैठा सियार भी सुन रहा था और वह मुनिराज की भाषा को समझ लेता तब और उसे जाति स्मरण हो जाता है। उसी वक्त वह रात्रि भोजन का आजीवन त्याग कर देता है। समय अपनी गति से व्यतीत हो रहा था। एक दिन जंगल में सियार को बहुत जोर से प्यास लगती है, घूमते-घूमते वह एक कुएँ के पास पहुँचता है जैसे ही वह पानी पीने की ओर झाँकता है तो उसे अंधेरा नजर आता है, बाहर देखता है तो प्रकाश देखता है। दुबारा फिर पानी पीने को होता है तो उसे अंधेरा दिखाई देता है। उसका रात्रि में भोजन पानी का त्याग होता है इसलिए ऐसा कई बार होने पर भी वह रात्रि में पानी नहीं पीता है किन्तु मात्र त्याग के भाव से वह मरण को प्राप्त हो जाता है और मरकर वह स्वर्ग में देव बनता है।

जो श्रावक रात्रि में चारों ही प्रकार के भोजन को ग्रहण नहीं करता है उसको प्रतिदिन रातभर के उपवास का फल मिलता है क्योंकि चारों प्रकार के आहार को त्यागने का नाम उपवास है अतः एक वर्ष में 6 महीने भोजन करता है और 6 महीने उपवास रहता है, इससे उसे प्रतिवर्ष 6 महीने के उपवास का फल अनायास ही मिल जाता है तथा रात में कूटना, पीसना, पानी भरना, झाड़ू लगाना, चूल्हा जलाना

Y X Y

(352)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
आदि आरंभ से बच जाता है। हम कहते हैं महाराज हमारा तो रात्रि भोजन का तो त्याग है किन्तु फलाहार कर लेते हैं। अब बताइये क्या वह त्यागी कहलायेगा ? नहीं किन्तु उसका नियम है कि वह अन्न खाने का त्यागी है इसलिए नियम रूप व्रत भी है। सर्वथा त्याग न होने की अपेक्षा से वह कुछ तो त्यागी कहलाता है अतः सामान्य भाषा में कह देते हैं कि रात्रि भोजन का त्याग है किन्तु सिद्धांत की दृष्टि से उसका रात्रि में अन्न खाने का त्याग है। जो श्रावक रात्रि में अन्न अर्थात् अन्न, पान अर्थात् पीने योग्य पदार्थ जल वगैरह, खाद्य अर्थात् लड्डू वगैरह, लेह्य खबड़ी वगैरह को नहीं खाता वह प्राणियों पर दया करने वाला श्रावक रात्रि भोजन का त्यागी कहलाता है। रात्रि भोजन के अनेक दोष होते हैं। दिन का बना अंधेरे में खाना, रात का बना दिन में खाना, दिन का बना रात में खाना। रात्रि भोजन त्याग करके समय पर भोजन न मिलने पर क्रोध करना, रात्रि भोजन त्याग करके रात्रि भोजन त्याग न करने वालों को हीन दृष्टि से देखना, रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग न करना, रात्रि भोजन का त्याग करके भी समय को धर्म ध्यान में नहीं लगाना, सूर्योदय के अंतर्मुहूर्त पहले भोजन का त्याग नहीं करना, सूर्योदय के बाद तक भोजन का त्याग नहीं करना, सूर्यास्त के 48 मिनट पहले भोजन का त्याग नहीं करना।

जो लोग सुबह जल्दी सोकर नहीं उठते उसका मुख्य कारण रात्रि भोजन करना। हमने 10 बजे भोजन किया, वो हमारे पेट में पड़ा है और हम जाकर 2 घंटे बाद सो गये लेकिन 2 घंटे में वह भोजन पचा नहीं ऊपर से हमने काजू, किशमिश, मखाने डालकर खीर भी खा ली ये सब मेवा मिष्ठान जब हमने उसमें डाल दिये तब इन मेवा मिष्ठानों को पचाने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा जो चाहिए थी वह ऊर्जा आमाशय को कहाँ मिलेगी। वह हमें सोने से नहीं मिलेगी। सोने से तो हमारे आमाशय आदि अंग काम करना बंद कर देते हैं और उस समय पर वह भोजन वहीं आँतों में पड़ा सड़ता रहता है। उसी का यह परिणाम निकलता है कि सुबह उठते हुए भी हमें आलस आता है, सुस्ती आती है यही सुस्ती बाद में अनेक रोगों का कारण बन जाता है, क्योंकि वह कब्जियत पैदा करता है, लीवर में डिफेक्ट पैदा करेगा और हमारे पाचन तंत्र को बिगाड़ देगा। हमारा स्वास्थ्य बिगड़ते ही हमारा दिमाग भी बिगड़ जायेगा क्योंकि पेट का और दिमाग का संबंध होता है इसलिए आचार्यों ने कहा है— आलोकित पान अर्थात् सूर्य के प्रकाश में भोजन करना। लाईट, बल्ब, सी.एफ.एल. के प्रकाश में बैठकर हम भोजन करेंगे तो उस प्रकाश में जीवों की उत्पत्ति होती है जिससे हिंसा का पाप लगता है। यदि हम सूर्य के प्रकाश में भोजन करते हैं तो पाचन अच्छा होता है अतः इस प्रतिमा का धारी श्रावक न तो स्वयं रात्रि भोजन करता है और न अन्य श्रावकों को कराने की प्रेरणा करता है। क्योंकि कृत्कारित अनुमोदना के पापों से वह बचता है।

सातवाँ प्रतिमा स्थान – ब्रह्मचर्य का पालन

Y X Y

Y X Y

पुव्वुत्त णव विहाणं, पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो।

इत्थिकहाइणिवित्तो, सत्तमगुणवंभयारी सो॥185॥

पूर्वोक्त नव कोटी मैथुन का, करे सर्वदा जो परित्याग।

स्त्री कथादि से निवृत्त श्रावक, ब्रह्मचारी होता बड़भाग॥185॥

अन्वयार्थ :- (पुव्वुत्त णव विहाणं) जो पूर्वोक्त नौ प्रकार के (पि मेहुणं) मैथुन के ही (सव्वदा) सर्वदा (विवज्जंतो) त्याग करता हुआ (इत्थिकहाइणिवित्तो) स्त्री कथा आदि से निवृत्त हो जाता है (सो) वह (सत्तम गुण वंभयारी) सातवीं प्रतिमा रूप गुण का धारी ब्रह्मचारी श्रावक है।

अर्थ :- जो पूर्वोक्त नौ प्रकार के मैथुन का सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्री कथा आदि से निवृत्त हो जाता है, वह सातवीं प्रतिमा रूप गुण का धारी ब्रह्मचारी श्रावक है।

विशदार्थ :- संसार की असारता को समझाते हुए, स्वभाव को समझते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं कि छठवीं प्रतिमा वाला श्रावक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करता है इसलिए उसका नाम दिया मैथुन त्याग प्रतिमा रखा गया है अब वह गृहस्थ में रहते हुए भी स्वभाव की ओर अग्रसर होता है और मैथुन क्रिया का सर्वथा त्याग करता है। वह जीवन पर्यंत के लिए ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करता है। ब्रह्मचर्य दो शब्दों से मिलकर बना है ब्रह्म+चर्य अर्थात् आत्मा में रमण करना, आत्मा में ही आनंद मानना, पत्नी बच्चे होते हुए भी उनसे उदासीन रहना। इस स्थिति में उसे इतनी आत्म संतुष्टि हो जाती है कि वह पत्नी को भी माँ, बहिन की दृष्टि से देखता है। गृहस्थ रहते हुए भी उसकी यह साधना चलती है। इससे पहले व्रत प्रतिमा वाला श्रावक अणुव्रती था, उसमें उसका इतना ब्रह्मचर्य था कि वह अपनी पत्नी में ही सीमित रहता है जिसे स्वदार संतोषव्रत कहते हैं और पत्नियों के लिए भी स्वपति व्रत होना चाहिए। एक बार हमारा विहार होते-होते मनवार पहुँचा। हमारे संघ में क्षुल्लक विनिश्चलसागर जी महाराज थे, वो सभी को नियम दिलाते थे कि जब तक शादी नहीं होती तब तक का ब्रह्मचर्य व्रत रखें। एक लड़की जिसकी नई-नई शादी हुई थी वह दर्शन करने आई। महाराज ने किसी से व्रत रखने को कहा तो हमने कहा इसको भी कुछ नियम दो ना। उसको पहले तो संकोच लगा कि महाराज जी यह क्या कह रहे हैं। फिर हमने कहा पुरुषों का स्वदार संतोष व्रत होता है तो महिलाओं का भी स्वपति व्रत होना चाहिए। वह स्व की संख्या सुनते ही घबड़ा गई और साथ में बैठे लोग हँसने लगे। स्व मतलब संख्या में 100 नहीं बल्कि स्व मतलब स्वयं का। स्वयं के पति के अलावा शेष सभी पिता, पुत्र भाई के समान है। ऐसा भी नियम होना चाहिए।

गृहस्थ में रहते हुए भी जैसे एक गृहस्थ के लिए कहा गया है कि वह अपनी पत्नी में संतोष रखकर

Y X Y

Y X Y
भी ब्रह्मचारी है उसी प्रकार से विद्यार्थियों के लिए भी अनेक प्रकार के ब्रह्मचर्य आते हैं।

उपनयन ब्रह्मचारी— उपनयन एक संस्कार होता है जब बच्चा 8 वर्ष का हो जाता है तब उसके लिए संस्कारित किया जाता है उसमें उसको अष्टमूल गुण दिलाये जाते हैं, कहीं-कहीं पर जनेऊ आदि की प्रथा है तो जनेऊ आदि पहना दिये जाते हैं। जब तक वह विवाहित नहीं हो जाता है तब तक उसका संकल्प रहता है कि ब्रह्मचर्य से रहेंगे लौकिक पढ़ाई हो या चाहे धार्मिक पढ़ाई हो, जब तक विवाह नहीं होता तब तक हम ब्रह्मचर्य से रहेंगे। इसी का नाम उपनयन ब्रह्मचारी है। अगर हर माता-पिता अपने बच्चों को ऐसा संकल्प करवाने लग जाये तो आज भी देश में रामराज्य आ सकता है। अगर ये आज विद्यार्थियों के लिए हो जाये तो जितने प्रकार के दुराचार हैं, जितने प्रकार की समस्याएँ आज हमें दिखाई दे रही हैं इन सब समस्याओं का समाधान हो जायेगा वह समाधान है ब्रह्मचर्य।

अवलंब ब्रह्मचारी— प्राचीनकाल में गुरुकुल होते थे। माता-पिता अपने बेटों को गुरुकुल में विद्या अध्ययन करवाते थे जहाँ पर वह ब्रह्मचारी बनकर रहता था और भिक्षु भी बनाया जाता था। ऐसे भिक्षु के भेष में रहकर विद्या अध्ययन कराया जाता था इसी का नाम अवलंब ब्रह्मचारी अर्थात् इसमें कुछ अवलंबन किया गया है। ब्रह्मचर्य के भेष का या भिक्षु के भेष का। जब तक वह गुरुकुल में विद्याध्ययन करता है तब तक के लिए वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

अदीक्षा ब्रह्मचारी— अदीक्षा अर्थात् जो इस प्रकार की दीक्षा न ले, न ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली और न उसने क्षुल्लक की दीक्षा ली। वह सामान्य रूप से रहकर के पढ़ रहा है और उसका उद्देश्य है कि यहाँ पर रहते हुए विद्या अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करना। उसके बाद विद्या अध्ययन समाप्त होते ही विवाह आदि के कार्यों में लग जाना।

गूढ़ ब्रह्मचारी— गूढ़ ब्रह्मचारी अर्थात् जब तक गुरुकुल में रहकर के विद्या अध्ययन करता है वह समस्त विद्याओं का अभ्यास करता है, शास्त्रों का अध्ययन करता रहता है और अध्ययन की पूर्णता होने के बाद में वह स्वयं विवाह नहीं करना चाहता। अगर उसके माता-पिता उसके साथ में जबरदस्ती करते हैं तो वह विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है इसी का नाम गूढ़ ब्रह्मचारी है। माता-पिता के आग्रह से वह विवाह करने को तैयार हो जाता है लेकिन अभी उसके बारे में कुछ कह नहीं सकते कि वह ब्रह्मचर्य के आगे जीवनपर्यंत तक निर्वाह करेगा या विवाह करेगा। इसी स्थिति का नाम गूढ़ ब्रह्मचारी है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी— जो मन-वचन-काय से स्त्री का त्याग करके अपनी प्रतिमाओं को धारण करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करने का भाव कर लेता है तो वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाने लग जाता है। इसके दो भेद हैं— 1. दूसरी प्रतिमा वाला, 2. सातवीं प्रतिमा वाला।

Y X Y

Y X Y

स्त्री मात्र का त्याग कर देना ही ब्रह्मचर्य नहीं है बल्कि उसे त्याग के साथ-साथ अपने स्वरूप में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है। आज पाश्चात्य सभ्यता का ऐसा प्रभाव है कि कोई अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य व्रत नहीं दिलाता है। व्रत लेने की कोई बात करता तो माता-पिता उन्हें मनाकर देते हैं। आज सबसे अधिक आवश्यकता है कि जब तक शादी नहीं होती तब तक ब्रह्मचर्य व्रत अवश्य लेना चाहिये। आज माता-पिता स्वयं तो व्रत नहीं लेते वो बच्चों को क्या नियम दिलाएँगे। एक समय था जब कोई बच्चा बाहर पढ़ने जाता था तब माता-पिता सप्त व्यसन का त्याग और ब्रह्मचर्य व्रत दिलाकर बच्चों को बाहर पढ़ने भेजते थे जिससे उनका जीवन सुरक्षित रहता था। किन्तु आज ऐसी स्थिति नहीं है इसलिए आये दिन बलात्कार, दुराचार, जबरदस्ती आदि के काण्ड होते रहते हैं। जिससे आये दिन हमारी बेटियाँ असुरक्षा के घेरे में फँस रही हैं। यह दिखावा ही प्राणी मात्र को गर्त के गड्ढे में धकेल रहा है। आज नारियाँ अपने आप को विश्व सुंदरी कहलाने की होड़ में लगी हैं। आज के जमाने में लड़का व लड़की सब बराबर हो गये हैं। वे कहती हैं तुम अंतरिक्ष की यात्रा कर सकते हो तो हम भी कर सकते हैं। तुम नौकरी कर सकते तो हम भी कर सकते हैं। ऐसी भावनाएँ हमारे अंदर आ रही हैं जो धर्म को बिगाड़ने के लिए हो रही हैं। विश्व सुंदरी बनने के चक्कर में उनका चरित्र क्या रह जायेगा यह उन्हें नहीं मालूम। उन्हें केवल इतना ख्याल रहता है कि हमारी सुंदरता को दुनिया देखे। उन्हें उस समय सीता का, चंदना का चरित्र याद नहीं आता है। सीता इसी सुंदरता पर रोती थी कि रावण ने उसका हरण किया और वह उसे लंका ले जाकर बैठ गया, जहाँ बैठकर वह रोती है कि काश आज मैं सुंदर नहीं होती तो रावण हरकर मुझे लंका नहीं लाता और एक आज की नारियाँ हैं जिनके चेहरे पर कोई सौंदर्य नहीं है फिर भी सातवें आसमान को छू रही हैं। हम पाप के मार्ग से बचें और धर्म मार्ग पर लगे तभी हमारा कल्याण होगा।

आज के पूर्व जितने भी माता-पिता हुए प्रायः सभी ने संस्कारित जीवन जिया और बच्चों को संस्कार देकर उन्हें जीवन में ऊँचा उठाया। पालन पोषण तो एक पशु भी अपने बच्चों का कर लेता है किन्तु संस्कारित जीवन बनाने का काम केवल एक मनुष्य का ही होता है और वह इस ब्रह्मचर्य के माध्यम से ही संभव होता है।

आठवाँ प्रतिमा स्थान - आरंभ परिग्रह का त्याग

जं किंचि गिहारंभं, बहुथोवं वा सया विवज्जेदि।

आरंभ णियत्त मई, सो अट्टम सावओ भणिओ॥186॥

गृहारम्भ थोड़ा या ज्यादा, जो कुछ भी सब त्यागे जान।

वह आरम्भ से निवृत्त बुद्धि, आरम्भ त्यागी प्रतिमा वान॥186॥

Y X Y

Y X Y
हिंसा और पानी भरने में भी हिंसा होती है। गृहस्थ श्रावक पंच सूना से सहित होता है किन्तु मुनिराज इनके त्यागी होते हैं।

जब तक हमें धर्म की बात ज्ञात नहीं होगी तब तक जीवन में सुख शांति नहीं आ सकती। पहले के लोग रास्ते में चलकर भी शिक्षा लेते थे और दूसरों को भी शिक्षा देते थे।

राजा भोज एक बार अपने दरबार के कवि के साथ भेष बदलकर निकले तभी उन्हें एक बुढ़िया मिली। उसने बुढ़िया से पूछा कि यह रास्ता कहाँ जाता है? बुढ़िया ने उत्तर दिया— यह रास्ता कहीं नहीं जाता बल्कि उस रास्ते पर चलकर राहगीर अपनी मंजिल को प्राप्त कर लेता है। फिर बुढ़िया पूछती है आप कौन हैं? तो राजा भोज कहते हैं हम तो परदेशी हैं। फिर बुढ़िया कहती है, परदेशी तो दो ही लोग होते हैं एक जीवात्मा व वृक्ष। वृक्ष के फल, फसल परदेशी हैं। वो कहते हैं हम जीव हैं। बुढ़िया कहती है कि जीव मरण करके अन्य गति में जनम लेता है तो वे कहते हैं हम क्षमावान हैं। क्षमावान तो दो ही चीज है पृथ्वी और नारी। क्योंकि पृथ्वी को कितना भी कूटो, पीटो वह उसको क्षमा करती जाती है, उसी प्रकार नारी भी क्षमावान है, वह सबके ताने सुन लेती है और सहन करती है। क्षमावान अर्थात् सहनशील। बुढ़िया फिर पूछती है आप कौन है तो वे कहते हैं— हम यात्री हैं। यात्री तो दो ही लोग होते हैं धन या यौवन क्योंकि ये दोनों ही आकर चले जाते हैं। राजा को समझ में आ गया कि हमारे राज्य में भी विद्वान लोग हैं जो दुनिया की चकाचौंध में नहीं फँसते और सभी प्रश्नों का सही उत्तर देते हैं। राजा भोज के समय घर-घर में संस्कृत के विद्वान थे किन्तु आज पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में संस्कृत तो ठीक हिन्दी के भी विद्वान नहीं मिलते हैं। संस्कृत की जगह इंग्लिश ने ले ली है।

लौकिक ज्ञान के साथ-साथ हमें धार्मिक ज्ञान को पढ़ने का भी मन बनाना चाहिए तभी हम सभी धर्म को सही ढंग से समझ सकते हैं। आगम को पढ़कर ही उनके रहस्यों को समझा जाता है। आरंभ त्यागी श्रावक अपने सब व्यवसाय को छोड़ देता है लेकिन पंच सूना को उसे अपने पास में रखना पड़ता है क्योंकि अभी भी अपना भोजन बनाएगा, अपना भोजन करेगा, घर में रहकर झाड़ू बुहारी का काम करेगा, पानी भरेगा, जिससे अपना कार्य चल सकता है। उसे अपने पास रखकर शेष व्यवसाय को छोड़ देता है। उसके पास में या बैंक में जो पैसा जमा है उसमें से ही वह काम चलाने का भाव बनाता है इसी का नाम आरंभ त्याग प्रतिमा है।

नौवाँ प्रतिमा स्थान – स्वीकृत वस्त्र मात्र परिग्रह

मोत्तूण वत्थ मेत्तं, परिग्हं जो विवज्जए सेसं।

Y X Y

(358)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

तत्त्व वि मुच्छं ण, करेइ जाणइ सो सावओ णवमो॥187॥

परिग्रह वस्त्र मात्र जो रखकर, त्यागे शेष सभी को पाय।

वस्त्र से भी मूर्छा का त्यागी, नौवी प्रतिमा धर कहलाय॥187॥

अन्वयार्थ :- (जो वत्थमेत्तं) जो वस्त्र मात्र (परिग्रहं) परिग्रह को (मोत्तूण) रखकर (सेसं) शेष सब परिग्रह को (विवज्जाए) छोड़ देता है (तत्त्व वि) स्वीकृत वस्त्र मात्र परिग्रह में भी (मुच्छं ण करेइ) मूर्छा नहीं करता (सो) उसे (णवमो) नौवाँ (सावओ) श्रावक जानना चाहिये।

अर्थ :- जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है, स्वीकृत वस्त्र मात्र परिग्रह में भी मूर्छा (ममत्त्व) नहीं करता उसे नौवाँ प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिये।

विशदार्थ :- समंतभद्राचार्य के अनुसार – यह गुणधारी स्वयं भोजन बनाकर स्वयं कर सकता है तथा मुनि आदि पात्रों को आहार दान दे सकता है। यह वर्णन संघस्थ ब्रह्मचारियों आदि की अपेक्षा से है। गृहस्थ श्रावक तो बड़े-बड़े परिग्रहों को छोड़ता है, निजी काम के परिग्रह रख सकता है।

जब श्रावक अपने व्यवसाय व कारोबार से मुक्ति लेकर वह श्रावक अपनी आत्म आराधना में लगता है तो वह परिग्रह का त्याग करता है। परिग्रह अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना अथवा 'मूर्छा परिग्रहः'। इस प्रकार लक्षण किया गया है।

आरंभ और परिग्रह दोनों साथ-साथ चलते हैं। जब आरंभ बढ़ता है तो परिग्रह भी बढ़ता है और जब आरंभ छूटता है तो परिग्रह भी छूट जाता है। जब हमारे उन आरंभ के कार्यों में कमी होने लगती है तो धीरे-धीरे मन के अंदर उस ममत्व भाव में भी कमी आने लगती है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी ममत्व के भाव से अपनी आत्मा को जोड़े रखता है। दुनिया में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं, कोई भी जीवात्मा ऐसी नहीं जिसके अंदर परिग्रह की संज्ञा ना हो।

दसवाँ प्रतिमा स्थान – अनुमति त्यागी श्रावक

पुट्ठो वा पुट्ठो वा, णियगेहि परेहिं च सगिहकज्जम्मि।

अणुमणणं जो ण कुणइ, वियाण सो सावओ दसमो॥188॥

स्वजन परिजन से पूछें या, ना पूछें गृह सम्बन्धित काम।

की अनुमोदन करे ना श्रावक, दशम रहा प्रतिमा स्थान॥188॥

अन्वयार्थ :- (णियगेहि परेहिं च) स्वजनो से व परिजनों से (पुट्ठो वा पुट्ठो वा) पूछा गया अथवा नहीं पूछा गया (जो सावओ) जो श्रावक (सगिहकज्जम्मि) अपने गृह संबंधी कार्यों में (अणुमणणं) अनुमोदन नहीं करता (सो) वह (दसमो सावओ वियाण) अनुमति त्याग दसवाँ

Y X Y

Y X Y
प्रतिमा धारी श्रावक जानना चाहिये।

अर्थ :- स्वजनों से परिजनों से पूछा गया अथवा नहीं पूछा गया, जो श्रावक अपने गृह संबंधी कार्यों की अनुमोदना नहीं करता, उसे अनुमति त्याग दसवाँ प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिये।

विशदार्थ :- यहाँ स्वगृहारंभों का त्याग होने से परग्रहों के आरंभों का त्याग स्वतः ही समझना, किन्तु धर्म आरंभों में अनुमोदना का त्याग नहीं होता।

दसवीं प्रतिमा का नाम अनुमति त्याग अर्थात् वह सांसारिक कार्यों में किसी भी प्रकार से स्वीकृति प्रदान नहीं करता है। मान लीजिए किसी ने कहा, दादाजी दीवाली आ रही है यह गाड़ी खरीदना चाहते हैं, धनतेरस के दिन गाड़ी खरीद लें दादा जी क्या कहेंगे? अगर उन्होंने 10वीं प्रतिमा ले ली है तो वे बिल्कुल मौन रहेंगे। चाहे वह किसी की शादी की बात हो या कृषि संबंधी अन्य व्यवसाय की बात हो या नौकरी की बात हो या फैक्टरी की बात हो, किसी भी प्रकार के आरंभ परिग्रह में दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक अपनी अनुमति प्रदान नहीं करता है।

चक्रवर्ती भरत को लोग जल में कमल की भांति मानते हैं किन्तु हमको लगता नहीं कि यह सही है। अगर जल में कमलवत् होते तो क्या अपने भाई पर चक्र चलाते? नहीं ना, किन्तु एक ठोकर के लगते उनकी जिन्दगी बदल गई। आपने सुना होगा चक्ररत्न प्राप्त कर 60 हजार वर्ष तक दिग्विजय यात्रा की। पश्चात् अयोध्या में प्रवेश के अवसर पर चक्र रुक जाता है। ज्योतिषियों से ज्ञात हुआ कि अभी दिग्विजय यात्रा अधूरी है। आपके भाईयों ने आपकी दासता स्वीकार नहीं की, यह जानकर भाईयों के पास दूत भेजे गये, भाईयों ने दासता की बात सुनकर दीक्षा धारण करना स्वीकारा, दासता नहीं स्वीकार करेंगे। 99 भाईयों ने आदि प्रभु के चरणों में दीक्षा धारण कर ली।

जब दूत बाहुबली जी के पास गये तो उन्होंने दासता स्वीकार नहीं की। अन्त में युद्ध हुआ और भरत की पराजय हुई किन्तु उसी समय बाहुबली को भी वैराग्य हो गया, धिक्कार हो संसार का वैभव जिसके पीछे भाई को पराजित करना पड़ा। पश्चात् भरत जी वृषभाचल पर्वत पर नाम लिखाने जाते तो देखा कि पर्वत पर कहीं नाम लिखने की जगह नहीं है यह जानकर उन्हें भी संसार का सच ज्ञात हो गया और वह घर में रहकर भी वैरागी बनकर रहने लगे।

ग्यारहवाँ प्रतिमा स्थान – उत्कृष्ट श्रावक – लंगोटी मात्र परिग्रह

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।

वत्थेक्कधरो पढमो कोवीण परिग्गहो विदिओ॥189॥

ग्यारहवीं प्रतिमा का धारी, उत्तम श्रावक के दो भेद।

Y X Y

(360)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
खण्ड वस्त्र धारी पहला है, दूजा कोपीन पाए विशेष॥189॥

अन्वयार्थ :- (एयारसम्मि ठाणे) ग्यारहवें प्रतिमा स्थान में (उक्किट्ठो सावओ) उत्कृष्ट श्रावक (दुविहो हवे) दो प्रकार का होता है (वत्थेक्कधरो पढमो) पहला एक वस्त्र को रखने वाला (विदिओ कोवीण परिग्गहो) और दूसरा कोपीन॥लंगौटी॥ मात्र परिग्रह को रखने वाला।

अर्थ :- ग्यारहवें प्रतिमा स्थान को प्राप्त हुआ मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। इसके दो भेद हैं- प्रथम कोपीनी एवं एक वस्त्र को रखने वाला और दूसरा कोपीन (लंगौटी) मात्र परिग्रह को रखने वाला।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं श्रावक की प्रतिमाओं में ग्यारहवीं प्रतिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं जब श्रावक 10वीं प्रतिमा को ग्रहण कर लेता है उसके परिवारजनों के प्रति आसक्ति का भाव कम हो जाता है। गृह में रहते हुए भी वह वैरागी रहता है जिस प्रकार से भरत गृह में रहकर भी वैरागी थे। जल में कमल, कमल वत थे। एक बार एक व्यक्ति ने प्रश्न किया चक्रवर्ती भरत जिनकी 96 हजार रानियाँ, छह खण्ड का राज, इतना अपार वैभव होते हुए भी वह वैरागी कैसे, यह बात समझ में नहीं आती।

बंधुओं 10वीं प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट नैष्टिक गृहस्थ श्रावक कहलाता है। वह घर में रह कर भी एक प्रकार से घर का त्यागी होता है। अभी वह घर में भोजन करता है इसलिए 10वीं प्रतिमाधारी है। किन्तु 11वीं प्रतिमा धारण करते ही उद्दिष्ट आहार का त्यागी हो जाता है। वह घर में जाकर किसी के बुलाने पर भोजन करने नहीं जाता वह यह नहीं करता कि हमें भोजन में पतासी, कचौरी, गुलाबजामुन आदि बना देना। उनके निमित्त से बना भोजन नहीं करता है। वह उत्कृष्ट श्रावक पीछी कमण्डल के साथ-साथ एक कोपीन और लंगोटी धारण करता है। साथ ही एक बर्तन में वह आहार करता है। जब तक वह श्रावक दो बार भोजन करता था उसे भोजन कहते थे किन्तु एक बार खाना खाता है तो उसे आहार कहते हैं। कभी-कभी किसी भी साधु को ये नहीं कहा जाता कि उनका भोजन कैसा हुआ बल्कि ये कहते हैं कि महाराज जी का आहार कैसा हुआ? 11वीं प्रतिमा से वह मुनिपद की ओर बढ़ने के भाव बनाता है और महाराज इस पद से जाना जाता है। पहली से छठवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक और सातवीं से दसमी प्रतिमा तक मध्यम श्रावक और 10वीं और 11वीं प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है।

प्रथम उत्कृष्ट श्रावक - क्षुल्लक क्षुल्लिका का वर्णन

धम्मिल्लाणं चयणं, करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो।

Y X Y

ठाणं सुप्पडिलेइह, मिओवकरणेण पयडप्पा॥१९०॥

स्थान आदिक वस्त्र या पिच्छी, से प्रमार्जन करता जान॥190॥

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं उत्कृष्ट श्रावक के अंतर्गत क्षुल्लक और क्षुल्लिका जी आते हैं। क्षुल्लक अर्थात् छोटा। क्षुल्लक जी लंगोटी और कोपीन सफेद अथवा लाल रंग के पहनते हैं। पीछी कमण्डल साथ में रखते हैं, वह वाहन का भी प्रयोग कर सकते हैं। एक बर्तन में आहार करते हैं और वह चाहें तो केशलोच कर सकते हैं वरना कैंची या उस्तरे से बाल कटवा सकते हैं। इसी प्रकार क्षुल्लिका भी आती है, वह साड़ी के साथ दुपट्टा रखती हैं और पीछी-कमण्डल के साथ-साथ एक बर्तन में आहार करती हैं। वह गाड़ी में भी चल सकती हैं और बालों को भी उस्तरे से कटवा सकती हैं। क्षुल्लक-क्षुल्लिका बैठकर ही आहार करते हैं वह उत्कृष्ट देशव्रती श्रावक ही कहलाते हैं।

उत्कृष्ट	देशव्रती	श्रावक	ही	हैं
----------	----------	--------	----	-----

किन्तु हम सामान्य भाषा में महाराज शब्द से संबोधित करते हैं जो प्रक्रिया क्षुल्लक में पायी जाती है वह ऐलक में नहीं है। अर्थात् वह वाहन का प्रयोग नहीं करते, पैदल ही विहार करते हैं, केशलोच भी करते हैं और पाणिपात्र में ही आहार करते हैं और कोपीन (लंगोटी) पहनते हैं जिसमें कोई गाँठ न लगी हो। गाँठ अर्थात् जिसको कोई बनाने वाला न हो। सही ढंग से श्रावकाचार का उपयोग करना है तो एक ऐसा कपड़ा जिसको लपेट लिया और उसी में से नाड़ा बन गया। उस नाड़े को बाँधकर के वह कोपीन फँसा ली इसका मतलब है कि अब तुम आगे बढ़ रहे हो तो वह गाँठ खुलती चली जाये। क्योंकि गाँठ अर्थात् परिग्रह के त्याग होते ही निर्ग्रथता के मार्ग पर पहुँच रहे हैं। निर्ग्रथ बनो या निर्ग्रथता के मार्ग के अनुयायी

Y X Y

(362)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
हो। निर्ग्रन्थ का मतलब है जिन्होंने ग्रंथियों को छोड़ दिया। ग्रंथ का मतलब परिग्रह होता है। परिग्रह को जिसने छोड़ दिया है वह निर्ग्रन्थ कहलाता है। निर्ग्रन्थ मार्ग पर चलने वाले मुनियों के पीछे वह क्षुल्लक और ऐलक महाराज बन करके उनके साथ में रहकर के अपनी चर्या का निर्वाह करने लग जाते हैं। आचार्य भगवन् समंतभद्राचार्य कहते हैं—

गृहतो मुनिव्रन-मित्त्वा, गुरूपकण्ठे व्रतानि परिग्रह्य।

भैक्ष्याशनस्-तपस्यन्-नुत्कृष्टश्-चेलखण्ड

धरः।।र.श्र.147।।

आचार्य भगवन् कहते हैं कि वह श्रावक गृह त्यागकर मुनि के साथ जाकर व्रतों को धारण कर भिक्षा व्रती से आहार ग्रहण कर खण्डवस्त्र के धारी होकर रहते हैं। वह अभी मुनिराज नहीं है किन्तु मुनि बनने की साधना कर रहे हैं।

चारों पर्वों में चतुर्विध आहार का त्याग

भुंजेइ पाणि पत्तम्मि, भायणे वासइ समुवविट्ठो।

उववासं पुण णियमा, चउव्विहं कुणइ पव्वेसु।।191।।

पाणिपात्र या थाली में जो, बैठ के भोजन कर इक बार।

फिर चारों पर्वों में त्यागे, सर्व चतुर्विध ही आहार।।191।।

अन्वयार्थ :- (पाणिपत्तम्मि भायणे वा) पाणि पात्र में अथवा कटोरा/थाली आदि बर्तनों में **(सइ समुवविट्ठो)** सदा एक बार बैठकर भोजन करता है **(पुण)** फिर **(चउव्विहं पव्वेसु)** चारों पर्वों में चतुर्विध आहार का त्याग कर **(उपवासं णियमा कुणइ)** उपवास नियम से करता है।

अर्थ :- पाणि पात्र में अथवा थाली आदि बर्तन में सदा एक बार बैठकर भोजन करता है चारों पर्वों में चतुर्विध आहार का त्यागकर नियम से उपवास करता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् बूँद से सागर और सागर से महासागर बनने की प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं। उत्कृष्ट श्रावक चाहे वह ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, श्रावक-श्राविका कोई भी क्यों ना वह शक्ति के अनुसार पर्व के दिनों में चारों प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास धारण करते हैं। पर्व जो हमारी आत्मा को पवित्र बनाये। पर्व का तात्पर्य है गाँठ (ग्रंथि) जो मोहरूपी ग्रंथि को खोलने की कला सिखाये उसे पर्व कहते हैं। जिस प्रकार से गन्ने के रस में पर्व होती है उसे काटकर लगाने से तीन वर्ष तक गन्ना होता रहता है इसी प्रकार से पर्व के दिनों में जो व्रत, उपवास, नीरस या रसत्याग शक्ति अनुसार करता है वह परंपरा से मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। पर्व भी दो प्रकार के होते हैं— 1. शाश्वत पर्व, 2.

Y X Y

Y X Y
निमित्त नैमित्तिक पर्व। शाश्वत पर्व अनादिकाल से चले आ रहे हैं और अनंतकाल तक रहेंगे जैसे दशलक्षण पर्व, सोलहकारण पर्व आदि। निमित्त नैमित्तिक पर्व जो किसी घटना विशेष से संबंधित होते हैं और प्रचलन में आ जाते हैं जैसे रक्षाबंधन, दीपावली, महावीर जयंती, दशहरा आदि। पर्व का अर्थ है मंगलकाल, पवित्र अवसर। जिन तिथियों में आत्मा में क्षमादि गुण प्रकट होते हैं वे तिथियाँ पर्व कहलाती हैं। जिन तिथियों में भगवान के पंचकल्याणक होते हैं वे तिथियाँ भी पर्व कहलाती हैं।

पर्व प्राणी को पतित से पावन बनाने एवं जीवन निर्माण के लिए आते हैं। जीवन का निर्माण तब होता है जब व्यक्ति समझ ले कि जीवन क्या होता है? पर्व आते रहे और हम मनाते रहे लेकिन पर्व की आधारभूत (मूल) क्रिया को जीवन में नहीं उतारा तो मनुष्य जन्म व्यर्थ है। पर्वों को मनाया तो है लेकिन जीवन में धारण नहीं किया। जब तक सही दिशा का निर्धारण नहीं होगा तब तक जीवन की दशा नहीं सुधार सकते हैं।

वर्तमान में पर्वों की परंपरा का लोप सा होता जा रहा है। लोगों को खाने-पीने, घूमने-मौज मस्ती करना ही पर्व का लक्ष्य रह गया है। वास्तविकता त्याग, साधना का मार्ग तो लोग भूल ही गये हैं। अगर किसी जैन व्यक्ति से पूछो भैया रक्षाबंधन, दीपावली क्यों मनाते हैं? उत्तर या तो बनता नहीं है या चुप रह जाते हैं, इसका क्या कारण है? इसका कारण माँ-बाप को धर्म का ज्ञान ही नहीं है ना तो कभी शास्त्र पढ़े और न ही सुने तो कैसे ज्ञान होगा। आचार्य भगवन् कहते हैं- ज्ञानी तू अथाह ज्ञान का पिण्ड है इक बार जिनवाणी माँ के आँचल में आ जा तेरी सारी विपदा दूर हो जायेगी और निर्वाण प्राप्ति की ओर कदम बढ़ जायेंगे।

आचार्य भगवन् कहते हैं उत्कृष्ट श्रावक पर्व के दिनों में चारों प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास धारण करते हैं। जैसे सप्तमी को आहार करने के बाद चारों प्रकार का आहार पानी का त्याग फिर अष्टमी का उपवास और 9वीं को लगभग 10 बजे जिनेन्द्र भगवान की साक्षी में संकल्प पूर्वक आहार करते हैं। इसी प्रकार त्रयोदशी को एकाशन चतुर्दशी को उपवास पूर्णिमा या अमावश को एकाशन करते हैं। ऐसा श्रेष्ठ उपवास वह धारण करते हैं।

पक्खालिऊण पत्तं, पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा।

भणिऊण धम्मलाहं, जायइ भिक्खं सयं चेव॥192॥

स्वयं पाद प्रच्छालन करके, चर्या को श्रावक के धाम।

धर्म लाभ कहकर आँगन में, भिक्षा पाए पात्र प्रधान॥192॥

अन्वयार्थ :- (पत्तं पक्खालिऊण) पात्र को प्रक्षालित करके (चरियाय) चर्या / आहार के

Y X Y

Y X Y
 लिये श्रावक के घर में (पविसड़) प्रवेश करता है और (पंगणे ठिच्चा) प्रांगण / आँगन में ठहरकर (धम्मलाहं) धर्म लाभ (भणिऊण) कहकर (सयं चैव) स्वयं ही (भिक्षुं) भिक्षा को (जायइ) जाता है, प्राप्त करता है, माँगता है।

अर्थ :- स्वयं ही पात्र का प्रक्षालन करके चर्या के लिए श्रावक के घर में प्रवेश करता है और आँगन में ठहरकर धर्म-लाभ कह कर स्वयं ही भिक्षा को प्राप्त करता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् श्रावकों के आचार विचार का वर्णन करते हुए कह रहे हैं- उत्कृष्ट श्रावक पर्व के दिनों में नियम से उपवास रखता है। कदाचित् स्वास्थ्य की अनुकूलता ना होने की वजह से वह रस आदि का त्याग करके भी आहार कर सकता है। एक समय था, जब क्षुल्लक स्वयं ही पात्र का प्रक्षालन करते थे और स्वयं के कपड़े स्वयं ही धोते थे, जब चर्या को जाते थे तो वह पड़गाहन अर्थात् जैसा मुनिराजों का पड़गाहन होता था वैसी ही प्रक्रिया अपनाकर श्रावक के घर में शुद्ध प्रासुक आहार करते थे। हे स्वामी इच्छामि-3, अत्रो-3 तिष्ठो, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि बोलकर मम् गृह में प्रवेश कराते थे। घर के समीप पहुँचकर भोजनशाला में पधारने को कहते। फिर उच्चासन देते, कई संघों में आज भी प्रक्रिया है कि क्षुल्लक के पैर चौके में धुलाते हैं और अर्घ्य भी चढ़ाते हैं। कई संघों में इस प्रकार की प्रक्रिया नहीं चलती है। श्रावक की श्रद्धा में क्या सही है क्या गलत है, वह स्वयं निर्णय कर लेगा किन्तु हम जैसे पीछी धारी साधु होकर भी यह कहते हैं कि एकलबिहारी साधु को आहार मत दो, उनकी सुरक्षा व्यवस्था मत बनो, आर्यिका माता की पूजन नहीं करो, क्षुल्लक-ऐलक को अर्घ्य मत चढ़ाओ। क्या प्रक्रिया सही है? साधु बनना समाज के लिए गौरव की बात है किन्तु इस प्रकार का भेद करके समाज वालों को नियम दिलाकर के यह कहाँ तक उचित है। समाज ने अपना दायित्व आपको सौंपा है कि आप उनकी रक्षा करेंगे, उन्हें सही दिशा-निर्देश देंगे किन्तु क्या यह सही दिशा-निर्देश है? मान लो कोई भी साधु एकलबिहारी नहीं रहना चाहता है, कभी उनके सामने ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती है कि ना चाहते हुए भी वह ऐसा कदम उठाते हैं और कुछ स्वेच्छाचारी रहना चाहते हैं। गुरु आज्ञा उन्हें नहीं सुहाती है। अब आप बताइये बूढ़े बुजुर्ग साधु जिस उम्र में उन्हें किसी के सम्हालने की आवश्यकता होती है, उस समय वह हमारे नगर में आये और हम ये कहे कि हमारा तो एकलबिहारी साधु को आहार कराने का त्याग है। अब आप विचार कीजिये या तो वह अगले स्थान पर जाकर चर्या करे या उपवास करें। इत्तफाक से खुदा ना खास्ता उसी दिन उनका समाधिमरण हो गया, अब इसका पाप किसे लगेगा? आप जैन होकर भी यदि चर्या-परिचर्या नहीं कर सकते तो क्या दूसरे समाज के लोग आकर के चर्या कराएंगे? जैन धर्म एक ऐसा धर्म है जिसे विश्व में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है। इस धर्म में ही जैन साधु ही नियमपूर्वक एक बार आहार करते हैं, अगर करा दिया तो ठीक नहीं कराया तो भी ठीक है।

Y X Y

Y X Y

हम श्रावक हैं और श्रावक का क्या कर्तव्य है उसे साधु की परीक्षा करने का कोई अधिकार नहीं है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी रयणसार के अंदर श्रावक को फटकारते हुए कहते हैं-

भुक्ति मात्र प्रदानेन, का परीक्षा तपस्विनाम्।

तै सन्तः सन्त्वसंतो, वाग् ही दानेन शुद्ध्यति॥

घर में आये साधुओं की परीक्षा नहीं की जाती है बस इतना देखा जाता है कि वह रत्नत्रयधारी है, नग्न मुद्रा का धारी है, देशव्रती या महाव्रती है, पिछी कमण्डलधारी है आदि बस इतना देखते ही बस गद्गद् हृदय से सम्मानपूर्वक आहार देता वही वास्तविक श्रावक है।

राजा श्रेणिक जैसा महान् राजा उसने भी मछली पकड़ते मुनिराज और गर्भणी आर्यिका को नमस्कार कर लिया था। वह चाहता तो उसी समय नगर से बाहर निकलवा सकता था। किंतु नहीं। बंधुओ तुम भी राजा श्रेणिक हो, तुम्हें परीक्षा करने का अधिकार नहीं है। अगर श्रद्धा से पत्थर में शीष झुकाया तो परमात्मा तुमसे दूर नहीं है।

जं किपि पिडयभिक्षं, भुंजिज्जो सोहिऊण जुत्तेण।

पक्खालिऊण पत्तं, गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि॥193॥

प्रच्छालित कर पात्र स्वयं ही, श्रावक के गृह करे प्रवेश।

धर्म लाभ कहकर आँगन में, भिक्षा पाए आप विशेष॥193॥

अन्वयार्थ :- (जं किपि पिडय भिक्षं) जो कुछ भी योग्य भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे (जुत्तेण सोहिऊण) यत्नपूर्वक शोधकर (भुंजिज्जो) भोजन करें। (पत्तं पक्खालिऊण) पात्र को प्रक्षालित कर (गुरु सयासम्मि) गुरु के पास मे (गच्छिज्जो) जावें।

अर्थ :- जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो उसे यत्न पूर्वक शोधकर भोजन करें। पात्र को प्रक्षालन कर गुरु के पास में जावें।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् 11वीं प्रतिमा धारी श्रावक की चर्या का अनेक प्रकार से वर्णन करते हुए कहते हैं। श्रावकों को जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई है उसे वह यत्नाचार पूर्वक भोजन करे। पश्चात् पात्र को प्रक्षालित कर गुरु के समीप जावें।

उद्दिट्ठ पिंड विरओ, दुवियप्पो सावओ समासेण।

एयारसम्मि ठाणे, भणिओ सुत्ताणुसारेण॥194॥

सूत्रानुसार संक्षेप कथन है, एकादश प्रतिमा स्थान।

उद्दिष्ट आहार त्यागी दोनों, श्रावक गाये हैं व्रतवान॥194॥

Y X Y

(366)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अन्वयार्थ :- (एयारसम्मि ठाणे) ग्यारहवें प्रतिमा स्थान में (सुत्ताणुसारेण) उपासकाध्यन सूत्र के अनुसार (समासेण) संक्षेप से (उद्दिष्ट पिंड विरओ) उद्दिष्ट आहार के त्यागी (दुवियप्पो सावओ) दोनों के प्रकार के श्रावक (भणिओ) कहे गये हैं।

अर्थ :- ग्यारहवें प्रतिमा स्थान में उपासकाध्यन सूत्र के अनुसार संक्षेप में उद्दिष्ट आहार के त्यागी दोनों प्रकार के श्रावक कहे गये।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं उद्दिष्ट पिण्डविरति प्रतिमा के दो भेद – एक वस्त्रधारी व लंगोटीधारी किन्तु क्षुल्लक, ऐलक, क्षुल्लिका, आर्यिका आदि नाम नहीं दिये। श्री समंत भद्राचार्य ने तो स्पष्ट रूप से दो भेद भी नहीं किये। यह संक्षिप्त वर्णन शैली है। इसी में सब वर्णन गर्भित जानना चाहिये। आर्यिका का कुछ वेशाचरण क्षुल्लक के समान होता है, कुछ आचरण ऐलक के समान होता है। जैसे पुरुषों में क्षुल्लक-ऐलक दो भेद होते हैं, वैसे ही महिलाओं में क्षुल्लिका-आर्यिका दो भेद हैं। ये सब देशव्रती ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ही हैं। उपचार से महाव्रती तो संतोष के लिए हैं, मुख्य क्या है? इसकी कोई बात नहीं करता, उपचार-उपचार चिल्लाते हैं। मुख्य ग्यारह प्रतिमायें हैं, उपचार से महाव्रत है तो दीक्षा आदि भी औपचारिक मानना होगी, जो असंभव है जैसे – गृहस्थ श्रावक को भी उपचार से महाव्रती कहा है किन्तु मुख्यतः से तो अणुव्रती ही है। गुरु से अणुव्रत ही ग्रहण करता है। प्रत्याख्यान कषाय के कृष होने से महाव्रत का उपचार होता है।

जं सक्कइ तं कीरई, जं च ण सक्कइ तहेव सदहणं।

केवलिजिणेहि भणियं, सदहमाणस्स सम्मत्तं॥195॥

शक्ती जितनी उसे करो या, शक्ति ना हो वैसा श्रद्धान।

केवल ज्ञानी श्रद्धाधारी, को सम्यक्त्व बताए महान॥195॥

अन्वयार्थ :- (जं सक्कइ) जितनी शक्ति है (तं कीरई) उसे करो (जं च ण सक्कइ) और जितनी शक्ति नहीं है (तहेव) उसको वैसा ही (सदहणा) श्रद्धान करो (केवलिजिणेहि) केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान ने (सदहमाणस्य) श्रद्धान करने वाले को (सम्मत्तं) सम्यग्दर्शन (भणियं) कहा है।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान की जो आज्ञा है, उसे पालने की यदि सामर्थ्य हो तो आप उसका आचरण (पालन करें) यदि उस आज्ञा को पालने की सामर्थ्य न हो तो उसका सत्य श्रद्धान ही करें। केवली जिनेन्द्र भगवान ने उस श्रद्धान करने वाले को सम्यक्त्व कहा है। यह जीव सत्य श्रद्दालु होने से अजर-अमर शिवधाम को प्राप्त करता है।

विशदार्थ :- अभक्ष्ययोगी आचार्य भगवन् सम्यक्त्व का कथन करते हुए कहते हैं सम्यक्त्व

Y X Y

Y X Y
का पालन करने वाला जीव स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करता है। जिनेन्द्र भगवान की जो आज्ञा है उसे पालने की यदि शक्ति हो तो आप उसका आचरण कीजिए। यदि आज्ञा पालन की सामर्थ्य न हो तो उसका सत्य श्रद्धान ही करना चाहिए। उसी श्रद्धान करने वाले जीव को जिनेन्द्र भगवान ने सम्यक्त्व कहा है। यह जीव सत्य श्रद्दालु होने से अजर अमर शिवधाम को प्राप्त करता है।

॥इति श्रावक स्थान प्रकरण॥

गुरु का मूल्यांकन

एक समय की बात है। कि चन्द्रगुप्त और उसके गुरु चाणक्य घने जंगलों में होते हुए कहीं जा रहे थे। कुछ दूर जाने के बाद रास्ते में एक उफनता हुआ बरसाती नाला पड़ा, जिसे देखकर गुरु और शिष्य में इस बात को लेकर बहस होने लगी कि इस नाले को कौन पहले पार करे। थोड़े से विवाद के बाद चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की बात मान ली, चन्द्रगुप्त ने नाला पार किया और फिर उसी रास्ते से चाणक्य ने भी पार किया। चाणक्य ने कहा— चन्द्रगुप्त तेरे आगे रहने पर क्या मेरी बेइज्जती नहीं हुई।

चन्द्रगुप्त हाथ जोड़कर बोला— ‘अपराध क्षमा हो गुरुदेव! चाणक्य रहेगा तो हजारों चन्द्रगुप्त तैयार हो सकते हैं। मगर चन्द्रगुप्त एक भी चाणक्य नहीं बना सकता।’ अब गुरुदेव निरुत्तर थे।

जीवदयापयरणं (जीव दया प्रकरण)

अभय दान से अनंत मोक्ष सुख की प्राप्ति

देविंद चक्क वट्टित्ताण्डं, भोत्तूण सिवसुहमणंतं।

पत्ता अणंतसत्ता, अभयं दाऊण जीवाणं॥196॥

अभय दान देकर जीवों को, चक्रवर्ति इन्द्रों के भोग।

साद्यनन्त मोक्ष सुख पावन, का पाते प्राणी संयोग॥196॥

अन्वयार्थ :- पूर्व काल में अनंत भव्य जीव (जीवाणं अभयं दाऊण) जीवों को अभयदान देकर (देविंद चक्क वट्टित्ताण्डं) देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि के सुखों को (भोत्तूण) भोग कर (अणंत सत्ता) अनंत सत्ता स्वरूप (अणंतं सिवसुहं) अनंत मोक्ष सुख को (पत्ता) प्राप्त हुये हैं।

अर्थ :- पूर्व काल में अनंत भव्य जीव, जीवों को अभयदान देकर देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि के सुखों को भोगकर अनंत शैविक सत्ता स्वरूप अनंत मोक्ष सुख को प्राप्त हुये हैं।

Y X Y

(368)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् जीव दया का विशद वर्णन करते हुए कहते हैं इस जीव ने पूर्वकाल में अनेक पाप रूप कार्य किये हैं जिसके कारण से अनंत दुखों को प्राप्त कर रहा है। इन दुखों से छुटकारा पाने के लिए परम जिनधर्म की शरण पाकर भव-भव में उपार्जित किए गये संचित कष्टों को दूर करता है। अनंत भव्य जीवो ने पूर्वकाल में अनेक जीवों को अभयदान देकर अनंत पुण्य का संचय किया है जिसके फल से यह जीव देवेन्द्र अर्थात् देवों के इन्द्र सौधर्म इन्द्र आदि श्रेष्ठ पदों को प्राप्त किया और अनेक प्रकार की विभूतियों को पाकर सुख से जीवन व्यतीत करता है। चक्रवर्ती अर्थात् छः खंड अधिपति स्वामी होता है, प्रत्येक चक्रवर्ती उत्तम संहनन, उत्तम संस्थान से युक्त स्वर्ण वर्ण वाले होते हैं उनके 96 हजार रानियाँ होती हैं इनमें आर्यखंड की 32000, विद्याधर कन्याएँ 32000, मलेच्छखण्ड की 32000 कन्याएँ होती हैं। प्रत्येक चक्रवर्तियों के संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियाँ होती हैं। गणबद्ध राजा 32000, मुकुटबद्ध राजा 32000, मलेच्छ राजा-88 हजार, अंगरक्षक 360, रसोइये-360, बंधु वर्ग साढ़े तीन करोड़, थालियां-एक करोड़, गायें-तीन करोड़, घोड़े-18 करोड़, हाथी-84 लाख, उत्तमधीर-84 करोड़, पदाति गण-48 करोड़ इसके अलावा अनेक करोड़ विद्याधर होते हैं। हल-एक कोड़ा कोड़ी, 32000 नाट्य शालाएँ, संगीत शालाएँ-32000 होती हैं। चक्रवर्तियों के 96 करोड़ ग्राम, 16 हजार खेट, 24 हजार कर्वट, 4 हजार मंटब, 48 हजार पत्तन, 99 हजार द्रोणमुख, 14 हजार संकटम, 56 अव्तीद्वीप, काष्ठकुमोक्ष विवास 28 भोगते सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

14 रत्न-गज, अश्व, गृहपति, स्थपति, सेनापति, पट्टरानी पुरोहित ये सात जीव रत्न है तथा छत्र, असि, दण्ड, चक्र, कांकिणी, चिंतामणि, चर्म से सात निर्जीव रत्न होते हैं। चक्रवर्ती के चोमरों को 32 यक्ष दौरते हैं। नौ निधियां- काल, महाकाल, पांडु, मानव, शंख, नैसर्प पिंगल, नाना रत्न ये नौ निधियाँ श्रीपुर में उत्पन्न हुआ करती हैं। ये नव निधियाँ क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्य भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्न समूहों को दिया करते हैं। दशांगभोग-दिव्यपुर रत्न, निधि, सैन्य, भाजन, भोजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये चक्रवर्तियों के दशांग भोग कहे जाते हैं। ये सभी पूर्व पुण्य के प्रबल योग से चक्रवर्तियों को प्राप्त होता है।

छह निकाय के जीव के बध स्वरूप लाखों दुःखों से पीड़ित

जे पुण छज्जीववहं, कुणंति असंजया णिरणुकंपा।

ते दुहलक्खाभिहया, भमंति संसारकांतरे॥197॥

जो निर्दयी असंयत प्राणी, छह निकाय का जीव विघात।

Y X Y

Y X Y
करें वे लाखों दुख के भोगी, भव वन में भटकें कर घात॥197॥

अन्वयार्थ :- (जे पुण) और जो (णिरणुकंपा असंजया) निर्दयी असंयत (छज्जीववहं) छह जीवनिकाय के जीवों का वध (कुणंति) करते हैं, (ते) वे (दुहलक्खाभिहया) लाखों दुःखों से पीड़ित (संसार कांतारे) संसार रूपी जंगल में (भमंति) भ्रमण करते हैं।

अर्थ :- और जो निर्दयी असंयत छह जीवनिकाय के जीवों का वध करते हैं, वे लाखों दुःखों से पीड़ित संसार रूपी जंगल में भ्रमण करते हैं।

विशदार्थ :- निगोद आदि पाँच स्थावर, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय ये त्रस पाँच इस प्रकार यह छह जीव निकाय हैं।

श्रीमतां श्री जिनेन्द्राणां, प्रतिमाग्रे च पुण्यवान।

करोति यः घण्टादानं, सत्सौख्यं दिवि राजते॥

आचार्य भगवन् कहते हैं जो भव्य जीव श्री जिनेन्द्र देव की वीतरागमय शोभा से शोभित जिन प्रतिमा के आगे घण्टा दान करता है वह पुरुष महापुण्यवान समझा जाता है उसके पुण्य के उदय से भव्य जीव स्वर्गलोक में जन्म प्राप्त कर अनेक सुख प्राप्त करता है।

शास्त्रों में उल्लेख आता है कि मंदिर में प्रवेश करते ही प्रथम 3 बार घण्टा नाद करना चाहिए। इसका मतलब है कि कोई भगवान के सामने मनुष्य या देव दर्शन कर रहे हैं तो वे जगह दे दें। हम भी भगवान का दर्शन करने के लिए उपस्थित हो रहे हैं तथा घंटानाद दिव्यध्वनि का सूचक है, दिव्यध्वनि ॐकार रूप खिरती है जिसमें संपूर्ण श्रुतसमाहित है उसी प्रकार घण्टा नाद होता है जिसमें अनेक रहस्य छुपा है।

दुःखों से बचने के लिए अहिंसा में संलग्न होवें

णाऊण दुहमणंतं, जिणोवएसाओ जीव वहयाणं।

होज्ज अहिंसाणिरओ, जहि णिव्वेओ भवदुहेसु॥198॥

जिनोपदेश से जीवों के वध, का फल दुखमय रहा अनंत।

भव-भव में वैराग्य प्राप्त कर, धर्म अहिंसा धारा संत॥198॥

अन्वयार्थ :- (जिणोवएसाओ) जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से (जीव वहयाणं) जीवों के वध

Y X Y

(370)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
का फल (दुह मणंतं) अनंत दुःखमय जानकर यदि (भवदुहेसु) संसार दुःखों में (णिव्वेओ) निर्वेद
॥वैराग्य॥ है तो (अहिंसा णिरओ) अहिंसा में निरत / संलग्न (होज्ज) होइये।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से जीवों के वध का फल अनंत दुःखमय जानकर यदि संसार के दुःखों में निर्वेद (वैराग्य) है, तो अहिंसा में निरत (संलग्न) होइये।

विशदार्थ- क्षमामूर्ति आचार्य भगवन् ज्ञान की विशदता का विशद वर्णन करते हुए कहते हैं
स स I र
में जो भी जीव है वह चार गतियों में विभाजित है- नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव जिनमें 2 गतियाँ अशुभ और 2 गतियाँ शुभ मानी गई हैं क्योंकि मनुष्य और देव गति में जीव अपने हिताहित का ज्ञान प्राप्त करते ह

और धर्म की महिमा में जानकर उसमें संलग्न होते हैं किन्तु नरक और पशु यह अशुभ गति मानी गई है क्योंकि यहाँ जीव हिताहित का ज्ञान नहीं रख पाते हैं और धर्म कर्म का साधन प्राप्त नहीं कर पाते हैं। तथा 4 आयु कर्म में 3 आयु कर्म शुभ कहे गये हैं देव और मनुष्य तो श्रेष्ठ हैं ही तिर्यच आयु भी शुभ मानी गई है क्योंकि तिर्यच गति में कोई जाना नहीं चाहते हैं किन्तु दुर्भाग्य से प्राप्त हो जाती है तो छोड़ना नहीं चाहते अर्थात् मरना नहीं चाहते हैं। अतः तिर्यच आयु शुभ मानी गई है फिर भी लोग भोग या कषाय वश जीवों का वध करते देखे जाते हैं जो दुर्गति का कारण है लोग जानते हैं कि जीवों को पीड़ा होती है और हिंसा का दुष्परिणाम भोगना पड़ता है फिर भी उनके छोटे कर्म का उदय रहता कि वे छोड़ नहीं पाते भगवान का यह संदेश है कि हे भव्यात्मन्! यदि दुःखों से बचना चाहते हो तो अहिंसा का पालन करो जो विशद आनन्द का हेतु है।

जैसा बीज बोओगे वैसा फल पाओगे।

जो देइ परे दुक्खं, तं चिय सो लहइ लक्ख सय गुणियं।

वीयं जहा सुखित्ते, विवाइयं बहुफलं होइ॥199॥

जैसे अच्छे खेत में बोया, बीज होय भारी फलवान।

वैसे पर को दुख के फल से, पाय करोड़ों दुख अपमान॥199॥

अन्वयार्थ :- (जहा) जैसे (सुखित्ते) अच्छे खेत में (विवाइयं) बोया गया (वीयं) बीज (बहुफलं होइ) बहुत फल वाला होता है, उसी प्रकार (जो परे दुक्खं देइ) जो दूसरों को दुःख देता है, (सो) वह (तं चिय) उसके फलस्वरूप (लक्ख सय गुणियं) सौ लाख / करोड़ गुना दुःख (लहइ)

Y X Y

Y X Y
पाता है।

अर्थ :- जैसे अच्छे खेत में बोया गया बीज बहुत फल वाला होता है, उसी प्रकार जो दूसरों को दुःख देता है, वह उसके फलस्वरूप सौ लाख (करोड़) गुना दुःख पाता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जिस प्रकार उत्तम खेत में डाला गया लघु बीज भी समय आने पर बहुत फल देने वाला होता है। उत्तम बीज होने पर फसल अच्छी प्राप्त होती है किन्तु अगर बीज ही अच्छा नहीं डाला गया तो ना तो फल अच्छे मिलेंगे और ना ही वृक्ष की उत्पत्ति होगी। इसी प्रकार जीव भी अपनी शक्ति के अनुसार जो अच्छा बुरा कार्य करता हैवैसा ही फल पाता है। जो दूसरों को दुःख देता है वह सौ लाख (करोड़) गुना दुःख प्राप्त करता है।

स्वयंकृतं कर्मयदात्मना पुरः, फलं तदीयं लभते शुभाशुभं।

स्वयं का किया कर्म का फल स्वयं ही जीव प्राप्त करता है जो भी शुभ या अशुभ करता है जिस प्रकार कहावत है दूसरों के खाने से स्वयं का पेट नहीं भरता उसी प्रकार दूसरे के कर्म का फल दूसरे को प्राप्त नहीं होता यदि स्वयं के कर्म का फल और को मिलने लगे तो फिर किसी के साधना का फल मोक्ष भी किसी और को प्राप्त हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा कभी न हुआ है ओर न ही होगा 'न भूतो न भविष्यति' भो भव्यात्मन! आगम के सत्य को जानकर हमेशा पापों से डरते हुए धर्म की राह को प्राप्त करना चाहिए आजकल कई बार लोगों से सुना जाता है 'जो होगा देखा जाएगा' यह तब तक ही चलता है जब तक उनके ऊपर बीतती नहीं है किन्तु बीतने पर चीखते हैं, रोते हैं, पश्चाताप करते हैं। हे भगवन्! हमने ऐसा नहीं किया होता तो ये दिन नहीं देखने पड़ते, ये कष्ट नहीं भोगने पड़ते।

कोरोना को होने पर कर्फ्यू लगा हुआ देखा जा रहा है उसमें लोगों को घर से बाहर न निकलने की हिदायत दी जा रही है किन्तु कोई हठी व्यक्ति निकल पड़ते हैं बाहर जब पुलिस के डण्डे पड़ते हैं शरीर लाल नीला हो जाता है पीड़ा से कराहते हैं, कहते हैं बाहर ना निकले होते तो अच्छा था यही कर्मों का हाल है ऐसा जानकर कर्मों से बचने का प्रयास कर विशद जीवन मंगल होगा।

जीव दया - सम्पूर्ण सुखों का हेतु

इक्कंचिय जीवदया, जणेइ लोयम्मि सयल सोक्खाइं।

जह सलिलं धरणि गयं, णिप्पावइ सव्व सस्साइं॥200॥

लोक में जीव दया इक सब सुख, करने वाली है उत्पन्न।

जैसे भू में गया नीर सब, धान्यों को करता सम्पन्न॥200॥

Y X Y

(372)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अन्वयार्थ :- (लोयम्मि) लोक में (इक्कंचिय जीव दया) एक जीव दया ही (सयल सोक्खाइं) सम्पूर्ण सुखों को (जणेइ) उत्पन्न करती है, (जह) जिस प्रकार (धरणि गयं) भूमि में गया (सलिलं) जल (सव्व सस्साइं) सभी धान्यों को (णिप्पावइ) उत्पन्न कराता है।

अर्थ :- लोक में एक जीव दया ही सम्पूर्ण सुखों को उत्पन्न करती है, जिस प्रकार भूमि में गया जल सभी धान्यों को उत्पन्न कराता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं दया अर्थात् जीवों के प्रति परोपकार की भावना रखना। दया, अनुकंपा, करुणा ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं। भगवान् जिनेन्द्र देव का कहा हुआ दयामय धर्म ही इन संसारी जीवों को जन्म-मरण रूपी दुख से निकालकर मोक्ष सुख में पहुँचा देता है। प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है कोई भी मरना नहीं चाहता किन्तु आयु कर्म के आगे बेबस हैं। एक सेठजी ने अपने लड़के से कहा अवधिज्ञानी मुनिराज ने बताया है कि मैं मरकर विष्ठा का कीड़ा बनूँगा तथा मेरे सिर पर सफेद निशान होगा इसलिए तुम मुझे वह निशान देखकर जान से मार देना। कुछ समय बाद सेठजी का देहांत हो गया। सेठजी के मरने के कुछ दिन बाद पिता की आज्ञानुसार माथे पर तिलक वाले कीड़ा को ढूँढ़कर पुत्र ने जब-जब मारना चाहा तब-तब वह प्राण बचाने को अंदर ही अंदर समा गया। पुत्र अपने पिता को नाली के कष्ठ से बचाने के लिए मारना चाहता है किन्तु वह कीड़ा मरना नहीं चाहता है। जीव जिस पर्याय में रहता है उसे उसी पर्याय में अच्छा लगता है। इष्टोपदेश में आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी कहते हैं।

यो यत्र निवसन्-नास्ते, स तत्र कुरुते
र ि त म ।

यो यत्र रमते तस्मा-दन्यत्र स न गच्छति॥ इ.43॥

अर्थात् यह जीव जहाँ रहने लगता है वह वहीं रति करने लगता है। जहाँ रति करने लगता है वह वहाँ से अन्यत्र कहीं जाना नहीं चाहता है और वहीं आनंद से जीवनयापन करता है।

जिस प्रकार भूमि में फसल लगी होने पर उसमें गया जल सभी धान्यों को उत्पन्न कराता है इसी प्रकार से एक जीव दया ही जीवों को संपूर्ण प्रकार का सुख उत्पन्न करती है। अतः जीव दया का पालन अवश्य ही करना चाहिए।

हिंसा से सुख नहीं

णिंबाओ ण होइ, गुलो उछू ण य होंति निंबगुलियाओ।

Y X Y

Y X Y

हिंसाओं न होई, सुहं ण य दुक्खं अभयदानेण॥201॥

गुली नीम के वृक्ष में ना हो, गन्नातरु से नीम ना होय।

त्यों हिंसा से सुख ना होवे, अभय दान से दुख ना सोय॥201॥

अन्वयार्थ :- (णिंबाओ गुलो ण होइ) नीम के वृक्ष से गुली उत्पन्न नहीं होती (उछू निंब गुलियाओ) गन्ना से नीम और गुली पैदा नहीं होती, (हिंसाओ) इसी तरह हिंसा से (सुहं ण होइ) सुख नहीं होता (य) और जीवों के (अभयदानेण दुक्खं ण) अभयदान से दुःख नहीं होता।

अर्थ :- नीम के वृक्ष से गुली उत्पन्न नहीं होती, गन्ना से नीम और गुल्ली पैदा नहीं होती, इसी तरह हिंसा से सुख नहीं होता और जीवों के अभयदान से दुःख नहीं होता।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं हिंसा अर्थात् बिना प्रयोजन से किसी भी जीव को मारना। हिंसा का अर्थ है हि + न् + सा। हि अर्थात् निश्चय से, न अर्थात् नरक, सा अर्थात् वह। जो निश्चय से नरक भेजता है। हिंसात्मक कार्य करने से यह जीव नरक जाता है इसीलिए हिंसा में अलगाने से अहिंसा बन जाती है। अलग जाने से वह नरक का स्थान नहीं रहा करता तथा साक्षात् धर्म स्थान धर्म का निवास तथा धर्म का केंद्र बन जाता है इसीलिये कहा गया है अहिंसा परमोधर्मः अर्थात् अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है। जहाँ जरा-जरा सी बात पर एक दो नहीं सैकड़ों ही नहीं बल्कि हजारों लाखों लोगों को हिंसा का शिकार बना दिया जाता है। कभी धर्म के नाम पर, कभी समाज के नाम पर तथा कभी देश के नाम पर। वे ही भारत वर्ष जब गुलाम हुआ तथा वीर देश भक्तों ने लाखों की संख्या में फिरंगियों की हिंसक यातनायें सही तथा हिंसक वारदातों से क्रांतिकारियों ने फिरंगियों को भारत छोड़ने को मजबूर किया किंतु इस हिंसा में दोनों ओर से हिंसा के शिकार हुए। असंख्यात लोग मारे गये, अनेक औरतें विधवाएँ हुई, अनेक बच्चों से पिता की छत्रछाया छिन गई। और भी अनेक प्रकार की जनहानि होती रही ये सब हिंसा का ही परिणाम है।

हिंसा से कभी भी किसी जीव को सुख, आनंद की प्राप्ति नहीं होती है जिस प्रकार से नीमी के वृक्ष से गुली उत्पन्न नहीं होती, नीम कभी मिष्ठ नहीं होती, गन्ना से नीम और गुली प्राप्त नहीं होती इसी प्रकार से हिंसा से सुख नहीं होता और जीवों को अभयदान देने से दुख नहीं प्राप्त होता है अर्थात् विशद सुख की प्राप्ति होती है।

Y X Y

(374)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अभयदान दाता सर्वोत्तम सुख पाता है

जो देइ अभयदानं, देइ य सोक्खाइं सव्व जीवाणं।

उत्तम ठाणम्मि ठिओ, भुंजइ सव्वोत्तमं सोक्खं॥202॥

अभय दान दे सब जीवों को, वह देता है सब सुख दान।

वह उत्तम स्थान में स्थित, सर्वोत्तम सुख भोगे आन॥202॥

अन्वयार्थ :- (जो सव्व जीवाणं) जो सभी जीवों को (अभयदानं देइ) अभयदान देता है, (य सोक्खाइं देइ) वह सर्व सुखों को देता है (य) तथा (उत्तम ठाणम्मि ठिओ) उत्तम स्थान में स्थित होता हुआ (सव्वोत्तमं) सर्वोत्तम (सोक्खं) सुख को (भुंजइ) भोगता है।

अर्थ :- जो सभी जीवों को अभयदान देता है, वह सर्व सुखों को देता है तथा उत्तम स्थान में स्थित होता हुआ सर्वोत्तम सुख को भोगता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं जो प्राणी जीवों को अभयदान देता है संपूर्ण प्रकार के सुखों को प्राप्त करता है। जिसे अपने पराये का ज्ञान नहीं होता वह हमेशा पर को अपना मानता है तथा पर तो पर होता है पर कभी अपना हो ही नहीं सकता। इसीलिए जब पर व्यक्ति या पर वस्तु हमारे काम नहीं आते तो हमें भारी दुख पहुँचता है मगर हम यह नहीं सोचते कि प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी मजबूरी है। अपना-अपना स्वार्थ तथा प्रत्येक जीव की अपनी-अपनी आवश्यकता है तथा अपनी चाहत है। हम जिसे चाहते हैं उसे दूसरा भी चाह सकता है तथा हम जिस शिद्दत से उसे चाहते हैं उतनी ही शिद्दत से दूसरा भी चाहता हो तो क्या आश्चर्य। मगर परेशानी तो तब होती है जब एक ही वस्तु या एक ही व्यक्ति को चाहने वाले वे होते हैं जो एक दूसरे को अपना मानते हैं।

अभयदान अर्थात् जीवों को प्राण रक्षा का दान देना। हिंसक, क्रूर प्राणी जब जीवों को कष्ट देते हैं उस समय उन्हें प्राण दण्ड ना देकर बल्कि उन्हें प्राण रक्षा का दान देना ही अभयदान है। अभयदान करने से जीव रक्षा के साथ-साथ जीव दया का भी पालन होता है। अनंगसरा की घटना सभी जानते हैं।

लोभ व आरम्भ की निवृत्ति सबसे उत्तम जीव दया

लोभाओ आरम्भो, आरम्भाओ य पाणि वहो।

लोभारंभणियत्ते, ण परं अह होइ जीवदया॥203॥

लोभ से हो आरम्भ तथा, आरम्भ से हो जीवों का घात।

Y X Y

Y X Y
अतः लोभ आरम्भ से निर्वृत, जीव दया धारो हे भ्रात॥203॥

अन्वयार्थ :- (लोभाओ आरम्भो) लोभ से आरम्भ होता है (य) और (आरम्भाओ) आरम्भ से (पाणि वहो) प्राणी वध होता है, (अह) इसीलिये (लोभारंभणियत्ते) लोभ व आरम्भ की निवृत्ति होने पर (परं) श्रेष्ठ (जीवदया होइ) जीव दया होती है, अर्थात् लोभ आरंभ की निवृत्ति सबसे उत्तम जीव दया है; (ण) इससे लोभ आरम्भ की निवृत्ति अन्य और कोई जीव दया नहीं है।

अर्थ :- लोभ से आरम्भ होता है और आरम्भ से प्राणी वध होता है इसलिये आरम्भ की निवृत्ति होने पर श्रेष्ठ जीव दया होती है अर्थात् लोभ व आरम्भ की निवृत्ति सबसे उत्तम जीव दया है; इससे अन्य और कोई जीव दया नहीं है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं लोभ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'लो' अर्थात् लोक में, 'भ' अर्थात् भटकाने वाला। जो लोक में भटकाने वाला है उसे लोभ कहते हैं। एक लोभ कषाय के जीवन में प्रवेश करते ही अन्य तीन क्रोध, मान, माया कषायें भी आ जाती हैं। जो जीवन को क्षत विक्षत कर देती हैं। कषाएँ जीवन की शांति भंग कर देती हैं और अनेक कष्ट देती हैं।

कहावत सिद्ध है- 'लोभ पाप का बाप बखाना' अर्थात् जहाँ लोभ होगा वहाँ परिग्रह की वृद्धि होगी। ग्रह 9 कहे गये हैं किन्तु परिग्रह दशवाँ महाग्रह है जिसके 9 ग्रह लगे हों वह तो फिर भी मुक्त हो सकता है किन्तु जिसको परिग्रह लगा हो वह किसी प्रकार से मुक्त नहीं हो सकता है। परिग्रह जहाँ है वहाँ आरम्भ होगा ही क्योंकि आरम्भ और परिग्रह एक-दूसरे के पूरक हैं सहयोगी हैं यही हिंसा के प्रबल हेतु हैं हिंसा का लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है- 'प्रमत्त योगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमाद के योग से जीवों के प्राणों का व्योग होना हिंसा है। प्रमाद के 15 भेद हैं- 4 कषाय, 4 विकथा, 5 इन्द्रिय, 1 निद्रा, 1 स्नेह, जहाँ प्रमाद है वहाँ हिंसा है, जैसे कि जहाँ गंदगी है वहाँ जीवोत्पत्ति है। रोगोत्पत्ति भी है। प्रमाद जीवन की सबसे बड़ी गन्दगी है जो प्रमाद से बच गया वह हिंसा से बच गया और कर्म रोग से बच गया अतः हिंसा से निवृत्ति के लिए प्रमाद की निवृत्ति करें। गुरुदेव ने कहा है धर्म करने के लिए सबसे पहले अधर्म (पाप) को छोड़ दें धर्म स्वतः हो जाएगा उसी प्रकार प्रमाद से बच जाएँ हिंसा से अपने आप बच जाएंगे।

धर्म - जीवदया मूलक

धम्मं करेइ तुरिया धम्मेण य होंति सव्व सुक्खाइं।

जीवदयामूलेण य पंचेंदियणिग्गहेणं च ॥204॥

Y X Y

(376)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
धर्म के द्वारा होंय सभी सुख, अतः शीघ्र शुभ धर्म करो।

जीव दया है मूल धर्म का, इन्द्रिय निग्रह आप करो॥204॥

अन्वयार्थ :- (धम्मेण) धर्म से (सव्व सुक्खाइं) सब सुख (होंति) होते हैं, इसलिये (तुरिया) शीघ्रता से (धम्मं) धर्म को (करेइ) करना चाहिये (य जीवदयामूलेण) तथा वह जीव दया धर्म मूलक है (च) और (पंचदियणिग्गहेणं) पंच इन्द्रिय निग्रह से जीव दया होती है।

अर्थ :- धर्म को शीघ्र करना चाहिए, क्योंकि धर्म से सभी सुख होते हैं धर्म का मूल जीव दया है, पंच इन्द्रिय निग्रह से जीव दया का पालन होता है।

रहमान का त्याग

एक समय रहमान नाम का किसान गरीबी में आई विपत्ति से छुटकारा पाने अपनी जान से प्यारी गाय को बेचने गया। बाजार में कई कसाई उसी गाय पर ललचाये, रहमान का दिल उनकी शक्ल देखकर ही काँप जाता था। मोल भाव चल रहा था, कसाई लोग 60 रु. तक देने को तैयार थे, पर रहमान ने सौदा नहीं किया। तभी सेठ दाऊ दयाल उस बाजार से गुजरे, जैसे ही गाय पर उनकी नजर पड़ी, वह उनकी हो गई। रहमान ने भी देखा भले आदमी हैं, मेरी गाय मजे में रहेगी, ऐसा विचार कर 35 रुपये में गाय सेठ को दे दी। आगे आगे दाऊ दयाल और पीछे पीछे गाय लेकर रहमान चल रहा था, आँखों से आँसू गिर रहे थे। सेठजी का घर आ गया, तब रहमान बोला— ‘सेठजी अपने हरवाहे से कह देना, मेरी गाय को मारे न’ इतना कहकर रहमान रो पड़ा; जैसे कि कोई पिता अपनी बेटी को विदा कर रोता है। कालांतर में रहमान दाऊ दयाल से कभी माँ को तीर्थयात्रा कराने के लिये, तो कभी माँ के अंतिम संस्कार के लिए कर्ज लेता है पर भावना सदा देने की रखता है। इस बार रहमान की फसल ऐसी आई कि पूरे गाँव में धूम मच गई। रहमान तो प्रभु को याद करते हुए बार-बार सोच रहा था कि इस बार सारी फसल से सेठजी का कर्ज चुका दूँगा; पर भाग्य में कुछ ओर ही लिखा था। पूस का महीना था, ठंड के मारे रहमान काँप रहा था। तापने को अग्नि जलाई, तभी तेज हवा चली आग फैल गई और देखते ही देखते सारी फसल जल गई। रहमान दुःखी मन से आकाश की ओर निहार रहा था, सोच रहा था अब कैसे दाऊदयाल का कर्ज चुकाऊँगा।

तभी सेठजी का आदमी आया, ‘चलो रहमान! सेठजी ने बुलाया है।’ रहमान सेठजी के घर जाकर उनके चरणों में गिर पड़ा, ‘हुजूर आप ही रक्षक हैं, सारी फसल जल गई, अब चाहे मारो, चाहे पालो।’ तभी सेठजी ने रहमान को उठाकर गले से लगाया और बोला— ‘रहमान तू दुःखी मत हो, तेरे ऊपर मेरा

Y X Y

Y X Y
क I इ

कर्ज नहीं है, मैं तो तुझे आजमा रहा था आज से तू मेरे कर्ज से मुक्त है' इतना सुनते ही रहमान बोला, 'नहीं हुआ यहाँ नहीं तो वहाँ चुकाना पड़ेगा।' तब सेठजी बोले - 'मैंने यहाँ वहाँ सब जगह माफ किया, तू इंसान नहीं भगवान है। तूने विपत्ति में भी घाटा उठाकर मुझे गाय दी थी और हमारे धर्म की रक्षा की। आज से ये घर तेरे लिए सदा के लिये खुला है, जो चाहेगा, मिलेगा' तो बंधुओ! रहमान का त्याग उसे महान् बना गया, इसी प्रकार जो धर्म मार्ग पर चलते हुए त्याग व्रत का पालन करते हैं, इतिहास उन्हें याद करता है।

सभी दुःखों का कारण पाप

जं किंचि णाम दुक्खं, णारय तिरियाण तह य मणुयाणं।

तं सव्वं पावेणं, तम्हा पावं विवज्जेह॥205॥

पशू नारकी और मनुष्यों, के जो कुछ भी दुःख सभी।

वे सब पापों से होते हैं, अतः पाप को तजो अभी॥205॥

अन्वयार्थ :- (णारय तिरियाण च) नारकी और तिर्यज्चों (तहय) तथा (मणुयाणं) मनुष्यों के (जं किंचि दुक्खं) जो कुछ भी दुःख हैं (तं) वे (सव्व) सभी (पावेणं) पापों से हैं, (तम्हा) अतः (पावं) सब पापों को (विवज्जेह) छोड़ना चाहिये।

अर्थ :- नारकी और तिर्यज्चों तथा मनुष्यों के जो कुछ भी दुःख हैं, वे सभी पाप से होते हैं; अतः सब पापों को छोड़ना चाहिये।

विशदार्थ :- यदि कोई भी आदमी एक गुण धारण कर ले तो दूसरे सारे गुण भी उसके पास-अपने आप आ जायें। इसी तरह यदि एक अवगुण छोड़ दे तो सारे अवगुण भी अपने आप चले जायें। जैसे साधु के साथ साधु का और असाधु के साथ असाधु का मेल होता है, वैसे ही बात गुण और अवगुण के बारे में भी जानना चाहिए। एक घटना के द्वारा कहा गया है।

एक सेठ था। उसके पास अपार सम्पत्ति थी, लेकिन उसका लड़का दुर्व्यसनी और आवारा था। सेठ ने बहुत कोशिश की कि किसी तरह वह सुधर जाए पर उसकी आदत इतनी बिगड़ चुकी थी कि वह रास्ते पर आ ही नहीं रहा था। सेठ उसके कारण बहुत दुखित रहने लगा, लेकिन कुछ करते नहीं बनता था।

एक दिन उस सेठ के गाँव में एक साधु का आगमन हुआ। सेठ सत्संगति स्वभाव का था। वह साधु के पास आया करता। एक दिन दुखी मन से उसने साधु महाराज से अपने लड़के के दुर्व्यसनी होने की

Y X Y

(378)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
बात कही और उनसे प्रार्थना की कि आप किसी तरह उसे रास्ते पर ला सकें तो मेरे कुल की रक्षा हो सकती है नहीं तो मेरा हाल तो उस कहावत के अनुसार होगा, जिससे कहा गया है, “डूब्या वंश कबीर का, जाया पूत कमाल।”

साधु ने कहा, “उसे एक दिन मेरे पास भेज देना। तुम्हारा लड़का एक महीने के भीतर-भीतर ठीक हो जायेगा।” उसमें किसी तरह का दोष नहीं रहेगा। तुम निश्चित रहो।”

सेठ ने अपने लड़के को साधु के पास जाने की बात कही। पहले तो वह टालता रहा, किन्तु फिर पिता ने अधिक आग्रह किया और कुछ खींझ-कर कहा कि जाने मात्र से तुम्हारा क्या बिगड़ता है, एक बार थोड़ी सी देर के लिए हो आओ, तो उसने सोचा पिताजी का इतना आग्रह है तो चलो, पाँच सात मिनट के लिये हो आवें।

वह चला गया उस साधु जी के पास।

साधु जी ने उस लड़के को स्नेह से अपने पास बैठाया, उसकी पीठ पर हाथ फेरा और बोले, “तुम्हारे कारण तुम्हारे पिताजी बहुत दुखी हैं, इसलिये मैं चाहता हूँ कि अपने व्यसनों में से तुम कम से कम एक व्यसन छोड़ दो।”

लड़के ने पूछा, “आप मुझे कौन सा व्यसन छोड़ने के लिये कहते हैं।”

साधु ने कहा, “परस्त्री गमन छोड़ सकते हो।”

लड़के ने कहा, “यह तो असम्भव है। इतना आनन्द तो मुझे और कहीं नहीं मिलता।”

साधु ने दूसरा प्रश्न पूछा, “शराब पीना छोड़ोगे?”

लड़के ने कहा, “यह तो और भी असम्भव है। शराब पीने से जो मस्ती आती है वह और किसी चीज से नहीं।”

साधु महाराज ने आगे पूछा, “चोरी करना, जुआँ खेलना, वेश्यागमन, झूठ बोलना इनमें से कोई सी आदत छोड़ सकते हो?”

लड़के ने कहा, “कोई सा व्यसन मैं नहीं छोड़ सकूंगा, किन्तु झूठ बोलना जरूर छोड़ सकता हूँ।”

साधु ने कहा, “बस इतना काफी है। मैं तुम्हें और कुछ छोड़ने के लिए नहीं कहता। लेकिन झूठ छोड़ने की बात तुमने मंजूर की है, इस पर दृढ़ रहना।”

“मैंने जो वचन दिया है, उसमें फर्क नहीं पड़ेगा।” कहकर लड़का वापस चला गया।

कुछ ही दिनों बाद वह लड़का अपने मित्रों के साथ वेश्या के कोठे पर जा रहा था। रास्ते में कुछ

Y X Y

Y X Y
लोग मिल गये। उन्होंने उन मित्रों से पूछा, “कहाँ जा रहे है आप लोग?”

वह लड़का तपाक से बोला, “हम लोग तो नूरजहाँ के कोठे पर जा रहे हैं।”

दूसरे मित्रों ने उस लड़के से कहा, “यार यह बात किसी से कहने की होती है क्या? और कहीं का नाम ले देते।”

इस पर लड़के ने कहा, “मेरे दोस्तो, मैंने सत्य बोलने का संकल्प लिया है। कुछ भी हो, असत्य वचन कभी नहीं बोलूंगा।”

मित्रों ने कहा, “तुम ऐसे ही धर्मराज युधिष्ठिर के अवतार हो तो कल से ही अपना रास्ता नापो। अब तुम्हारा हमारा साथ नहीं। ऐसी सत्यवादिता हमें नहीं चाहिए।”

लड़के ने कहा, “अच्छी बात है।”

और दूसरे दिन से कोई साथी न होने के कारण धीरे-धीरे उसकी कोठे पर जाने की आदत छूट गई। कुछ दिन बाद जब वह अपने जुआरी मित्रों के साथ जुएँ के अड्डे पर जा रहा था तो नगर के एक बूढ़े आदमी ने पूछ लिया, “यह मित्रों की टोली कहाँ जा रही है।”

लड़के ने सहज भाव से बता दिया, “हम लोग तो जुआ खेलने जा रहे हैं। और उस अड्डे का नाम भी बता दिया, जहाँ वे जा रहे थे।”

साथी मित्रों ने आपत्ति की और जब उसने अपने सत्य बोलने के संकल्प की बात कही, तो वे भी कन्नी काट गये। इस तरह साथियों के अभाव में उसके जुआँ खेलने की आदत भी छूट गई।

कुछ दिन बात यह लड़का अपने चोर मित्र के साथ निकला चोरी करने। रात का समय था। रास्ते में सिपाही मिल गये। उन्होंने पूछा, “इस अंधेरी रात में तुम लोग कहाँ और क्या करने जा रहे हो?”

लड़के ने चट कह दिया, “हम लोग तो चोरी करने निकले हैं।”

दूसरों चोरों ने उस लड़के को बहुत धमकाया, “यार, तुम्हारा साथ तो खतरनाक है, कहीं मरवा डालोगे तुम!”

लड़के ने कहा, “कुछ भी हो, मैं झूठ तो बोलने से रहा।”

इस तरह चोरों का साथ भी छूट गया। अब तो वह एकदम अकेला पड़ गया। धीरे-धीरे उसके सारे दुर्व्यसन छूट गये जैसे- शराब पीना, जुआँ खेलना, चोरी करना, वेश्यागमन आदि-आदि। उसका मन थोड़ा थोड़ा घर के धंधे में लगने लगा, क्योंकि न तो उसका कोई साथी ही रहा था और न उसमें कोई

Y X Y

(380)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
दुर्व्यसन ही।

लड़के में यह परिवर्तन देखकर उसके पिता को बहुत आनन्द हुआ और उसने इस चमत्कार को महात्मा जी का प्रसाद माना।

एक मात्र व्यसन – झूठ छूटने से जिस तरह दूसरे दुर्गुण छूट गये, उसी तरह सत्य के आने से एक-एक करके दूसरे गुण भी उसमें आने लगे। धीरे-धीरे वह एक चतुर, ईमानदार और प्रतिष्ठित व्यापारी बन गया।

सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति का हेतु धर्म

णरणरवइदेवाणं, जं सुखं उत्तमं होइ।

तं धम्मेण विहण्णइ, तम्हा धम्मं सया कुणह॥206॥

सुरपति नरपति देवों के सुख, श्रेष्ठ प्राप्त जो होंय प्रधान।

वे सब धर्म से ही होते हैं, अतः धर्म तुम करो महान॥206॥

अन्वयार्थ :- (णरणरवइ देवाणं) मनुष्य, नरपति, देव को प्राप्ति (राजा) और (जं) जो (सव्व उत्तमं सुखं होइ) सब में श्रेष्ठ सुख प्राप्त होते हैं (तं) वे सब (धम्मेण) धर्म से ही (विहण्णइ) प्राप्त होते हैं। (तम्हा) इसलिये (धम्मं) धर्म को (सया) सदा (कुणह) करना चाहिये।

अर्थ :-मनुष्य, नरपति और देवों को जो सभी श्रेष्ठ सुख प्राप्त होते हैं, वे सब धर्म से ही प्राप्त होते हैं इसलिये धर्म को सदा करना चाहिए।

विशदार्थ- अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् धर्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं इस जीव को भूतकाल में जो कुछ भी सुख प्राप्त हुआ, भविष्यकाल में जो कुछ भी सुख प्राप्त होगा और वर्तमानकाल में जो कुछ भी सुख प्राप्त हो रहा है उन सभी संपूर्ण प्रकार के सुखों का कारण धर्म ही है। धर्म जड़ है जिस प्रकार से वृक्ष की जड़ मजबूत हो और उसमें निरंतर खाद्य, पानी मिलता रहेगा तो वह सदैव ही लहराता रहेगा और फल-फूल प्राप्त अपने-अपने समय से मिलते रहेंगे। वैसे ही धर्म और पुण्य करने के अनेक साधन है चाहें वह दान हो या फिर व्रत, संयम, नियम चारित्र का पालन करना हो इन्हीं सभी हेतुओं से ही धर्म और पुण्य की प्राप्ति होती है इसलिए निरंतर ही धर्म का आचरण करना चाहिए।

धर्म वह संजीवनी बूटी है जो हरेक रोगों पर अपना अधिकार रखती है अर्थात् हर रोगों की एक दवा है जिसके द्वारा असाध्य से भी असाध्य रोग दूर होकर जीव को स्वास्थ्य लाभ प्राप्त होता है उसी

Y X Y

Y X Y
प्रकार धर्म से सभी प्रकार की समस्याओं का निवारण होता है और सुखी जीवन प्राप्त होता है।

सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति का हेतु जीवदया व क्षमा

सो दाया सो तवसी, सो य सुही पंडिओ य सो चेव।

जो सयलसुखवीयं, जीवदयं कुणइ खंतिं च॥207॥

सर्व सुखों का बीज रहा जो, जीव दया अरु क्षमा विशेष।

दाता वही तपस्वी है वह, पण्डित सुखी रहे अवशेष॥207॥

अन्वयार्थ :- (जो) जो (सयल सुख वीयं) सम्पूर्ण सुखों का बीज (जीवदयं) जीवदया (च) और (खंतिं) क्षमा को (कुणइ) करता है (सो दाया) वह दाता है, (सो तवसी) वह तपस्वी है, (सो य सुही) वह सुखी है (य सो चेव) और वह ही (पंडिओ) पंडित है।

अर्थ :- जो सम्पूर्ण सुखों का बीज जीवदया और क्षमा को करता है, वह दाता है, वह तपस्वी है, वह सुखी है और वह ही पंडित है।

विशदार्थ- उपसर्ग जयी आचार्य भगवन् जनसमुदाय को संबोधित करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार से बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है अगर बीज बरत है तब भी उत्पत्ति संभव नहीं है किंतु बीज खेत में डालने से उसमें समय से खाद्य, पानी देने से वह वृद्धि को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार से सम्पूर्ण सुखों का बीज जीवदया और क्षमा को करना है। प्रत्येक जीव के प्रति दयालुता के भाव, करुणा की चाह रखना, उसकी सेवा करना आदि क्षमा के विषय में सभी जानते हैं। कितनी भी विषम परिस्थिति आ जाए उस जीव के प्रति क्रोध का भाव नहीं आने देना और माफ कर देना। वह जीव ही दाता है, वह तपस्वी है, वह सुखी है और वही पंडित है।

भगवान महावीर के सिद्धान्त में उन जीवों की भी दया की बात कही गई जिन्हें कोई देख भी नहीं सकता है, किन्तु ज्ञान से या अनुभव से जाना जाता है वह है स्थावर जीव उनकी रक्षा हेतु साधारण एवं सप्रतिष्ठित वनस्पति का त्याग किया जाता है तथा बिना प्रयोजन स्थावर जीवों की रक्षा के लिए अनर्थदण्ड व्रत धारण करने का संदेश अर्हन्तों ने दिया है जो विशद धर्म का हेतु है।

अहिंसादि पंचाणुव्रत का पालन

मा कीरउ पाणिवहो, मा जंपह मूढ अलियवयणाइं।

मा हरह परधणाइं, मा परदारे मइं कुणह॥208॥

अरे मूढ! मत कर प्राणी वध, झूठ वचन मत बोल कभी।

Y X Y

(382)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
पर धन चोरी कभी ना करना, परस्त्री मति त्याग सभी॥208॥

अन्वयार्थ :- (मूढ) हे मूर्ख प्राणी! (पाणिवहो) प्राणियों का वध (मा कीरउ) मत कर। (अलिय वयणाइं) असत्य वचनों को (मा जंपह) मत बोल। (परधाणाइं) दूसरों के धन को (मा हरह) मत चुरा। (परदारे) दूसरों की स्त्री में (मइं) बुद्धि को (मा कुणह) मत लगा।

अर्थ :- हे मूर्ख प्राणी! प्राणियों का वध मत कर। असत्य वचनों को मत बोल। दूसरों के धन को मत चुरा। दूसरों की स्त्री में बुद्धि को मत लगा।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् अहिंसादि पंच अणुव्रत के विषय में कहते हैं कि किसी भी जीव के प्राणों का वध नहीं करना अहिंसा है। किसी भी प्रकार से झूठ नहीं बोलना सत्य है। किसी की रखी, पड़ी वस्तु को उसकी अनुमति के बिना नहीं उठाना अचौर्य है। दूसरों की स्त्री के प्रति आसक्ति का भाव नहीं रखना और दूसरों के पुरुषों के प्रति आसक्ति का भाव नहीं रखना ब्रह्मचर्य है। अपनी आवश्यकतानुसार वस्त्र, बर्तन आदि वस्तुएँ रखना परिग्रह परिमाण है। इन सबका विशद वर्णन अन्य गाथाओं में आ चुका है इसलिए अपनी शक्ति अनुसार पंच अणुव्रत का पालन अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि श्रावकपने का प्रारम्भ अणुव्रत से ही होता है। अणुव्रत के अभाव में श्रावक नहीं कहा जा सकता है- 'सम्यग्दृष्टि श्रावक विरताऽनन्त वियोजक क्षपकोपशम-कोपशांत मोह क्षपकक्षीणमोह जिनाः क्रमशोऽसंख्येय गुण निर्जरा' ॥45 त.सू.॥ अर्थात् सम्यग्दृष्टि, श्रावक, महाव्रती, अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाला क्षपक आदि क्रमशः असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करते हैं यहाँ प्रथम सम्यग्दृष्टि फिर श्रावक अर्थात् जो व्रती है वही श्रावक है इसके पूर्व सम्यग्दृष्टि तो हो सकता श्रावक नहीं।

क्षमा मार्दव-आर्जव भाव से मोक्ष फल की प्राप्ति

जो कुणइ मणे खंती, जीवदया मद्वज्जुवं भावं।

सो पावइ णिव्वाणं, ण य इंदियलंपडो लोओ॥209॥

मन में क्षमा जीव रक्षा जो, मार्दव आर्जव भ्रात धरें।

वह निर्वाण प्राप्त करता है, इन्द्रिय लम्पट नहीं करें॥209॥

अन्वयार्थ :- (जो मणे) जो मन में (खंती) क्षमा (जीवदया) जीवदया, (मद्वज्जुवं) मार्दव और आर्जव (भावं) भाव को (कुणइ) करता है। (सो) वह (णिव्वाणं) निर्वाण / मोक्ष को पाता है (य) किन्तु (इंदिय लंपडो लोओ) इन्द्रिय विषयों में लम्पट॥आसक्ता॥ लोग (ण) निर्वाण को नहीं पाते हैं।

Y X Y

Y X Y

अर्थ :- जो मन में क्षमा, जीवदया, मार्दव और आर्जव भाव को करता है, वह निर्वाण / मोक्ष को पाता है, किन्तु इन्द्रिय विषयों में लम्पट लोग निर्वाण को नहीं पाते हैं।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् मोक्ष फल के विषय में कहते हैं कि जिन जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है उन्होंने पूर्व भव में व्रत, तप, संयम, चारित्र, धर्म आदि का पालन किया था तभी मोक्ष को पाया। इन्द्रिय विषयाभिलाषी जीव मोक्ष को नहीं पाते हैं किन्तु इन्द्रिय की लम्पटता का त्यागी ही मोक्ष को पाता है इसलिए सदैव ही मन में क्षमा का भाव, जीव दया पालन, मार्दव भाव, आर्जवभाव को करता है वही निर्वाण सुख को प्राप्त करता है। समस्त कर्मों के नष्ट होते ही एक शाश्वत अनुपम सुख प्राप्त होता है। एक ऐसा आनंद जिसे प्राप्त करने के लिए यह जीव अनादिकाल से अनंत काल तक प्रयत्न करता है तब कहीं अनेक कठिनाईयों से जूझते हुए वह मोक्ष सुख को पाता है।

‘तपसा निर्जरा च’ सूत्र के आधार पर जीव संवर सहित निर्जरा करके ही मोक्ष को प्राप्त कर पाता है। अतः संवर के हेतु व्रत गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र में संवर के हेतु हैं प्रथमतः धारण कर मुक्ति की ओर अग्रसर होकर ही विशद मोक्ष की प्राप्ति होना संभव है।

जीव हिंसा आत्मघात का कारण

जो परहड़ जीवाणं, पहरड़ सो अप्पणो सगसत्तेसु।

अप्पाणं जो बड़री, दुक्खसहस्साण सो भागी॥210॥

जो प्रहार करता जीवों पर, करे स्वयं आत्म का घात।

निज आत्म का शत्रू है वह, दुःख सहस भोगे वह भ्रात॥210॥

अन्वयार्थ :- (जो जीवाणं पहरड़) जो जीवों पर प्रहार करता है (सो) वह (सगसत्तेसु) स्वकीय वैभाविक उन हिंसा भावों में (अप्पणो परहड़) अपनी आत्मा का घात करता है, (अप्पाणं बड़री) जो अपनी आत्मा का शत्रु है सो वह (दुक्ख सहस्साणं) हजारों दुःखों का (भागी) भोक्ता होता है।

अर्थ :- जो जीवों पर प्रहार करता है, वह स्वयं उस हिंसा से अपनी आत्मा का घात करता है, जो अपनी आत्मा का शत्रु है वह हजारों दुःखों का भोक्ता होता है।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् निरंतर स्वलेखनी के माध्यम से जनसमुदाय को संबोधित करते हुए कहते हैं। हिंसा महापाप है। ऐकेंद्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों को बिना किसी कारण के मारना, सताना, पीड़ा आदि देना ये सभी हिंसा के अंतर्गत है। जो जीवों का वध करता है वह अन्य जीवों की हिंसा का फल तो

Y X Y

(384)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
प्राप्त करता ही है साथ ही स्वयं उस हिंसा से अपनी आत्मा का घात करता है। जो स्वयं अपनी आत्मा का शत्रु है वह हजारों दुखों का भोक्ता होता है और अनेक प्रकार के दुखों को भोगता हुआ दुखी होता है। पुरुषार्थ-सिद्धियुपाय में आचार्य महाराज कहते हैं कि जीव का लक्षण ज्ञान दर्शन स्वभाव में लीन रहना है किन्तु जो स्वभाव छोड़ विभाव में आ जाता है वह अपने स्वभाव का घातक होने से स्वयं का घातक होता है। अतः हिंसा पाप त्यागकर अहिंसा धर्म को पाकर मोक्ष मार्गी बनना चाहिए।

धर्म से आत्म – सुख की प्राप्ति

जो कुण्ड जणो धम्मं, अप्पाणं सो सया सुहं कुण्ड।

संचयपरो य सुच्चिय, संचय सुह संचओ जेण॥211॥

धर्म करे जो मानव अपनी, निज आत्म को सुखी करे।

धर्म के संचय में तत्पर वह, सुख का संचय आप करे॥211॥

अन्वयार्थ :- (जो जणो) जो मनुष्य (धम्मं कुण्ड) धर्म को करता है (सो) वह (सया) सदा (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (सुहं कुण्ड) सुखी करता है। (य) और (सुच्चिय) स्वच्छ मन से निरंतर (संचयपरो) धर्म के संचय में तत्पर है, (संचय सुहसंचओ) वह ही सुख का संचय करने वाला होता है।

अर्थ :- जो मनुष्य धर्म को करता है, वह सदा अपनी आत्मा को सुखी करता है और अच्छे मन से निरन्तर धर्म के संचय में तत्पर है, जिससे वह ही सुख का संचय करने वाला होता है।

विशदार्थ- साहित्य रत्नाकर आचार्य भगवन् धर्म की महिमा का कथन करते हुए कहते हैं धर्म से ही मनुष्य के दोनों लोक सुधरते हैं, धर्म करने वाले मनुष्य के लिए इस भव में मान सम्मान विश्वास प्राप्त होता है तथा आत्मीय शांति की प्राप्ति होती है एवं पुण्योदय बनने से पूर्व संचित अशुभ कर्मों का क्षय होता है तथा शुभ कर्म का आस्रव बंध होता है जो दोनों प्रकार से फलदायी हैं इस लोक में विभिन्न प्रकार से धन धान्य समृद्धि एवं लोकपूज्य पदों की प्राप्ति होती है और परभव में राज्य सम्पदावान चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त होते हैं तथा पुण्य से ही परमार्थ भूत उत्तम कुल, उत्तम आयु, उत्तम संहनन और संस्थान इत्यादि प्राप्त होते हैं। जो साधना में साधक होते हैं पुण्य के फल से अनायास ही शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और अन्जान लोग भी सेवक सहयोगी बनकर चारित्र और तप में वृद्धि कराते हैं जो कर्म के संवर और निर्जरा में कारण बनते हैं जिससे जीव मोक्ष के राही बनते हैं और संसार वास को छोड़कर सिद्ध सुपद को प्राप्त कर अनन्त सुख के भोगी होते हैं।

अभयदान से आत्म-सुख की प्राप्ति

Y X Y

Y X Y

जो देइ अभयदानं, सो सोक्ख सयाइं अप्पणो देइ।

जेण ण पीडेइ परं, तेण ण दुक्खं पुणो तस्स॥212॥

अभय दान दे जो जीवों को, करे सैकड़ों सौख्य प्रदान।

पीड़ित नहीं करे ओरों को, उसको दुख ना दे कोई आन॥212॥

अन्वयार्थ :- (जो अभयदानं देइ) जो जीवों को अभय दान देता है (सो) वह (अप्पणो) अपनी आत्मा के लिये (सोक्ख सयाइं) सैकड़ों सुखों को (देइ) देता है। (जेण) जिस कारण से वह (पीडेइ) दूसरे जीवों को पीड़ित नहीं करता है (तेण तस्स) उससे उसको (पुणो) पुनः (ण दुक्खं) दुःख नहीं पहुँचता है।

अर्थ :- जो जीवों को अभयदान देता है, वह अपनी आत्मा को सैकड़ों सुख देता है। जिस कारण से वह दूसरे जीवों को पीड़ित नहीं करता उससे उसको पुनः दुःख नहीं पहुँचता।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् अभीक्षण ज्ञानोपयोग के बल से युक्त जन समुदाय को संबोधित करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में दान चार ही प्रकार के बताये हैं किन्तु जिसने गाय, सोना, पृथ्वी, रथ, स्त्री आदि का दान दिया है वह दान निश्चय से अनर्थ का उत्पादन कराने वाला है यहाँ पर कथन अभयदान का चल रहा है। अभयदान का तात्पर्य उनको रक्षा का भाव रखना जिसमें प्राणियों की रक्षा के या कष्टों को दूर करने के भाव होते हैं। उसे अभयदान कहते हैं। घटना सभी को विदित है जब राजकुमार नेमीनाथ की बारात जूनागढ़ पहुँची उस समय एकाएक उनकी दृष्टि बाड़े में बंधे पशुओं पर पड़ी जहाँ से करुण आवाज आ रही थी। अचानक नेमीनाथ को धक्का सा लगा यह क्या है? इसे जानने के लिए नेमीनाथ सारथी से बोले रथ रोको अभी पहले ये बताओ सारथी बाड़े के अन्दर पशु बंधे हुये हैं क्यों उनकी करुण आवाज आ रही है। सारथी ने कहा महाराज क्षमा करें, बाड़े में जो पशु बंधे हैं रो रहे हैं, करुण स्वर में रुदन कर रहे हैं। महाराज सभी को अपने प्राण प्रिय होते हैं उन्हें भी प्राण प्रिय हैं इसलिये मारे जाने के भय से रुदन कर रहे हैं। महाराज आपकी शादी में माँसाहारी राजा आयेंगे उनके भोजन हेतु इन मूक प्राणियों को मारा जाएगा। ऐसी व्यवस्था की गई है। जैसे ही नेमीनाथ ने सुना सुनकर स्तब्ध रह गये और विचार करने लगे अहो! धिक्कार है ऐसी शादी को कि जिसमें जीवों की हिंसा होगी, मुझे नहीं करना है ऐसी शादी। सारथी रथ रोको और नेमीनाथ रथ से उतर कर वन की ओर चले गये। लौकांतिक देवों ने आकर उनके वैराग्य की प्रशंसा की। प्रभु देवों द्वारा लाई गई पालकी पर आरूढ़ होकर शीशावन की ओर दीक्षा हेतु चले गये। यह था नेमीनाथ का अभयदान।

विशल्या के पूर्व भव में अनंगशरा को जब अजगर ने मुँह में ग्रास बना लिया था तब उसने भी

Y X Y

(386)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
परिवार जन से यही कहा था जब मूक प्राणी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो आप अपना स्वभाव मत छोड़िए, आप लोग इसे मत मारिये। ये उसका अभयदान था। बंधुओ यदि तुम दूसरों की रक्षा करोगे तो वे तुम्हारी रक्षा करेंगे। किसी के लिए कहा है 'कर भला तो होगा भला, नेकी के बदला नेक है। छोड़ दे हिंसा हृदय से जीव सबका एक है।' भलाई का परिणाम बुरा नहीं होता है लोग कहते हैं हमने अच्छा किया और हमें उसका परिणाम बुरा मिला तो यह भ्रम है, भ्रांति है। यदि आपने अच्छा किया है तो आज नहीं कल उसका परिणाम अच्छा होगा, ऐसी भावना रखते हुए सदैव जीवरक्षा करना चाहिये। अभयदान में सूकरी की घटना प्रसिद्ध है। मालव देश के घट ग्राम में एक देविल नाम का कुम्हार और धमिल्ल नाम का नाई रहता था। उन दोनों ने पथिक जनों के ठहरने के लिए एक धर्मशाला बनवाई। एक दिन देविल ने मुनि के लिए वहाँ पहले निवास दे दिया, पश्चात् धमिल्ल ने परिवारजन को स्थान देकर मुनिराज को वहाँ से निकाल दिया। जिससे वे वृक्ष के नीचे रातभर डांस मच्छर तथा शीत आदि की बाधा को सहन करते हुए ठहरे रहे। प्रातः काल ऐसा करने से देविल और धमिल्ल दोनों में परस्पर युद्ध हुआ जिससे दोनों मरकर विंध्याचल में क्रम से सूकर और व्याघ्र हुए।

जिस गुफा में सूकर रहता था उसी गुफा में एक दिन समाधिगुप्त और चित्रगुप्त नाम के दो मुनिराज आकर ठहर गये। उन्हें देखकर देविल के जीव सूकर को जातिस्मरण हो गया जिससे उसने धर्म श्रवणकर व्रत ग्रहण कर लिया। उसी समय मनुष्य की गंध को सूँघकर मुनियों को खाने के भाव से वह व्याघ्र भी वहाँ आ पहुँचा। सूकर उन मुनियों की रक्षा के भाव से गुफा के बाहर द्वार पर खड़ा हो गया। वहाँ भी वे दोनों परस्पर युद्ध में मरे सूकर का भाव मुनियों की रक्षा के अभिप्राय से अच्छे भावों को धारण करता था। इसलिये वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में महान ऋद्धियों को धारण करने वाला देव हुआ? परन्तु व्याघ्र मुनियों के भक्षण के अभिप्राय से खोटे भावों की धारणा करता था इसलिये वह मरकर नरक गया यह अभयदान (वसतिका) का फल है।

मैं जिन्दगी में किसी का कष्ट मिटा पाऊँ।

किसी की जिन्दगी में सुख साधन जुटा पाऊँ॥

विशद जिन्दगी को खुश नसीब समझूँगा।

जो किसी के वास्ते जिन्दगी अपनी लुटा पाऊँ॥

इन्द्रिय निग्रह – धर्म का मूल

जीवदया सच्च वयणं, परधण परिवज्जणं सुसीलं च।

खंती पंचेदिय, णिग्गहो य धम्मस्स मूलाइं॥213॥

Y X Y

Y X Y

जीव दया का सत्य वचन शुभ, पर धन त्याग शील व्रत धार।

क्षमा धार पंचेन्द्रिय निग्रह, मूल धर्म का ये है सार॥213॥

अन्वयार्थ :- (जीव दया) जीवों पर दया (सच्च वयणं) सत्य वचन (परधण परिवज्जणं) पराये धन का परित्याग (च सुसीलं) और शील व्रत का पालन करना। (खंती) क्षमा धारण करना (पंचेन्द्रिय णिगहो) और पंच इंद्रियों का निग्रह करना। (धम्मस्स) ये धर्म के (मूलाइं) मूल हैं।

अर्थ :- जीवों पर दया, सत्य वचन, पराये धन का परित्याग और शीलव्रत का पालन करना, क्षमा धारण करना और पंचेन्द्रियों का निग्रह करना, ये धर्म के मूल हैं।

विशदार्थ- साहित्य रत्नाकर आचार्य भगवन् धर्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जड़ अर्थात् मूल दूसरे अर्थों में करुणा और रहम भी होता है। दया का मूल धर्म है जब तक हृदय में दया है तब तक धर्म उस पर टिका हुआ है। दया की अनुपस्थिति में धर्म का कोई अस्तित्व नहीं है। धन अर्थात् रुपया पैसा संपत्ति जिससे मानव की हर भौतिक सुख सुविधा की प्राप्ति होती है जिसके अभाव में मानव अधूरा है। धन को ग्यारहवां प्राण कहा गया है जितना धन है उसी में संतोष धारण करना और पराये धन का त्याग करना धर्म का मूल है। साथ ही शीलव्रत का पालन करना अपनी स्त्री के अलावा अन्य स्त्रियों का परित्याग करना शीलव्रत है। क्षमा भाव करना, दूसरों को क्षमा करना और स्वयं भी क्षमा करना ऐसे विशद परिणाम करना और पंच इंद्रियों को निग्रह करना अर्थात् उपर्युक्त सभी कारणों का पालन करना ये सभी धर्म के मूल हैं। कहा भी है-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

प्राणी दया ना छोड़िए, जब तक घट में प्राण॥

अर्थात् धर्म का आदि दया से है और अधर्म का मूल अभिमान है अतः दयावान होकर स्व पर उपकारी बनना ही विशद जीवन का सार है।

दयालु सर्वत्र पूज्यनीय

जस्स दया तस्स गुणा, जस्स दया तस्स उत्तमो धम्मो।

जस्स दया सो पत्तं, जस्स दया सो जए पुज्जो॥214॥

दयावान के गुणाहिंसादिक, दयावान है पात्र प्रधान।

दयावान के धर्म है उत्तम, दयावान जग पूज्य महान॥214॥

अन्वयार्थ :- (जस्स दया) जिसके हृदय में दया है (तस्स गुणा) उसके अहिंसादि/क्षमा गुण

Y X Y

(388)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
हैं, (जस्स दया) जिसके दया है (तस्स) उसके (उत्तमो धम्मो) उत्तम धर्म है, (जस्स दया) जिसके दया है (सो) वह (पत्तं) पात्र है, (जस्स दया) जिसके दया है (सो) वह (जए) जगत् में (पुज्जो) पूज्य है।

अर्थ :- जिसके दया है, उसके अहिंसादि गुण हैं; जिसके दया है उसके उत्तम धर्म है; जिसके दया है, वह सुपात्र है; जिसके दया है, वह जगत् में पूज्य है।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् श्रमणों में प्रधान श्रमण अपनी विशद देशना में जनसमुदाय को सरल भाषा शैली में समझाते हुए कहते हैं। प्रत्येक प्राणी मात्र के प्रति दया का भाव अवश्य रखना चाहिए। जिसके हृदय में दया, करुणा नहीं है वह इंसान कहलाने का अधिकारी नहीं है जिसके हृदय में दया है उसी के हृदय में अहिंसादि गुण विद्यमान हैं। उसी के क्षमा, मार्दव, आर्जवादि गुण विद्यमान हैं। उसी के उत्तम धर्म है। जिसके हृदय में दयारूपी गुण विद्यमान है वही सुपात्र है, जिसके दया है वही जगत् में पूज्य है इसलिए प्रत्येक प्राणी के प्रति दयालुता का भाव अवश्य ही रखना चाहिए।

दया-तप, शील व मोक्ष की प्राप्ति का हेतु

जस्स दया सो तवसी, जस्स दया सो य सीलसंजुत्तो।

जस्स दया सो णाणी, जस्स दया तस्स णिव्वाणं॥215॥

दयावान है महातपस्वी, शीलवान ज्ञानी गुणवान।

दीप प्रज्ज्वलित हो जिसके उर, दया का वह पाए निर्वाण॥215॥

अन्वयार्थ :- (जस्स दया) जिसके दया है (सो) वह (तवसी) तपसी है। (य) और (जस्स दया) जिसके दया है (सो) वह (सील संजुत्तो) शीलवान है। (जस्स दया) जिसके दया है (सो) वह (णाणी) ज्ञानी है। (जस्स दया) जिसके दया है (तस्स) उसका (णिव्वाणं) निर्वाण। मोक्ष। होता है।

अर्थ :- जिसके दया है वह तपसी है, जिसके दया है वह शीलवान है, जिसके दया है वह ज्ञानी है और जिसके हृदय में दया रूपी दिया प्रज्ज्वलित है, उसका निर्वाण होता है।

विशदार्थ- अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् दया की विशद महिमा का बखान करते हुए कहते हैं जिस प्राणी के अंतरंग में दया रूपी गुण विद्यमान है वह तपसी है, दया को उल्टा करने पर याद होता है हमेशा याद रखें स्वयं को और प्राणी मात्र को क्योंकि कहा गया है औरों के साथ वह व्यवहार न करे जो आपको स्वयं पसन्द न हो इस बात को हमेशा याद रखे बस यही दया के लिए सबसे बड़ा सूत्र

Y X Y

Y X Y
है सबसे बड़ा आलम्बन है।

दया से रहित जीव – पशु तुल्य

जो जीवदयाजुत्तो, तस्स सुलद्धो य माणुजो जम्मो।

जो जीवदयारहिओ माणुसवेसेण सो पसवो॥216॥

मानव जीवन दयावान का, सार्थक माना महति महान।

जीव दया से रहित रहा जो, वह मानव है पशू समान॥216॥

अन्वयार्थ :- (जो जीवदया जुत्तो) जो, जीव समूहमात्र पर दयावान है (तस्स) उसका (माणुजो जम्मो) मनुष्य जन्म पाना (सुलद्धो) सार्थक है (य) और (जो जीवदया रहिओ) जो जीवों की दया से रहित है, (सो) वह (माणुसवेसेण) मनुष्य के वेष में (पसवो) पशु है।

अर्थ :- जो जीव दयावान है, उसका मनुष्य जन्म पाना सार्थक है और जो जीवों की दया से रहित है, वह मनुष्य के वेष में पशु है।

विशदार्थ- साहित्य रत्नाकर आचार्य भगवन् भव्य जीवों को संबोधित कर विशदता का वर्णन करते हुए कहते हैं। वह मानव जीवन अत्यंत दुर्लभता से प्राप्त हुआ है किन्तु मानव जीवन पाकर भी धर्म धारण नहीं किया। प्राणी मात्र के प्रति दया के भाव नहीं किये वह मानव पशु तुल्य है। मानव और पशु में प्रत्येक चीज में समानता पाई जाती है। जैसे- मानव खाना खाता है तो पशु भी खाता है। मानव में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाएँ पाई जाती हैं तो पशु में भाई जाती है। मानव हिंसादि पाप करता तो पशु भी करता है आदि अनेक क्रियाओं में समानता पाई जाती है। मात्र अंतर है तो मानव की मूँछ होती है और पशु की पूँछ होती है। किन्तु मूँछ वाला मनुष्य जब अपनी मूँछ के लिए अपने कर्तव्य मानवता से च्युत हो जाता है तो पशुता पर उतर जाता है और वहीं पूँछ वाला जानवर हिंसादि पापों को त्यागकर दया आदि धर्मों को धारण कर लेता है तब वही भगवान बन जाता है। इस मानव जीवन को सार्थक करना तभी संभव है जब वह दया धर्म को धारण करता है और अपनी आत्मा का कल्याण करता है। इसलिए निरंतर ही अपनी आत्मा के कल्याण का भाव रखना चाहिए।

जीव दया – संसार सागर की नौका

कल्लाण कोडि जणणी, दुरिय दुरियारि वग्गणिट्ठवणी।

संसारजलहितरणी, इक्कु चिय होइ जीवदया॥217॥

कोटिक कल्याणों की जननी, पाप शत्रु का निष्ठापक।

पार हेतु संसार सिन्धु के, दया विशद नौका व्यापक॥217॥

Y X Y

(390)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अन्वयार्थ :- (कल्लाण कोडि जणणी) करोड़ों कल्याणों को उत्पन्न करने वाली और **(दुरिय दुरियारि वग्गणिट्ठवणी)** पाप रूपी खोटे शत्रु वर्ग का ॥निष्ठापन॥ निराकरण करने वाली। **(संसारजलहितरणी)** संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए नौका स्वरूप **(इक्कु चिय जीवदया होइ)** एक जीव दया ही होती है।

अर्थ :- करोड़ों कल्याणों को उत्पन्न करने वाली और पाप रूपी खोटे शत्रु वर्ग का निराकरण करने वाली संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिये नौका स्वरूप एक जीव दया ही होती है।

विशदार्थ- वात्सल्य रत्नाकर आचार्य भगवन् दया की विशदता का विशद वर्णन करते हुए जन समुदाय को संबोधित करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार से समुद्र को पार करने के लिए नौका प्रमुख साधन है, नौका के अभाव में समुद्र पार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार से पाप रूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिए करोड़ों कल्याणों को उत्पन्न करने वाली जीव दया है जिसने अहिंसा जीव दया को धारण कर लिया उसने सर्वोत्कृष्ट सुख को प्राप्त करने के लिए अपना कदम बढ़ा लिया। वह जीव मोक्षमार्गी बनकर कालांतर में कभी न कभी निर्वाण को अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। रही बात अहिंसा को समझने की लोक जो हिंसा है उसे तो हिंसा नहीं मानते जो हिंसा नहीं है उसे हिंसा मानकर कल्याण प्रद क्रिया से वंचित हो जाते हैं। हिंसा का लक्षण आचार्य श्री उमास्वामी के शब्दों में 'प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा' जिस क्रिया में प्रमाद है वह हिंसा है चाहे श्रावक की क्रिया हो या श्रमण की, श्रावक के आवश्यक कर्तव्य में मुख्य है देव पूजा जिसमें किंचित् आरम्भ होता है जिसे लोगों ने हिंसा की क्रिया मानकर छोड़ दिया किन्तु धर्म स्थल पर होने वाले कार्यों में कषाय रागद्वेष बढ़ा दिया जो प्रमादकारी वास्तविक हिंसा है। अतः प्रमाद का त्याग ही मुक्ति का मार्ग है।

॥ इति जीव दया प्रकरण॥

अहो आत्मन्!

या दुग्धापि न दुग्धेव, कवि दोग्धृभि-ख्वहम्।

छृदि नः सन्निधतां सा, सूक्ति धेनुः सरस्वती॥

जिसे कविगण ग्वालों के समान दिन-रात दुहते रहते हैं फिर भी बिना दुही सी प्रतीत होती है। वह सूक्तियों की कामधेनु सरस्वती हमारे हृदय में निवास करे। कवि की कल्पना भी कितनी महान है जो कवि ने सूक्तियों को कामधेनु की उपमा दी है। कहा भी है 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पे पहुँचे कवि।' कामधेनु के द्वारा इंसान मनवांछित फल प्राप्त करता है अथवा धेनु अर्थात् माँ को लोग प्रतिदिन दुहते हैं फिर भी दुग्ध की प्राप्ति होती रहती है उसी प्रकार सूक्ति के अनेक अर्थों से विभिन्न प्रकार का कथन

Y X Y

Y X Y

होता रहता है और दुग्ध से मक्खन प्राप्त होता है उसी प्रकार जीवन मूलक सिद्धांत प्राप्त होते रहते हैं।

सूक्ति का अर्थ स+उक्ती अर्थात् वह उक्ती जिससे अनेक कार्य सिद्ध हो सकें।

यह देखा जाता है जो कार्य शक्ति से संभव नहीं होता वह युक्ती से क्षण मात्र में सिद्ध हो जाता है। कहा भी है- 'एक टान सौ जवान बराबर' होते हैं अर्थात् जो काम 100 जवान मिलकर नहीं कर सकते वह काम एक टान से हो जाता है अर्थात् कोई जमीन में गड़े पत्थर को उखाड़ना चाहे तो 100 जवान भी नहीं उखाड़ पाएंगे किन्तु उसी पत्थर के लिए एक लोहे की सब्बल के द्वारा एक ही व्यक्ति टान लगाकर उखाड़ सकता है अतः सिद्ध है 'विशद' शक्ति से अधिक युक्ति का महत्व है।

सावयविहिपयरणं (श्रावक विधि प्रकरण)

जीवन, वैभव व प्रेम क्षण भंगुर

जीविय जल बिंदु, समं संपत्ति तरंग लोलाओ।

सुविणंतरं च पिम्मं, जं जाणहि तं कुणिज्जासु॥218॥

जीवन जल बिन्दू सम अस्थिर, लहरों सम चंचल धन जान।

प्रेम स्वप्न सा रहा अनन्तरित, जो जाने सो कर इन्सान॥218॥

अन्वयार्थ :- (जीविय जल बिंदु समं) जीवन जल बिन्दु के समान विनाशीक है। (संपत्ति तरंग लोलाओ) संपत्ति जल तरंगों के समान चंचल है। (च पिम्मं सुविणंतरं) और प्रेम स्वप्न के समान अनन्तरित॥अन्तरयुक्त॥ है। (जं जाणहि) जो जानो (तं कुणिज्जासु) सो वह करो, अर्थात् जीवन वैभव व वैषयिक प्रेम से विरक्ति धारण करो।

अर्थ :- जीवन जल बिन्दु के समान विनाशीक है। सम्पत्ति जल तरंगों के समान चंचल है और प्रेम स्वप्न के समान अनन्तरित है; जो जानो, सो करो अर्थात् जीवन वैभव व वैषयिक प्रेम से विरक्ति धारण करो।

विशदार्थ- साहित्य रत्नाकर आचार्य भगवन् जनसमुदाय को समझाते हुए कहते हैं कि यह जीवन क्षण भंगुर है। क्षण-क्षण जीवन क्षीण हो रहा है किन्तु फिर भी इस जीव को आत्मकल्याण की सुध नहीं

है। यह जीवन जल की बूँद के समान विनाशीक है जिस प्रकार से जल की बूँद ज्यादा देर तक स्थाई नहीं रहती क्षण भर में नष्ट हो जाती है उसी प्रकार यह जीवन विनाशीक है। धन, संपत्ति, दौलत भी जल की तरंगों के समान चंचल है। आज हमारे पास धन, संपत्ति है किन्तु कल किसने देखा है कि हमारे पास

Y X Y

(392)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
धन संपत्ति है कि नहीं। ये सब पुण्य की महिमा है। प्रेम भी स्वप्न के समान अन्तरित है। हमारे लिए जो कुछ भी मिला है वह सब पुण्य की महिमा है इसलिए निरंतर पुण्य कार्यों को करते रहने चाहिए। ये जीवन, वैभव, प्रेम, सब कुछ क्षण भंगुर है इसलिए इनसे वैराग्य को धारण करना चाहिए। मानव जीवन की श्रेष्ठता भोगों में नहीं योगों में है इसीलिए चतुर्गति में सर्वश्रेष्ठ गति मनुष्य गति माना है वह संयम के कारण ही श्रेष्ठ मानी गई। अतः संयमी के सान्निध्य को प्राप्त कर उनकी सेवा करने से पुण्य होगा जो हमें संयम की ओर बढ़ने के लिए साधक होगा।

श्रावक के रहने योग्य स्थान

जत्थपुरे जिणभवणं, समयविउ साहु सावया जत्थ।

तत्थ सया वसियव्वं, परवजलं इंधणं जत्थ॥219॥

नगरी में जिन आगम ज्ञाता, श्रावक साधू करें निवास।

जल ईंधन पर्याप्त जहाँ हो, वहाँ करो हे ज्ञानी! वास॥219॥

अन्वयार्थ :- (जत्थपुरे) जिस नगर में (जिणभवणं) जिन मन्दिर हो (जत्थ) जहाँ पर (समयविउ) शास्त्रों के ज्ञाता (साहु सावया) साधु और श्रावक गण निवास करते हों (जत्थ) जहाँ पर (परवजलं) श्रेष्ठ पर्याप्त जल व (इंधणं) ईंधन हो (तत्थ) उस नगर या गाँव में (सया) सदा (वसियव्वं) रहना चाहिये।

अर्थ :- जिन नगर में जिन मन्दिर हो, जहाँ पर जैन वेद-शास्त्रों के ज्ञाता, साधु और श्रावकगण निवास करते हो, जहाँ पर श्रेष्ठ पर्याप्त जल व ईंधन हो, उस नगर या गाँव में निवास करना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं

धनिकः श्रोतियो राजा, नदी वैद्यस्तु पञ्चमः।

पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न तत्र दिवसं वसेत्॥

अर्थ :- जहाँ धनिक, श्रोत्रिय अर्थात् जैन वेदों को जानने वाला जैन ब्राह्मण, राजा, नदी और वैद्य ये पाँच चीजें न हों, उस स्थान पर मनुष्य को नहीं रहना चाहिए।

श्रावक के न रहने योग्य स्थान

यस्मिन् देश न सम्मानो, न वृत्तिन च बान्धवाः।

नच विद्याऽऽगमः कश्चित्, तं देशं परिवर्जयेत्॥

अर्थ :- जिस देश में आदर सम्मान न हो, आजीविका का कोई साधन न हो, कोई बन्धु बान्धव

Y X Y

Y X Y
और रिश्तेदार भी नहीं हों तथा किसी प्रकार की विद्या एवं गुणों की प्राप्ति की संभावना भी न हो, ऐसे देश को छोड़ देना चाहिए। ऐसे स्थान पर रहना उचित नहीं।

लोकयात्रा भयं लज्जा, दाक्षिण्यं त्यागशीलता।

पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न कुर्यात् तत्र संस्थितिम्।

अर्थ :- जहाँ लोकयात्रा अर्थात् जीवन के चलाने के लिये आजीविका का कोई साधन न हो, व्यापार आदि विकसित न हों, किसी प्रकार के दंड के मिलने का भय न हो, लोक लाज न हो, व्यक्ति अपने अपने कार्यों में चतुर और कुशल न हो, उनमें दान देने की प्रवृत्ति न हो, जहाँ ये पाँच बातें विद्यमान न हो, वहाँ व्यक्ति को निवास नहीं करना चाहिये।

देशव्रती श्रावक को यथाशक्ति पूजा विधान का निर्देश

विणओ वेय्यावच्चं, कायकिलेसो च पुज्जणविहाणं।

सत्तीए जहाजोगं कायव्वं देसविरएहिं॥220॥

देशव्रती श्रावक शक्ती युत, यथा योग्य शक्तिअनुसार।

काय क्लेश वैयावृत्त पूजा, या विधान भी करे अपार॥220॥

अन्वयार्थ :- (देसविरएहिं) देशव्रती श्रावक को (सत्तीए) अपनी शक्ति के अनुसार (जहाँ जोगं) यथा योग्य (विणओ) विनय (वेय्या वच्चं) वैयावृत्य (कायकिलेसो) कायक्लेश (य) और (पुज्जणविहाणं) पूजा विधान (कायव्वं) करना चाहिये।

अर्थ :- देशव्रती श्रावक को अपनी शक्ति अनुसार यथायोग्य विनय, वैय्यावृत्त, कायक्लेश और पूजा विधान करना चाहिये।

विशदार्थ- अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् संसार में भ्रमित भव्य जीवों को समझाते हुए कहते हैं कि देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करना प्रत्येक श्रावक का प्रथम कर्तव्य है। श्रावक के 6 आवश्यक कर्तव्यों में प्रथम कर्तव्य देव पूजा है जिसकी चर्चा अन्य गाथाओं में कर चुके हैं। इस ग्रंथ में आचार्य भगवन् ने षट्कर्मोपदेश माला ग्रंथ में एक-एक द्रव्य से पूजा के फल का विशद वर्णन अत्यंत सरल, सुबोध शैली में किया। इसलिए प्रत्येक जीव को श्रद्धान अवश्य ही करना चाहिए। साथ ही देव पूजा को यथाशक्ति अनुसार अवश्य ही करना चाहिए। अपनी शक्ति अनुसार विनय, वैयावृत्ति, कायक्लेश, तप, जप आदि भी करना चाहिए। देवपूजा भी उपचार से वैयावृत्ति ही है इस काल में अरहंत का अभाव होने से अर्हन्त के बिम्ब प्रतिष्ठा करके उनकी अभिषेक पूजन करके भव्य जीव पुण्यार्जन

Y X Y

(394)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
करते हैं तो जिन बिम्ब ही अरहंत देव हैं उनका अभिषेक-प्रच्छाल मञ्जन आदि भी अर्हन्त की वैयावृत्ति है। साक्षात् अरहंत के तो चरण भी स्पर्श करने को प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु बिम्ब की परिचर्या श्रावक के अधीन ही होती है जो सौभाग्य मान के करना चाहिए। यदि मजबूरी मान के करेंगे तो पुण्य नहीं प्राप्त होगा।

सम्यग्दर्शन किसे होता है

हिंसा रहिए धम्मे, अट्टारह दोस वज्जिए देवे।

णिगंथे पव्वयणे, सदहणं होइ सम्मत्तं॥221॥

हिंसा विरहित धर्म अटारह, दोष रहित जिनवर निर्ग्रन्थ।

साधू एवं जिन वचनों में, श्रद्धा है सददर्शन गुणवन्त॥221॥

अन्वयार्थ :- (हिंसा रहिए धम्मे) हिंसा रहित धर्म में (अट्टारह दोस वज्जिए देवे) अट्टारह दोषों से वर्जित देव में (णिगंथे पव्वयणे) निर्ग्रन्थ॥निष्परिग्रही॥ दिगम्बर जैन साधुओं में तथा प्रकृष्ट जिनेन्द्र कथित पूर्वापर विरोध रहित जिनागम में (सदहणं) श्रद्धान करने से (सम्मं) सम्यग्दर्शन (होइ) होता है।

अर्थ :- हिंसा रहित धर्म में, अट्टारह दोषों से वर्जित देव में, निर्ग्रन्थ - निष्परिग्रही दिगम्बर साधुओं में तथा प्रकृष्ट जिनेन्द्र कथित पूर्वापर विरोध रहित जिनागम में श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है।

विशदार्थ- वात्सल्य रत्नाकर आचार्य भगवन् जनसमुदाय को संबोधित करते हुए पुनः समझाते हुए कहते हैं यद्यपि सम्यग्दर्शन का वर्णन अन्य गाथाओं में आ चुका है। यहाँ संक्षिप्त वर्णन करते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यक् अर्थात् समीचीन, दर्शन-आचरण (श्रद्धान) संसार में जो भी वस्तुएँ हैं उनमें समीचीन श्रद्धान होने का नाम सम्यग्दर्शन है वस्तु का सत्स्वरूप जानकर हो श्रद्धान होना चाहिए। स्वरूप वस्तु से भिन्न नहीं होता, सम्यग्दर्शन किसे होता है? किसी के द्वारा प्रश्न होने पर गुरुदेव ने कहा सम्यग्दर्शन चारों गतियों में जीवों को प्राप्त होता है किन्तु विशेषता यह है कि जो भव्य हो, पर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी, जागृत अवस्था में हो तथा पाँच लब्धियाँ प्राप्त जीव (1) क्षयोपशम लब्धि (2) विशुद्धिलब्धि (3) देशना (4) प्रायोग्य (5) करण लब्धि में प्रथम प्रति समय कषाय की शुद्धता परिणामों में विशुद्धि प्राप्त तथा देव-शास्त्र-गुरु की देशना प्रवचन प्राप्त जीव जिसका संसार भ्रमण अर्ध पुद्गल परावर्तन शेष रहा हो ऐसा जीव तीन करण परिणाम करके सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य होता है। अनादिमिथ्या दृष्टि प्रथम चार कषाय, मिथ्यात्व को उपशम करता है फिर मिथ्यात्व के तीन टुकड़े करता

Y X Y

Y X Y
है फिर सप्त प्रकृतिवान होकर मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर 5-6-7 प्रकृति का उपशम करके सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यतावान होता है।

देशव्रती श्रावक के आठ मूल गुण

महु मज्ज मंस विरइ, चाओ पुण उंबराण पंचण्हं।

अट्टेव सुमूलगुणा, हवंति फुडु देसविरयम्मि॥222॥

मद्य मांस मधु से विरक्त हो, पंच उदुम्बर फल का त्याग।

ये स्पष्ट मूलगुण आठों, श्रावक के धारो अनुराग॥222॥

अन्वयार्थ :- (महु मज्ज मंस विरइ) मधु मद्य मांस से विरति (पुण) और (पंचण्हं उंबराण) पाँच उदुम्बर फलों का (चाओ) त्याग करना (फुडु देसविरयम्मि) ये स्पष्ट रूप से देशव्रती श्रावक के (अट्टेव) आठ ही (सुमूलगुणा) मूल गुण (हवंति) होते हैं।

अर्थ :- मधु, मद्य व मांस से विरति और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग करना, ये स्पष्ट रूप से देशव्रती श्रावक के आठ मूलगुण होते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं आगम में पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस एवं मधु का त्याग, ये आठ मूल गुण गृहस्थों के बतलाये हैं।

पंच उदुम्बर फल भक्षण त्याग— जो वृक्ष के काठ को फोड़कर फलें, वे उदुम्बर फल कहलाते हैं यथा – (1) गूलर या ऊमर (2) वट या बड़ (3) प्लक्ष या पाकर (4) कटूमर या अंजीर (5) पिप्पल या पीपल।

इन फलों में हिलते, डुलते, फिरते सैकड़ों जीव आँखों से दिखायी देते हैं। इनका भक्षण निषेध है, ये हिंसा का कारण और आत्मपरिणाम को मलिन करने वाला है। जिस प्रकार माँस—भक्षी के दया नहीं, मदिरा—पायी के पवित्रता नहीं, उसी प्रकार पंच उदुम्बर फल के खाने वाले के अहिंसा धर्म नहीं होता है। अतएव इनका भक्षण तजना योग्य है। इनके सिवाय जिन वृक्षों से दूध निकलता हो, ऐसे क्षीर वृक्षों के फलों का अथवा जिनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति होती हो, ऐसे सभी फलों का सूखा, गीला आदि सभी दशाओं में भक्षण सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार सड़ा—घुना अनाज भी अभक्ष्य है क्योंकि इसमें भी त्रस जीव होने से माँस भक्षण का दोष आता है; अतः वे भी त्याज्य हैं।

शराब (मद्यपान) सेवन के दोष

मद्य अर्थात् शराब महामोह को करने वाला है, सब बुराईयों का मूल है तथा सब पापों का सिरमौर

Y X Y

Y X Y
 है। इसके पीने से मनुष्य को हित और अहित का ज्ञान नहीं रहता। हित और अहित का ज्ञान न रहने से प्राणी संसार रूपी जंगल में भटकाने वाले पाप करने लगता है। सब लोक में यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीने के कारण यादव नाश को प्राप्त हुए थे। जुआ खेलने के कारण पाण्डवों को तेरह वर्ष तक जंगलों में तकलीफ भोगते रहना पड़ा था। मद्य की एक बूंद में इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत् में भर जायें, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। चूंकि मद्यपान से मन हित-अहित के विचार से शून्य हो जाता है और वह दुर्गति का कारण है, इसलिये इस लोक और परलोक में बुराईयों को पैदा करने वाले मद्य का सेवन करने का सज्जन पुरुषों को सदा के लिए त्याग करना चाहिये।

मद्यपायी सन्यासी की कथा

एकपात नाम का सन्यासी गंगा स्नान करने के लिये एकचक्र नाम के नगर से चला। मार्ग में वह विंध्याटवी से गुजरा। वहाँ भीलों का एक बड़ा भारी झुंड यौवन मद के साथ शराब पीकर मस्त हुई विलासिनी तरुणियों के साथ माँस और सुरा का सेवन कर रहा था। वह सन्यासी उस झुंड में जा फँसा। शराब के नशे में मस्त भीलों ने उसे पकड़ लिया और उससे बोले— “तुझे मद्य, माँस और तरुणी में से किसी एक का सेवन करना होगा, नहीं तो तू जीते-जी गंगा का दर्शन नहीं कर सकता।” यह सुनकर तापसी सोचने लगा— “स्मृतियों में एक तिल या सरसों के बराबर भी माँस खाने पर बड़ी-बड़ी विपत्तियों का आना सुना जाता है एवं भीलनियों के साथ संबंध करने पर प्रायश्चित् लेना पड़ता है। जो मृत्यु का घर है। किन्तु समस्त यज्ञों के सिरमौर सोमामणी नाम के यज्ञ में शराब पीने की अनुमति है और लिखा है कि— ‘जो विधि से मदिरा पान करता है; उसका मदिरापान, करना मदिरापान नहीं है।’ महुआ, पीठी जल, गुड़, धतूरा आदि जिन वस्तुओं से शराब बनती है, वे भी शुद्ध ही होते हैं।” ऐसा चिरकाल तक मन में विचार कर उसने शराब पीना स्वीकार किया।

सन्यासी केशराब पीते ही उसका मन चंचल हो उठा। नशे में मस्त होकर उसने अपनी लंगोटी खोल डाली। शराब पीकर मस्त हुई भीलनियों के गीत के साथ तालियाँ बजा-बजा कर कूदने लगा। उस समय उसकी दशा ऐसी हो गई, मानो उसके शरीर में कोई भूत घुस गया है। उसने अनेक विकृत चेष्टायें कीं और फिर भूख से पीड़ित होकर माँस भी खा लिया। उससे उसे असह्य कामोद्रेक हुआ और उसने भीलनी को भी भोगा। इस तरह वह तापसी मात्र मद्यपान करने से अपने उच्च पद से गिरकर एकदम नीच कर्म कर गया।

मद्यत्यागी धूर्तिल नामक चोर की कथा

बल्लभी नगरी में पाँच चोर रहते थे। उनमें से करवाल नाम का चोर मकानों में संध लगाने में

Y X Y

Y X Y
कुशल था; बटु दरवाजा खोलने में कुशल था; धूर्तिल महानिद्रा बुलाने में कुशल था; शारद छिपाये हुये धन को खोज निकालने में माहिर था तथा कृकिलाश ठग विद्या में निपुण था। पाँचों में परस्पर बड़ी प्रीति थी। अपने उद्यम और साहस से वे शिव के अर्धांग में निवास करने वाली पार्वती को, विष्णु के हृदय में बसने वाली लक्ष्मी को तथा दुर्गा की आँखों में अंजन को भी चुराने में समर्थ थे। वे चोरों के भी चोर थे तथा यमराज के दूतों के लिए भी यमराज के दूत थे।

एक बार रात में जब जोर से वर्षा हो रही थी और दिशाएँ काजल की तरह काली थीं, वे चोरी करके नगर से बाहर एक उद्यान में चोरी के धन का बँटवारा कर रहे थे— “यह मेरा है— यह मेरा है” कहकर परस्पर में झगड़ रहे थे। झगड़ा बंद करके उन्होंने शराब बुलवायी और पीने लगे। झगड़े के कारण उनके मन में क्रोध तो समाया ही हुआ था, शराब पीकर वे परस्पर में मुक्का—मुक्की और लठा—लठी करने लगे। धूर्तिल का यह नियम था कि यदि उसे किसी दिन किसी महामुनि के दर्शन होते थे, तो उस दिन के लिए वह एक व्रत ले लेता था। उस दिन भी उसे महामुनि के दर्शन हुये थे और उसने शराब न पीने का व्रत ले लिया था। इसी व्रत के कारण उसने शराब नहीं पी थी और इसी से वह बच गया तथा धूर्तिल के सिवाय बाकी सब मर गये। उक्त घटना के बाद शराब के कारण अपने साथियों का विनाश हुआ देखकर, धूर्तिल दुःख मूल— इस संसार से विरक्त हो गया। कामदेव रूपी वृक्ष की जटाओं के समान बालों को लोंच करके परलोक में अहित को जीतने वाले रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण, जिन दीक्षा को धारण कर लिया।

माँस निषेध

माँस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्ध से भरा है, दूसरों की प्राण हानि से तैयार होता है तथा कसाई के घर जैसे दुःस्थान से प्राप्त होता है। ऐसे माँस को भले आदमी कैसे खा सकते हैं? जिस पशु को माँस के लिये हमारे द्वारा मारा जाता है, दूसरे जन्म में वह हमें न मारे ऐसा कैसे हो सकता है? माँस के बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी वध करना समझ में आ सकता है, किन्तु ऐसा नहीं है। माँस के बिना मनुष्य का जीवन एकदम सात्विक रूप से और भी अच्छे रूप से चल सकता है।

धर्म से सुख चाहने वाले न जाने धर्म से द्वेष क्यों करते हैं? इच्छित वस्तुओं को देने वाले कल्पवृक्ष से कौन द्वेष करता है? यदि बुद्धिमान पुरुष थोड़े से कष्ट से अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है, तो जो काम उन्हें स्वयं के प्रति बुरा लगता है, उन कामों को दूसरों के प्रति भी उन्हें नहीं करना चाहिए।

माँस भक्षण संकल्पी राजा सौरसेन की कथा

Y X Y

(398)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

भगवान पुष्पदंत के जन्मोत्सव से पवित्र काकंदी नगरी में श्रावक कुलोत्पन्न सौरसेन नाम का राजा राज्य करता था। उसने अपना कुल- धर्म समझकर माँस खाने का त्याग कर दिया। बाद में कुछ वैदिकों, वैद्यों और शैवों के कहने से उसे माँस खाने की रुचि उत्पन्न हुई; किन्तु की गई प्रतिज्ञा को न निभाने के लोकापवाद से वह डरता था। उसका कर्मप्रिय नाम का रसोईया एकांत में अनेक जल-चर, थल-चर और बिलों में रहने वाले जंतुओं का माँस तैयार करता था। अनेक राज्य कार्यों में घिरे रहने से उसे माँस खाने के लिए एकान्त समय नहीं मिलता था। इस प्रकार राजा की आज्ञा के अनुसार रसोईया कर्मप्रिय प्रतिदिन माँस पकाता था। एक दिन उसने साँप का माँस पकाया और उसी के जहर से मरकर वह स्वयंभू रमण नाम के समुद्र में विशालकाय तिमिगिल नाम का महामत्स्य हुआ। कुछ काल के बाद राजा भी मरकर माँस खाने के संकल्प के कारण उसी समुद्र में उसी महामत्स्य के कान में उसका मैल खाने वाला मत्स्य हुआ। उसका शरीर शाली चावल के बराबर था। महामत्स्य मुँह खोलकर सोता रहता था और उसके गुफा के समान गहरे गले में नदी के प्रवाह की तरह जल-चर जीवों की सेना घुसकर जीवित निकल आती थी; उसे देखकर शालिमत्स्य सोचता था- “यह मत्स्य बड़ा पापी और अभागों से भी बड़ा अभागा है, जो अपने मुँह में स्वयं ही आने वाले मत्स्यों को भी नहीं खा सकता। यदि हार्दिक इच्छा के प्रभाव से दैववश मेरा इतना बड़ा शरीर हो जाये, तो मैं समस्त समुद्र को जल-चर जीवों से शून्य कर दूँ।”

इस संकल्प से अल्पकाय शालिमत्स्य और समस्त मगरमच्छों को खाने से महाकाय महामत्स्य मरकर सातवें नरक में तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु लेकर उत्पन्न हुये। उन दोनों को भव-प्रत्यय नाम का कुअवधिज्ञान था। अवधिज्ञान के द्वारा पूर्व जन्म का वृत्तांत जानकर वे दोनों नारकीय आपस में कहते हैं- “शालिमत्स्य मैंने बड़ा पाप किया, इसलिये मेरा यहाँ आना तो उचित ही था; किन्तु तुम तो मेरे कान के बिल में कान का मैल ही खाया करते थे, तुम यहाँ कैसे आये?” तब शालिमत्स्य उत्तर देता है- “तुम्हारे कर्म से भी बुरे महादुःख के कारण अशुभ-ध्यान से मरण होने से मैं यहाँ पैदा हुआ हूँ।”

सच कहा है कि - “बुरा कार्य तो निश्चित रूप से बुरा है, किन्तु जो बुरे कार्य न करते हुये भी मात्र कुध्यान किया करते हैं, उनका जीवन और ज्यादा दुखी हो जाता है।”

माँस त्यागी चाण्डाल की कथा

अवंति देश की उज्जयिनी नाम की नगरी में नगर के बाहर चंड नाम का एक चाण्डाल रहता था। एक दिन वह चाण्डाल मौज ले रहा था। उसके एक ओर माँस के व्यंजन रखे हुये थे, दूसरी ओर शराब से भरे कलश रखे थे। चाण्डाल माँस के व्यंजनों के साथ शराब पीता जाता था और बीच-बीच में

Y X Y

Y X Y
चमड़े की रस्सी बटता जाता था। आकाश में उड़ते हुये एक पक्षी शावक का मुँह खुल जाने से एक सर्प शराब में आ गिरा और उससे शराब विषैली हो गई।

इसी समय धर्मोपदेश तथा जन्म-जन्मांतर की कथाओं के द्वारा लोगों का उपकार करने के लिए भ्रमण करते हुये, दो चारण ऋद्धि धारी मुनियों को पास में ही आकाश में उतरते हुये देखकर चाण्डाल को बड़ा कौतूहल हुआ। वह भी उनके समीप गया। वहाँ नगर के श्रावकों को व्रत ग्रहण करते हुये देखकर उसने उन्हें प्रणाम किया तथा सुनंदन मुनि के अग्रवर्ती भगवान अभिनंदन मुनि से अपने योग्य व्रत की याचना की। जैसे मेघ सबके उपकार के लिये है, वैसे ही धार्मिक पुरुष भी सबके उपकार के लिये हैं। जैसे स्थान और अस्थान का विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है, वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हित की बात कहने में स्थान और अस्थान का विचार नहीं करते। ऐसा सोचकर भगवान अभिनंदन मुनि ने अवधिज्ञान से जाना की यह चाण्डाल जल्द ही मरने वाला है, अतः वे उससे बोले- “भाई चाण्डाल! माँस खाने और शराब पीने का तुम त्याग कर दो। प्रत्युत्तर में चाण्डाल बोला- “यह मेरे लिये संभव नहीं है क्योंकि मैं माँस और शराब के बिना नहीं रह सकता हूँ। तब मुनिराज ने पुनः उससे कहा- भाई चाण्डाल! जितनी देर तुम रस्सी वटो, उतनी देर के लिये तो तुम माँस और शराब का त्याग कर ही सकते हो।”

चाण्डाल ने इस बात को स्वीकार कर लिया और वहाँ से चलकर अपने स्थान पर वापस आ गया। वहाँ आकर उसने माँस खाया और संकल्प लिया कि- “जब तक मैं फिर उस स्थान पर नहीं जाऊंगा, तब तक के लिये मेरा माँस का त्याग है।” इसके बाद वह शराब के पास गया और वहाँ उसने शराब पी तथा संकल्प लिया कि- “जब तक मैं पुनः इस स्थान पर नहीं आऊंगा, तब तक के लिये मेरा शराब का त्याग है”; किंतु शराब पीते ही जहर के प्रभाव से उसका मरण हो गया तथा वह इस व्रत के प्रभाव से यक्ष कुल में प्रधान यक्ष हुआ।

मादक द्रव्य और उसके सेवन से हानि (वैज्ञानिक तथ्य)

“बुद्धिर्-लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते”

जो वस्तु बुद्धि को नष्ट करती है, उसे मदकारक (नशा) कहते हैं। बुद्धिविहीन मनुष्य, मनुष्य नहीं रहता, बुद्धि के नष्ट होने पर हिताहित की भावना समाप्त हो जाती है। बुद्धि के विनाश होने से मनुष्य मदोन्मत या पागल हो जाता है, विवेक नष्ट हो जाता है, मादक द्रव्यों से बढ़कर संसार की हानि, किसी दूसरी वस्तु से नहीं हुई। मादक द्रव्य अनेक हैं, उनमें मदिरा सबसे बढ़कर है। मदिरा को पुराण पुरुषों ने “सुरामल मन्यमानानां” मद्य को मल-मूत्र के समान अभक्ष्य ठहराया, इसका पीना ही नहीं, छूना भी

Y X Y

Y X Y
महापाप समझा।

तम्बाकू :- मनुष्य जाति के लिये वह दिन सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण दिन था, जिस दिन इस तम्बाकू के विषैले पत्ते का खान-पान मनुष्य ने प्रारंभ किया। मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और केवल मनुष्य ही इस विष का सेवन करता है। यह मूर्खता मनुष्य के हिस्से में आई, जो वह अपने परम शत्रु को भी परम हितैषी मान बैठा है। तम्बाकू पीने से मनुष्य रोगों का केन्द्र बन जाता है। इसके पीने से पित्त, वायु, कफ दूषित होकर नेत्र ज्योति, पाचन शक्ति और पुरुषत्व का हास होता है; दाँतों की कांति जाती रहती है; मुख और हाथों में दुर्गंध बस जाती है, मस्तिष्क, फेफड़े, छाती आदि अंग इस भयंकर विष से निर्बल होकर खाँसी, दमा, राजयक्ष्मा (तपेदिक) से ग्रसित हो जाते हैं। कहा है— भीख माँगना है तो बीड़ी पीना, गंदगी फैलाना है तो तम्बाकू खाना सीख लो।

तम्बाकू खाने की आदत वाले कितने प्रकार से झूठ या फरेव से अपनी बात सिद्ध करते हैं कहा गया है। एक बार एक व्यक्ति तम्बाकू खाता था उसकी पत्नी मना करती थी। एक बार उदास बैठा था तब कविमित्र ने पूछा क्या बात है उदास कैसे हो तो उसने बताया।

तम्बाकू पीने वाला जब इस नशे की कुटेव (लत) में अभ्यस्त हो जाता है, तो वह निर्लज्ज होकर अनमोल समय और चरित्र पर कुठाराघात करता है। बाल्यावस्था में इस दुर्व्यसन के लग जाने से शीघ्र ही असमय में ही कुवासनायें भड़क उठती हैं। तम्बाकू में निकोटिन नाम का विष होता है, जो मनुष्य के शरीर में पहुँचकर भयंकर रोग उत्पन्न करता है। इससे हृदय की धड़कनें बढ़ जाती हैं। चाहे खाने पीने सूँघने किसी भी रीति से तम्बाकू का उपयोग करें, वह हर अवस्था में हानिप्रद है। तम्बाकू के सेवन से दाँत निर्बल हो जाते हैं; उनसे ठीक तरह से अन्न नहीं चबाया जाता; चबाकर न खाने से भोजन बड़ी कठिनाई से पचता है; पाचन न होने से मंदाग्नि हो जाती है, जिससे भूख नहीं लगती।

शराब :- शराब अमाशय द्वारा रस उत्पन्न करने वाले अंश पर बुरा प्रभाव डालती है, जिससे अजीर्ण रोग की उत्पत्ति होती है। शराब में जो एल्कोहल होता है, उससे दिमाग और शरीर में उत्तेजना उत्पन्न होती है। शराबी उसे बल और शक्ति समझता है किन्तु यह उसकी भूल है।

शराब के नशे में वह समझता है कि मेरे अंदर नई शक्ति का संचार हो गया है, किन्तु एल्कोहल से बाह्य शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शारीरिक क्रिया सुस्त और ढीली पड़ जाती है। बल का भण्डार, शरीर का सार, वीर्य शराब की गर्मी से पतला हो जाता है। शराब से थकावट अनुभव करने वाली शक्ति मर जाती है, जिससे स्वास्थ्य का नाश होता है। जो लोग शराब पीते हैं, उनकी आयु कम हो जाती है। ऐसा मनुष्य बल, कांति, ओज से रिक्त हो जाता है। शराब मनुष्य को चोर, जार, जुआरी और माँसाहारी

Y X Y

Y X Y
बना देती है। संसार में ऐसा कौन सा पाप है जो शराब, पीने वाले से नहीं कराती है, लोक-परलोक दोनों बिगाड़ती है।

हमारे देश में इस पापिन शराब ने कितने ही धन-सम्पन्न घर ऋणी और दरिद्री बना दिये। कितनों की ही जमीन, मकान, जायजाद बिकवा दिये। कितने ही नवयुवक असमय में ही परलोक कूच कर गये। इसके कारण देश में लाखों अनाथ और विधवायें मारी-मारी फिरती हैं। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि मनुष्य जाति में फैली हुई इस कुप्रथा का अंत करने के लिये सामूहिक रूप से प्रयत्न करें।

मधु भक्षण त्याग – मधु अर्थात् शहद की मक्खियाँ नाना प्रकार के फूलों का रस चूस-चूस कर लाती हैं और उगलकर अपने छत्ते में एकत्र करती हैं। वे वहीं रहती हैं, उससे उसमें सम्मूर्छन अण्डे उत्पन्न होते हैं। भील, गोंड आदि निर्दयी जाति के मनुष्य उन छत्तों को तोड़कर मधुमक्खियों को नष्ट कर उन अण्डों-बच्चों को बची खुची मक्खियों समेत निचोड़कर इस मधु को तैयार करते हैं। यथार्थ में यह त्रस जीवों के कलेवर (माँस) का पुंज अथवा सत् है। इसमें समय-समय पर असंख्यात् त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। अन्य मतों में भी इसके भक्षण करने का निषेध किया गया है। मधु भक्षण के पाप से नीच गति में गमन और नाना प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होती है। अत एव सर्वथा त्यागना योग्य है। शास्त्रों में आया है कि 1 बूँद शहद खाने में 7 गाँव जलाने के बराबर पाप होता है।

जिस प्रकार ये तीन 'मकार' अभक्ष्य एवं हिंसामय होने से त्यागने योग्य हैं, उसी प्रकार ऐसा मक्खन भी जिसे बने अंतर्मुहूर्त (48 मिनट) से ज्यादा बिना गर्म किये समय व्यतीत हो गया है तथा जो बिना गर्म किये हुये कच्चे दूध से बनाया गया है, ऐसा मक्खन खाने योग्य नहीं होता है क्योंकि ऐसे मक्खन में त्रस जीवों की उत्पत्ति होना शास्त्रों में कहा है।

मनुष्य के जीवन की सार्थकता

भवणं जिणस्स ण कयं, ण य बिम्बं णेय पूइया साहू।

दुद्धरवयं न धरियं, जम्मो परिहारिओ तेहिं॥223॥

ना जिनगृह निर्वाण कराया, ना जिनबिम्ब का स्थापन।

साधू पूजा व्रत ना धारण, करे व्यर्थ उसका जीवन॥223॥

अन्वयार्थ :- (जिणस्स भवणं ण कयं) जिसने जिन मंदिर का निर्माण नहीं कराया (य ण बिंब) और न ही जिनबिम्ब की स्थापना की (णेय साहू पूइया) न ही साधुओं की पूजा की और (दुद्धरवयं न धरियं) न ही कठिन व्रतों को धारण किया (तेहिं) उसने (जम्मो) अपना जन्म/जीवन (परिहारिओ) व्यर्थ ही खो दिया।

Y X Y

Y X Y

अर्थ :- जिसने जिन मंदिर का निर्माण नहीं कराया, न ही जिनबिम्ब की स्थापना की, न ही साधुओं की पूजा की और न ही कठिन व्रतों को धारण किया, उसने अपना जीवन व्यर्थ ही खो दिया।

विशदार्थ- अभीक्षणज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् मनुष्य जीवन की सार्थकता बतलाते हुए कहते हैं यह मनुष्य गति चारों गति में सर्वश्रेष्ठ है। इस गति से ही तीर्थंकर जैसे अवतारी पुरुष निर्वाण को प्राप्त करते हैं। मनुष्य गति को पाकर भी जिसने अपने कर्तव्यों का पालन नहीं किया, जैनधर्म पाकर भी जैनत्व का पालन नहीं किया वह चलता फिरता पशु की भांति ही है। आगे आचार्य भगवन् कहते हैं जिसने जिनमंदिर का निर्माण नहीं कराया और न ही जिनबिम्ब की स्थापना की, न ही आचार्य, उपाध्याय, साधुओं की सेवा-वैयावृत्ति की, न ही पूजा सम्मान किया और न ही अहिंसाणु आदि श्रावक के बारह व्रतों का अपनी शक्ति अनुसार पालन किया उस जीव ने अपना जीवन चिंतामणि रत्न के समान व्यर्थ ही खो दिया। समय अपनी गति से निरंतर बढ़ रहा है, समय का क्या पता कब इस तन से प्राण पखेरु निकल जाए इसलिए समय रहते इस मनुष्य जीवन के कल्याण के भाव करना चाहिए।

प्रत्येक पर्व में उपवास करने एवं चार प्रकार के दान देने का निर्देश

भावहु अणुव्वयाइं, पालह सीलं च कुणह उववासं।

पव्वे पव्वे णियमं, देही अणवरयदाणाइं॥224॥

अणुव्रतों की करो भावना, नियम से पर्वों में उपवास।

सत् पात्रों को दान करो तुम, शील के पालन में उल्लास॥224॥

अन्वयार्थ :- (अणुव्वयाइं भावहु) अणुव्रतों की भावना करो (सीलं पालह) शीलव्रतों का पालन करो (पव्वे पव्वे) प्रत्येक पर्व में (णियमं) नियमपूर्वक (उववासं कुणह) उपवास करो (च अणवरयदाणाइं) और निरन्तर सत्पात्रों को चार प्रकार का दान (देहि) दो।

अर्थ :- अणुव्रतों की भावना करो, सप्त शील व्रतों का पालन करो, प्रत्येक पर्व में नियम पूर्वक उपवास करो और निरन्तर सत्पात्रों को चार प्रकार का दान दो।

विशदार्थ- सिद्धांत विज्ञ, अभीक्षण ज्ञानोपयोगी, निरंतर स्वलेखनी से जनकल्याण हेतु आचार्य भगवन् कहते हैं अणुव्रत का पालन करना प्रत्येक जीव का परम आवश्यक कर्तव्य है- अहिंसादि अणुव्रतों की भावना करो। चार शिक्षाव्रत, तीन गुणव्रत ये सात शील कहलाते हैं जिनका पालन करना अति आवश्यक है। प्रत्येक पर्व में अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास करना और निरंतर मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका इन उत्तम पात्रों को चारों प्रकार का दान देना चाहिए जिससे कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके।

Y X Y

आवश्यक कर्त्तव्य अर्थात् अवश्य करने योग्य कार्य जो श्रावक के लिए अवश्य करने योग्य कार्य

आग लग जाने पर कुआँ खोदने से क्या लाभ

वैसे मृत्यू पास में आए, धर्म किए फिर है क्या? सार॥225॥

Y X Y

(404)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
के ढेर लगे होते। अतः समझदारी से कार्य करते हुए आत्मा का कल्याण करना चाहिए। मृत्यु को मित्र मानकर उसका सम्मान करना समाधिमरण कहा जाता है जो सुगति का कारण है तथा मृत्यु से डरना असमाधि है जो दुर्गति का कारण है।

धर्म का आचरण यही जीवन का सार

खणभंगुरे सरीरे, मणुय भवे अब्भ पडल सारिच्छे।

सारं इत्तिय मित्तं, जं कीरइ सोहणो धम्मो॥226॥

मेघ पटल सम मानव जीवन, क्षण भंगुर यह रहा शरीर।

इतना कर जो धर्म आचरण, किया जाए रख मन में धीर॥226॥

अन्वयार्थ :- (अब्भ पडल सारिच्छे) मेघ पटल के समान (मणुय भवे) मनुष्य पर्याय मय (खणभंगुरे सरीरे) क्षण भंगुर शरीर में (इत्तिय मित्तं) इतना मात्र सार है कि (जं) जो (सोहणो धम्मो) सुंदर धर्म का आचरण (कीरइ) किया जाता है।

अर्थ :- मेघ पटल के समान विनाशक मनुष्य पर्याय रूप क्षण भंगुर शरीर में, जो सुंदर धर्म का आचरण किया जाता है, मात्र इतना ही सार है।

विशदार्थ- अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् अपनी विशद देशना में धर्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं जीवन का सार ही धर्म है। कहा भी है-

धम्मो मंगलं मुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।

देवा तं पणमन्ति, जस्सधम्मो सयामणो॥

अर्थात् सर्व मंगलों में प्रथम मंगल धर्म है जो अहिंसा संयम तप से सम्पन्न होता है। यद्यपि अहिंसा संयम और तप समान हैं परस्पर में एक दूसरे के सहयोगी हैं, अहिंसा ही संयम है। संयम 12 प्रकार का है उसमें 6 प्रकार का प्राणी संयम है तथा 6 प्रकार का इन्द्रिय संयम है जो तप का साधक है इससे सिद्ध है कि अहिंसा ही संयम है अन्य स्थानों पर भी कहा गया है-

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचन द्वयम्।

परोपकाराय पुण्याय, पापाय पर पीडनम्॥

अर्थात् वैष्णवधर्म में 18 पुराण मुख्य माने गये हैं जिनका अध्ययन संत व्यास जी ने किया और उनका सार बताते हुए कहा कि परोपकार करना पुण्य है और पर प्राणी को पीड़ा देना पाप है। यह जीवन क्षण भंगुर है इसमें जो भी जीव पर का उपकार करे वह परमार्थ को सुधार लेता है और जो जीव रक्षा

Y X Y

Y X Y
करता वह संयमी होकर परमार्थ का राही बनकर विशद शिव का साधक बनता है।

जिन वन्दना, तप, संयम व उपकार ही जीवन का सार

जिणवंदण गुणविणउ, तव संयम तह य उवयारु।

जं किज्जइ खणभंगुरे, देहे इत्तिउ सारु॥227॥

विनय गुणों की श्री जिन वन्दन, संयम और करें उपकार।

क्षण भंगुर इस देह का भाई, श्री जिनेन्द्र ने गाया सार॥227॥

अन्वयार्थ :- (जिण वंदण) जिनेन्द्र भगवान की वंदना (गुण विणउ) गुणों की विनय ॥वंदना॥ (तव य संयम) तप और संयम (तह) तथा (उवयारु) उपकार (जं किज्जइ) जो किया जाता है। (खण भंगुरे) क्षण भंगुर (देहे) शरीर में (इत्तिउ सारु) इतना ही सार है।

अर्थ :- जिनेश्वर की वन्दना, गुणों की विनय तथा तप, संयम और उपकार जो करता है, क्षण भंगुर देह पाने का इतना ही सार है अर्थात् उसका ही जीवन सार्थक है।

विशदार्थ- प्रज्ञा श्रमण साहित्यप्रेमी आचार्य भगवन् अपनी विशद देशना में जनसमुदाय को समझाते हुए कहते हैं यह शरीर क्षणभंगुर है। इस शरीर को सजाने में दिन-रात सेवा करने में निरंतर ही लगे रहते हैं किन्तु आत्मकल्याण की ओर ध्यान नहीं लगाते हैं। क्यों दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। जहाँ देह भोग होंगे वहाँ आत्म योग नहीं हो सकता। भोग को रोग की उपमा दी गई है। अग्नि के समान कहा गया ईंधन अग्नि में डालने से अग्नि शांत नहीं होती है बल्कि और अधिक बढ़ती जाती है जो स्वयं को जलाकर अन्य को भी संताप उत्पन्न करती है। अग्नि का स्वभाव जलने और जलाने का है तथा संताप देने का उसी प्रकार भोगों का स्वभाव इस जीव के सद्गुणों का नाश करना है तथा अन्य को संताप उत्पन्न करना है। इसके विपरीत आत्म साधना का योग है जो शीतलजल के समान है जो जलती हुई अग्नि को शांत करता है और गर्मी से संतापित जीवों के संताप को शांत कर शांति प्रदान करता है। जल यदि बर्तन में रखकर अग्नि का संयोग पा जाए तो मानो जल भी अग्नि रूप होकर जलाने का काम करता है। यदि संयोग से दूर रहने पर वाष्प बन जाए जो नष्ट हो जाता है उसी प्रकार योग से कर्म की भी सत्ता समाप्त हो जाती है।

छह काय के जीव निकायों को संतापित करने वाले की पूजा व्यर्थ

जो संतावइ अणुदिह, छव्विह जीव णिकाउ।

णिरय णिबंधण कम्मउ, बलि किज्जइ सो काउ॥228॥

Y X Y

(406)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
नरक के कारण कर्मों से नित, षट्काय जीवों को संताप।

करे तो कैसी पूजा चरु से, सम्यक् पूजा कीजे आप॥228॥

अन्वयार्थ :- (जो गिरय गिबन्धन कम्मउ) जो नरक के कारणभूत कर्मों से (अणुदिह) निरंतर (छव्विह जीव गिकाउ) छः प्रकार के जीव निकायों को (संतावइ) संतापित (पीड़ित) करता है (सो) वह (काउ वलि किज्जई) कैसी पूजा करता है अर्थात् उसका पूजन करना व्यर्थ है; षट्काय जीव विराधन रहित (बलि) नैवेद्य से पूजा करना ही सही पूजा है।

अर्थ :- जो नरक के कारण भूत कर्मों को निरंतर छः प्रकार के जीव निकायों को संतापित करता है, वह कैसी पूजा करता है अर्थात् उसका पूजन करना व्यर्थ है; षट्काय जीव विराधन रहित नैवेद्य से पूजा करना ही सही पूजा है।

विशदार्थ- धरती के देवता आचार्य भगवन् भव्यों के कल्याणार्थ अपनी विशद देशना से जन समुदाय को सरल सुबोध शैली में समझाते हुए कहते हैं कि पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक ये पंच स्थावर, त्रसकायिक अर्थात् दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पंचेंद्रिय इन जीवों को कष्ट नहीं पहुँचाता न ही अनेक प्रकार के दुखों को प्राप्त करता है। जो त्रस स्थावर जीवों को संतापित करता नहीं है और प्रथम आवश्यक कर्तव्य देवपूजा को करता है। षट्काय जीव की विराधना रहित नैवेद्य से पूजा करना ही सही पूजन है। नैवेद्य का अर्थ है श्रेष्ठ पकवान जो मन और इंद्रिय को संतुष्ट करने वाले हैं हम मन और इंद्रियों को अनादिकाल से संतुष्ट करते आ रहे किन्तु उनकी पूर्ति नहीं हुई अब भगवान के चरणों में आकर प्रभु चरणों में समर्पित भाव से निवेदन करते हैं। हे भगवन्! हम अपनी क्षुधा शांत करने के लिए अनादिकाल से प्रयत्न करते आ रहे किन्तु भग्न घड़े की भांति यहाँ भरते, वहाँ खाली हो जाता है तो अब निवेदन है हे प्रभु! क्षुधा रोग क्षय हो जाए जिससे अब खाने की ही आवश्यकता ना रहे और विशद संतुष्टि की प्राप्ति हो सके।

निष्ठुर दुष्ट प्राणी नियम से नरकगामी

णिग्घिण णिट्ठुर दुट्ठमण, जे पाणिबहं करंति।

ते आवज्जिय पाव मरु, णिच्छय नरय पडंति॥229॥

दुष्ट चित्त प्राणी वध करते, निर्दय निष्ठुर जीव प्रधान।

पाप रूप मरु भू में भ्रमते, पाते हैं वे नरक निधान॥229॥

अन्वयार्थ :- (जे) जो (णिग्घिण) निर्दय (णिट्ठुर) निष्ठुर (दुट्ठमण) दुष्टमन (पाणिबहं) प्राणी वध (करंति) करते हैं, (ते) वे (पाव मरु) पाप रूपी मरुस्थल में (आवज्जिय) घूमते हुये

Y X Y

Y X Y
(णिच्छय) नियम से (नरय) नरक में (पडंति) पड़ते हैं।

अर्थ :- जो निर्दय, निष्ठुर दुष्ट चित्त प्राणी वध करते हैं, वे पाप रूपी मरुस्थल में घूमते हुये नियम से नरक में जाते हैं।

विशदार्थ- सिद्धांतविज्ञ आचार्य भगवन् स्वचिंतन एवं लेखनी के माध्यम से जन समुदाय को संबोधित करते हुए कहते हैं जिन जीवों के हृदय में दया नहीं होती वे निर्दय कहलाते हैं, उन्हें ही निष्ठुर कहते हैं। कहा भी है-

धर्म-धर्म सब कोड़ कहें, धर्म ना जाने कोय।

जीव दया जाने बिना, धर्म कहाँ से होय॥

संसार में 2 प्रकार के लोग हैं- कुछ आस्तिक, कुछ नास्तिक। जो नास्तिक हैं उनका तो कोई सिद्धान्त ही लागू नहीं होता वे तो धर्म अधर्म को कुछ भी नहीं मानते, उनका अपना परिवार ही संसार है, उन्हीं के लिए जीते और मरते हैं। अब रही आस्तिक जीवों की बात तो आस्तिक जीव भी 2 प्रकार के हैं- (1) सम्यक् आस्थावान (2) मिथ्या आस्थावान। मिथ्या आस्थावान हैं, उन्हें तो जिसने जो कह दिया वही करने लगते हैं वे आस्था में भी भोग ही खोजते हैं और धर्म के नाम पर भी घोर हिंसा करते हैं चाहे वह पशु बली के नाम पर हो या कुर्बानी के नाम पर। ये जीव घोर पाप का बंध करते हैं और दुर्गति के भाजन होते हैं। (2) दूसरा सम्यक् आस्थावान- वे जीव अपनी दैनिक क्रिया में होने वाले आराम को छोड़कर किसी भी प्रकार से हिंसा को नहीं करते हैं, विशद दयावंत होते हैं।

असत्य भाषण के दोष से वसु राजा नरक गया

अलिउं जंपहु दुव्वयणु, पुरु दुम्मिज्जइ जेण।

वसु णरवइ णरयं गयउ, अलियब्भव दोसेण॥230॥

झूठ बोलते जिसके कारण, पुरुषों की दुर्वचनों वान।

वचनों से दुख मृषा वचन से, गया नरक में वसु नृप जान॥230॥

अन्वयार्थ :- (जेण) जिस कारण से तुम (अलिउं जंपहु) झूठ बोलते हो, (दुव्वयणु) दुर्वचनों से (पुरु) पुरुषों को अधिक (दुम्मिज्जइ) दुखी करते हो, (अलियब्भव) ऐसे ही असत्य भाषण के दोष से (वसुणरवइ) वसु (नरपति) राजा (णरयं) नरक (गयउ) गया।

अर्थ :- जिस कारण से तुम झूठ बोलते हो, दुर्वचनों से पुरुषों को दुःखी करते हो, ऐसे ही असत्य भाषण के दोष से वसु राजा नरक गया।

वसुराजा की कथा

Y X Y

Y X Y

राजा अभिचन्द्र की राजधानी में क्षीरकदम्ब नाम का एक विद्वान् रहता था। उसकी स्त्री का नाम स्वस्तिमती और पुत्र का नाम पर्वत था। क्षीरकदम्ब के पास राजा अभिचन्द्र का पुत्र वसु, नारद और पर्वत पढ़ते थे। एक दिन एक आकाशचारी निमित्तज्ञानी मुनि चर्चा करते जा रहे थे, कि इन चार व्यक्तियों में पाप के कारण दो तो नरक में जायेंगे और दो ऊर्ध्वगति प्राप्त करेंगे। ये वचन सुनकर उपाध्याय क्षीरकदम्ब को बड़ी चिन्ता हुई। वे समझ गये कि इन तीनों शिष्यों में वसु और पर्वत ये दोनों अवश्य अधोगति को जायेंगे और नारद उच्च गति प्राप्त करेगा।

एक वर्ष बाद शिष्यों का शिक्षण समाप्त हुआ। तीनों ही शिष्य नाना विषयों के प्रकाण्ड विद्वान हो गये। वसु तो राजमहलों में चला गया। उसे यौवन सम्पन्न और योग्य जानकर उसके पिता अभिचन्द्र ने (कहीं-कहीं इनका नाम विश्वावसु भी आता है) उसका विवाह कर दिया और उसका राज्याभिषेक करके उन्होंने दीक्षा ले ली। वसु राजा हो गया। उसने अपना सिंहासन स्फटिक के स्तम्भों के ऊपर बनवाया। वह सिंहासन ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह आकाश में अधर रक्खा हो। इससे जनता में यह प्रसिद्ध हो गया कि राजा वसु के सत्य के प्रभाव से उसका सिंहासन आकाश में अधर स्थित रहता है। इसी कारण उसका नाम उपरिचर वसु के रूप में विख्यात हो गया।

नारद कुछ दिनों तक उपाध्याय के घर ही ठहरा रहा। एक दिन नारद और पर्वत दोनों समिधा और पुष्प लाने वन में गये हुए थे। वहाँ उन्होंने देखा कि कुछ मयूर नदी का जल पीकर गये हैं, उनका मार्ग देखकर नारद ने पर्वत से कहा 'वयस्य! ये जो मयूर गए हैं उन मयूरों में एक तो मयूर है और सात मयूरी हैं।

पर्वत

बोला – “गलत बात है। मैं शर्त लगाता हूँ कि तुम्हारा अनुमान मिथ्या है।” आगे बढ़ने पर मयूरों का झुंड मिला। पर्वत को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि नारद ने जो कहा था, वह सत्य निकला। वे लोग कुछ दूर ही गये होंगे कि नारद बोला— मित्र! यहाँ से अभी एक हथिनी गई है, वह बाँई आँख से कानी है। उस पर सफेद साड़ी पहने गर्भिणी स्त्री बैठी है। पर्वत हँस कर बोला— ‘तुम्हारा एक अनुमान घृणाक्षर न्याय से सत्य निकल गया तो तुम समझते हो तुम्हारे सारे अनुमान सत्य होंगे।’ पर्वत यों कहकर नारद की बात को ईर्ष्यावश मिथ्या सिद्ध करने के लिए उसी मार्ग का अनुशरण करता हुआ बढ़ा तो उसे एक हथिनी वृक्ष की शीतल छाया में बैठी हुई दिखाई पड़ी। उसे देखकर पर्वत को विश्वास करना पड़ा कि नारद ने जो कहा था, वह सत्य है।

इन बातों से पर्वत को बड़ा दुःख हुआ और वह वापिस आने पर अपनी माता से सम्पूर्ण घटना सुना कर बोला— “पिताजी नारद को जो विद्यायें सिखाते हैं, मुझे नहीं बताते।” ब्राह्मणी ने उपाध्याय के

Y X Y

Y X Y
 आने पर पुत्र द्वारा कही हुई सारी बातें सुनकर उनसे यही शिकायत की। सुनकर उपाध्याय बोले— 'देखो! मैं तो सबको एक सी शिक्षा देता हूँ, किन्तु सबकी बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है। नारद कुशाग्र बुद्धि है, किन्तु तुम्हारा पुत्र सदा से ही मन्द बुद्धि है। तुम व्यर्थ ही नारद से ईर्ष्या न करो।' यों कहकर उन्होंने नारद को बुलवाया और उससे पूछा — 'वत्स! आज तुम्हारा पर्वत से वन में क्या विवाद हो गया था?' नारद विनयपूर्वक बोला— 'गुरुदेव! मेरा वयस्क पर्वत से विवाद तो कुछ नहीं हुआ। हाँ, मैं पर्वत से वन में विनोद-वार्ता करता हुआ जा रहा था, उस समय जल पीकर मोरों का झुण्ड लौट रहा था। उस झुण्ड में जो मयूर था, वह पानी में पूँछ के चन्द्रक भीगकर भारी न हो जायें, इससे पीछे की ओर पैर करके (उल्टे पैर करके) लौटा था, तथा मयूरियाँ जल से भीग जाने के कारण अपने पंख फटकार कर जा रही थीं। यह देखकर मैंने अनुमान लगाया कि इनमें एक मयूर होगा तथा शेष सात मयूरी। यही बात मैंने अपने वयस्य पर्वत से कही थी। आगे चलने पर मैंने देखा कि चलते समय हस्तिनी के पैर उसी के मूत्र से भीगे हैं, इससे मैंने जाना कि वह हस्तिनी होगी। उसके दाँड़ि और के वृक्ष और लताएँ टूटी हुई थीं। इससे मैं समझ गया कि वह बाँड़ि आँख से कानी है। उस पर बैठी हुई स्त्री मार्ग की क्लान्ति के कारण उतर कर शीतल छाया में नदी के किनारे लेटी थी। उसके उदर के स्पर्श से भूमि पर जो चिन्ह बन गये थे। उससे मैंने अनुमान लगाया कि हथिनी पर सवार स्त्री थी और वह गर्भिणी थी। उसकी साड़ी का एक खण्ड किसी झाड़ी में उलझा रह गया था। इसे देखकर मैंने जाना कि वह श्वेत साड़ी पहने थी। यह बात अनुमान से मैंने पर्वत से कही थी।'

उपाध्याय और ब्राह्मणी दोनों नारद की बातें ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। यह सुनकर उपाध्याय बोले— 'देवी! इसमें मेरा क्या अपराध है। मैंने दोनों को समान भाव से अध्ययन कराया है।' सब बातें सुनकर ब्राह्मणी नारद से बहुत प्रसन्न हुई।

तब उपाध्याय ने निमित्त ज्ञानी मुनि की कही हुई बात ब्राह्मणी को बताई और दोनों शिष्यों के भावों की परीक्षा करने का निश्चय किया। उपाध्याय ने आटे के दो बकरे बनाकर नारद और पर्वत को सौंपते हुए कहा कि ऐसे एकांत स्थान में जाकर जहाँ कोई देखता न हो चन्दन और माला आदि से इसकी पूजा करना और इसे काटकर (कहीं-कहीं-कान काटकर) शीघ्र ले आओ। पर्वत एक वन में पहुँचा और एकान्त देखकर वह बकरे को अथवा बकरे के कानों को काटकर वापिस पिता के पास आ गया और अपने पिता से बोला— तात! आपने जैसा आदेश दिया था, मैंने वैसा ही किया है। उधर नारद सारे दिन वन में पर्वत पर घूमता फिरा, किन्तु उसे कोई ऐसा स्थान नहीं मिला जहाँ कोई देख न रहा हो। वह संध्या समय पर लौटा और बड़ा म्लान मुख होकर बोला— गुरुदेव! मुझे कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सका, जहाँ

(410)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
मुझे कोई देख नहीं रहा हो। देवता, सिद्ध भगवान, केवली और स्वयं मेरी अन्तरात्मा मेरी हर गतिविधि को देख रही थी। दूसरी बात यह है कि शास्त्रों में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों में से किसी के द्वारा अभिहित पदार्थों में हिंसा अथवा पापकारी कार्य करने का निषेध है, इसलिये मैं आटे के इस बकरे के प्रति हिंसा रूप कार्य नहीं कर सका।

नारद की बात सुनकर उपाध्याय अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने नारद की प्रशंसा करते हुए कहा— हे पुत्र! तुमने बहुत विवेकपूर्ण कार्य किया है। फिर वे पर्वत से कहने लगे— ‘पर्वत! तूने बड़ा अविवेकपूर्ण कार्य किया है, तुझे कार्य— अकार्य का भी ज्ञान नहीं है; तू बिल्कुल निर्बुद्धि है।’

उपाध्याय को निश्चय हो गया कि पर्वत अवश्य ही नरकगामी है और नारद ऊर्ध्व गति प्राप्त करेगा। उन्होंने पर्वत को बहुत कुछ उपदेश दिया, किन्तु ऊसर भूमि में बीज बोने के समान सब व्यर्थ रहा।

कुछ दिनों पश्चात् नारद अपने नगर को चला गया। उपाध्याय क्षीरकदम्ब ने प्रब्रज्या ले ली। उनके स्थान पर पर्वत गुरु—पद पर आसीन हो गया और वह गुरुकुल का संचालन करने लगा।

बहुत दिन बाद नारद अपने वयस्य पर्वत से मिला और गुरुआणी की पाद वन्दना करने के लिए आया। उस समय पर्वत शिष्यों से घिरा हुआ बैठा था और वह शिष्यों को पाठ पढ़ा रहा था। नारद ने पर्वत को अभिवादन किया, पर्वत ने भी प्रत्याभिवादन करके नारद की अभ्यर्थना की। नारद ने गुरुआणी की पाद—वन्दना की और बैठ गया। पर्वत उस समय ‘अजैर्यष्टव्यं’ इस वेद— वाक्य की व्याख्या कर रहा था। वह इसका अर्थ इस प्रकार कर रहा था— ‘इस मंत्र में ‘अज’ शब्द का अर्थ बकरा है, इसलिये स्वर्ग के इच्छुक द्विजों को बकरे से यज्ञ करना चाहिए।’ नारद ने इस अर्थ पर आपत्ति करते हुये कहा— ‘वयस्य पर्वत!’ तुम यह निन्दनीय व्याख्या क्यों कर रहे हो? हम दोनों वर्षों तक एक उपाध्याय से पढ़े हैं, तुम्हें यह सम्प्रदाय कहाँ से प्राप्त हुआ है। एक ही गुरु के शिष्यों में सम्प्रदाय—भेद नहीं होता। क्या तुम्हें स्मरण नहीं है, गुरु जी ने जो यहाँ अज शब्द का यह अर्थ बताया था कि — ‘जिसमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति नष्ट हो गई हो, ऐसा पुराना धान्य अज कहलाता है। ऐसे धान्य से यज्ञ करना चाहिए।’ किन्तु पर्वत अपने दुराग्रह का त्याग नहीं कर सका। बल्कि आवेश में आकर कहने लगा— ‘नारद! यदि इस विषय में मैं पराजित हो जाऊँ तो अपनी जिह्वा का छेद करवा लूंगा। चलो, कल इसका निर्णय राजा वसु से कराते हैं। वह हमारा सहाध्यायी रह चुका है।’

नारद तो अपने स्थान पर चला गया। पर्वत अपनी माता के निकट पहुँचा और उसने सारा वृत्तान्त

Y X Y

Y X Y
 सुना दिया। यह सुनकर माता बड़ी दुखी हुई। वह कहने लगी— मूर्ख! यह तूने क्या किया। नारद का कथन सत्य है। तेरे पिता ने जो अर्थ बताया था, नारद वही कह रहा है। तेरा कहना मिथ्या है। प्रातः काल होने पर वह राजा वसु के घर गई वसु ने गुरुआणी की वन्दना की उच्च आसन दिया और आने का कारण पूछा। स्वस्तिमती ने वसु को सारा वृत्तान्त सुनाकर उसे धरोहर रक्खी हुई गुरु— दक्षिणा का स्मरण दिलाया और याचना की— पुत्र! यद्यपि तू तत्त्व और अ—तत्त्व को भली भांति जानता है, किन्तु तुझे पर्वत के पक्ष को समर्थन करना है और नारद के पक्ष को दूषित ठहराना है। गुरु दक्षिणा का स्मरण दिलाया था। अतः वसु ने गुरुआणी की बात स्वीकार कर ली। स्वस्तिमती भी निश्चित होकर घर वापिस आ गई।

प्रातः काल राज सभा लगी हुई थी। वसु सिंहासन पर आसीन था, सामन्त गण यथास्थान बैठे हुए थे। तभी अनेक शिष्यों से परिवृत उपाध्याय पर्वत और सर्व शास्त्रों में पारंगत नारद ने राज—सभा में प्रवेश किया। उपरिचर वसु को आशीर्वाद देकर नारद और पर्वत अपने पक्षधरों और सहायकों के साथ निश्चित स्थान पर बैठ गये। उन दोनों विद्वानों का शास्त्रार्थ सुनने के कुतूहलवश अनेक ब्राह्मण विद्वान और वेदपाठी द्विजगण भी सभा में पधारे थे। जब सब यथास्थान बैठ गए, तब ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्धजनों ने राजा वसु से निवेदन किया—

राजन्! ये नारद और पर्वत विद्वान् वेद के किसी विषय में विसंवाद होने से आपके पास आये हैं। आप स्वयं विद्वान हैं, न्यायासन पर विराजमान हैं। आपकी अध्यक्षता में इन विद्वानों के आगे दोनों अपने अपने पक्ष उपस्थित करें और सत्यासत्य एवं जय—पराजय का निर्णय आप करें, हमारी यह प्रार्थना है।

वृद्धजनों की प्रार्थना स्वीकार कर राजा वसु ने पर्वत को पूर्व पक्ष उपस्थित करने की घोषणा की। पर्वत ने अत्यन्त गर्व के साथ अपना पक्ष उपस्थित करते हुए कहा ‘अजैर्यष्टव्यं स्वर्ग कामैः’ इस वेद मंत्र में अज शब्द पशु परक है। अज का प्रसिद्ध अर्थ बकरा होता है। अतः इस मंत्र का अर्थ ‘स्वर्ग के इच्छुक द्विजों को बकरे से यज्ञ करना चाहिए; घात करते समय पशुओं को दुःख होगा, यह आशंका करना ही व्यर्थ है, क्योंकि मंत्रों के प्रभाव से वध्य पशु को वध होने पर स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं।’

इस पक्ष का निराकरण करने के लिए नारद उठा। वह कहने लगा— ‘सज्जनो! पर्वत ने जो पक्ष रखा है, वह नितान्त दूषित है। वेदों में शब्दार्थ की व्याख्या अपने अभिप्राय के अनुसार नहीं होती, गुरु आमनाय से चली आई व्याख्या ही मान्य होती है; अध्ययन के समान अर्थ—ज्ञान भी गुरु परम्परा की अपेक्ष रखता है। हमारे पूज्य गुरुदेव ने हम तीनों शिष्यों— वसु, पर्वत और मुझको एक ही अर्थ बताया था, तब विभिन्न शिष्यों का सम्प्रदाय भिन्न कैसे हो सकता। यहाँ ‘अजैर्यष्टव्य’ इस मंत्र में ‘अज’ शब्द

Y X Y

(412)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
ऐसे धान्य का वाचक है, जिसमें उगने की शक्ति नष्ट हो गई हो, ऐसे धान्यों से यज्ञ करना चाहिये।'

तब शिष्टजनों ने राजा वसु से निवेदन किया- 'राजन्! आपने गुरु-मुख से जो अर्थ सुना, वह अर्थ प्रगट कर इस विवाद का निर्णय कीजिए।

यद्यपि वसु को गुरु-वचनों का अच्छी तरह स्मरण था और वह जानता था कि नारद का पक्ष सत्य है, किन्तु गुरुवाणी को दिये हुये वचनवश वह इस प्रकार कहने लगा- 'सभाजनों! नारद ने जो कहा है, वह बहुत युक्तियुक्त है; किन्तु पर्वत ने जो कहा है, वह उपाध्याय द्वारा कहा गया है।'

इतना कहते ही वसु का स्फटिकासन पृथ्वी में धंस गया और पाताल में जा गिरा वसु की तत्काल मृत्यु हो गई और वह नरक में उत्पन्न हुआ। असत्यवादी वसु की सब लोगों ने निन्दा की, पर्वत को नगर से अपमानित करके निकाल दिया तथा यथार्थवादी नारद को ब्रह्मरथ पर आरूढ़ करके उसे नगर में निकाला और उसका सार्वजनिक सम्मान किया। वसु और पर्वत को असत्य का फल तत्काल मिल गया।

बिना दी हुई वस्तु का संग्रह नहीं करना- अचौर्याणुव्रत

जइ पाणहिं संसइ चढ़हि, जइ णिव्वाहु ण अत्थि।

तह वि अदिणुमसंगहहि, जहसिउ जिणवरसच्छि॥231॥

संकट आए प्राणों पर यदि, हो निर्वाह न जीवन पाय।

करे अदत्त वस्तु ना संग्रह, व्रताचौर्य जिन साक्षि में पाय॥231॥

अन्वयार्थ :- (जइ) यदि (पाणहिं) प्राणों पर (संसइ) संशय।संकट॥ (चढ़हि) आ जाये, (जइ) यदि (णिव्वाहु) निर्वाह भी (ण अत्थि) नहीं हो (तह वि) तो भी (अदिणुं) बिना दी हुई वस्तुओं को (असंगहहि) संग्रह नहीं करना (जह) जिससे (जिणवरसच्छि) जिनवरों की साक्षी पूर्वक (सिउ) शिव कल्याण मय अचौर्याणुव्रत की प्राप्ति हो।

अर्थ :- यदि प्राणों पर संकट आ जाये, जीवन निर्वाह न हो, तो भी बिना दी हुई वस्तु व परधन संग्रह नहीं करना / नहीं लेना, जिससे जिनवरों की साक्षीपूर्वक शिव कल्याणमय अचौर्याणुव्रत का पालन हो।

विशदार्थ- प्रज्ञा श्रमण कव्यालंकाराचार्य आचार्य भगवन् तत्त्व विचार ग्रंथ में अनेक प्रकार से भव्य जीवों को समझाते हुए कहते हैं- चोरी बिना दी गई वस्तु को उठाना चोरी है, इसका विशेष वर्णन

Y X Y

Y X Y
 अन्य श्लोकों में आ चुका है। अचौर्याणुव्रत में कितना भी संकट आ जाए, कितना भी लोभ लालच दिया जाए यहाँ तक कि प्राणों पर संकट भी आ जाए, यहाँ तक की जीवन निर्वाह भी नहीं हो रहा हो ऐसी स्थिति में भी बिना दी हुई वस्तुओं को संग्रह नहीं करना चाहिए, ना ही संग्रह ग्रहण करने के भाव करना चाहिए।

स्वप्न में भी चोरी के भाव नहीं करना चाहिए। अगर स्वप्न में भाव हो जाए तो गुरु साक्षी में प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए जिससे मोक्षदायी कल्याणकारी अचौर्याणुव्रत की प्राप्ति हो सके। चोरी जो उभय लोक दुःखदायी है इस भव में अपयश, पुलिस के द्वारा सताया जाना और सदैव भयभीत रहना इत्यादि होता है एवं परभव में वे जीव नीच गति अर्थात् नारकी पशु बनकर के अनेक दुख सहते हैं, हमेशा पराधीन रहकर भोजन पानी के लिए तरसते हैं और अन्य शिकारियों के डर से सदैव भयभीत रहकर जीवन जीते हैं, चोरी घोर दुखों की खान है अतः चोरी से यारी कभी न करें।

मैथुन सुख से मन को विमुख करो

जइ णिव्विउ दुहपवरिणि, णिवसंतउ संसारि।

मेहणु सुहि सुमणंतर, विमणसरंतु णिवारि॥232॥

इस संसार में रहते दुख को, दूर करें जो निवृत्ती।

मैथुन सुख की अनुसारी अब, दूर करो तुम प्रवृत्ती॥232॥

अन्वयार्थ :- (संसारि णिवसंतउ) संसार में रहते हुए (दुहपवरिणि) दुख को दूर करने वाली (णिव्विउ) निवृत्ति अर्थात् मुक्ति (मेहणु सुहि) मैथुन सुख से (सुमणंतर) अनुसरण करने वाले (विमणसरंतु णिवारि) अपने मन के अन्दर से मैथुन सुख के परिणामों को दूर करो।

अर्थ :- संसार में रहते हुए दुख को दूर करने वाली मैथुन सुख से निवृत्ति अर्थात् मैथुन का अनुसरण करने वाले अपने मन के अंदर से मैथुन सुख के परिणामों को दूर करो।

विशदार्थ- साहित्य रत्नाकर, संसार से विरक्त, स्वात्मोन्मुखी आचार्य भगवन् जनकल्याणार्थ कहते हैं। मैथुन अर्थात् रागवर्धक क्रिया जिससे जीवों का संसार परिभ्रमण वृद्धि को प्राप्त होता है। मैथुन क्रिया को कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय, नव कोटी से त्याग करना चाहिए जिससे कर्म का बंध न हो सके। आत्म कल्याणार्थी, मोक्ष सुख के अभ्यार्थी इन खोटी क्रियाओं का त्याग करते हैं। इसलिए मैथुन क्रिया से वर्तमान में सुखाभास का अनुभव तो हो सकता है किन्तु अनंत कर्मों का भी बंध होता है। इसकी चर्चा अन्य श्लोकों में आ चुकी है। अतः निरंतर ही पाप क्रिया से मन को विमुख

Y X Y

(414)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
करना चाहिए।

मैथुन वह क्रिया है जो राग से प्रारम्भ होती है और द्वेष को उत्पन्न करती है। मैथुन 2 प्रकार का कहा गया है (1) स्वस्त्री मैथुन (2) परस्त्री मैथुन, परस्त्री मैथुन तो सर्वप्रकार से त्याज्य है क्योंकि परस्त्री किसी की अपनी चाहत है उसके साथ कोई क्रिया करें तो वह व्यक्ति कैसे सहन करेंगे। जिस प्रकार करने वाली अपनी स्त्री को परपुरुष के साथ नहीं देख सकता उसी प्रकार स्वयं को जानना, दूसरा स्वस्त्री में मैथुन भी त्याग करने योग्य है कोई संसार चलाने के लिए या अपनी वेद कर्मोदय को जीत नहीं पाने के कारण सीमित और लालसा रहित करके भूल जाना चाहिए। यदि उसी में लगा रहता है तो वह भी दुखदायी है।

अधिक परिग्रह संग्रह से विमुख हो – परिग्रह परिमाणानु व्रत

गाढ़ परिग्रह गहिउ णरु, हारइ सो उपवग्गु।

मिल्लि परिग्रह दुव्वसणु, सिवसुह कारणि लग्गु॥233॥

अधिक परिग्रह ग्राही हैं जो, मुक्ती वे ना करें वरण।

छोड़ परिग्रह रूप दुर्व्यसन, शिव के हेतू करो ग्रहण॥233॥

अन्वयार्थ :- (णरु) जो मनुष्य नर-नारी (गाढ़ परिग्रह गहिउ) अधिक परिग्रह ग्रहण करता है (सो) वह (अपवग्गु) मोक्ष से (हारइ) वंचित रहता है (परिग्रह दुव्वसणु मिल्लि) अतः परिग्रह रूपी दुर्व्यसनों को छोड़कर (सिवसुह कारणि लग्गु) शिव से सम्बन्धित सुख के कारणों में लगे।

अर्थ :- जो नर नारी भारी परिग्रह संग्रहीत करते हैं, वे मोक्ष से अति दूर हैं; अतः परिग्रह रूपी दुर्व्यसन का त्यागकर मोक्ष सुख के कारणों (सम्यक्त्रयों) में लगना चाहिये।

विशदार्थ- अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् पुनः व्रतों की महिमा का बखान करते हुए कहते हैं- प्रत्येक जीव को परिग्रह का परिमाण करना चाहिए जिससे पुण्य का बंध हो सके। परिग्रह एक दुर्व्यसन है एक बार लत लगने से आसानी से नहीं छूटता है। जो नर नारी परिग्रह संग्रह करते हैं वे मोक्ष से अतिदूर हैं। अतः अपने मन को संसार बढ़ाने वाले कारणों का त्याग कर मोक्ष सुख के कारण सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे रत्नत्रय की आराधना करना चाहिए एवं उसी मन में मन को लगाना चाहिए। परि-ग्रह अर्थात् जो एक प्रकार का ग्रह है यदि किसी को ग्रह की बाधा लग जाए तो वह प्राणी कभी सुखी नहीं रहता। वह ग्रह उसे हमेशा पीड़ित करता रहता है। उसी प्रकार परिग्रह एक लालसा का परिणाम है जो कभी पूर्ण नहीं होती। एक वस्तु की लालसा पूर्ण होते ही अनेक वस्तु रूप बढ़ जाती है अर्थात् एक से तीन, तीन से तेरह, तेरह से तेईस इत्यादि रूप से बढ़ती जाती है जो परिग्रह ही

Y X Y

Y X Y
दुख का महान कारण है। जो दुर्गति में ले जाने वाला है और दोनों भव में दुखदायी है।

जिनेन्द्र भगवान के मुख कमल का दर्शन करने वाले नेत्र धन्य हैं

जे जिणणाहं मुहकमलि, अवलोयण कय तेसु।

धण्ण तिलोयह लोयणइ, मुहमंडल परसेसु॥234॥

करें मुखाम्बुज का अवलोकन, श्री जिनेन्द्र के जो भी जीव।

जिन के मुखमण्डल का दर्शन, नेत्र धन्य वे करें अतीव॥234॥

अन्वयार्थ :- (जे) जो (जिणणाहं) जिनेन्द्र भगवान के (मुहकमलि) मुखकमल का (अवलोयण-कय) अवलोकन करते हैं, नेत्रों से दर्शन करते हैं (तेसु) उन जिनेश्वर के (मुहमंडल) मुखमंडल का (परसेसु) दर्शन करने से (तिलोयह) तीनों लोकों में (तेसु लोयणइ) उसके लोचन ॥नेत्र॥ (धण्ण) धन्य हैं।

अर्थ :- जो जिनेन्द्र भगवान के मुख कमल का अवलोकन करते हैं, दर्शन करते हैं, उन जिनेश्वर के मुख मंडल का दर्शन करने से तीनों लोकों में उनके नेत्र धन्य हैं।

विशदार्थ :- विधान वाचस्पति अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् जन समुदाय को समझाते हुए कहते हैं दर्शन पाठ में कहा है-

वीतराग मुखं-दृष्ट्वा, पद्मरागसमप्रभं।

नैक जन्मकृतं पापं, दर्शनेन विनश्यति॥

अर्थात् वीतरागी जिन के मुख कमल को देख कर जो पद्म रागमणि समान है जिसके दर्शन मात्र से अनेक जन्मों के पापों का क्षय हो जाता है। वीतराग मुद्रा का दर्शन हर किसी को नसीब नहीं होता उन्हीं को होता है जिसका अच्छा नसीब होता है। वीतरागी परम अविकारी मुद्रा जिसके देखने मात्र से आत्मा में शांति की प्राप्ति होती है जहाँ शांति प्राप्त हो जाए वहाँ अनेक आपदाएँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं जैसा कि सभी जानते हैं, जिनेन्द्र के सामने गाय और शेर एक घाट पानी पीते हैं, साँप और नेवला आपस में क्रीड़ा करते हैं। वीतरागी जिनके अंदर से निकलने वाली वर्णणाएँ अत्यन्त विशुद्ध होती हैं जिनके प्रभाव से मानव के जीवन में भी विशुद्धि की प्राप्ति होती है, यही विशुद्धि पाप क्षय का कारण होती है तथा शिव मार्ग में साधक होती है। अतः विशद वीतराग मुद्रा का नित्य दर्शन करके पुण्य अर्जन करना चाहिए।

॥ इति श्रावक विधि प्रकरण॥

Y X Y

उपयोग का चमत्कार

पं. भूधरदास जी सामायिक कर रहे थे, उसी समय एक चूहा उनके पैर के फोड़े को काटता रहा, जिससे फोड़े में बड़ा घाव हो गया। सामायिक से उठने के बाद जब उनके घर वालों ने देखा, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अब उस फोड़े पर बार-बार मक्खी बैठती तो पं. जी उन्हें फौरन उड़ा देते; यह देखकर उनके भाई ने कहा— जब चूहा तो एक घण्टे तक काटकर इतना बड़ा घाव कर गया, तब तो आपने उसे भगाया नहीं; अब छोटी सी मक्खी को बार-बार उड़ा रहे हैं। पं. भूधरदास जी ने उत्तर दिया— उस समय मैं अकेले अपने घर में (ध्यान में) था, वहाँ किसी की कुछ खबर नहीं रहती। यहाँ अब शरीर के साथ भी हूँ, इसलिये उसकी खबर भी रहती है।

दाणपयरणं (दान प्रकरण)

चार दान – अभय, शास्त्र, औषधि व आहार दान

अभयपयाणं पढमं, विदियं तह होई सत्थदाणं च।

तइयं ओसहदाणं, आहारदाणं चउत्थं तु॥235॥

अभय प्रदान दान है पहला, दूजा करना शास्त्र प्रदान।

औषधि दान तीसरा जानो, आहार दान है चौथा दान॥235॥

अन्वयार्थ :- (अभयपयाणं पढमं) अभय प्रदान करना पहला दान है, (सत्थदाणं विदियं होइ) शास्त्र दान दूसरा दान है, (ओसहदाणं तइयं) औषधि दान तीसरा दान है (तह) तथा (आहार दाणं चउत्थं) आहार दान चौथा दान है।

अर्थ :- अभय प्रदान करना पहला दान है, शास्त्र दान दूसरा दान है, औषधि दान तीसरा दान है तथा आहार दान चौथा दान है।

विशदार्थ :- जो प्रेम पूर्वक दे, वह दाता है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से भूषित है, वह पात्र है, आदरपूर्वक देने का नाम विधि है तथा जो तप और स्वाध्याय में सहायक हो, वही द्रव्य है।

सज्जन पुरुष तीन प्रकार से अपने धन को खर्च करते हैं, कोई परलोक की बुद्धि से कि परलोक में हमें सुख प्राप्त होगा, धन खरचते; कोई इस लोक के लिए धन खरचते हैं और कोई उचित समझकर धन खरचते हैं। किन्तु जिन्हें न परलोक का ध्यान है, न इहलोक का ध्यान है और न औचित्य का ही ध्यान है, वे न धर्म कर सकते हैं, न अपने लौकिक कार्य कर सकते हैं और न ही यश ही कमा सकते हैं।

Y X Y

इस लोक की बुद्धि से धन खरचने से लौकिक काम, विवाह-शादी, रोजगार में सफलता, लोकसम्मान आदि कार्य होते हैं तथा परलोक की बुद्धि से या उचित समझकर दान देने से धर्म और यश होता है जैसे – मुनियों को दान देना, बाढ़ पीड़ितों को या दुर्भिक्ष पीड़ितों को मदद देना, शिक्षा-औषधालय आवश्यकता समझकर दान देना आदि। जो इन तीनों में धन नहीं खरचते हैं; न उनके लौकिक कार्य सफल होते हैं, न पारलौकिक तथा उन्हें यश भी नहीं मिलता। आचार्यों ने चार प्रकार का दान बतलाया है— अभयदान, आहार दान, औषधदान और शास्त्रदान। ये चारों दान अपनी शक्ति और श्रद्धा के अनुसार देना चाहिए। यह दान ही पारमार्थिक दान है।

अभयदान से सुन्दर रूप मिलता है, आहार दान से भोग मिलते हैं, औषधदान से आरोग्य शरीर की प्राप्ति होती है तथा शास्त्र दान से ज्ञान वृद्धि, श्रुत केवली होता है।

अभयदान दाता-तीनों लोकों में उत्कृष्ट

सर्व्वेसिं जीवाणं, अभयं जो देह मरणभेत्तूणं।

सो णिब्भओ तिलोए, उत्तस्सो होइ सर्व्वेसिं॥236॥

मरण से भय कर सब जीवों को, जो करता है अभय प्रदान।

वह तीनों लोकों में निर्भय, उत्तम सब जीवों में मान॥236॥

अन्वयार्थ :- (जो मरण भेत्तूणं) जो मरण से भयभीत (सर्व्वेसिं जीवाणं) सभी जीवों को (अभयं देइ) अभय प्रदान करता है, (सो) वह (तिलोए) तीनों लोकों में (णिब्भओ) निर्भय और (सर्व्वेसिं उत्तस्सो होइ) सभी प्राणियों में उत्कृष्ट होता है।

अर्थ :- जो मरण से भयभीत सभी जीवों को अभय प्रदान करता है, वह तीनों लोकों में निर्भय और सभी प्राणियों में उत्कृष्ट होता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं— केवलज्ञान रूपी नेत्र को धारण करने वाले श्री जिनेन्द्र भगवान को सादर भक्तिपूर्वक प्रणाम कर मैं उस धीवर की कथा लिखता हूँ, जिसने अहिंसा व्रत रूपी वृक्ष का सिंचन कर अमल फल पाया था। यह कथा अज्ञानान्धकार से आच्छादित नेत्र वालों के लिये पथ-प्रदर्शक तथा सम्पूर्ण लोक के लिये भी सुख सौभाग्य की मूल साधना होगी।

प्राणियों के भ्रम का नाश करने वाली तथा प्रीति-पूर्वक आराधना के सर्व सुख को प्रदान करने वाली, देवाधिदेव सुर वंदित, श्री जिन भगवान के मुखकमलोद्भूत पराग रूपी वाणी, भ्रमर रूपी, सांसारिक जीव के लिए सदा कल्याणदायिनी होवे।

Y X Y

(418)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

ज्ञान के सरोवर, वे मुनिराज जो आगम संसार सागर से भव्य पुरुषों को पार करने वाली सुदृढ़ नौका के समान हैं, निरन्तर मेरे हृदय में विराजें, इस प्रकार पंच परमेष्ठी का स्मरण कर कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाली अहिंसा व्रत की पवित्र कथा लिखता हूँ।

अहिंसा नाम प्राणियों के प्राणों की रक्षा का है। भला यह कब सुख का कारण नहीं हो सकता? अतः दयालु पुरुषों को मन-वचन काय से हिंसा का परित्याग करना चाहिए। बहुत से लोग अपने मृत माता-पिता आदि के श्राद्ध में जीव हिंसा कर उनकी आत्म शान्ति की कल्पना करते हैं, बहुत से लोग देवी-देवताओं को पशु-बलि दे, उनकी सन्तुष्टि की आशा करते हैं, पर ऐसी कल्पना उनकी भूल भरी अज्ञानता ही समझी जा सकती है, क्योंकि पाप कर्म कभी सुख का कारण नहीं हो सकता। सुख है तो केवल अहिंसा व्रत के पालन करने में। अतः ध्यान देकर आप पढ़ें मैं अहिंसा व्रत के माहात्म्य की एक कथा आपके लिये लिखता हूँ। जो सांसारिक अज्ञान-तिमिर को नाश करने वाले ज्ञान भास्कर के समान है।

अभयदान के फल की कथा

मृगसेन धीवर की कथा

अवन्ति देश में शिरिष नामक एक छोटा ग्राम था, उसमें मृगसेन नाम का एक धीवर रहता था। एक दिन वह अपने कन्धे पर जाल लटकाये मछलियों को मारने के लिए क्षिप्रा नदी की ओर जा रहा था। मार्ग में उसे यशोधर नाम के मुनिराज के दर्शन हुये। अनेकों राजे-महाराजे उनके चरणों की उपासना कर रहे थे। यद्यपि उनके पास वस्त्राभूषण नहीं थे, तथापि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूपी अमूल्य रत्नों से भूषित शरीर से तेज रश्मियाँ निकल रही थीं। मुनिराज को देखते ही धीवर के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। वह कन्धे से जाल को हटाकर मुनिराज के पास गया और उनके चरणों में भक्ति पूर्वक मस्तक झुकाकर प्रार्थना करने लगा कि 'हे भगवान! आप मुझे कोई ऐसा व्रत प्रदान करें, जिससे मेरा जीवन सफल हो जाय', यह कहकर विनयी हो वह मुनिराज के पास बैठ गया। मुनिराज ने उसकी ओर देखा और विचारा इस महाहिंसक के विचार आज एकाएक कितने कोमल हो गये हैं। "युक्तं स्यात्प्राणिनां भावि शुभाशुभ निभं मनः" अर्थात् भविष्य में इष्ट वा अनिष्ट जो कुछ होना होता है, उसी के अनुसार प्राणियों का मन भी क्रमशः पवित्र या अपवित्र बनता है।

तत्पश्चात् मुनिराज को अवधि-ज्ञान द्वारा उसके भविष्य की बात जानकर अत्यंत करुणा हुई; क्योंकि अब इस धीवर की जीवन-लीला अल्प समय में ही समाप्त होने वाली थी। दया-द्रवित हो, उन्होंने उससे कहा- भव्य! मैं तुझे एक उपदेश देता हूँ। उसका तू आजन्म पालन करना। वह यह है कि

Y X Y

Y X Y
त ँ ऋ ह ऌ र

जाल में पहली बार जो मछली आवे, उसे छोड़ देना और इस प्रकार जब तुम्हारे जाल में पुनः वही मछली आवे तो तब उसे पुनः छोड़ देना। बस पाप से (पद्मपत्रइवाभस) परे रहोगे। इसके सिवा मैं तुझे एक महामन्त्रोपदेश भी देता हूँ, जो प्राणी मात्र को हर जगह हर हालत में यानि सुख-दुःख, स्वस्थ अस्वस्थ आदि में सर्वदा सहायता देने वाला है। इस प्रकार धीवर मुनिराज के मोक्षदायक उपदेश सुनकर अत्यन्त हर्षित हो, उन्हें स्वीकार किया। सच है— जो गुरु की आज्ञा का, यह समझकर कि ‘गुरोराज्ञा गरीयसी’ पालन करते हैं तथा उस पर विश्वास जमाते हैं, वे अवश्य ही पृथ्वी पर सब सुखों के भाजन होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

व्रत धारण कर मृगसेन नदी किनारे गया, जल में अपना जाल फेंका। भाग्य से पहली बार एक बड़ी मछली जाल में पड़ गई। उसने गुरु की आज्ञानुसार उसे जाल से निकालकर उसके कान में कपड़े की एक धज्जी बाँधकर उसे नदी में ले जाकर छोड़ दिया। उसने फिर अपना जाल फेंका पर दूसरी बार भी वही मछली जाल में आ फँसी। उस धीवर ने अपने मन में कुछ भी दुःख न मान दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करते हुये पुनः उस मछली को नदी में छोड़ दिया। इधर कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा भी तरु-शिखर पर विराजमान हो रही थी, पक्षी गण अपने-अपने घोंसले में शरण लेने के लिये सब दिशाओं से मधुर रव करते चले आ रहे थे, पर अब तक मृगसेन के जाल में अन्य कोई भी मछली नहीं फँसी। अब वह निरूपाय होकर घर की ओर चला।

मार्ग में वह गुरु प्रदत्त मन्त्र का स्मरण करता गया। घर जाते ही उसे खाली हाथ देखकर उसकी स्त्री बहुत झुंझलाई और रंज से दरवाजा बन्द कर घर के अन्दर चली गई। सच है— “पति का प्रेम रहते हुए भी नीच प्रकृति की स्त्रियों का व्यवहार ऐसा ही होता है।” अपनी स्त्री का ऐसा दुर्व्यवहार देख मृगसेन किंकर्तव्यविमूढ़ हो घर के बाहर ही एक अत्यन्त पुराने लकड़े पर पँच नमस्कार मन्त्र का ध्यान करता हुआ सो गया।

सूर्योदय तो हुआ, किन्तु धीवर की स्त्री का भाग्य सूर्य अस्त हो गया। जब उसने प्रातःकाल अपने पति को देखा, तब उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहा; वह छाती पीट पीट कर रोने लगी, क्योंकि रात्रि में ही काल रूपी सर्प ने उसके जीवनसाथी का अन्त कर दिया था। उसने अपने पति के मन्त्र को ही धारण करने का प्रण कर, यह निदान किया कि ये ही अगले जन्म में भी मेरे स्वामी हों। तत्पश्चात् उसने अपने पति के साथ अग्नि में प्रवेश कर अपघात द्वारा अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर ली।

विशाल नगरी में राजा विशम्भर राज्य करते थे। उनकी भार्या का नाम विश्वगुण था। उसी राज्य में गुणपाल नामक एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनश्री तथा पुत्री का नाम सुबन्धु था। धनश्री

Y X Y

Y X Y
 सुन्दर और गुणवती थी। पुण्योदय से मृगसेन धीवर का जीव धनश्री के गर्भ में आया। मन्त्री ने राजा से प्रार्थना की कि आप गुणपाल की पुत्री सुबन्धु से मेरे पुत्र नर्मधर्म का विवाह करा दीजिये। राजा ने इस बात को गुणपाल से कहा। गुणपाल अपनी पुत्री का विवाह नर्मधर्म के समान कुकर्मों से करना नहीं चाहता था। पर इससे बचने का उपाय भी तो राज्य परित्याग के सिवा अन्य नहीं था, अस्तु वे अपने मित्र श्रीदत्त के पास अपनी गर्भिणी स्त्री को छोड़ पुत्री तथा कुछ धन साथ लेकर राज्य से निकल भागा। जाते जाते उसने कौशम्बी नगरी में शरण ली।

श्रीदत्त के घर के पास ही एक श्रावक रहता था। एक दिन शिवगुप्त और मुनिगुप्त नामक दो मुनिराज आहार के लिए आए। आहार के बाद जब वे मुनिराज वन में जाने लगे, तब मुनिगुप्त की दृष्टि धनश्री पर पड़ी। वह उस समय श्रीदत्त के आँगन में खड़ी थी। उस समय उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उसकी दयनीय दशा देखकर मुनिगुप्त ने शिवगुप्त मुनिराज से कहा— प्रभो! इसकी दुर्दशा देख जान पड़ता है कि अवश्य ही इसके गर्भ में किसी अभागे का जन्म होने वाला है। यह सुनकर शिवगुप्त ने मुनिगुप्त से कहा— ‘तुम्हारा यह अनुमान गलत है। इसके गर्भ में एक प्रबल प्रतापी महात्मा जिनधर्म का पूर्ण ज्ञाता एवं राज सम्मान का पात्र उत्पन्न होगा। यद्यपि जन्म वैश्यकुल में होगा, तथापि सेवा करेगा।’

मुनिराज की भविष्यवाणी सुन ईर्ष्यालु श्रीदत्त का हृदय संतप्त हो उठा। यद्यपि वह गुणपाल का मित्र था, तथापि जाति बन्धु की बढ़ोत्तरी न सुन सका और उसने जन्मते ही बालक को मारने का निश्चय कर लिया। सत्य ही कहा है कि “कारणेन बिना बैरी दुर्जनः सजनो भवेत्” अर्थात् – दुर्जन शत्रु अकारण ही मित्र बन जाते हैं।

पहले तो श्रीदत्त बेचारी धनश्री को अत्यन्त कष्ट दिया करता था, पर अब उसके साथ बड़ी सहृदयता का व्यवहार करने लगा। प्रसवकाल उपस्थित होने पर धनश्री ने पुत्र प्रसव किया, पर प्रसव की वेदना से वह मूर्च्छित हो गई थी। पापी श्रीदत्त तो इसी घात में था। सोचा कि बालक तेजस्वी है और सहारा देने वाले का ही नाश करने वाला होगा; इसलिये इसे मार डालना चाहिए। उसने बूढ़ी स्त्रियों से प्रकट करवा दिया कि धनश्री के मरा हुआ पुत्र पैदा हुआ है। इस प्रकार बालक को उसने एक भंगी के हाथ सौंपकर उससे कह दिया कि इसे ले जाकर मार डालना। भंगी उसे ले तो गया, पर बालक का तेज देखकर, उसे उस पर दया आ गई तथा उसे एक सुरक्षित स्थान पर रखकर वह अपने घर चला गया।

श्रीदत्त की एक बहिन थी। उसका विवाह इन्द्रदत्त सेठ के साथ हुआ था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। बालक के पूर्वोपार्जित पुण्य से इन्द्रदत्त माल बेचता हुआ उधर ही आ निकला। मार्ग में ग्वाल बालों के मुख से निर्जन स्थान में छोड़े हुए उस बालक की हालत सुनकर सेठ वहाँ गया, जहाँ बालक था। बालक का अनुपम सौन्दर्य तथा उसके तेज से वह बहुत प्रसन्न हुआ। वहाँ से वह बालक को गोदी में

Y X Y

घर लाया। जिस प्रकार आँख मिलने से अन्धे को एक खोई हुई मणि मिलने से मणिधर सर्प को सुख होता है, उसी प्रकार नवजात बालक को प्राप्त कर सेठ तथा सेठानी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इस हर्षोल्लास के उपलक्ष्य में सेठ ने अनेकों उत्सव किए तथा याचकों को खूब दान दिया— “प्राणिनां पूर्व – पुण्यानामापदा सम्पदायते” अर्थात् पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से प्राणियों की आपत्ति भी सम्पत्ति परिणित हो जाती है।

पापी श्रीदत्त भी इसी श्रेणी का दुष्ट था। इसलिये वह निस्सहाय निरूपाय बालक के खून का प्यासा हो गया। इस बार भी श्रीदत्त ने एक चाण्डाल के हाथ बहुत कुछ धन दे लड़के को सौंपकर कह दिया कि इसे मार डालना, पर चाण्डाल को उस बालक की सुन्दरता पर दया आ गई। वह उसे नदी के किनारे एक पहाड़ की गुफा में छोड़कर घर लौट आया।

संध्या के समय जब ग्वालबाल गायें चराकर लौट रहे थे, तो उनकी कुछ गायें उसी गुफा की ओर चली गई थीं। अतः उन लोगों ने जाकर देखा कि गायें बच्चे को घेर कर खड़ी हैं। उनके थन से दूध टपक रहा था। यह समाचार उन लोगों ने अपने मुखिया गोविन्द से कहा। उसके कोई सन्तान न थी। अतः वह उस बालक को उठाकर ले आया व पुत्रवत पालन करने लगा। वह रूप में कामदेव को भी लज्जित करता था। नीलकमल के समान उसके विकसित नेत्रों को देखकर भ्रमर भी मधुर झंकार करते हुए पराग पाने के भ्रम में सर्वदा उसके कानों के पास मंडराया करते थे। चन्द्रमा के सदृश उसकी कान्ति और सूर्य के समान उसका तेज देखकर मालूम होता था कि मानों पृथ्वी भी एक दूसरे स्वर्ग के समान है। इस प्रकार वह ज्यों-ज्यों द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों सब कलायें उसके पास आती जाती थीं।

एक दिन पापी श्री दत्त घी खरीदता हुआ वहीं आ गया। धनकीर्ति पर नजर पड़ते ही उसने उसे पहचान लिया और जो कुछ रहा—सहा भी सन्देह था, उसे उसने लोगों से पूछ कर मिटा लिया। फिर उसने उसे मारने का षडयंत्र किया। उसने दुष्ट विचार से गोविन्द से कहा— ‘भाई मुझे एक अत्यन्त जरूरी काम है, यदि आज्ञा देते तो मैं तुम्हारे पुत्र से अपने घर एक पत्र भेजना चाहता हूँ।’ गोविन्द ने आज्ञा दे दी।

Y X Y

Y X Y

सत्य ही है- “अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन वेगतः” अर्थात् दुष्टों की दृष्टता का पता कोई अत्यन्त शीघ्र नहीं पा सकता। पापी श्रीदत्त ने पत्र में लिख भेजा- ‘पुत्र महाबल! यह पत्रवाहक भविष्य में अपने कुल को भस्मी-भूत करने वाला प्रलयाग्नि के सदृश भयंकर है। सामर्थ्यवान होते ही यह हम लोगों का सर्वनाश कर देगा। अस्तु! तुम गुप्त रीति से तलवार या मूसल द्वारा इसका प्राणान्त कर देना। इतनी सावधानी से काम लेना कि किसी को ज्ञात न हो।’

पत्र को कुमार धर्मकीर्ति ने अपने गले में पड़े हुए हार से बाँध लिया और निर्भीक हो वहाँ से चल पड़ा। चलते-चलते थक जाने के कारण मार्ग में वह एक वृक्ष के नीचे सो गया। उसी समय एक अनंगसेना नामक वेश्या वहाँ फूल तोड़ने आयी। उसने सोये हुए, कुमार के गले में एक पत्र देखा। उसकी इच्छा हुई कि जरा पत्र को पढ़े तो कि क्या लिखा है? पत्र को पढ़ते ही वह हक्का-बक्का सी रह गयी। उसने कुमार की सुन्दरता की एवं पत्र प्रेषक की निष्ठुरता की बहुत देर तक विवेचना की। अन्त में उसने लिखावट को अत्यन्त सावधानी के साथ मिटाकर उसकी जगह अपनी आँख में लगे हुए कज्जल के पत्तों के रस की गोल की हुई सलाई से निकाल कर, उसके द्वारा लिख दिया कि - ‘प्रिय! यदि तुम सचमुच मुझे अपना स्वामी समझती हो और पुत्र महाबल, तुम यह सचमुच मुझे अपना पिता समझते हो, तो इस पत्र वाहक के साथ पुत्री का ब्याह शीघ्र कर देना। बड़े भाग्य से ऐसे सुयोग्य वर की प्राप्ति हुई है। इस काम में तुम मेरी भी अपेक्षा न करना। कारण सम्भव है कि आने में मुझे कुछ विलम्ब हो जाय। फिर ऐसा सुअवसर मिलना कठिन हो जायेगा, वर के मान सम्मान में किसी भी प्रकार की त्रुटि न हो।’ इस प्रकार पत्र लिखकर अनंगसेना ने ज्यों का त्यों उस नवयुवक के गले में बाँध दिया और अपने घर लौट आई।

अनंगसेना के जाते ही उसकी नींद खुली। वह तुरन्त श्रीदत्त के घर की ओर झपटा। वहाँ पहुँचकर उसने श्रीदत्त की स्त्री के हाथ में पत्र दिया। पुत्र महाबल ने भी उसे पढ़ा। उनके आनन्द का पारावार न रहा। पश्चात् शुभ मुहूर्त में उसका ब्याह श्रीमती के साथ कर दिया गया। सच ही तो कहा है- “यद्भावि न तद्भावि भावितेन् तदन्यथा” अर्थात् होने वाली बात होकर ही रहती है।

श्रीदत्त को जब यह बात मालूम हुई तो वह घबड़ाकर दौड़ा आया। उसने धनकीर्ति को मारने की एक युक्ति मार्ग में ही सोच निकाली थी। गाँव के बाहर एक मन्दिर था। उसने वहाँ एक आदमी को धनकीर्ति को मारने के लिए नियुक्त किया। घर जाकर उसने पूजा की सामग्री दे, कुमार को वहाँ भेजा। पर भाग्य चारों ओर से सहायता देता है। ‘जिनकी आयु अभी शेष है, उन्हें तो कोई मार नहीं सकता तथा जिनका मरणकाल आ जाता है, उसको कोई बचा नहीं सकता।’ आगे चलकर पाठकगण देखेंगे कि

Y X Y

Y X Y
 किस प्रकार ये दोनों नियम, धनकीर्ति तथा श्रीदत्त पर लागू होते हैं।

धनकीर्ति तुरंत आज्ञा शिरोधार्य कर नगर के बाहर चला, पर मार्ग में उसका साला महाबल आ रहा था। उसने पूजा की सब सामग्री स्वयं ले ली और उसे लौटा दिया। एक कहावत है कि “बाड़े पूत पिता के धर्माङ्ग अर्थात् पिता के पुण्य से ही सन्तान की वृद्धि होती है तथा पिता के अधर्म से ही सन्तान का अधःपतन होता है। श्रीदत्त के पाप ने उसी के ऊपर हाथ साफ किया। पिता के पापाचरण से निरापराध महाबल मन्दिर में जाते ही मारा गया।

पुत्र की मृत्यु से श्रीदत्त अत्यन्त व्याकुल हुआ। उसने अपनी स्त्री से धनकीर्ति के नाश की युक्ति पूछी। स्त्री ने कहा— “आप निश्चिन्त रहें। आप बूढ़े हो गये हैं। आपकी बुद्धि अब शिथिल पड़ गई है। मैं उसका काम तमाम किये देती हूँ।” यह कह कर उसने दो प्रकार के लड्डू बनाये— एक तो उजले और दूसरे कुछ मैल-कुचेले। उजले लड्डू देखने में तो सुन्दर थे, पर “मन मलीन तन सुन्दर कैसे, विष रस भरा कनट घट जैसे” उसमें विष मिलाया गया था। भोजन काल उपस्थित होने पर उसने अपनी लड्डूकी से कहा— “पुत्री! मैं स्नान करने जाती हूँ और तू अपने पिता तथा स्वामी को भोजन करा। देखो, उजला लड्डू अपने पति को देना और मैला लड्डू अपने पिता को।” यह कह कर वह चली गयी। भोली भाली श्रीमती अपने पिता और पति को भोजन कराने लगी। पिता के सन्मुख ही अपने स्वामी को उजला लड्डू देना और पिता को मैले लड्डू देना उसे लज्जास्पद मालूम हुआ। उसने ठीक उसका उल्टा किया अर्थात् पति को मैले-कुचेले लड्डू दिये और पिता को उजले। सच है— “विचित्रा कर्मणां गतिः” अर्थात् भाग्य की गति विचित्र है।

यह किसी को मालूम नहीं कि कब किसका क्या होगा? लड्डू खाते ही श्रीदत्त अपने कर्मों का प्रायश्चित्त भोगने चले अर्थात् उनकी दुष्टता का अन्त हुआ। कहा भी है— ‘गड्ढा खोदे और को गिरे स्वयं ही जाय।’

उधर जब श्रीमती की माता स्नान कर लौटी, तो उसके दुःख का पारावार नहीं रहा। उसने अत्यन्त विलाप करने के पश्चात् स्वयं भी इस लड्डू को खा लिया और देखते ही देखते उसने शरीर रूपी वस्त्र का परित्याग कर दिया। ठीक है, ‘जो दूसरे की बुराई करना चाहता है उसकी स्वयं बुराई होती है।’ यह अटल एवं अविचल नियम है। जो तुम्हारी बुराई करना चाहते हैं उनकी तुम भलाई करो। तुम्हें तुम्हारी भलाई का बदला मिलेगा और उसे उसकी बुराई का।

धनकीर्ति की प्रतिष्ठा और शील का गुणगान महाराज विश्वम्भर के कानों तक पहुँचा। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न हो अपनी पुत्री का विवाह धनकीर्ति के साथ कर दिया। राजा ने दहेज में बहुत सा सामान

Y X Y

Y X Y
 और धन-सम्पत्ति प्रदान कर, राजसेठ के पद पर उन्हें नियुक्त कर दिया। इस पर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए कारण कि संसार में ऐसी कोई भी अलभ्य वस्तु नहीं, जो जिन-धर्म के प्रभाव से प्राप्त न हो सके। गुणपाल को जब अपने पुत्र के भाग्योदय का समाचार मिला, तो वह उसी समय कौशाम्बी से उज्जयिनी के लिए चल पड़ा। चिरकाल के पश्चात् पिता पुत्र का सम्मिलन हुआ। अब धनकीर्ति अनेकों भोगों का उपभोग करते हुए सुख-चैन से अपने दिन व्यतीत करने लगा। पर साथ ही वह अपने कर्तव्य पथ से विचलित नहीं हुआ। दीन-दुखियों की सहायता, देवाराधना, स्वाध्याय, अध्ययनादि उसके जीवन के अभिन्न अंग बन गये थे।

एक दिन धनकीर्ति का पिता गुणपाल सेठ अपनी स्त्री पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धवों को साथ लेकर यशोध्वज मुनिराज की वन्दना करने गया। भाग्य से अनंगसेना भी उस समय वहाँ पहुँच गयी। मुनिराज की वंदना करने के पश्चात् गुणपाल ने उनसे पूछा- “प्रभो! आप त्रिकालज्ञ हैं। अस्तु कृपाकर बताइये कि मेरे इस पुत्र धनकीर्ति ने कौन सा पुण्य पूर्व जन्म में किया था, जिसके फलस्वरूप बचपन से ही भयंकर से भयंकर कष्टों पर विजय प्राप्त कर यह अचल कीर्तिवान, धनी, सुकर्मी, दानी तथा दयालु हुआ। यह जानने की मेरी उत्कृष्ट अभिलाषा है। अतः आप कृपा कर मुझे सुनावें।”

परम कारुणिक और चार ज्ञान के धारी यशोध्वज मुनिराज ने मृगसेन धीवर की कथा बताते हुए कहा- “धनकीर्ति पूर्व जन्म में धीवर था। उसकी स्त्री का नाम घण्टा था, जो इस जन्म में श्रीमती नाम की सुलक्षणा गुणवती स्त्री हुई है तथा वही मत्स्य, जिसको उसने पाँच बार पकड़ कर छोड़ दिया था, अब इस जन्म में अनंगसेना हुई है। गुणपाल के यह सब अहिंसा व्रत के धारण करने का फल है। इस अहिंसा व्रत का प्रवर्तक जिन धर्म ऐसा धर्म है, जिससे सज्जनों को क्या नहीं मिलता?” मुनिराज के मुख से यह कथा सुन जिन धर्म पर सभी को अटल श्रद्धा हो गई। धनकीर्ति, श्रीमती और अनंगसेना को अपने अपने पूर्व जन्म की बातें स्मरण हो आयीं। इसके बाद धनकीर्ति की यह अवस्था देखकर श्रीमती और अनंगसेना ने भी अपने हृदय से विषय वासना हटाकर जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। धर्म के प्रभाव से धनकीर्ति ने समाधि सहित प्राण त्याग कर सर्वार्थ सिद्धि का श्रेष्ठ सुख लाभ लिया और आगे केवली होकर वह मुक्ति प्राप्त करेगा। इसी प्रकार श्रीमती और अनंगसेना ने भी स्वर्ग प्राप्त किया। सच है- “जिन शासन की आराधना कर किसने सुख प्राप्त नहीं किया- अर्थात् जिनधर्म कल्पतरु के समान समस्त मनोवांछित फल देने वाला है।”

धर्म प्रेम के वशीभूत होकर कल्याण के हेतु अहिंसा व्रत की पवित्र कथा लिखी है। यह सब सुखों को देने वाली तथा विघ्नों का नाश करने वाली है। इसे आप लोग धारण करें, यह सबको शान्ति प्रदान करने वाली है।

Y X Y

अभयदान की श्रेष्ठता

विशदार्थ :- सबसे प्रथम सब प्राणियों को अभयदान देना चाहिये। जो अभयदान नहीं दे सकता, उस मनुष्य की समस्त पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ हैं। कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिये। सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है; जो अभयदान देता है, वह सब शास्त्रों का ज्ञाता है, परम तपस्वी है और सब दानों का कर्ता है।

प्राणी मात्र का भय दूर करके उनके जीवन की रक्षा करना अभयदान है जो इस दान को करता है। वह सब दानों को करता है। जीवन की रक्षा सब चाहते हैं। सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है। यदि जीवन पर ही संकट हो तो आहारदान या औषधदान या शास्त्रदान किस काम का? जो मनुष्य दूसरों की रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् जो अहिंसा धर्म का पालन नहीं करता, वह यदि परलोक के लिए धर्म-कर्म करे, तो भी वह सब व्यर्थ है। धर्म का मूल जीवरक्षा है; यदि मूल ही नहीं तो धर्म कहाँ से हो सकता है। अतः प्राणिमात्र को यथाशक्ति जीवनदान देना ही सर्वोत्तम दान है।

शास्त्रदान का फल

सुयदाणेण य लब्धइ, मइसुइणाणं च ओहिमणणाणं।

बुद्धितवेण य सहियं, पच्छा वर केवलं णाणं॥237॥

श्रुत ज्ञान मय शास्त्र दान से, मतिज्ञान श्रुत औषधि जान।

मनः पर्यय बुद्धी हो तप से, पाए उत्तम केवल ज्ञान॥237॥

अन्वयार्थ :- (य सुयदाणेण) और श्रुत ज्ञानमय शास्त्रदान से (मइसुइणाणं) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान (च ओहिमणणाणं) और अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान (य बुद्धितवेण सहियं) तथा बुद्धि तप सहित (वर केवलंणाणं) उत्कृष्ट केवल ज्ञान को (लब्धइ) प्राप्त करता है।

अर्थ :- और श्रुत ज्ञानमय शास्त्रदान से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान पश्चात् विवेकज्ञान व तप से सहित उत्कृष्ट केवल ज्ञान को प्राप्त करता है।

शास्त्रदान के फल की कथा

कोण्डेश की कथा

कुरुमणी ग्राम में एक गोविन्द नाम का ग्वाला रहता था। उसने कोटर से निकालकर एक प्राचीन शास्त्र की पूजा की तथा भक्तिपूर्वक पद्मनंदी मुनि के लिये वह शास्त्र दिया। उस शास्त्र के द्वारा पहले के कितने ही मुनियों ने, स्वयं पूजा करके तथा दूसरों से कराकर व्याख्यान किया था और उसके बाद वे उस

Y X Y

(426)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
शास्त्र को उसी कोटर में रखकर चले गये थे। ये वही ग्वाला निदान से मरकर उसी ग्राम में ग्राम प्रमुख का पुत्र हुआ। एक बार उन्हीं पद्मनंदी मुनि को देखकर उसे जाति स्मरण हो गया, जिससे तपधारण कर वह कोण्डेश नाम का बहुत बड़ा शास्त्रों का पारगामी मुनि हुआ। यह श्रुत ज्ञान, शास्त्र दान का फल था।

औषध दान का फल

ओसहदाणेण णरो, अतुलियबलपरक्कमो महासत्तो।

वाहिविमुक्कसरीरो, चिराउसो होइ तेयट्ठो॥238॥

औषधि दान से अतुलित बल पा, पराक्रमी महा सत्त्व संयुक्त।

व्याधी रहित निरोग चिरायू, तेजस्वी होता उपयुक्त॥238॥

अन्वयार्थ :- (ओसहदाणेणणरो) औषधि दान से मनुष्य (अतुलियबल परक्कमो) अतुलित बलशाली व पराक्रमी (महासत्तो) महा सत्त्वशाली मानव (वाहिविमुक्कसरीरो) व्याधियों से रहित निरोगी शरीर वाला (चिराउसो) चिरायु (तेयट्ठो) और तेजस्वी (होइ) होता है।

अर्थ :- औषधि दान से मनुष्य अतुलित बलशाली, पराक्रमी, महासत्त्वशाली मानव, व्याधियों से रहित निरोगी शरीर वाला, चिरायु और विशद तेजस्वी होता है।

औषधदान के फल की कथा

वृषभसेना की कथा

जनपद देश के कावेरी पत्तन नामक नगर में राजा उग्रसेन रहते थे। वहीं एक धनपति नाम का सेठ और उसकी पत्नि धनश्री रहती थी। उनके वृषभसेना नाम की पुत्री थी। वृषभसेना की रूपवती नाम की धाय थी। एक दिन वृषभसेना के स्नान जल के गड्ढे में एक रोगी कुत्ता गिरकर, जब उसमें से लौटने के बाद निकला तो वह रोग रहित हो गया था। उसे देखकर धाय तुरन्त समझ गई कि उसकी निरोगता का कारण पुत्री वृषभसेना का स्नानजल ही है।

धाय की माँ बारह वर्षों से नेत्र रोग से पीड़ित थी। अतः उसने अपनी माता को समाचार देकर उपचार एवं परीक्षा करने के उद्देश्य से बुलाकर वृषभसेना के स्नानजल में अपने नेत्रों को धोने हेतु कहा। उसकी माता के द्वारा वृषभसेना के स्नानजल में आँखें धोते के साथ ही ठीक होकर दिखने लगा। इस घटना से वह धाय उस नगर में सब रोगों को दूर करने वाली है, इस तरह प्रसिद्ध हो गई।

राजा उग्रसेन एवं उसके रणपिङ्गल मंत्री ने मेघ पिङ्गल पर हमला किया था, लेकिन उसके देश में प्रविष्ट होकर, वहाँ का विष मिश्रित जल पीने से ज्वर से आक्रांत हो लौटकर आ गए। तब वृषभसेना के स्नान के जल से वे ठीक हुये। राजा ऐसे अद्भुत गुण से प्रभावित होकर वृषभसेना के माता-पिता की

Y X Y

Y X Y
 शर्तों का पालन कर, वृषभसेना से विवाह कर उसे पटरानी बना लिया। वृषभसेना के पिता ने शर्त रखे थे कि - 'यदि राजा जिन प्रतिमाओं की आष्टाह्निक में पूजा करना, पिंजड़ों में स्थित समस्त पक्षियों को छोड़ना एवं बंदीगृह में स्थित सब मनुष्यों को बंधन से मुक्त करना स्वीकार करते हो तो वे अपनी पुत्री का विवाह राजा से कर देंगे।'

वाराणसी के अत्यंत शक्तिशाली राजा पृथ्वीचन्द्र भी वृषभसेना के कारण कैद से मुक्त किये गये।
 तब उन्होंने वृषभसेना एवं उग्रसेन का चित्र बनाकर उसके सामने नमस्कार करते हुये स्वयं का चित्र बनवाया। उसने वृषभसेना रानी से कहा- "हे देवी! तुम मेरी माता हो! तुम्हारे प्रसाद से मेरा दूसरा जन्म हुआ है।" तदुपरांत मेघ पिङ्गल पर आक्रमण कर, उसे राजा उग्रसेन का सामंत बना दिया।

कालान्तर में इसी मेघ पिङ्गल के कारण, भ्रमवश कुपित होकर, राजा उग्रसेन ने रानी वृषभसेना पर कलंक लगाकर, समुद्र में फिंकवा दिया। व्रत के माहात्म्य से जल देवता ने उसके लिये सिंहासन आदि का अतिशय किया। उधर राजा को वास्तविकता का ज्ञान होने पर, पश्चाताप करता हुआ उसे वापस लेने आया।

जब राजा उग्रसेन रानी वृषभसेना को वापस लेकर जा रहा था, तब वृषभसेना ने रास्ते में गुणधर नाम के अवधि ज्ञानी मुनि महाराज के दर्शन कर, उनसे पूर्वभव का समाचार पूछा। मुनि महाराज ने कहा कि - "तू! पूर्वभव में इसी नगर में नागश्री नाम की ब्राह्मण पुत्री थी और राजा के देवमन्दिर में झाड़ने का कार्य करती थी। एक दिन उस मन्दिर में कोट के भीतर वायु रहित गहरे स्थान में मुनिदत्त नाम के मुनि पर्यायासन से कायोत्सर्ग कर रहे थे। राजा के आने की खबर सुनकर तूने मुनि से उठने को कहा, ताकि झाड़ सके; किन्तु मुनि महाराज को कायोत्सर्ग में विराजमान रहने से तूने क्रुद्ध होकर उनके ऊपर कचड़ा डालकर ढक दिया। जब राजा आया, उस स्थान पर साँस की आवाज सुन एवं उस स्थल को हिलता देखकर, वह जगह साफ करवाई, तब तूने अपनी गलती की क्षमा माँगकर मुनि की बहुत सेवा की तथा औषधि कर उन्हें ठीक कर दिया। मुनि को औषधि दान के परिणाम स्वरूप ही तुम्हारा शरीर ऐसा अद्भुत हुआ कि उसके स्नान जल में अवगाहन करने से रोगी ठीक हो जाते हैं तथा मुनि पर कचरा डालकर उन्हें तकलीफ देने के कारण तुझे कलंकित होकर राजा द्वारा समुद्र में फिंकवाया गया।"

"मुनि को औषधि दान के फल से सर्वौषधि ऋद्धि का फल प्राप्त हुआ" यह सुनकर वृषभसेना अपने आपको राजा से विरक्त हो गई और मुनिश्री के सान्निध्य में आर्यिका दीक्षा ले, आत्म कल्याण में

(428)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
लग गई।

आहारदान का फल

दाणस्साहारफलं, को सक्कड़ वणिणुं भुवणयले।

दिण्णेण जेण भोया, लब्भंति मणच्छिया सव्वे॥239॥

आहार दान का फल भूतल पर, कहने में है कौन समर्थ।

मन वांछित सब भोग प्राप्त हों, जिसको देने में असमर्थ॥239॥

अन्वयार्थ :- (आहार दाणस्स फलं) आहार दान के फल को (भुवणयले) पृथ्वीतल पर, (वणिणुं को सक्कड़) वर्णन करने में कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं। (जेण दिण्णेण) जिसके देने से (सव्वे मणच्छिया) सभी मनोवांछित (भोया लब्भंति) भोग प्राप्त होते हैं।

अर्थ :- आहार देने के फल को पृथ्वी तल पर वर्णन करने में कौन समर्थ हैं? अर्थात् कोई नहीं, जिसके देने से सभी मनोवांछित भोग प्राप्त होते हैं।

विशदार्थ- आहार दान के फल की कथा

श्रीषेण राजा की कथा

मलय देश के रत्नसंचयपुर में राजा श्रीषेण रहता था। उसकी बड़ी रानी का नाम सिंहनंदिता और छोटी रानी का नाम अनंदिता था। दोनों रानियों के क्रम से इंद्र और उपेंद्र नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुये। उसी नगर में एक सात्यकि नाम का ब्राह्मण रहता था, उसकी स्त्री का नाम जम्बू और पुत्री का नाम सत्यभामा था। पाटलीपुत्र नगर में एक रुद्रभट्ट नाम का ब्राह्मण वेद पढ़ाया करता था, उसकी दासी का पुत्र कपिल तीक्ष्ण बुद्धि होने से छलपूर्वक वेद को सुनता हुआ उसका पारगामी विद्वान हो गया। रुद्र भट्ट ने क्रुद्ध होकर उस कपिल को पाटलीपुत्र नगर से बाहर निकाल दिया।

वह कपिल दुपट्टा सहित यज्ञोपवीत को धारण कर, ब्राह्मण बन, रत्नसंचय नगर में चला गया। सात्यकी ब्राह्मण ने उसे वेद का पारगामी तथा सुंदर देख, 'यह सत्यभामा के योग्य है' ऐसा मान उसके लिये सत्यभामा दे दी। सत्यभामा, रति के समय कपिल की विट जैसी चेष्टा देखकर, 'यह कुलीन होगा या नहीं' - ऐसा विचार कर मन में खेद को धारण करती हुई रहती थी। इसी अवसर पर रुद्रभट्ट तीर्थ यात्रा करता हुआ रत्नसंचय नगर में आया। कपिल, उसे प्रणाम कर अपने सफेद गृह में ले गया तथा भोजन और वस्त्रादि दिलाकर उसने सत्यभामा तथा अन्य समस्त लोगों के सामने कहा कि 'यह मेरा पिता है।' सत्यभामा ने एक दिन रुद्र भट्ट को विशिष्ट भोजन तथा बहुत सा स्वर्ण देकर उसके पैरों में लगकर पूछा कि - 'हे तात! कपिल में आपके स्वभाव का अंश भी नहीं, इसलिये यह आपका पुत्र है, अथवा नहीं,

Y X Y

Y X Y
 यह मेरे लिये सत्य कहिये।' तदनन्तर रुद्र भट्ट ने कहा कि- 'हे पुत्री! यह मेरी दासी का पुत्र है।' यह सुनकर वह उसके ऊपर विरक्त हो गई तथा 'यह हठ पूर्वक मेरे पास आवेगा' ऐसा विचार कर वह सिंहनंदिता नामक बड़ी रानी की शरण में चली गई। सिंहनंदिता ने उसे पुत्री मानकर रख लिया। इस प्रकार एक दिन श्रीषेण राजा ने परम भक्ति से विधि पूर्वक अर्ककीर्ति और अमितगति नामक चारण मुनियों को आहार दान दिया। उसके फलस्वरूप वह रानी राजा के साथ भोग-भूमि में उत्पन्न हुई। सत्यभामा ने भी उस दान की अनुमोदना की थी, इसलिये वह भी उसी भोग-भूमि में उत्पन्न हुई। राजा श्रीषेण आहारदान के कारण परम्परा से शांतिनाथ तीर्थकर हुये। यह आहारदान का फल है।

दान दाता के गुण

दायारो उवसंतो, मणवयकायेण संजुवो दच्छो।

दाणे कय उच्छाहो, पयडिय वच्छल्लगुणो य मंडं॥240॥

क्षमावान मन वचन काय से, संयत दक्ष होय दातार।

दान में उत्साही स्वभावतः, मृदु हो वात्सल्य गुणी उदार॥240॥

अन्वयार्थ :- (दायारो) दातार को (उवसंतो) उपशांत क्षमावान (मणवयकायेण संजुवो) मन, वचन, काय से संयत (दच्छो) दक्ष (दाणे कय उच्छाहो) दान करने में उत्साही (पयडिय वच्छल्लगुणो) स्वभावतः वात्सल्य गुणधारी (य) और (मंडं) मृदु होना चाहिए।

अर्थ :- दातार को प्रशांत, क्षमावान, मन, वचन, काय से संयत, दक्ष, दान करने में उत्साही, स्वभावतः वात्सल्य गुणधारी और मृदु होना चाहिये।

विशदार्थ- आचार्य भगवन् दाता के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 1. श्रद्धा-आस्था पूर्वक दान देना चाहिए। 2. तुष्टि-जितना बन सका उतनी वस्तु में संतोष धारण करना चाहिए। 3. भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए। 4. विवेक, बुद्धिपूर्वक दान देना चाहिए। 5. अलुब्धता-दान देते समय लोभ नहीं करना चाहिए। 6. क्षमा-क्रोधपूर्वक दान नहीं देना चाहिए। 7. सत्त्व-अपनी शक्ति अनुसार दान देना चाहिए। दाता के सप्त गुणों का विशद वर्णन 241 नम्बर की गाथा में किया जाएगा। इसकी विस्तृत जानकारी के लिए 241 नंबर गाथा को पढ़िएगा।

आहार दान की श्रेष्ठता

सात गुणों से युक्त (श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, अलुब्धता, विवेक, क्षमा, सत्त्व) दाता को नवधा भक्तिपूर्वक साधुजनों को खाद्य स्वाद्य लेह्य पेय के भेद से चार प्रकार का शुद्ध आहार देना चाहिये।

Y X Y

(430)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

अब नवधा भक्ति बतलाते हैं— गृहस्थ को मुनियों की नवधा भक्ति करनी चाहिये। सबसे पहले अपने द्वार पर मुनि को आते देखकर, उन्हें आदरपूर्वक पड़गाहन करना चाहिए कि— ‘हे स्वामी! आइये, आइये, ठहरिये, ठहरिये’ यदि वे ठहर जायें तो घर में ले जाकर उन्हें ऊँचे आसन पर बैठाना, अभिषेक क्रिया/पाद प्रक्षाल करना, उनके चरणों की पूजा करनी चाहिए, फिर उन्हें नमोस्तु कर प्रणाम करना चाहिये, साथ ही उनसे निवेदन करना चाहिए कि मेरा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है और आहार जल शुद्ध है; ये नवधा भक्ति है।

नवधा भक्ति की आवश्यकता— आजकल कुछ लोग इस नवधा भक्ति को व्यर्थ बतलाते हैं, किन्तु यह व्यर्थ नहीं है। इससे एक तो साधु को सद्गृहस्थ की पहचान हो जाती है, वे जान जाते हैं कि यह गृहस्थ कैसा है। इसके यहाँ जो भोजन बना है, वह उसने विधिपूर्वक बनाया है या नहीं। उसके मन में देते हुए कुछ संक्लेश तो नहीं हो रहा है? आदि। दूसरे, लेने वाले से देने वाले का पद ऊँचा समझा जाता है। अतः यदि नवधा भक्ति न करायी जाये तो गृहस्थ अपने को ऊँचा मानने लगें और साधु को नीचा मानने लगें। ऐसा मानने से धर्म की साक्षात् मूर्ति साधुजनों के प्रति अवज्ञा का भाव आ जाने से, धर्म के प्रति भी श्रद्धा उठ जाये, अतः मैं जो कुछ देता हूँ, वह अपनी श्रद्धा बुद्धि से देता हूँ और मुझसे लेकर भी यही बड़े और पूज्य हैं, इत्यादि भाव को बनाये रखने के लिये नवधा भक्ति पूर्वक ही आहारदान की विधि बतलाई गयी है। अब दाता के सात गुण बतलाये हैं—

जिस दाता में श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलोभीपना, क्षमा और शक्ति के सात गुण पाये जाते हैं, वह दाता प्रशंसा के योग्य होता है।

दाता के विज्ञान गुण का स्वरूप

जो भोजन विरूप हो, चलित रस हो, फेंका हुआ हो, साधु की प्रकृति के विरुद्ध हो, जल गया हो तथा जो खाने से रोग पैदा करें, वह भोजन मुनि को नहीं देना चाहिए। दही, घी, दूध वगैरह जो बासी (मर्यादा के बाहर) यद्यपि खाने के योग्य है, किन्तु जिसका रूप, गन्ध और स्वाद बदल गया हो, वह मुनि को देने के योग्य नहीं है।

अवस्था में छोटे, रोग से दुर्बल, तप से दुर्बल, बूढ़े और कोढ़ आदि व्याधियों से पीड़ित मुनियों की सदा सेवा करनी चाहिए, जिससे वे तप करने में समर्थ हो सकें। भोजन के समय कपट, घमण्ड, निरादर, चंचलता, असंयम और कठोर वचनों को विशेष रूप से छोड़ना चाहिए; वैसे तो इनको सदा ही छोड़ना चाहिए, किन्तु भोजन के समय तो खास तौर से छोड़ देना चाहिए क्योंकि इन सबका मन पर खराब असर पड़ता है।

जो भक्ति पूर्वक दान नहीं देते या अत्यन्त कृपण हैं अथवा अत्रती हैं या दीनता और करुणा

Y X Y

Y X Y
उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपनी दीनता प्रकट करते हैं या करुणा बुद्धि से दान देते हैं, उनके घर पर साधु को आहार नहीं लेना चाहिए।

वे साधु बड़े सत्त्वशाली होते हैं, चित्त से भी बड़े दयालु होते हैं, उनकी वृत्ति, दीनता और करुणाजनक संकल्पों से रहित होती है, अतः वे दीनों और दयापात्रों के घर पर आहार नहीं करते।

जो लोग स्वयं दान न देकर दूसरों से दान दिलाते हैं, उन्हें ग्रन्थकार कहते हैं— ‘जो काम दूसरों से कराने लायक है या जो भाग्यवश हो जाता है, उनको छोड़कर धर्म के कार्य, स्वामी की सेवा और सन्तानोत्पत्ति को कौन समझदार मनुष्य दूसरों के हाथ सौंपता है? जो अपना धन देकर दूसरों के द्वारा धर्म कराता है, वह उसका फल दूसरों के साथ सौंपता है? जो अपना धन देकर दूसरों के द्वारा धर्म कराता है, वह उसका फल दूसरों के भोग के लिये ही उपार्जित करता है, इसमें सन्देह नहीं है। खाद्य पदार्थ, भोजन करने की शक्ति, रमण करने की शक्ति, सुन्दर स्त्री, सम्पत्ति और दान करने की शक्ति, ये चीजें स्वयं धर्म करने से ही प्राप्त होती हैं।’

बहुत से आरामतलब धनी लोग स्वयं धर्म न करके दूसरों से धार्मिक कृत्य कराते हैं, भगवान् की पूजा के लिए पुजारी रख लेते हैं। पैसा देकर दूसरों से विधान वगैरह कराते हैं। कोई साधु वगैरह आते हैं, तो अपने सेवकों को द्वार पर खड़ा कर देते हैं और उनसे ही आहार भी दिलाते हैं। यह समझते हैं कि चूंकि इसमें हमारा द्रव्य खर्च होता है, इसलिये उसका फल हमें ही मिलेगा, ऐसा समझने वाले भ्रम में हैं। फल, द्रव्य खरचने से नहीं मिलता, किन्तु भावों से मिलता है। जो अपना द्रव्य खर्चकर आप ही दानादिक देते हैं, उसका फल भी वे स्वयं ही भोगते हैं। जो अपना धन खरचकर दूसरों से दानादिक दिलाते हैं, उसका फल भी दूसरे ही भोगते हैं। ऐसा देखा जाता है कि बहुत से मनुष्यों के पास खूब धन होता है, मगर वे न उसे खा सकते हैं और न दूसरों को दे सकते हैं। सुन्दर स्त्री होती है, मगर शरीर में भोग शक्ति नहीं होती है। ये सब दूसरों से धर्म कराने का ही फल है। खाने को भी हो और दान देने की शक्ति भी हो, ये बातें तो स्वयं धर्म करने से ही प्राप्त होती हैं। अतः धर्म के कार्य स्वयं ही करने चाहिए।

सामान्यतया मुनियों के आहार लेने के अयोग्य घर

नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, भाट, दुराचारिणी स्त्री, नीच लोगों के घर में तथा जो मुनियों के उपकरण बेचकर उनसे आजीविका करते हैं उनके घर में मुनि को आहार नहीं करना चाहिये।

जिन-दीक्षा तथा आहार दान के योग्य वर्ण

‘ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण आहार दान तथा जिनदीक्षा के योग्य हैं किन्तु आहार दान

Y X Y

Y X Y
 देने के योग्य चारों ही वर्ण हैं; क्योंकि सभी प्राणियों को मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्म का पालन करने की अनुमति है। पुष्प वगैरह और भोजन वगैरह स्वयं धर्म नहीं है, किन्तु जैसे पृथ्वी वगैरह धान्य की उत्पत्ति में कारण हैं, वैसे ही ये चीजें शुभ भावों के होने में कारण हैं।'

पूजा में जो पुष्प वगैरह चढ़ाये जाते हैं और मुनि को जो आहार दिया जाता है सो ये पुष्प वगैरह द्रव्य या भोजन स्वयं धर्म नहीं है किन्तु इनके निमित्त से जो शुभ भाव होते हैं, वे धर्म के कारण हैं; उनसे शुभ कर्म का बन्ध (पुण्य बन्ध) होता है तथा पाप की निर्जरा होती है।

मन को शुभ कार्यों में लगाने की प्रेरणा

‘मनुष्यों का मन, यदि एक बार भी सच्ची श्रद्धा से युक्त हो, तो वह उत्कृष्ट विशुद्धियों को प्राप्त होता है जैसे पारस के योग से लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है; उसी प्रकार ‘प्राणियों के मन होते हुए भी यदि वह मन, तप, दान और पूजा में रत न हो, जैसे— पड़ा हुआ बीज धान्य को उत्पन्न नहीं कर सकता, वैसे ही वह मन भी उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः यदि मन है, तो उसे शुभ कार्यों में लगाना चाहिए।’

‘अपने घर पर आये हुए अतिथि को, अपने आश्रित को, सज्जातीय को और दीन मनुष्यों को समय के अनुसार यथायोग्य पाँच दान क्रमशः देने चाहिए।’

‘कलिकाल में जिन रूपधारियों के दर्शन दुर्लभ रहेंगे।’ यह बड़ा आश्चर्य है कि इस कलिकाल में जब मनुष्यों का मन चंचल रहता है और शरीर अन्न का कीड़ा बना रहता है, आज भी जिनरूप के धारक मनुष्य पाये जाते हैं। जैसे—पाषाण वगैरह में अंकित जिनेन्द्र भगवान की प्रतिकृति पूजने योग्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकल के मुनियों को भी पूर्वकाल के मुनियों की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए।

पात्र के तीन भेद

‘सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से विभूषित मुनि उत्तम पात्र हैं; अणुव्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं और असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र हैं।’ ‘जिस मनुष्य में न सम्यग्दर्शन है, न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यग्चारित्र है, उसे विद्वज्जन अपात्र समझते हैं। जैसे कि ऊसर भूमि में कुछ भी बोना व्यर्थ होता है, वैसे ही अपात्र को दान देना भी व्यर्थ होता है।’ पात्र को आहार दान देने से गृहस्थों को पुण्य फल प्राप्त होता है, जिस प्रकार स्वाती नक्षत्र का पानी सीप में ही जाने से मोती बनता है, अन्यत्र नहीं।’ जिनका चित्त मिथ्यात्व में फँसा है और जो मिथ्या चारित्र को पालते हैं, उनको दान देना बुराई का ही कारण होता है, जैसे— साँप को दूध पिलाने से वह जहर ही उगलता है। ऐसे लोगों को दया भाव से अथवा उचित

Y X Y

Y X Y
समझकर यदि कुछ दिया भी जाये, तो भोजन से जो अवशिष्ट रहे वही देना चाहिए; किन्तु घर पर नहीं

जिमाना चाहिए जैसे विषैले

बरतन के सम्बन्ध से विशुद्ध जल भी दूषित हो जाता है वैसे ही इन मिथ्यादृष्टि साधु वेषियों का आदर-सत्कार करने से श्रद्धान दूषित हो जाता है। अतः बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदाय के साधुओं के साथ निवास, बातचीत और उनकी सेवा वगैरह नहीं करना

च । ि ह ए ।

तत्त्वों से अनजान और दुराग्रही मनुष्यों के साथ बातचीत करने से लड़ाई ही होती है। जिसमें डण्डा-डण्डी और जूतम बाजार तक की नौबत आ सकती है। जो स्त्री पुरुष किसी अनिष्ट के भय से या पुत्र वगैरह के लालच से या दूसरों के आग्रह से कुलिंग साधुओं की सेवा करते हैं, उनका श्रद्धान नीच आचरण करने से अवश्य मलिन होता है। सभी मनुष्य बुद्धिशाली हैं और यथायोग्य पौरुष-उद्योग भी करते हैं किन्तु सम्पत्ति का मिलना तो भाग्य के अधीन है। फिर भी यदि मनुष्य बुरे मनुष्यों की सेवा करता है, तो यह दीनता का अतिरेक है।

अब दूसरी तरह से पात्र के पाँच भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं।

बुद्धिमान पुरुष समयी, साधक, साधु, आचार्य और धर्म के प्रभाव रूप से पात्र के पाँच भेद मानते हैं। गृहस्थ हो या साधु, जो जैन धर्म का अनुयायी है, उसे समयी या साधर्मी कहते हैं। ये साधर्मी पात्र यथाकाल प्राप्त होने पर सम्यग्दृष्टि भाईयों को उनका आदर-सत्कार करना चाहिए। जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थ को भलीप्रकार से जानने में समर्थ है, उन ज्योतिषशास्त्र, मन्त्रशास्त्र और निमित्तशास्त्र के ज्ञाताओं का तथा कार्यक्रम अर्थात् प्रतिष्ठा आदि के ज्ञाता का साधर्मी भाईयों को सम्मान करना चाहिए।

यदि उक्त शास्त्र ज्ञाता न होते तो जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और जिनबिम्ब प्रतिष्ठा वगैरह क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं; क्योंकि इनमें मुहूर्त देखने के लिए ज्योतिषविद्या और क्रियाकर्म कराने के लिए प्रतिष्ठाशास्त्र के ज्ञाता की आवश्यकता होती है। शायद कहा जाये कि दूसरे लोगों में जो ज्योतिषी या मन्त्रशास्त्री हैं, उनसे काम चला लिया जाये; किन्तु इस तरह दूसरों से पूँछने से अपने धर्म की उन्नति कैसे हो सकती है।

अपने धर्म की उन्नति तो तभी हो सकती है, जब अपने में भी सब आवश्यक बातों को जानने वाले हों तथा अपने मुहूर्त विचार में भी दूसरों से अन्तर है और प्रतिष्ठा आदि विधि को बिल्कुल ही अलग है। अतः जैन ज्योतिष, जैन मन्त्रशास्त्रों और प्रतिष्ठाशास्त्रों के वेत्ताओं का भी सम्मान करना चाहिए, जिससे वे बने रहें और हमारे धर्म की क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक चलती रहें।

Y X Y

(434)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

मूलगुण और उत्तरगुणों से युक्त तपस्वी महात्मा को साधु कहते हैं। जो पुण्य कमाने में चतुर हैं, उन्हें साधुओं की भक्तिभाव से पूजा करना चाहिए।

जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में चतुर्विध संघ के मुखिया होते हैं तथा संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में समर्थ हों, उन्हें आचार्य कहते हैं; उनकी देव के समान आराधना करनी चाहिए।

तप से हीन ज्ञानी भी समान आदर के योग्य हैं और ज्ञान से हीन तप भी पूजनीय है; किन्तु जिनमें ज्ञान और तप दोनों हैं, वे देवता हैं और जिसमें दोनों नहीं हैं, वह केवल संघ का स्थान भरने वाला है।

अभिवादन की विधि

जिन मुद्रा के धारक साधुओं को 'नमोऽस्तु' कहकर अभिवादन करना चाहिए, त्यागियों की विनय करना चाहिए और मुनि, ऐलक-क्षुल्लक, आर्यिका, त्यागी परस्पर में एक दूसरे का 'सद इच्छामि' कहकर अभिवादन करते हैं। पूज्य पुरुषों के सामने सदा शास्त्रानुकूल वचन बोलना चाहिए तथा गुरुजनों के समीप में स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिए।

गृहस्थ का कर्तव्य - आहारदान देना

केवल आहारदान के लिए साधुओं की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। चाहे वे सज्जन हों, या दुर्जन हों। गृहस्थ तो दान देने से शुद्ध होता है। गृहस्थ लोग अनेक आरम्भों में फँसे रहते हैं और उनका धन भी अनेक प्रकार से खर्च होता है। इससे तपस्वियों को आहारदान देने में ज्यादा सोच-विचार नहीं करना चाहिए। आचार्य, उपाध्याय, मुनिजन जैसे-जैसे तप-ज्ञान आदि गुणों से विशिष्ट हों, वैसे-वैसे गृहस्थों को उनका अधिक समादर करना चाहिए। धन भाग्य से मिलता है, अतः भाग्यशाली पुरुषों को आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले, किन्तु उन्हें अपना धन जैन धर्मानुयायियों में अवश्य खर्च करना चाहिए।

जिन भगवान का यह धर्म अनेक प्रकार के मनुष्यों से भरा है- जैसे मकान एक खम्भे पर नहीं ठहर सकता, वैसे ही वह धर्म भी एक मनुष्य के आश्रय से नहीं ठहर सकता।

दान के अन्य भेद

राजस दान

जो दान अपनी ख्याति की भावना से कभी कभी किसी को तब दिया जाता है जब दूसरे दाता को वैसे दान से मिलने वाले फल को देख लिया जाता है, उस दान को राजस दान कहते हैं।

ऐसे दान दाता को स्वयं को दान पर विश्वास नहीं होता, किन्तु किसी को दान से मिलने वाले फल

Y X Y

Y X Y
को देखकर कि इसने यह दिया था, तो उससे उसे अमुक-अमुक लाभ हुआ था, वह दान देता है। ऐसा दान रजोगुण प्रधान होने से राजस कहा जाता है।

तामस दान

पात्र और अपात्र को समान रूप से मानकर या पात्र को अपात्र मानकर बिना किसी आदर सम्मान और स्तुति के, नौकर-चाकरों के उद्योगपूर्वक जो दान दिया जाता है, उस दान को तामस दान कहते हैं।

सात्विक दान

जिस दान में स्वयं पात्र को देखकर स्वयं उसका अतिथि सत्कार किया जाता है तथा जो श्रद्धा के साथ दिया जाता है उस दान को सात्विक दान कहते हैं।

इन तीनों दानों में सात्विक दान उत्तम है, राजस दान माध्यम है और तामस दान सब दानों में
फि न क ८ ट
है।

जो दिया जाता है, परलोक में वही मिलता है ऐसा कहना झूठ है। क्या पानी और घास खाने वाली गायें दूध नहीं देती है? अतः मुनियों को समय पर भक्ति पूर्वक दिया गया शाक-पात भी अपरिमित पुण्य का कारण होता है, क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है।

सारांश यह है दान की कीमत, दिये जाने वाले द्रव्य की कीमत से नहीं आँकी जाती, किन्तु दाता की श्रद्धा और भक्ति से आँकी जाती है। बिना भक्ति के दिया गया खीर का भोजन भी व्यर्थ है और भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी बहुफलदायी है।

भोजन के समय मौन का विधान

जिनेन्द्र भगवान ने अभिमान की रक्षा के लिए और श्रुत विनय के लिए भोजन वगैरह के समय मौन रहना बतलाया है। भोजन की लिप्सा के त्यागने से तप की वृद्धि होती है और स्वाभिमान की रक्षा होती है और उनके होने से मन वश में होता है। श्रुत की विनय करने से कल्याण होता है, सम्पत्ति मिलती है और उससे मनुष्य पर सरस्वती प्रसन्न होती है।

रोगी-मुनियों की परचर्या का विधान

मुनिजनों को शारीरिक, मानसिक या कोई आगन्तुक रोगादिक की बाधा होने पर गृहस्थों को उसका प्रतिकार करना चाहिए। वात, पित्त, कफ रुधिरादि धातु और मल के विकार से जो रोग होते हैं, उन्हें शारीरिक रोग कहते हैं। मन के दूषित होने से, बुरे स्वप्नों से या भय आदि के कारण से जो रोग होते

Y X Y

(436)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
हैं, वे मानसिक रोग हैं। ठण्ड वायु आदि के लग जाने से जो आकस्मिक बाधा हो जाती है, उसे आगन्तुक रोग कहते हैं। इन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न गृहस्थों को करना चाहिए। रोगग्रस्त मुनियों की उपेक्षा करने से मुनियों की समाधि नहीं बनती और गृहस्थों का धर्म-कर्म नहीं बनता।

आशय यह है कि मुनियों को किसी तरह की बाधा होने पर, यदि गृहस्थ उसका निवारण न करें, तो व्याधिग्रस्त होने के कारण मुनिजन ठीक रीति से आत्मसाधना नहीं कर सकते। गृहस्थ अपने कर्तव्य पालन में प्रमाद करते हैं, अतः वे भी अपने धर्म-कर्म से च्युत कहे जायेंगे या हो जायेंगे। धर्म तो मुनिजनों के ही आश्रय से चलता है, अतः गृहस्थों को रुग्ण साधुओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

श्रुत की रक्षा के लिए श्रुतधरों की रक्षा आवश्यक है—

वास्तव में जैन धर्म तभी तक कायम है, जब तक जैनशास्त्रों के ज्ञाता मौजूद हैं। लोगों में जैनशास्त्रों का पठन-पाठन चालू है। यदि लोगों में से शास्त्रज्ञान लुप्त हो गया, तो वे अपने धर्म-कर्म को भी भूल बैठेंगे और धर्म-कर्म के भूल बैठने से वे केवल नाम के जैनी रह जायेंगे; कुछ समय बाद यह भी भूल जायेंगे कि हम जैनी हैं। अतः इस बात का प्रयत्न भरसक करना चाहिए कि जैनशास्त्रों का पठन-पाठन चालू रहे और उसके लिए उन लोगों को बराबर सहायता देते रहना चाहिए, जो अपना जीवन इस काम में लगाये हुए हैं। पहले समय में तो मुनिसंघ होते थे और गृहस्थ लोग भी अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए संघ में भेज देते थे। किन्तु अब तो बिरले ही मुनि दृष्टिगोचर होते हैं; और जो होते हैं उनमें भी कुछ में ही ज्ञान का विकास पाया जाता है। अतः जो गृहस्थ लोग इस काम में अपने जीवन को लगाकर श्रुत की रक्षा करते हैं, स्वयं श्रुताभ्यास करते हैं। दूसरों को कराते हैं या जो विद्यार्थी विद्यालयों या पाठशालाओं में पढ़ते हैं, उन सबको यथायोग्य सहायता देते रहना चाहिए। जो संस्थाएँ इसीलिए खुली हैं कि जिन शास्त्रों के पठन-पाठन चालू रहें, उनकी रक्षा और प्रचार हो उन्हें भी भरपूर मदद देते रहना चाहिए।

श्रुत या शास्त्र का महत्व

श्रुत या शास्त्र से ही तत्त्वों का ज्ञान होता है और शास्त्र से ही जिन शासन की वृद्धि होती है। यदि शास्त्र न हो तो अपने कल्याण के इच्छुक जनों को सर्वत्र अन्धकार ही दिखलायी देगा। जैसे तलवार वगैरह बाँधने का कष्ट उठाने वाले मनुष्य तो सरलता से मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं। जो मनुष्य ज्ञान की भावना से शून्य हैं और केवल शरीर को कष्ट देते हैं वे बोझ ढोने वाले मनुष्य की तरह कष्ट उठाते हैं और इस तरह वह केवल काय-क्लेश ही करते हैं।

सच्चे ज्ञान की महत्ता

Y X Y

Y X Y

मनुष्य के मनरूपी हाथी को वश करने के लिए ज्ञान ही अंकुश के तुल्य है अर्थात् जैसे अंकुश हाथी को रोकता है वैसे ही ज्ञान मनुष्य के मन को बुरी तरफ जाने से रोकता है। उस ज्ञान के बिना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए है उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। जो ज्ञान की भावना करता है, उसे बाह्य तप स्वयं प्राप्त हो जाता है। जब आत्मा ध्यान में लीन हो जाती है तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं अर्थात् स्वयं रुक जाती हैं।

अज्ञानी जिस कर्म को बहुत से युगों में भी नष्ट नहीं कर पाता, ध्यान में युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्म को निश्चय से क्षण-भर में ही नष्ट कर देता है। समस्त बाह्य व्रतों में क्लेश उठाने वाले अज्ञानी यति से, ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता है; किन्तु बाह्य व्रतों को करने वाला अज्ञानी युग बीत जाने पर भी ज्ञान के एक अंश में भी कुशल नहीं होता।

जिसकी वाणी व्याकरण के द्वारा शुद्ध नहीं हुई और बुद्धि नयों के द्वारा शुद्ध नहीं हुई, वह मनुष्य दूसरों के विश्वास के अनुसार चलने से कष्ट उठाता हुआ अन्धे के समान करता है।

दातार के सात गुण

भक्ती सद्धा य खमा, सत्तिं चिय तह य लोहपरिचाओ।

विण्णाणं तह काले, सत्त- गुणा होंति दायरे॥241॥

श्रद्धा भक्ती क्षमा विज्ञान भी, निर्लोभी हो शक्तीवान।

युक्त काल में आहारादिक, दे तो होय सप्त गुणवान॥241॥

अन्वयार्थ :- (भक्ती) भक्ति (सद्धा) श्रद्धा (खमा) क्षमा (सत्तिं) शक्ति (तह) तथा (लोहपरिचाओ) लोभ का परित्यागी, (विण्णाणं) विज्ञानी (तह) तथा (काले) योग्य काल में आहार आदि देना (सत्त-गुणा) ये सात गुण (दायरे होंति) दातार में होते हैं।

अर्थ :- भक्ति, श्रद्धा, क्षमा, शक्ति या लोभ का परित्यागी, विज्ञानी तथा योग्य काल में आहार आदि देना, ये सात गुण दातार में होते हैं।

विशदार्थ :- ज्ञान शिरोमणी गुरुवर संसार में भटके जीवों को परम करुणा पूर्वक कहते हैं। गाथा में आचार्य भगवन् ने दाता के सात गुण बताये, इस प्रकार से निम्न प्रकार के भी दाता होते हैं।

भक्तिमान सरलोज्ञानी, सुदृष्टि-

वि ' न य । ि न व त : ।

मद्यमांसमधुत्यागी, पंचोदुम्बर वर्जितः॥

Y X Y

Y X Y

1. दाता के गुणों में सर्वप्रथम दाता भक्तिमान होना चाहिए। भक्ति के बिना दाता के समस्त कर्म विफल हो जाते हैं। 2. दाता सरल हृदय वाला, निष्कपट और मायाचार से रहित होना चाहिये। 3. ज्ञानी हो, ज्ञान के बिना दान की विधि और श्रेष्ठदान की पद्धति को नहीं जानने से विपरीत आचरण करने लगता है। 4. दाता सम्यक्दृष्टि होना चाहिए, अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु को ही मानता हो अन्य कुदेव आदि को किसी के भय से अथवा पुत्र, पत्नि, मातादि के स्नेहवश या लोभ प्राप्ति के वशीभूत नहीं मानता और नमस्कार भी नहीं करता है। 5. विनयवान हो। 6. मूलगुणधारी और 7. मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुंबर फल का त्यागी होना चाहिए। दाता तीन प्रकार के होते हैं उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य। साधु को आया सुनकर दान देने में बुद्धि करने वाला पुरुष उत्तमदाता कहलाता है। साधु को देखकर दान देने वाला पुरुष मध्यम दाता कहलाता है और जो सुनकर, देखकर पीछे दान देता है वह जघन्य दाता कहलाता है। जो ताड़न, पीड़न, चोरी करके, रोष करके तृष्णादि दोषों को करके या भयभीत होकर दान देता है उसे जिनेन्द्र देव ने दाता नहीं अदाता कहा है। (अ.श्रा. 11/15-22)

1. **श्रद्धा**— भक्ति से सहित दाता को होना चाहिए। आस्तिक्य बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। यह पात्र मेरे समस्त पापों का निवारण करने के लिए सर्वांगरूप से समर्थ है और मेरी दरिद्रता आदि दुखों को दूर करने के लिए यह पात्र शीघ्र ही समर्थ है। पुण्य प्रदान करने वाला है। दुर्बुद्धि को हरण करके सुबुद्धि को प्रदान करने वाला है। दान और दान के फल में विश्वास करने वाला होना चाहिए। 2. **भक्ति गुण**— शुभ बुद्धि वाला दाता जब तक मुनिगण आहार करते हैं, तब तक उनके ही समीप स्थिर रहता है और आहार के दोषों को, मलों का शोधन कर बड़ी भक्तिपूर्वक आहार देता है और चौके में किसी प्रकार मार्जार, कीट, जंतुओं का सतत् निरीक्षण करता है और यही भावना भाता है कि हे भगवन्! मेरा वह दिन कब आये जब हम भी वनवासी बनकर पाणी पात्र में आहार ग्रहण कर स्वात्मानंद में लीन हो जाएंगे। 3. **तुष्टि गुण**— अर्थात् संतोष को प्राप्त होना। जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने से समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है, परमाह्लादित होता है, उसी प्रकार मुनिरूपी चन्द्रमा का उदय होने पर दाता के हृदय का संतोष रूपी समुद्र आह्लाद से परिपूर्ण होकर संतुष्ट हो जावे अर्थात् विशद संतोष को प्राप्त कर जावे। 4. **विज्ञान गुण**— अर्थात् विवेकपूर्वक दान देना। जो दोष को शमन, वात, पित्त, कफादि दोषों को शमन करने वाला, यथासाध्य व्याधि को हरण करने वाला, जो पात्र की प्रकृति को रुचिकर और स्वस्थता प्रदान करने वाला, निद्रा, कफ, गर्मी, सर्दी आदि उपद्रवों का नाश करने वाला, हल्का पथ्य रूप निरंतर स्वाध्याय को वृद्धिगत करने वाला ऐसा आहार अपने ज्ञान से समस्त प्रकार के विचारों से पात्र को अनुकूलतापूर्वक अपने हाथ से दान करता है, वह दाता का विज्ञान नाम का गुण है। 5. **अलुब्धता**

Y X Y

Y X Y

गुण- दान देते समय लोभ नहीं करना। **6. क्षमा गुण-** क्रोध नहीं करना चाहिए। इतने दिन से चौका लगा रहे हैं, महाराज तो आते नहीं है इसलिए क्रोध करना, महाराज कैसी-कैसी विधि लेकर निकलते हैं हमारे यहाँ तो मिलती नहीं है अतः क्रोध करना, अब कल से चौका नहीं लगाना ऐसी भावना नहीं होना चाहिए बल्कि जिस समय से हमारे मन में आहारदान के भाव होते हैं और जब तक हम आहारदान इत्यादि में अपने मन को लगाते हैं भले ही हमारे गृह में मुनिराज आयें या न आयें। हमें तो पूरा पुण्य आहार दान का मिल गया है इसलिए दाता को क्षमावान होना चाहिए। **7. सत्त्व (शक्ति) गुण-** अर्थात् हार्दिक दयारूप कोमल परिणाम-जो दाता अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर दान देता है। पात्र को देखने मात्र से ही पात्र लाभ के लिये सबसे आगे जाता है, वह दाता शक्तिगुण का धारक है देखने मात्र से जिसके मन में आनंद की हिलोरें उठती हैं, निरंतर अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर दान देता है वह वास्तविक श्रावक ही दाता कहलाता है।

इन गुणों के साथ-साथ दाता सर्वांग रूप से शुद्ध होना चाहिये। स्नान शुद्धि, वस्त्र शुद्धि, फटे पुराने, जले कपड़े नहीं पहनना चाहिये। जातीय विजातीय विवाह वाला नहीं होना चाहिए, तलाक़ शुदा स्त्री, विधवा विवाह वाली स्त्री पुनः विवाह अथवा पुरुष इस प्रकार की स्त्री से विवाह नहीं होना चाहिए। जैन कुल में नीच कुल की बहू बेटी हो तो भी वह आहारदान का पात्र नहीं कहला सकता है।

श्रेष्ठ पात्र को दिया दान फलदायी

जह नीरं उच्छुगयं, काले परिणवइ अमियरूवेण।

तह दाणं वरपत्ते, फलेइ भोएहिं विविहेहिं॥242॥

गया इच्छु में नीर समय पर, करे परिणमन अमृत रूप।

श्रेष्ठ पात्र में गया दान त्यों, फले विविध जो भोगों रूप॥242॥

अन्वयार्थ :- (जह उच्छुगयं नीरं) जैसे इक्षु में गया जल (काले) काल आने पर (अमियरूवेण) अमृतरूप / मधुर रस रूप से (परिणवइ) परिणमन करता है (तह) उसी प्रकार (वरपत्ते दाणं) श्रेष्ठ पात्र में दिया गया दान (विविहेहिं भोए हिं) विविध प्रकार के भोग रूप से फलता है।

अर्थ :- जैसे इक्षु में गया जल, काल आने पर अमृत रूप/मधुर रस रूप में परिणमन करता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ पात्र में दिया गया दान, विविध प्रकार के भोग रूप से फलता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् दान की महिमा बताते हुये कहते हैं कि दान देने से पुण्य की प्राप्ति

Y X Y

Y X Y
 होती है जो परंपरा से मोक्षमार्ग में सहयोगी होकर मोक्ष पद प्राप्त करता है। श्रेष्ठपात्र को दिया गया दान ही फलदायी है बाकी पात्रों को दिया गया दान निष्फल ही समझना चाहिए। जिस प्रकार से इक्षु के खेत में जल डालने से समय आने पर वह मधुर रस रूप परिणत हो जाता है। चाहे वह चीनी रूप हो या गुड रूप हो किन्तु उसकी मिठास से जन-जन को लाभ ही मिलता है और एक बार खेत में गन्ना लगाने से वह तीन वर्ष तक फसल को देता है इसी प्रकार से श्रेष्ठ पात्र को दिया दान ही अनेक प्रकार के सुख वैभव को प्राप्त कराने में निमित्त होता है एवं परम्परा से मोक्ष प्राप्ति में कारण है।

मान बढ़ाई के लिए दिया गया दान फलदायी नहीं होता है महाभारत में एक कथन आया कि जब युद्ध समाप्त हो गया और हस्तिनापुर के राज्य पद पर युधिष्ठिर का राजतिलक हो गया। तब युधिष्ठिर ने बहुत बड़ा यज्ञ किया। उसमें हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराया गया वहाँ एक नेवला आया जिसका आधा शरीर स्वर्णमयी था वह जूठन में बार-बार लौटने लगा तब महाराज बोले हे नेवले! तू यह क्या कर रहा है तब नेवला बोला, महाराज एक गाँव में एक ब्राह्मण उसकी पत्नी, लड़का तथा लड़के की बहु चार जीवों का परिवार रहता था वे बहुत ही गरीब थे, खेत से शिला बीनकर लाते थे और उससे गुजर बसर करते थे, कभी कभी तो कई दिन उन्हें भूखा रहना पड़ता था एक बार कई दिन भूखे रहने के बाद जो शिला बीनकर लाये थे उससे उन्होंने आठ रोटियाँ बनाकर सभी खाने बैठे ही थे कि बाहर किसी की आवाज आई। मैं 7 दिन का भूखा हूँ, भूख की वेदना सहन नहीं हो रही है उसकी इस प्रकार की वाणी सुनकर ब्राह्मण को करुणा आई और अपने हिस्से की रोटि उसको इन विचारों के साथ कि मुझे केवल तीन दिन ही हुये है मुझसे ज्यादा जरूरी उसको है तब ब्राह्मण की पत्नी लड़के तथा बहु सभी ने अपने हिस्से की रोटियाँ उस भूखे को खिला दीं। उन रोटियों को खाकर वह तृप्त हो गया और उसके हाथ धोने से जो पानी जमीन पर फैल रहा था उसमें लोटने से मेरा आधा शरीर स्वर्ण मयी हो गया था। अब आधा शरीर स्वर्णमयी मुझे अच्छा नहीं लगता। सोचा था कि महाराज धर्मराज यज्ञ कराकर ब्राह्मणों को भोजन करा रहे हैं वहाँ पर मेरा बाकी बचा आधा शरीर भी स्वर्णमयी हो जायेगा। इस प्रकार विचार करके यहाँ पर आया था किन्तु मेरा शेष शरीर स्वर्णमयी नहीं हो रहा है, महाराज जान पड़ता है कि यह ब्राह्मण भोजन करुणा बुद्धि से नहीं केवल मान बढ़ाई के लिये हो रहा है क्योंकि मान बढ़ाई प्रतिष्ठा आदि से किया गया कार्य निरर्थक होता है। दान देते समय पात्र की परीक्षा करना चाहिए ऐसा कहना ठीक है किन्तु यह कैसे पता चले कि साधु मिथ्यादृष्टि है कि सम्यग्दृष्टि? इसलिये हम श्रावक हैं और उसका कर्त्तव्य है आहारदान देना अतः जिस साधु के पीछी कमण्डल है और आप सम्यग्दृष्टि हैं तो बिना परीक्षा के चौका लगाकर आहार करवा लेना। पुण्य पाप आपके भावों का मिलता है हम लोगों का वर्षा योग

Y X Y
अलवर में चल रहा था। उस समय वहाँ के लोगों ने कुछ साधुओं के द्वारा ये नियम दिया था कि अकेले साधु को आहार नहीं देना। इत्तफाक से कुछ समय बाद साधु आये। गर्मी का समय था एक महिला मन्दिर के दर्शन करने लेट पहुँची वह महाराज जी के दर्शन करने गई।

लोगों से पूछा चौका कहाँ लगा है लोगों ने मना कर दिया। वह महाराज के पास गई और बोली महाराज जी आप थोड़ी यहीं रुकिएगा हम जाकर अभी जल्दी में जो कुछ बनेगा वह तैयार करते हैं। 11 बजे आहार हुआ और वृद्ध महाराज ने उन्हें इतना आशीष दिया कि तब से लेकर आज तक उनके घर किसी चीज की कमी नहीं है जो सच्ची श्रद्धा से दान करता है उसे अनंत पुण्य की प्राप्ति होती है।

आहार दान से रूप, विद्या, धर्म, श्रुत व मोक्ष की प्राप्ति

देहो पाणा रुअं, विज्जा धम्मं तवो सुअं मोक्खं।

सव्वं दिण्णं णियमा, हवेइ आहारदाणेण॥243॥

निश्चित ही आहार दान से, देह धर्म तप विद्या प्राण।

रूप और श्रुत मोक्ष सभी कुछ, मानो दिए गये यह मान॥243॥

अन्वयार्थ :- (णियमा आहार दाणेण) निश्चित ही आहार दान से (देहो) देह (पाणा) प्राण (रूअं) रूप (विज्जा) विद्या (धम्मं) धर्म (तवो) तप (सुअं) श्रुत और (मोक्खं) मोक्ष (सव्वं दिण्णं) ये सभी दिए हुए (हवेइ) होते हैं।

अर्थ :- निश्चित ही आहार दान से देह, प्राण, रूप, विद्या, धर्म, तप श्रुत और मोक्ष ये सभी दिये हुए होते हैं, प्राप्त होते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् आहार दान की महिमा को बताते हुये कहते हैं कि आहार दान अर्थात् भोजन, दाल, रोटी, सब्जी इत्यादि जिससे हमारी क्षुधा शांत हो ऐसा आहार मुनिजनों को दान में देना। क्योंकि जब तक गाड़ी चलाने के लिए उसमें पेट्रोल, डीजल, समय-समय पर डालते रहते हैं तभी वह हमें गंतव्य स्थान तक ले जाती है। इसी प्रकार से 24 घंटे में एक बार भी आहार करने से ऊर्जा हमारे शरीर में शक्ति आती है जिससे यह शरीर रूपी गाड़ी अच्छी तरह से कार्य करती है वरना आहार न मिलने से शरीर में कमजोरी होने से किसी भी क्रिया में मन नहीं लगता है। चाहे वह स्वाध्याय हो या सामायिक हो। आहार न करने से आवश्यक कर्तव्यों के प्रति शिथिलता आ जाती है क्योंकि यह काल ही ऐसा है जितना खा लो उतना शरीर चल जाता है इसलिये त्यागी व्रती शरीर को कष्ट पहुँचाने के लिए बीच-बीच में उपवास इत्यादि करते रहते हैं। जो शुद्ध प्रासुक आहार मुनिजनों को देते हैं। उनकी महिमा

(442)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
अचिन्त्य है कभी भी खाली हाथ जाकर मुनिजनों को आहार नहीं देना चाहिए।

एक नगर में एक गरीब महिला रहती थी उसके पास द्रव्य एवं वर्तन नहीं थे। एक दिन उस नगर में महान तपस्वी मुनिराज विहार करते हुए आये। उस महिला के मन में मुनिराज को आहार देने की प्रबल भावना थी किन्तु उसके पास कुछ नहीं था। मन में विचार आया, बाजरा रखा है, मिट्टी की हांडी और लोहे का तसला है। हांडी में खिचड़ी बना लूंगी और तसले में पैर धुला लूंगी। ऐसा विचार करके वह करवा और सरई लेकर पड़गाहन के लिए खड़ी हो गई। भाग्य से मुनिराज का पड़गाहन भी हो गया, वह मुनिराज को लेकर झोपड़ों में गई। लोहे के तसले में पैर धुलाये तो वह सोने का हो गया और बाजरे की खिचड़ी से आहार करवाया सो रत्न वृष्टि हुई। यह घटना पड़ौस की एक महिला देख रही थी उसे ईर्ष्या हुई उसने सोचा जब बाजरे की खिचड़ी से आहार कराया सो इसके यहाँ रत्न बरसे हैं, मैं कल 36 प्रकार के व्यंजन बनाऊँगी मेरे यहाँ तो ना जाने कितने रत्न बरसेंगे। अगले दिन तो उसने ऐसा ही किया। महाराज आये, लेकिन उसे इच्छा थी रत्न की वहाँ दान नहीं था। महाराज पड़गाहे गये। पहली बार पानी दिया वह पानी भी उबला हुआ था। महाराज के हाथ पर डाल रही थी और ऊपर की ओर देख रही थी। गर्म गर्म पानी हाथ पर पड़ा। अंजुली छूट गई अंतराय हो गया। आँगन में रत्न के स्थान पर अंगारे बरसने लगे।

तब उसने महाराज से पूछा ऐसा क्यों हुआ। मुनिराज ने कहा तुम्हारा दान सच्चा दान नहीं है तुम्हें लोभ मान था, इच्छा थी इसलिये ऐसा हुआ।

इसलिये आहार दान देते समय नाम लोभ की भावना नहीं होनी चाहिए और शुद्ध भावों से आहार देना और करवाना चाहिये।

अन्न के समान औषधि नहीं – आहार दान श्रेष्ठ दान

भुक्खसमा ण हु वाही, अण्णसमा णं च ओसहं अत्थि।

तम्हा तं दाणेण य, आरोयत्तं हवे दिण्णं॥244॥

भूख समान व्याधि ना कोई, औषधि ना कोई अन्न समान।

अन्न दान देने वाले से, समझो दिया है औषधि दान॥244॥

अन्वयार्थ :- (भुक्खसमा ण हु वाही) भूख के समान व्याधि नहीं (च) और (अण्ण समा ओसहं णंत्थि) अन्न के समान औषधि नहीं है (तम्हा) इसलिये (तं दाणेण) उस आहार दान के देने से (आरोयत्तं) आरोग्य दान (दिण्णं हवे) दिया समझना चाहिये।

Y X Y

Y X Y

अर्थ :- इस संसार में भूख समान व्याधि नहीं है और अन्न के समान औषधि नहीं है, इसलिये उस आहार दान के देने से आरोग्य दान (औषध दान) दिया समझना चाहिए। नीति श्लोक में कहा गया है- 'क्षुधा समा नास्ति शरीर वेदना।'

विशदार्थ :- अभीक्षण ज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् आहार दान के विषय में आहारदान से रहित भव्य जीवो को समझाते हुए कहते हैं कि जिसने अपने जीवनकाल में एक भी बार मुनिजनों को आहारदान नहीं दिया है वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। वह तो बिना सींग और पूँछ का तिर्यच है। मनुष्य और तिर्यच में मूँछ और पूँछ का ही तो अन्तर है। बाकी सारी क्रिया प्रक्रिया मिलती है। एक सबसे बड़ी विशेषता है कि वह विवेकवान होता है। वह विवेक बुद्धि से सही गलत का निर्णय कर सकता है किन्तु आज भौतिकता की चकाचौंध में श्रावक अपने कर्त्तव्यों से हीन होता जा रहा है। श्रावक के कर्त्तव्यों में दूसरा कर्त्तव्य गुरुपास्ति और दान में पहला दान आहारदान है इसलिये सभी को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। इस संसार में भूख के समान कोई व्याधि नहीं है। जो कुछ भी बुरे कार्य हो रहे हैं सब इसी पेट के कारण ही हो रहे हैं। मनुष्य चोरी करता, मनुष्य डाँका डालता, रिश्वत लेकर कार्य करता है, सप्त व्यसन सेवन करता है इत्यादि। अगर आज भूख की वेदना नहीं होती तो इंसान आराम से जिन्दगी का गुजारा कर रहा होता। उसे किसी का भय नहीं होता। मनुष्य तो आहार दान देता है किन्तु तिर्यच आहारदान की अनुमोदना ही कर सकते हैं। जो आहार दान नहीं दे सकते अर्थात् जिनकी सामर्थ्य नहीं है जो हाथ पैरों इत्यादि अंगों से रहित, लंगड़े, लूले, गूंगे, बहरे आदि हों बीमार हों जो विधवा विवाह, तलाक शुदा, नीची जाति में शादी की हो इत्यादि अनेक ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से वह कर्त्तव्य विहीन हो सकता है। ऐसे लोग तो अनुमोदना कर सकते हैं। कारित भी कर सकते हैं। वह दूसरों को अपनी द्रव्य देकर आहार दान में सहयोगी बन सकते हैं। किन्तु जो पुष्ट शरीर वाले हैं शक्ति सम्पन्न हैं ऐसे मनुष्य भी यदि दान नहीं देते हैं तो वह तो जीते जागते पशु ही हैं।

आहार दान के बिना अर्थात् जो खाये पिये भूख शांत नहीं हो सकती है। आचार्य भगवन् समंत भद्राचार्य का नाम तो सभी ने सुना है कितने महान आचार्य थे जिनकी चर्चा साधना की चर्चा तो दूर-दूर थी किन्तु जब कर्म का उदय आया तो उन्हें भस्मक व्याधी हो गई। कई दिनों तक उन्होंने अपने आपको सम्भाला किन्तु नियति को कौन टाल सकता है। अन्त में मुनि पद छोड़कर क्षुधा व्याधि का शमन किया।

आहारदान अर्थात् जीवन दान

आहारमओ देहो, आहारविणा पडेइ णियमेण।

Y X Y

(444)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

तम्हा जेणाहारो, दिण्णो देहो हवइ तेण॥245॥

चलता है आहार से तन ये, बिन आहार के होय विनाश।

देता जो आहार करे वह, मानो देह का करे विकाश॥245॥

अन्वयार्थ :- (देहो आहारमओ) शरीर आहारमय है। (आहारविणा पडेइ णियमेण) आहार के बिना नियम से शरीर नष्ट होता है। (तम्हा) इसलिये (जेणाहारो) जिसने आहार दिया (तेण) उसने (देहो दिण्णो हवइ) उसके द्वारा शरीर दिया हुआ होता है,॥ समझना चाहिये॥

अर्थ :- यह शरीर आहारमय अन्न का कीड़ा है। यदि इसको आहार न मिले तो, नियम से शिथिल होकर गिर पड़ता है। इसलिये जिसने ऐसे शरीर के लिये आहार दिया उसने उस शरीर को ही दिया ऐसा समझना चाहिए।

विशदार्थ :- अभीक्ष्यज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् जनकल्याणार्थ कहते हैं। यह शरीर अन्न से चलता है, अच्छा-अच्छा खिलाया जाता वह उतना ही ज्यादा आलसी होता है, इसे मगर एक दिन भी आहार न मिले तो कार्य करने में असमर्थ नजर आता है अतः गाड़ी को चलाने के लिए डीजल दिया जाता है यदि गाड़ी में डीजल न हो तो वह रुक जाती है उसी प्रकार शरीर को आहार न मिले तो काम करना बंद कर देता है किन्तु साधू सभी प्रकार के आरम्भ परिग्रह के त्यागी होते हैं फिर उन्हें वह भोजन कैसे प्राप्त हो, भोजन के अभाव में जीवन सम्भव नहीं। अतः श्रावकों का कर्तव्य है कि पहले साधकों को आहार कराए फिर स्वयं करें जो श्रावक साधू को भोजन देता है वह श्रावक साधू के लिए सब कुछ देता है अर्थात् ज्ञान देता है क्योंकि आहार होने पर ही ज्ञानाध्ययन होगा। संयम देता है जीवन रहने पर ही संयम पालन होगा। जीवन देता है आहार, आहार होने पर ही जीवन रहेगा। यहाँ तक कि वह साधू के लिए निर्वाण यानि मोक्ष देता है। क्योंकि निरन्तर साधना से कर्म का क्षय होता है और कर्म के क्षय से निर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। सच्चे श्रावक की यही भावना रहती है-

देहा- साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम्ब समाय।

मैं भी भूखा न रहूँ, साधू भूखा ना जाय॥

आहार से ही शरीर, प्राण, तप और विज्ञान

ता देहा ता पाणा, तत्त तवो जाणविण्णाणं।

जावाहारो पविसइ, देहे जीवाण सोक्खयरो॥246॥

सुखकारी आहार देह में, जब तक करता रहे प्रवेश।

Y X Y

Y X Y
तब तक रहे शरीर प्राण भी, सुतप ज्ञान भी रहे विशेष॥246॥

अन्वयार्थ :- (जाव) जब (जीवाण) जीवों के (सोखखरो) सुखकारी (अहारो) आहार (देहे पविसइ) देह में प्रवेश करता है, (ता देहा) तभी तक शरीर है, (ता पाणा) तभी तक प्राण है, (तत्त तवो) उसी से तप और (विण्णाण जाण) विज्ञान जानना चाहिए।

अर्थ :- जब जीवों के सुखकारी आहार देह में प्रवेश करता है, तभी तक शरीर है, तभी तक प्राण हैं, उसी से तप और विज्ञान (विशेष ज्ञान) जानना चाहिए।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् आहार दान की महिमा के विषय में समझाते हुए कहते हैं कि सभी जीवों की यही भावना रहती है कि हम को सुख मिले किन्तु वास्तविक सुख तो मोक्ष में ही है और मोक्ष की प्राप्ति रत्नत्रय से होती है रत्नत्रय की प्राप्ति दिगंबर अवस्था से ही होती है। दिगंबर अवस्था शरीर से ही होती है और शरीर की स्थिति अन्न से होती है और अन्न धर्मात्मा श्रावकों द्वारा ही दिया जाता है इसलिये इस दुःखम काल में आहार से ही शरीर, प्राण, तप और विज्ञान रहता है। आहार से ही शरीर चलता है प्राण भी तभी तक हैं जब तक शरीर है, तप, विज्ञान भी शरीर होने तक ही संभव है।

एक बार किसी सज्जन ने पूछा— महाराज आप लोग हाथ में ही आहार क्यों लेते हो। हमने कहा संत परिग्रह के त्यागी होते हैं उनके पास घर परिवार, मकान आदि कुछ भी नहीं है इसलिये हाथ में जिसने जो दे दिया वो ले लिया। दूसरी बात और है वे थाली में आहार करेंगे तो कौन कौन सी वस्तु रुचिकर है इष्ट है, और कौन सी नहीं है जो रुचिकर है उसको पहले ले लेंगे। और जो रुचिकर नहीं है उसे नहीं लेंगे। लेकिन जब वे हाथ में आहार करेंगे तो जो आयेगा वो लेंगे। रुचि अरुचि का कोई सवाल पैदा नहीं होगा तथा जब तक सामर्थ्य है तब तक ही लेंगे, सामर्थ्य ना होने पर भोजन त्याग कर देंगे।

आहार से तप, तप से कर्मों की निर्जरा

आहारासणे देहो, देहेण तवो तवेण रयसडणं।

रयणासे वरणाणं, णाणिणमोक्खो जिणो भणइ॥247॥

रहे देह भोजन से, तन से, तप से कर्म निर्जरा जान।

निर्जर से कैवल्य मोक्ष हो, ऐसा कहते हैं भगवान॥247॥

अन्वयार्थ :- (आहारासणे देहो) आहार करने से शरीर (देहेण तवो) देह से तप (तवेण रयसडणं) तप से कर्मों की निर्जरा (रयणासे) कर्मों की निर्जरा रूप से (वरणाणं) केवल ज्ञान, (णाणिणमोक्खो) केवलज्ञानी को मोक्ष होता है, (जिणो भणइ) ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

Y X Y

Y X Y

अर्थ :- आहार करने से शरीर, शरीर से तप, तप से कर्मों की निर्जरा, कर्मों की निर्जरा से केवल ज्ञान तथा केवल ज्ञानी को मोक्ष होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं आहार करने से शरीर में शक्ति आती है और उससे तप करते हैं। तप से कर्मों की निर्जरा होती है। तप **‘इच्छा निरोधो तपः’** अर्थात् इच्छा निरोध को तप कहते हैं। **‘समस्त रागादि परभावेच्छा त्याग स्वरूपे प्रतपनं विजयनंतपः’** समस्त रागादि परभावों की इच्छा त्यागकर स्वरूप में प्रतपन करना, विजयन करना, रमण करना तप है। मिथ्यादृष्टि जीव भी तप करते हैं और सम्यक्दृष्टि जीव भी तप करते हैं। मिथ्यादृष्टि तप के माध्यम से 9वें प्रैवेयक तो जा सकते हैं किन्तु सम्यक्दृष्टि तप के साथ कर्मों की निर्जरा करके सर्वार्थसिद्धि और मोक्ष भी जा सकते हैं। तप दो प्रकार के होते हैं— अंतरंग तप और बहिरंग तप। बहिरंग तप में अनशन, ऊनोदर, व्रत परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शैयासन, कायक्लेश। अंतरंग तप में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान। मुनिराज निरंतर यथायोग्य इन तपों को करते रहते हैं। जिस प्रकार लोहे की छड़ जब टेढ़ी हो जाती है तो केवल तपाकर ही उसे सीधा बनाया जा सकता है अन्यथा सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार विषय और कषायों के टेढ़ेपन की निवृत्ति के लिए आत्मा को तपाना ही एकमात्र सीधा साधन है। लोग कहते हैं उपवास इत्यादि तप करने से क्या होता है? पंचमकाल है मोक्ष नहीं है इसलिए तप करना व्यर्थ है? आचार्य भगवन् कहते हैं कि ‘उत्तम संहनन वाला एक हजार वर्ष तक कठोर तप करके जितनी कर्म की निर्जरा करता है उतनी हीन संहनन वाला एक वर्ष में निर्जरा कर सकता है।’ अतः पुरुषार्थ को छोड़कर बैठने की भूल ज्ञानी नहीं करें और यथाशक्ति तप करने में लगे रहें। तप निर्वांछित होना चाहिए, वांछायुक्त तप भुक्ति के लिए हो सकता है, मुक्ति के लिए नहीं। तप संयम की परीक्षा है, तप कषायों पर विजय है, तप आत्मा का श्रृंगार है, तप मोक्षद्वार की चाबी है, तप आत्मशोधन है, तप कर्म मल साफ करने हेतु तेजाब है। कर्म ईंधन जलाने के लिए अग्नि है।

तप वही है जो जीव को आत्मा से परमात्मा बना दे। शास्त्रों में अनेक उदाहरण आते हैं। तप करने से किसने क्या फल पाया है? नागदत्त नाम का एक सेठ पुत्र था। वह गृहस्थी के कार्यों से सदा विरक्त रहता था इसलिए घर वालों को यही लगता था कि कालांतर में वह मुनि बन जायेगा। जब वह पुत्र बड़ा हुआ और गुरुदेव का सान्निध्य पाकर मुनि बन गया। महाव्रत अंगीकार करके वह कठोर साधना करने लगे। एक बार जंगल में मुनिराज तप में लीन थे। उन्हें किसी के प्रति रागद्वेष नहीं था। वहीं पास में डाकुओं का अड्डा था, डाकुओं ने सोचा यह हमारा भेद बता देगा अतः वह उन्हें त्रास देने लगे किन्तु मुनिराज की महिमा जानने वाले सरदार ने उन्हें रोक दिया और कहा ये चलते-फिरते भगवान हैं। ये

Y X Y

Y X Y
 संसार की माया से दूर रहते हैं। ये चींटी मात्र के मरण हो जाने पर प्रायश्चित्त लेते हैं फिर हमें क्यों किसी को बताएँगे कि ये डाकुओं का अड्डा है। मुनिराज कुछ समय तक ध्यान में लीन बैठे रहे तभी उनकी माँ और बहिन वहाँ से निकली और उन्होंने साधु से पूछा कि हे मुनिराज नमोस्तु— आप तो जंगल में रहते हो और जानते होंगे कि यहाँ जंगली हिंसक जानवर और चोर आदि तो नहीं रहते। मुनिराज ने कुछ नहीं कहा। उन्हें मालूम था कि आगे डाकू रहते हैं, उन्हें अपनी माँ बहिन के प्रति राग नहीं आया। उन्हें पता था कि जंगल में डाकू हैं जिससे उन्हें खतरा है। आगे जाकर डाकुओं ने उन्हें पकड़ लिया। सरदार ने कहा— मैंने कहा था कि दिंगबर साधु किसी से रागद्वेष नहीं करते हैं जैसे ही माँ ने सुना वह क्रोधित हुई और बोली हे सरदार! तुम यह तलवार मुझे दो मैं उस कुलकलंकी मेरी कुक्षि से जन्म लेने इस मुन्नी को मार दूंगी। जैसे ही सरदार ने सुना कि ये मुनिराज की माँ—बहिन हैं तो सरदार ने गद्गद् वाणी से कहा— हे माता! आप धन्य हो, आपकी कुक्षि धन्य है, आप जगत माता हो, जो आपने ऐसे वैरागी आत्मा को जन्म दिया। ऐसा कहकर यथायोग्य उनका सम्मान किया। आदर सहित उनको अपने अंगरक्षकों के द्वारा नगर तक भेज करके डाकू स्वयं साथियों सहित मुनि बन गया। कालांतर में मुनिराज कठोर साधना करके, तप करके, कर्मों की निर्जरा करके निर्वाण सुख को प्राप्त हो गये। ये है तप की महिमा जो आहार दान के माध्यम से ही संभव होती है।

आहार क्षुधा रूपी व्याधि का नाशक

भुक्खाकय मरण भयं, णासइ जीवाण तेण तं अभयं।

सो एव हणइ वाही, ओसदं तेण अत्थि आहारो॥248॥

क्षुधा से जो उत्पन्न मरण भय, जो आहार से होवे क्षय।

क्षुधा व्याधि का नाशी भोजन, जानो शुभ औषधि अक्षय॥248॥

अन्वयार्थ :- (आहारो) आहार (जीवाण) जीवों के (भुक्खाकय मरण भयं) भूख से उत्पन्न मरण भय को (णासइ) नष्ट करता है, (तेण) उससे (तं अभयं) इन जीवों को अभय होता है (सो) वह आहार (एव) ही (वाही) क्षुधा रूपी व्याधि को (हणइ) नष्ट करता है (तेण) इसलिये (आहारो) आहार (ओसदं) औषध (अत्थि) है।

अर्थ :- आहार जीवों के भूख से उत्पन्न मरण भय को नष्ट करता है, उससे उन जीवों को अभय होता है और वह आहार ही क्षुधा रूपी व्याधि को नष्ट करता है, इसीलिये आहार औषध है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि आहार से तप और तप से कर्मों की निर्जरा और निर्जरा

Y X Y

(448)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
से केवलज्ञान होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। आहार जीवों के भूख से उत्पन्न मरण रूपी भय को नष्ट करता है। राम-लक्ष्मण वनवास के समय जंगल में जीवनयापन कर रहे थे उन्हें जहाँ भी अवसर मिलता आहारदान को सदैव तत्पर रहते थे। आहारदान के साथ-साथ अभयदान भी करते थे। एक बार कुंथलगिरी के पहाड़ पर देशभूषण और कुलभूषण मुनिराज ध्यान साधना में निमग्न थे। वहाँ उनके ऊपर एक दैत्य ने घनघोर उपसर्ग किया। कभी वह अग्नि बरसाता, कभी पानी बरसाता, कभी पत्थर बरसाता तो कभी डरावने रूप दिखाता तो कभी डरावनी आवाज करता था। उस समय राम, लक्ष्मण, सीता भी विचरण करते हुए कुंथलगिरि के पास रामकुण्ड पर आये हुये थे। एक दिन रात्रि के समय डरावनी आवाज को सुनकर सीता की नींद खुल गई तभी उसने राम को उठाया और कहा कि यहाँ से भयानक डरावनी आवाज क्यों एवं कहाँ से आ रही है? दोनों ने कुटी से बाहर निकलकर देखा तो पर्वत के ऊपर कभी अग्नि, तो कभी पानी तो कभी पत्थर बरसते दिखे। राम ने कहा- इसका कोई रहस्य होना चाहिए? रामचन्द्र जी जाने को तैयार हो जाते हैं तो लक्ष्मण मना करते हैं कि भैया आप भाभी की रक्षा करना मैं जाकर उपसर्ग दूर करता हूँ। उस समय राम ने बड़ी सुंदर बात कही थी, लक्ष्मण यदि तुम उपसर्ग दूर करोगे तो उसका फल तुम्हें मिलेगा और हम करेंगे तो उसका फल हमें मिलेगा। दोनों उस पर्वत पर जाते हैं जहाँ मुनिजनों पर, उपसर्ग चल रहा था लेकिन मुनिराज तप में संलग्न थे। राम ने अपनी शक्ति से उस दैत्य को पराजित कर मुनिराज का उपसर्ग दूर किया था।

आहार दान अर्थात् शास्त्र दान

आयाराइं सत्थं, आहारबलेण पढइ णिस्सेसं।

तम्हा तं सुयदाणं, दिण्णं आहारदाणेण॥249॥

हो आहार के बल से सारा, आचारादिक शास्त्र पठन।

अतः कहा आहार प्रदायक, शास्त्र दान दाता पावन॥249॥

अन्वयार्थ :- (आहार बलेण) आहार के बल से (णिस्सेसं) सम्पूर्ण (आयाराइं सत्थं) आचारादि शास्त्रों को (पढइ) पढ़ता है, (तम्हा) इसलिये (तं सुयदाणं) उस शास्त्र दान को (आहार दाणेण) आहार दान से (दिण्णं) दिया हुआ जानना चाहिये।

अर्थ :- आहार के बल से सम्पूर्ण आचारादि शास्त्रों को पढ़ता है इसलिये उस शास्त्रदान को आहार दान से दिया हुआ जानना चाहिये।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् दान की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवो! आहारदान एक ऐसा दान है जिसमें चारों प्रकार के दान समाहित होते हैं। आहार देने से शरीर स्वस्थ रहता है, हमारे

Y X Y

Y X Y
 द्वारा दिया गया भोजन औषधि का भी कार्य करता है। आहार करने के पश्चात् साधु अपनी क्रिया साधना में निरन्तर लगे रहते हैं जिससे ज्ञानदान होता है और जीवन रक्षा का भय हर जीव के लिए रहता है। भय से सहित जीवों की रक्षा भी आहार से होती है, उसे अभयदान भी कहते हैं। हम जैसा आहार देते हैं वैसे ही पूरे दिन परिणाम होते हैं। अच्छे भावों से, शुद्धि से, दिया गया दान साधु की साधना में कार्यकारी होता है। आहारदान के समय श्रावक को माँ की उपमा दी गई। अर्थात् माँ बनकर आहार कराया जाता है, पिता या सेवक बनकर नहीं। जैसे माँ को पता रहता है कि बालक के लिए क्या सामग्री खिलाना है, कितनी खिलाना है, कैसे खिलाना है और कब खिलाना है ठीक इसी तरह आहारदान के समय में श्रावक माँ की तरह बनता है और उसमें भी सबसे बड़ा सौभाग्य यह है कि जहाँ 23 घंटे महाराज का हाथ ऊपर रहता है और श्रावक हाथ जोड़े खड़ा रहता है किन्तु एक घंटा ऐसा आता है कि जिस समय श्रावक का हाथ ऊपर और मुनिराज का नीचे होता है। इसलिए आहारदान विवेकपूर्वक देना चाहिए। मुनिराज आहार मात्र के लिए नहीं जीते हैं बल्कि जीने के लिए आहार करते हैं और उसी के बल से आचारादि शास्त्रों को स्वयं पढ़कर अन्य जीवों को भी पढ़ाते हैं, अन्य ग्रंथों को प्रकाशन भी स्वयं लिखकर करवाते हैं। आहारदान से ही शास्त्रदान को दिया हुआ समझना चाहिए। हम लोग देखते हैं आज कितने साधु ऐसे हैं जिनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है फिर भी लिखते रहते हैं।

हमारे संघ में दीदियाँ हमेशा कहती है कि आचार्यश्री अपनी आवश्यक क्रियाओं के अलावा, आपका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता है फिर पता नहीं इतना सब कुछ कैसे लिखते रहते हो? ... भीलवाड़ा वर्षायोग चल रहा था, स्वास्थ्य निरन्तर बिगड़ रहा था, रात्रि में नींद नहीं आ रही थी, सभी जगह लाईटें बंद थी किन्तु प्रवचन हाल की एक लाईट चालू थी, वहाँ जाकर रात्रि में रक्षाबंधन पूजन लिखी। सुबह दीदियों ने पूछा— आचार्यश्री आपका स्वास्थ्य कैसा है? आचार्यश्री ने कहा— स्वास्थ्य जैसा था वैसा ही है किन्तु आज रात्रि में नींद ना आने से लिखते रहे। देखों परिणामों की विचित्रता कि रात्रि में भी लेखन कार्य करके शास्त्र, जिनवाणी का ज्ञान जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं।

सुपात्र को ही आहार दान

महिंसीए तिणदिणं, पत्तविसेसेण होइ खीरफलं।

सप्पस्स पुणो दिणं, खीरं पि विसत्तणं कुणइ॥250॥

घास भैंस को दिया जाय तो, हो जाता है दुग्ध स्वरूप।

सर्प को देते दूध होय विष, जैसा समझो दान का रूप॥250॥

अन्वयार्थ :- (पत्तसिसेण) पात्र की विशेषता से (महिंसीए) भैंस को (तिणदिणं) दिया हुआ घास (खीरफलं होइ) दूध रूप फल को फलता है अर्थात् भैंस को खिलाया हुआ घास भी दूध

Y X Y

(450)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
रूप हो जाता है, (पुणो) किन्तु (सप्पस्स) सर्प को (दिण्णं) दिया हुआ (खीरं पि) दूध भी (विसत्तणं कुणई) विषपने को उत्पन्न करता है।

अर्थ :- पात्र की विशेषता से भैंस को दिया हुआ घास दूध रूप फल को फलता है अर्थात् भैंस को खिलाया हुआ घास भी दूध रूप हो जाता है, किन्तु सर्प को दिया हुआ दूध भी विष रूप बन जाता है अर्थात् आहारदान भी पात्र को देखकर देना चाहिए।

विशदार्थ :- सिद्धांत विज्ञ विधान वाचस्पति आचार्य भगवन् आहारदान की महिमा का कथन करते हुए कहते हैं जिस प्रकार से जैसा पात्र होगा वैसा ही फल मिलता है। पात्र की विशेषता से गाय-भैंस को दिया गया घास-फूस भी मधुर, मिष्ठ दूध रूप फल को फलता है अर्थात् भैंस को खिलाया गया घास भी दूध रूप हो जाता है किन्तु सर्प को पिलाया गया दूध भी जहर रूप बन जाता है अर्थात् आहारदान भी पात्र को देखकर ही देना चाहिए जिससे आत्म कल्याण हो सके। आहारदान तो मात्र सुपात्र को दिया गया दान ही आहार दान होता है और सुपात्र 3 प्रकार के हैं- (1) उत्तम सुपात्र (2) मध्यम सुपात्र (3) जघन्य सुपात्र। जिस प्रकार का पात्र होगा फल भी वैसा ही होगा। (1) स्वर्ण पात्र है जो उत्तम पात्र है (2) रजत पात्र है जो मध्यम पात्र है (3) कांस्य पात्र है जो जघन्य पात्र है। पात्र तो वश ये ही हैं किन्तु लोह पात्र हो वह सुपात्र की श्रेणी में नहीं आता, अपात्र या कुपात्र कहा जाता है। अब आप समझ गये होंगे कि किस पात्र की कितनी कीमत है और उनका किस प्रकार का फल होगा किन्तु अपात्र और कुपात्र तो ग्राह्य ही नहीं हैं जो ग्रहणकर वह कष्ट उठाए यही व्यवधान आहारदान के पात्रों को समझना चाहिए। अर्थात् उत्तम पात्र निर्ग्रन्थमुनि, मध्यम पात्र व्रती-श्रावक और जघन्य पात्र सम्यक्वी श्रावक हैं तथा मिथ्यात्वी अपात्र, व्यसनी सुपात्र है अथवा कुधर्मी कुपात्र हैं।

रत्नत्रय से रहित तपस्वी भी सुपात्र नहीं

जं रयणत्तय रहियं, मिच्छामइकहिय धम्म अणुलगां।

जइ वि हु तवइ सुघोरं, तहावि तं कुच्छियं पत्तं॥251॥

रत्नत्रय से रहित हो कोई, मिथ्या कथित धर्म में लीन।

तपकर करे स्पष्ट कठिन तप, हो कुपात्र फिर भी वह दीन॥251॥

अन्वयार्थ :- (जं) जो (रयणत्तय रहियं) रत्नत्रय से रहित है। (मिच्छामइ कहिय) मिथ्यामत में कथित (धम्म) धर्म में (अणुलगां) लगा हुआ है। (जइ वि) यद्यपि (सुघोरं) कठिन तप

Y X Y

Y X Y
(तवइ) तपता है, (तहावि) तो भी (तं) वह (कुच्छियं पत्तं) कुपात्र है।

अर्थ :- जो रत्नत्रय से रहित है, मिथ्यामत में कथित धर्म में लगा हुआ है, यद्यपि कठिन तप तपता है तो भी वह कुपात्र है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् गागर में सागर भरते हुए स्वलेखनी द्वारा जनमानस पर छाये हुए अंधकार को दूर करते हुए कहते हैं कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें तो अपनी वस्तु मात्र दान देने से ही मतलब होता है चाहे वह कुतप करने वाले हो या सुतप करने वाले हो। भिखारी दरवाजे पर आकर कुछ माँगता है, आप उसे पैसे इत्यादि या अनाज इत्यादि दे देते हो, यह आपका वास्तविक दान तो नहीं है बल्कि करुणादान तो हो सकता है। आज के भिखारी तो आधुनिक युग के हैं, उन्हें पैसा मिला तो उससे शराब पी लेते हैं, जुआ खेल लेते हैं तथा ऐसे लोगों को दिया गया दान दान कहलायेगा? नहीं ना इसलिए दान देते समय सोच विचार करके कि ये हमारे द्रव्य का सही उपयोग करेगा तब तो दान देना ठीक है किन्तु नहीं देना ही श्रेयस्कर है क्योंकि जो रत्नत्रय से रहित है, व्रत, जप, तप से रहित है, मिथ्यामार्ग का सेवन करता है किन्तु कठिन से कठिन तपस्या करता है तो भी वह कुपात्र ही है, ऐसा स म झ न ।
चाहिए।

जो मनुष्य कुपात्रों को दान देता है वह मनुष्य भोगभूमि में तिर्यच होता है अथवा कुमानुष कुलों में उत्पन्न होकर अंतर द्वीपों में उपभोग करता है। कुपात्रदान से जीव कुभोग भूमि में जाता है जैसे कोई छोटी भूमि में बीज बोकर सुक्षेत्र के फल को प्राप्त नहीं होता है। जो अंतरद्वीप, लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र आदि छयानवें कुभोगभूमि के टापू पर उत्पन्न मनुष्य और म्लेच्छखण्ड में उत्पन्न मनुष्य हैं वे सभी यथायोग्य कुपात्रदान के ही फलस्वरूप होते हैं। उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में तिर्यच भी कुपात्रदान के फल से होते हैं। कुपात्रदान रूपी वृक्ष के फलों को भोगते हैं, कुपात्रदान के फल से ही आर्यखण्ड में दास-दासी, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ता आदि भोगभूमि जीवों में उत्पन्न होते हैं। इसके ही फल से आर्यखण्ड में नीच जाति के जीवों में भोगों की प्राप्ति होती है।

आचार्य भगवन् कहते हैं कि विवेकपूर्वक ही दान देना चाहिए। जिस व्यक्ति ने गृहस्थाश्रम में दान नहीं दिया उसका जीवन पत्थर की नाव के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार से पत्थर की नाव से कभी समुद्र पार नहीं किया जा सकता है, यदि कोई करके पानी में बैठता ही है तो वह निश्चय से डूब ही जाता है, इसमें संदेह नहीं है।

श्रेष्ठ गुणों से रहित पात्र - अपात्र

Y X Y

(452)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

जस्स ण तवो ण चरणं, ण चाऽपि जस्सत्थि वरगुणो कोई

तं जाणेह अपत्तं, अफलं दाणं कथं तस्स ॥252॥

जिसके नहीं श्रेष्ठ गुण चारित, नहीं सुतप वह रहा अपात्र।

उसको दिया दान निष्फल क्यों, ना होगा यह जानो मात्र॥252॥

अन्वयार्थ :- (जस्स) जिसके (ण तवो) न तप है (ण चरणं) न चारित्र है (ण चापि) और न ही (जस्स) जिसके (कोई वरगुणो अत्थि) कोई श्रेष्ठ गुण हैं (तं अपत्तं जाणेह) उसे अपात्र जानो; (तस्स दाणं) उसको दिया हुआ दान (अफलं कथं) निष्फल कैसे नहीं है अर्थात् अफल ही है।

अर्थ :- जिसके न तप है, न चारित्र है और न ही जिसके कोई श्रेष्ठ गुण हैं, उसे अपात्र जानो। उसको दिया हुआ दान निष्फल कैसे नहीं है अर्थात् अफल (निस्सार) है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं, जिसके अंदर में श्रेष्ठगुण नहीं है वह पात्र, अपात्र कहलाता है। गृह से रहित मुनि उत्तम पात्र, अणुव्रतों से युक्त श्रावक को मध्यम पात्र, अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र, सम्यग्दर्शन से रहित होकर व्रतों का पालन करने वाले मनुष्य को कुपात्र तथा दोनों से रहित (सम्यग्दर्शन और व्रत) मनुष्य को अपात्र समझना चाहिए।

जो व्यक्ति को पतित से पावन बना दे, जो प्राणी को संसार समुद्र से पार करा दे वह सत्पात्र है। ऐसे पात्र उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं जिसमें जो रत्नत्रय से युक्त है। ऐसे मुनि-आर्यिका ये सब उत्तम पात्र हैं। मुनियों का गुणस्थान छठवाँ है किन्तु आर्यिका का पाँचवाँ है। जो देशव्रती श्रावक है जिन्होंने प्रतिमा रूप व्रत ग्रहण किया है। ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका और व्रती इनका पाँचवाँ गुणस्थान है। कुछ ऐसे भी जीव हैं जिन्होंने व्रत नहीं लिये हैं किन्तु देव, शास्त्र, गुरु पर पक्का श्रद्धा है अविरत सम्यग्दृष्टि हैं उनका चौथा गुणस्थान है वह जघन्य सत्पात्र हैं चूंकि तीनों ही धर्म के मार्ग पर चलते हैं और जो इनका आश्रय लेता है उसका भी कल्याण हो जाता है। अपात्र जीव को कभी भी जिन वचन नहीं सुहाते हैं, वह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म, पवित्र भावुक धर्मात्मा पवित्र व्रत और सत्यस्वरूप जिनधर्म के पालक विद्वानों में जो दूषण लगाकर अवर्णवाद करते हैं, निंदा करते हैं, नीचा दिखाते हैं ऐसे मनुष्य और ऐसे मनुष्यों के निंदवचनों को सुनने वाले सम्यग्दर्शन से रहित अपात्र हैं। जो धर्म का नाश करते हों, सच्चे धर्म से द्वेष करते हों, धार्मिकजनों से द्वेष करते हों और परस्पर एक-दूसरे से मिलकर कुतर्कों के द्वारा सत्यधर्म का लोप करते हैं, वे अपात्र हैं।

ऐसे में जिनके न तप है, न चारित्र है, और न अन्य कोई श्रेष्ठ गुण हैं ऐसे पात्र को दिया गया आहारदान निष्फल कैसे नहीं है अर्थात् अफल ही है।

Y X Y

Y X Y

अपात्र को दिया हुआ दान निरर्थक

ऊसरखेत्ते वीयं, सुक्खे रुक्खे य णीर अहिसेओ।

जह तह दाणमपत्ते, दिण्णं खु णिरत्थयं होइ॥253॥

ऊसर खेत में बीज बोय या, सूखे तरु में जल सिंचन।

वैसे दिया अपात्र दान भी, व्यर्थ बताये जिन भगवन्॥253॥

अन्वयार्थ :- (ऊसर खेत्ते वीयं) ऊसर खेत में बोया हुआ बीज (य सुक्खे रुक्खे) और सूखे वृक्ष में (णीरअहिसेओ) पानी का सींचना (णिरत्थयं होइ) निरर्थक होता है (तह) उसी तरह (अपत्ते दिण्णं) अपात्र में दिया हुआ (दाणं) दान (खु) निश्चय से निरर्थक होता है।

अर्थ :- ऊसर खेत में बोया हुआ बीज और सूखे वृक्ष में पानी का सींचना निरर्थक होता है, उसी तरह अपात्र में दिया हुआ दान निश्चय से निरर्थक होता है।

विशदार्थ :- ऊसर खेत अर्थात् उर्वरा शक्ति से रहित भूमि में बीज बोने से फसल उत्पन्न नहीं होती उसमें कितना ही खाद्य या पानी का सिंचन किया जाय सारी मेहनत एवं द्रव्य व्यर्थ चला जाता है एवं सूखे वृक्ष जिसकी जड़ें सूख चुकी हैं उसमें जल सिंचन करने से वृक्ष हरा नहीं होगा बल्कि जड़ों में जल भरा रहने से सड़ जाएगी। ऐसे खेत का सिंचन या वृक्ष में नीर कोई ज्ञानी जीव नहीं दे सकता यदि रागवशात् देता है तो उसकी अज्ञानता है। जो दया रहित हो, हिंसा के आरंभ में आसक्त हो, महालोभी तथा परिग्रह बढ़ाना चाहता हो, धनी होकर के भी माँगता हो, यज्ञादि करने वाले वेदों में कहीं हिंसा धर्म में लीन हो, चंडी भवानी का सेवक होकर बकरा, भैंसा का घात करने वाला हो, कुदान को लेने वाला हो, शराबी हो, भंगेड़ी हो, वेश्यागामी हो, जिन धर्म का द्रोही हो, शिकार आदि में धर्म कहने वाला हो, परधन-परस्त्री का चाहने वाला हो, अपनी प्रशंसा करने वाला हो, व्रती नाम धराकर व्रत भंग करके पाँच पापों से आसक्त हो, बहुत आरंभी हो, बहुत परिग्रही हो, तीव्र कषायी हो, असत्य भाषण में लीन हो, खोटे शास्त्रों का उपदेश देने वाला हो तथा जिन शास्त्रों में खोटे शास्त्र मिलाकर मिथ्या प्ररूपणा करने वाला, व्यसनी पाखंडी, अभक्ष्य भक्षक, व्रत, शील, संयम, तप से पराङ्मुख, विषयों का लोलुपी, जिह्वा इंद्रिय के वशीभूत, मिष्ठ भोजन का लंपटी ये सभी अपात्र हैं। इनमें रत्नत्रयधर्म का अभाव होने से पात्रपना संभव नहीं है। गरीब, दीन, दरिद्र, दुखी, भूखे भी नहीं, अतः दयादान के भी पात्र नहीं है ये तो केवल लोभी, मदोन्मत्त, विषयों के लंपटी हैं, धर्म के भी इच्छुक नहीं हैं कितने ही नाम के जैनी होकर के जैनधर्म का भेष भी केवल जिह्वा इंद्रिय के विषयरूप अनेक प्रकार का भोजन जीमने के लिए धारण किया है, धन पैदा करने के लिए भेष धारण किया है, अभिमानी होकर अपनी पूजा, उच्चता, धन के

Y X Y

(454)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
लाभ के इच्छुक होकर तप, व्रत, पठन, वाचन आदि अंगीकार करते हैं, वे सब अपात्र हैं। दान के योग्य नहीं हैं। अपात्र को दान देना कैसा है? पत्थर पर बीज बो देने के समान है, कडुवी तुंबी में दूध रख देने के समान है, घने जंगल में चोर के हाथ में अपना धन सौंप देने के समान है अपना जीवन बढ़ाने के लिए विष भक्षण करने के समान है, रोग दूर करने के लिए अपथ्य सेवन करने के समान है, सर्प को दूध पिलाने दुख की उत्पत्ति का बीज है।

अपना धन अंधकूप में पटक देना परंतु अपात्र को दान नहीं करना चाहिये। अपात्र दान तो अपने घर में विष के वृक्ष को उगाने के समान है। अपात्र का साथ दावाग्नि के समान दूर से ही त्याग देना चाहिए जिस प्रकार विष के वृक्ष की गंध ही मूर्च्छित कर देती है उसी प्रकार अपात्र की संगति भी आत्म ज्ञान से भ्रष्ट कर देती है।

कुपात्र दान का फल—नीच जातियों में रिद्धि सम्पन्न

चाण्डाल भिल्ल छिप्पय, डोंवय कल्लाल एवमाईणि।

दीसंति रिद्धिपत्ता, कुच्छियपत्तस्स दाणेण॥254॥

कर कुपात्र में दान भील या, छीपा डोंगर होय कलार।

चाण्डालादिक नीच जाति में, दिखते हैं कई ऋद्धिधार॥254॥

अन्वयार्थ :- (कुच्छिय पत्तस्स) कुपात्र को (दाणेण) दान देने से (चाण्डाल भिल्ल छिप्पय) चांडाल, भील, छीपा ।।रंगरेज।। (डोंवय) डोंगरे।।ढीमरा।। (कल्लाल) कलार (एवमाईणि) इत्यादि नीच जातियों में (रिद्धिपत्ता) रिद्धि संपन्न (दीसंति) दिखते हैं।

अर्थ :- कुपात्र को दान देने से चाँडाल, भील, छीपा (रंगरेज), डोंगरे, कलार इत्यादि नीच जातियों में रिद्धि (धन) संपन्न दिखते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् आहारदान की उपयोगिता को बताते हुए कहते हैं कि जो जीव कुपात्रों को दान देते हैं वह नीच कुल में जन्म लेते हैं अर्थात् नीच जातियों में उत्पन्न होते हैं। आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में कहा कि नीच गोत्र का आस्रव कैसे होता है? 'परात्मनिंदाप्रशंसे, सदसद गुणोच्छादनोद, भावने च नीचैर्गोत्रस्य'॥25॥ अपनी निंदा और दूसरों के गुणों की प्रशंसा करने से उच्च गोत्र का आस्रव होता है। इसके विपरीत अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करने से नीच गोत्र का आस्रव होता है। आज ये प्रायःकर देखा जाता है कि इंसान स्वयं को ऊँचा उठाने के लिए कुछ भी कर सकता है किसी को भी किसी भी प्रकार का लांछन लगा

Y X Y

Y X Y
सकता है।

कुपात्रों को दान देने से कुभोग भूमि में भी जन्म लेना पड़ता है। लवणसमुद्र तथा कालोदधि समुद्र के बाहर के तट के निकट 24-24 इस तरह कुल 96 कुभोग भूमियाँ होती हैं जिसका वर्णन निम्न प्रकार है- वज्रवेदिका से पाँच सौ योजन दूरी पर 100 योजन विस्तार वाले चार दिशा के द्वीपों में एक टाँग वाले, पूँछ वाले, सींग वाले, गूंगे मनुष्य होते हैं। 500 योजन दूरी पर 50 योजन विस्तार वाली दिशाओं के बीच में एक गोल आँख वाले, कर्ण आवरण अर्थात् लंबे कान वाले, शशक कर्ण वाले तथा शस्कुली वर्ण वाले मनुष्य होते हैं। 550 योजन की दूरी पर 50 योजन विस्तार वाले, अन्तरद्वीपों में सिंह के मुख वाले, अश्व मुख वाले, श्वान, महिस, वराह, व्याघ्र, घूक, पिक मुख वाले मनुष्य होते हैं तत्पश्चात् 600 योजन की दूरी पर 25 योजन विस्तार वाले कृषि द्वीपों में मछली मुख वाले, कृष्ण मुख वाले मनुष्य हिमवन पर्वत के पूर्व पश्चिम समुद्र में होते हैं।

मेघमुख समान, गोमुख समान मनुष्य भरत के विजयाब्ध पर्वत के पूर्वापर समुद्र में होते हैं। मेघमुख वाले विद्युतमुख मनुष्य शिखरी पर्वत के पूर्वापर समुद्र में होते हैं। ऐरावत क्षेत्र के विजयाब्ध पर्वत के पूर्व पश्चिमी समुद्र के द्वीपों में दर्पणमुख और गजमुख वाले मनुष्य होते हैं। इन सबके शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष प्रमाण और एक पल्योपम आयु वाले होते हैं।

ये 24 कुभोग भूमि कालोदधि के दोनों ओर तथा पुष्कर समुद्र के एक ओर इस तरह तीन जगह में होती हैं। इनके 96 पर्वतों के यही नाम हैं। उसी मेशेरुग पर्वत की विशाल गुफा में रहकर नाना प्रकार के रुचिकर पाषाण खंड तथा शर्कराके समान स्वादिष्ट रेत को और केले के पत्ते, नारियल, नारंगी आदि नाना वृक्षों के पके फलों को खाकर तथा वापीकूप सरोवर दीर्घका के क्षीर, घृत इक्षुरस को पीकर जीते रहते हैं। इनके जीने का समय एक पल्योपम होता है। कुभोग भूमि में उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हैं। कुपात्र को दान देना, दान देकर रोना, दान देने वाले को देखकर उनसे घृणा करना तथा दान जबरदस्ती देना या दूसरे के दबाव से देना या अनेक प्रकार के आर्तध्यान, रौद्रध्यान से दान देना या अन्याय से द्रव्य उपार्जन कर देना, सप्त व्यसन सहित दान देना या किसी प्रेम से दान देना या मंत्र कार्यादिक से दान देना, सूतक पातक के समय दान देना या रजस्वला से दान दिलाना, भावशुद्धि रहित दान आदि या जाति कुलादि के घमंड से दान देना या जाति संकर आदि दोषों से युक्त होकर देना, कुत्सित भेष, मायावी जिनलिंगधारी, ज्योतिष मंत्रतंत्र वाद, दातृवाद, कन्यावाद, वैद्यविद्या से जीवन करने वाले संघ को छोड़कर एकाकी रहने वाले, दुराचारी, कषायोद्रेक से संघ में कलक करने वाले अर्हतादि भगवान में निर्मल भक्ति न रखने वाले, मौन को छोड़कर भोजन करने वाले इत्यादि को दान

Y X Y

(456)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
देने से कुभोग भूमियों में उत्पन्न होते हैं। कुभोग भूमि के मनुष्य स्वभाव से मंद कषायी होने से स्त्री, पुरुष, आयु पूर्ण कर मिथ्यादृष्टि जीव भवनत्रिक में तथा सम्यग्दृष्टि जीव सौधर्म ईशान स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं।

कुपात्र स्वयं डूबता है, दूसरों को डुबाता है

पत्थरमया वि दोणी, पत्थरमप्पाणयं च बोलेइ।

जह तह कुच्छियपत्तं, संसारे चेव बोलेइ॥255॥

उपल नाव ज्यों स्वयं डूबकर, डूबें उसके सभी सवार।

त्यों कुपात्र को दान से डूबें, जग के अज्ञानी नर नार॥255॥

अन्वयार्थ :- (पत्थरमया वि दोणी) पत्थर की नाव (पत्थरमप्पाणयं) पत्थर स्वरूप अपने आप को (च) और (बोलेइ) डुबोती है। (जह तह) उसी तरह (कुच्छियपत्तं) कुपात्र भी (संसारे एव) संसार में ही (बोलेइ) स्वयं डूबता है (च) और दूसरों को डुबाता है।

अर्थ :- जैसे पत्थर की नाव पत्थर स्वरूप अपने आप को और दूसरों को डुबोती है, उसी तरह कुपात्र भी संसार में ही स्वयं डूबता है और दूसरों को डुबाता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् दान की महिमा बताते हुए कहते हैं- हे भव्य जीवो! जीवन को सफल बनाने के लिए दान अवश्य करना चाहिये। जिस प्रकार खेती का मुख्य फल उसमें लगा धान्य होता है वैसे ही पात्रदान का मुख्य फल मोक्ष होता है और गौणफल भूसा होता है। खेत में अनाज लगाने से भूसा अनायास ही प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार पात्रदान का मुख्य फल स्वर्ग और मोक्ष है किन्तु गौणफल भोग सामग्री होता है अतः हमेशा दान देते समय परिणाम पवित्र होना चाहिये। एक नगरी के अंदर एक लड़का व्यापार करने जाया करता था, उसकी माता प्रायः उसे लड्डू बनाकर दिया करती थी। वह घर से शुद्ध लड्डू बनवाकर ले जाया करता था। एक दिन जब जंगल से गुजर रहा था तब वह एक ऋद्धिधारी मुनिराज के दर्शन करता है, उनको देखकर लड़के के भाव बनते हैं कि आज मुझे मुनिराज को आहार कराना चाहिये। वह नवधा भक्ति पूर्वक मुनिराज को पड़गाह लेता है। मुनिराज आहार में एक लड्डू छोड़कर शेष सभी ले लेते हैं। ऋद्धि के बल से उसमें विशेष स्वाद आ जाता है। इस लड्डू के खाते ही वह अपने भाव बिगाड़ लेता है कि आज ही माँ ने इतने अच्छे लड्डू बनाए और मैंने सभी मुनिराज को खिला दिये। इस प्रकार शोक करने लगता है और आयु क्षय होते ही मरण को प्राप्त हो जाता है।

मरण कर वह एक सेठ साहूकार के यहाँ जन्म लेता है। पैदा होने के साथ ही बीमार रहने लगता है। सेठ की तिजोरी में धन भरा रहता है किन्तु वह भोग नहीं कर पाता है। कुछ समय बाद नगर में मुनिराज आते हैं, वह लड़का उनसे पूछता है मेरे पास धन तो बहुत है लेकिन उसे मैं भोग क्यों नहीं सकता। इसका

Y X Y

Y X Y
 क्या कारण है? मुनिराज कहते हैं कि तुमने पूर्व भव में एक मुनिराज को दान दिया था। लेकिन दान देने के बाद तुमने भाव बिगाड़ लिये इस कारण तुम उस संपत्ति का भोग नहीं कर पा रहे हो। इसलिए जो व्यक्ति विशुद्ध परिणामों से आहार दान करता है, वह परंपरा से निर्वाण सुख को प्राप्त कर लेता है।

जिस प्रकार समुद्र को पार करने के लिए नाव और नाविक की आवश्यकता होती है किन्तु पत्थर की नाव कभी भी समुद्र पार नहीं करा सकती है, वह स्वयं भी डूब जाती है और उस पर सवार करने वाले नाविक एवं सवार भी डूब जाते हैं, उसी प्रकार कुपात्र भी संसार में स्वयं डूबता है और दूसरों को भी डूबा देता है।

संचित मधु को पापी एवं कंजूस के धन को राजादि हर लेते

किविणेण संचियघणं, ण होइ उवयारियं जहा तस्स।

महुयरियसंचियं महु, हरंति अण्णे सपाणेहिं॥256॥

मधु मक्खी से संचित मधु ज्यों, अन्य हाथ वाले हरते।

त्यों कृपणों के संचित धन को, परिजन आदि हरण करते॥256॥

अन्वयार्थ :- (जहा) जैसे (महुयरिय संचियं) मधु मक्खियों द्वारा संचित मधु ॥शहद॥ को (अण्णे सपाणेहिं) अन्य पापी लोग अपने हाथों से (हरंति) हर लेते हैं, उसी प्रकार (किविणेण) कृपण के द्वारा (संचिय घणं) संचित धन (तस्स) उसका (उवयारियं) उपकार करने वाला (ण होइ) नहीं होता अर्थात् कंजूस के धन को उसके परिवार के अन्य लोग और राजादि हर लेते हैं।

अर्थ :- जैसे मधुमक्खियों द्वारा संचित मधु को अन्य हाथ वाले पापी हर लेते हैं, उसी प्रकार कृपण के द्वारा संचित धन, उसका उपकार करने वाला नहीं होता है। अर्थात् कंजूस के धन को उसके परिवार के अन्य लोग और राजादि हर लेते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि कंजूस की स्थिति बड़ी खराब होती है, वे न तो स्वयं संपत्ति का उपभोग करते हैं और न ही दूसरों को करने देते हैं। कंजूस से बड़ा कोई दूसरा दानी नहीं है क्योंकि शेष दानी तो कुछ बचाकर दान करते हैं किन्तु कंजूस तो बिना हाथ लगाये ही सारी संपदा दूसरों के लिए छोड़कर चला जाता है अर्थात् मरण को प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार से मधुमक्खियों से प्राप्त शहद को दूसरे लोग हर लेते हैं उसी प्रकार कृपण (कंजूस) के धन को दूसरे लोग हर लेते हैं, जिसकी कथा निम्न है।

Y X Y

लोभी पिण्याक गंध की कथा

पंचाल देश में कम्पिला नाम की नगरी थी, वहाँ रत्नप्रभ राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी मणिकुण्डला थी। नगरसेठ सागरदत्त था। उसके पास बहुत धन था। नगर सेठ की पत्नी का नाम धनश्री था। उसके सुदत्त नाम का पुत्र था, वह सदा न्यायपूर्वक ही धन कमाता था।

महालोभी सागरदत्त यद्यपि वंश-परम्परा से प्राप्त एक करोड़ स्वर्णमुद्राओं का और स्वयं उपार्जित आधे करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी था। फिर भी वह सोचता था कि यदि चावल का भात खाया जाये तो उसके छिलके दूर करने होंगे और धोने धोने में भी कुछ कमी अवश्य होगी; यदि शाक पकाया जाये तो मसाला वगैरह खर्च होगा और उसके साथ में अधिक अन्न खाया जायेगा, घेवर, पूरी वगैरह व्यंजन के बनाने में घी खर्च होगा और ईंधन भी ज्यादा जलेगा, दूध, दही आदि रसों का सेवन करने से न बेचने के लिए घी रहेगा और न भूसी के लिए मठा बचेगा, अतः जब वह प्रतिदिन व्याज वसूल करने के लिए जाता, तो तेलियां में घूमते-घूमते उनके कोल्हू के पास जाकर जरा हँसकर कहता— ‘वाह! यह तो खूब खुशबूदार है’ ऐसा कहकर तेल की खल का एक टुकड़ा उठा लेता। जब भोजन का समय होता तो उस खल की गन्ध को सूंघता जाता और जिसे कोई भी नहीं खा सकता। ऐसे बहुत पुराने और कम कीमती धान को बिना कूटे-काटे काँजी के साथ खा जाता। इसी से सर्वत्र उस लोभी का नाम पिण्याक गन्ध प्रसिद्ध हो गया था।

‘मुख को सुगन्धित करने मात्र से ही तो प्रयोजन है, अतः पान में धन खर्च करना व्यर्थ है’ ऐसा सोचकर वह पीपल के वृक्ष की छाल को तम्बाकू के पत्ते के साथ खाता था, उसके खाने से भोजन से भी अरुचि हो जाती थी।

आधे पेट खाने से न शरीर में कोई विकार उत्पन्न होता है और न मन में, ऐसा सोचकर वह अपने कुटुम्ब को कभी भी भरपेट भोजन नहीं करने देता था। वह अपने नौकरों को शिक्षा देता था कि ‘तेल और नमक के लिए पैसा नहीं खर्च करना चाहिए’, किन्तु पैसा और बर्तन लेकर दुकान पर जाना चाहिए और दोनों चीजें लेकर फिर यह कहकर लौटा देना चाहिए कि ये अच्छी नहीं है। ऐसा करने से बर्तन में कुछ तेल और नमक लगा रह जाता है, उसी से अपना काम चलाना चाहिए। अपने और अपने कुटुम्ब के बच्चों से वह कहता था कि ‘तुम्हें शरीर में तेल लगाने के लिए घर में ऊधम नहीं मचाना चाहिए, किन्तु पड़ोसियों के तेल लगाये हुए बच्चों के साथ खूब भिड़कर लड़ना चाहिए। इससे बिना प्रयत्न के ही तुम्हारे स्नान की विधि बन जायेगी।’

उसने अपने घर की छत पर एक दर्पण टाँग रखा था। रात्रि में जब सामने के घर में दीपक जलता

Y X Y
 था, तो उसका प्रकाश दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर घर के आँगन में पड़ता था और उससे दीपक का काम निकल जाता था, तथा घर के अन्दर एण्ड के बीजों को सटकटे की लकड़ी में पिरोकर और उन्हें आग से जलाकर दीपक का काम लेता था। जन साधारण के पहनने योग्य कोरे वस्त्र ही वह पहनता था और जैसे ही वह मैले होते थे, उन्हें बेच डालता था। इस तरह कपड़े धोने में उसकी एक कोड़ी भी खर्च नहीं होती थी। पुराने पल्लवों को कूट कर उसमें से रेशे निकाल देता था। घाम में संघाट को सुखाने में उसमें से तेल निकल आता था और गुड़ के बोरों को धोकर उनमें से मीठा निकाल लेता था और इन सबसे तीज त्यौहार का काम चलाता था। बदले में दूसरों का निमन्त्रण करने से धन खर्च होगा तथा दूसरों के घर का भोजन देखने से मेरे आश्रित जनों के मन मुझसे टूट जायेंगे; इस भय से निमन्त्रण आने पर भी वह किसी के घर नहीं जीमता था। इस प्रकार वह तृष्णालु और सब कंजूसों का सिरमौर जीते हुए भी मुर्दे की तरह जीवन व्यतीत करता था।

एक बार राजा रत्नप्रभ ने हाथी की दौड़ देखने के लिए एक महल बनवाने का विचार किया, और उसके लिए स्वर्गीय राजा ब्रह्मदत्त के महल के खण्डहरों वाले प्रदेश को चुना। जब उन खण्डहरों को ढहाया गया तो उसके सभा मण्डप से बहुत सी बड़ी बड़ी सोने की ईंटें निकली। किन्तु वे बहुत दिनों से मिट्टी में दबी रहने के कारण एक दम काली पड़ गयी थीं। अतः उन्हें भी पुरानी ईंटों की तरह साधारण ईंट मानकर और यह सोचकर कि ये चैत्यालय बनवाने के लायक हैं, एक जगह उनका ढेर लगवा दिया गया। इसी बची में लुब्धक शिरोमणि पिण्याक गंध संध्या के समय उधर गया। जल्दी जल्दी ईंटें ढोने वालों से मार्ग में एक ईंट गिर पड़ी वह उसे उठा लाया और लाकर पैर धोने के स्थान पर उसे डाल दिया। प्रतिदिन पैरों की रगड़ से उसकी कालौसी जाती रही। तब उसे मालूम हुआ कि यह तो सोने की ईंट है। फिर तो वह ढोने वालों को तरह-तरह का लालच देकर ईंटें इकट्ठी करने लगा।

एक दिन पिण्याक गन्ध ने अपने भानजे की मृत्यु का समाचार सुना। उसे बड़ा रंज हुआ। पुत्र को बुलाकर कहा— ‘पुत्र सुदत्त! तुम्हारी बुआ के पुत्र-शोक को शान्त करने के लिए मुझे अवश्य जाना है और मृतक स्नान भी करना है। अतः तुम भी बोझा ढोने वालों को लालच देकर सोने की ईंटें संग्रह करते रहना।’ इस तरह एकान्त में पुत्र को समझाकर पिण्याक गन्ध शीघ्र ही अपनी छोटी बहन से मिलने के लिए काकन्दी की ओर चला गया।

सुदत्त बुरे कार्यों से बचता था। उसे अपने पिता का उपदेश अहितकर प्रतीत हुआ। उसने विचार कि राजा का तृण भी सोना हो जाता है और उसके लेने से पहले का संचित धन भी हर लिया जाता है और प्राण भी चले जाते हैं। अतः उसने एक भी ईंट नहीं ली।

Y X Y

(460)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
महालोभी पिण्याक गन्ध मृतक स्नान करके लौटा, तो उसने पूछा— ‘बेटा! तुमने कितनी ईंटें ली हैं?’

चोरी के त्यागी सुदत्त ने उत्तर दिया – ‘पिता जी! एक भी नहीं।’

घोर दुर्गति के कारण पाप का बन्ध करने वाले पिण्याकगन्ध को अपने सदाचारी पुण्यशाली पुत्र की बात सुनकर कोई उत्तर नहीं सूझा।

तब ‘यदि मेरे ये दोनों पैर चलने के लायक न होते तो मैं अपने मनोरथ की घातक काकन्दी को कैसे जाता। इसलिये ये दोनों ही पैर लक्ष्मी समागम के शत्रु हैं।’ ऐसा सोचकर उसने उबटन पीसती हुई अपनी पत्नी के हाथ से लोढ़ा लेकर अपने पैर तोड़ डाले। राजा रत्नप्रभ ने उसके आदमियों से यह बात सुनकर शिल्पियों से इन ईंटों को तुड़वाया तो वे सोने की निकली। उसने तुरन्त ही पिण्याकगन्ध का सर्वस्य लुटवा दिया और उसे बेइज्जत करके देश निकाला दे दिया।

‘राजा लोग गुणवान के लिए इन्द्र हैं और दोषी के लिए यमराज हैं।’ इस नीति के अनुसार राजा रत्नप्रभ ने पराये धन को न लेने के कारण सुदत्त को उसका मूल धन और वंशपरम्परागत निवास स्थान देकर धीरज बँधाया।

देश से निकाला जाकर पिण्याक गन्ध अत्यन्त लोभवश नरकायु का बन्ध तथा चिरकाल के लिए अत्यन्त दुखदायी कर्मों का बन्ध करने के कारण मरकर नरक में गया। इसके विषय में एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

‘धन का भूखा पिण्याक गंध मरकर छठे नरक के लल्लक नामके तीसरे पाथड़े में गया।’

माँखी गुड़ में गड़ि रहे पंख रहे लिपटाय,

हाथ मले अरु सिर धुनें, लालच बुरी बलाय॥

यौवन और जीवन की क्षणभंगुरता जानकर सुपात्रों को दान

कस्सत्थि चिरा लच्छी, कस्स थिरं जोवण जीयं।

इय मुणिऊण सुपुरिसा, दिंति सुपत्तेसु दाणाइं॥257॥

यौवन जीवन स्थिर किसका, लक्ष्मी किसकी है चिरकाल।

ऐसा जान पुरुष सज्जन जन, करते भाई दान त्रिकाल॥257॥

अन्वयार्थ :- (कस्स लच्छी) किसकी लक्ष्मी (चिरा अत्थि) चिर काल तक रहती है

Y X Y

Y X Y
 (कस्स) किसका (जोवण) यौवन तथा (जीयं) जीवन (थिरं) स्थिर है। (इय मुणिउण) ऐसा जानकर (सुपुरिसा) सत्य पुरुष (सुपत्तेसु) सुपात्रों में (दाणाइं) दानों को ॥चार प्रकारों के दानों को॥ (दिंति) देते हैं।

अर्थ :- किसकी लक्ष्मी चिरकाल तक रहती है, किसका यौवन जीवन स्थिर है, ऐसा जानकर सत्पुरुष सुपात्रों में दान (चारों प्रकार के दान) देते हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् जन समुदाय को समझाते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार से कोई व्यक्ति दूसरे गाँव में जाने के पहले अपने साथ बहुत साधन लेकर चलता है, जब भूख लगे तब खा लिया करेंगे। इसी प्रकार से श्रावक प्रत्येक दिन मुनिराजों की प्रतीक्षा करते हैं कि आज हमारे नगर में मुनिजन आयें और हमारा भाग्य सफल हो। मानव जीवन की सुंदरता यौवन और जीवन के सुख साधनों से नहीं है न तो लक्ष्मी चिरकाल तक रहती है और न मानव की सुंदरता स्थिर रहती है इसलिए भव्य जीवों को सुपात्रों को दान देते रहना चाहिये।

पुराने समय में जब कोई व्यक्ति घर से बाहर निकलता था तो तीन बातों का ध्यान रखता था— लोटा, डोरी, छन्ना एवं खाने को कुछ सामग्री। उस समय ये कहावत थी कि घर से खाली हाथ मत निकलो कुछ न कुछ लेकर ही चलो आज भी गाँवों में ये परंपरा है कि अपने साथ कुछ न कुछ ले जाते हैं। यदि आप बाहर किसी के यहाँ गये और उसने आपको भोजन के लिए नहीं पूछा तो उसके आगे आपको दीनता—हीनता प्रकट करनी पड़ेगी। दूसरी बात बड़े परिवार के लोग अपने स्वाभिमान के साथ जाया करते थे कि हम किसी के यहाँ खाने के लिए नहीं आये, खाना तो हम अपने साथ लेकर आये हैं अन्यथा कहा जाता कि खाने के लिए आ गये क्या घर में खाने को नहीं मिलता इसलिये अपना भोजन अपने साथ लेकर जाते थे भले ही वह उसका नाश्ता कर पायें या नहीं संतोष रहता था और सामने वाला विशेष ध्यान भी रखता था कि हमारे घर आये और अपना खाना खाये। कई बार ऐसा भी हो जाता कि जो व्यक्ति नाश्ता लेकर नहीं गया उसे कोई पूछता भी नहीं है। इसलिये आचार्य भगवन् कहते हैं कि तन यौवन, जीवन तो नष्ट हो जाएगा किन्तु इनके द्वारा किया दान, धर्म, सत्कार्य ही भव—भव में साथ आयेंगे। जिस प्रकार से अन्य गाँव में जाने वाला व्यक्ति नाश्ता लेकर जाने में ही सुखी रहता है ठीक इसी प्रकार से 'जब तुझे अन्य पर्यायों में जन्म लेने के लिये परलोक में गमन करना पड़े तो उस समय तुम खाली हाथ जाओगे तो पछताओगे इसलिये वहाँ पर जाने के लिए हे भव्य जीव! तू दान, धर्म, सत्कार्य करके कम से कम पुण्य का इतना नाश्ता साथ में रख ले कि जिससे परलोक में दुखी ना होना पड़ेगा। पछताना ना पड़ेगा। क्योंकि सत्पात्रों को दिये गये चारों प्रकार के दान से निरंतर पुण्य की ही वृद्धि होती

Y X Y
है।'

दान देने से ही स्वपर का कल्याण होता है। धन (लक्ष्मी) से ही दान की सामग्री आती है, श्रावक जो कुछ भी कमाता है वह परिवार के भरणपोषण के लिये कमाता है किन्तु उसका एक हिस्सा बचाकर यदि दान दिया जाए तो वह स्वकल्याण के लिए कार्यकारी होता है। मन की निर्मल कीर्ति दान देने से ही फैलती है। सच्ची भक्ति से थोड़ा भी दान देने वाला भोग भूमि में तीन पल्य पर्यंत सुख भोगकर देवलोक में चला जाता है। सत्पात्र को दिया गया दान चारित्र की वृद्धि करता है। यह जीवन और जवानी तो पल भर में मिट जायेगी ऐसा जानकर सुपात्रों को आहारदान अवश्य करना चाहिये।

धन, मन की अनुकूलता होने पर भी सुपात्र का मिलना दुर्लभ

दुःखेण लहइ वित्तं, वित्ते लद्धे दुल्लहं चित्तं।

लद्धे वित्ते चित्ते, सुदुल्लहो पत्तलाभो य॥258॥

प्राप्त होय धन बड़े दुखों से, धन पा मन होना अनुकूल।

धन मन भी अनुकूल होय पर, पात्र प्राप्त दुर्लभ है मूल॥258॥

अन्वयार्थ :-(वित्तं) धन (दुःखेण) दुःख से (लहइ) प्राप्त होता है, (वित्ते) धन के (लद्धे वि) प्राप्त होने पर भी (चित्तं) मन को प्राप्त करना (दुल्लहं) दुर्लभ है; (वित्ते) धन (य) और (चित्ते) मन के (लद्धे) प्राप्त होने पर भी (पत्त लाभो) सुपात्र का लाभ (सुदुल्लाहो) अति दुर्लभ है।

अर्थ :- धन मुश्किल से (दुःख से) प्राप्त होता है, धन प्राप्त होने पर भी मन की अनुकूलता प्राप्त होना दुर्लभ है; धन और मन के प्राप्त होने पर भी सुपात्र का मिलना (लाभ) अति दुर्लभ है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् दान की महिमा को बताते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवो! सुपात्र का मिलना बड़ा ही कठिन होता है। सर्वप्रथम मानव पर्याय बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होती है। धन प्राप्त करना और भी बड़ा दुर्लभ है। क्योंकि धन कमाने वाला पुरुष सुबह से शाम तक मेहनत करता है। धन कमाने समय भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि सब कष्टों को सहन करता है। जैसे ही मनुष्य के पास धन आता है उसका मन विचलित होने लगता है। धन ही उसका प्राण बन जाता है, जब तक धन पास में होता है तो सगे रिश्ते नाते अपने होते हैं वरना तो गरीब को कोई पूछता ही नहीं है। धन से मन विचलित होकर भाई-भाई को मारने को तैयार हो जाता है। एक नगर में दो भाई रहते थे। धन कमाने के लिए वह परदेश गये। परदेश में रहते-रहते उन्होंने बहुत सारा धन एकत्रित कर लिया। दोनों भाइयों ने मिलकर सलाह की कि इतना सारा धन अपने देश कैसे ले जा सकते हैं? विचार किया कि इसको बेचकर लाल

Y X Y

Y X Y
 (एक रत्न) होता है, उसको खरीद लेंगे जिससे कोई असुविधा भी नहीं होगी और धन भी सुरक्षित रहेगा। दोनों ने मिलकर धन बेचकर लाल खरीद लिया और अपने देश को रवाना हो गये। समुद्र में जहाज से आते वक्त छोटे भाई ने कहा— भैया आज इसे अपने पास रख लीजिए ताकि हम शांतिपूर्वक सो जायें। बड़े भाई ने कहा ठीक है और रत्न अपने पास रख लिया। अर्द्धरात्रि में बड़ा भाई क्या सोचता है अरे! इतनी मेहनत से तो धन कमाया है, छोटे भाई का तो परिवार ही नहीं है, घर जाकर इसे आधा-आधा करना होगा क्यों ना छोटे भाई को समुद्र में ढकेल दें। अगले दिन सारी घटना बड़े भाई ने छोटे भाई को बता दी। रात्रि में बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा— ये रत्न तुम अपने पास रख लो ताकि हम सो जायें। अर्द्धरात्रि में पुनः रत्न के रखते ही छोटा भाई सोचता है कि मेरा भाई कैसा है? इस रत्न के पीछे मुझे ही मारने को तैयार हो गया। इसने ये नहीं सोचा कि इसका तो कोई नहीं है क्यों ना बड़े भाई को समुद्र में पटक दूँ। सुबह उठकर छोटे भाई ने सारी घटना बताई। तब बड़े भाई ने कहा ऐसा लाल या धन किस काम का जो भाई-भाई को मारने पर उतारु हो जाए। भाई-भाई में बँटवारा करवा दे और उन दोनों ने उस लाल को उसी समय समुद्र में फेंक दिया। आज ऐसा कोई नहीं होगा जो रिशतों को बचाने के लिए धन दाव पर लगा दे। बल्कि आजकल लोग धन के पीछे परिवार को दाव पर लगा देते हैं क्योंकि लोग धन भी मुश्किल से कमा पाते हैं, धन अगर मिल भी जाए तो मन शुद्ध नहीं होता है। अगर मन शुद्ध हो भी गया तो शुद्ध मन से दान देने के लिए सुपात्र का मिलना उससे अधिक दुर्लभ है। अतः भव्य जीवो को पात्र दान करते रहना चाहिए।

धन, मन, सुपात्र होने पर भी अनुकूल स्वजन का मिलना दुर्लभ

वित्तं चित्तं पत्तं, तिण्णि वि पावेइ कहइ जइ पुरिसो।

तो ण लहइ अनुकूलं, सयणं पुत्तं कलत्तं च॥259॥

कोई पुरुष धन मन सुपात्र त्रय, पा जाए इच्छा अनुसार।

हो अनुकूल स्वजन स्त्री सुत, रहा कठिन यह अपरम्पार॥259॥

अन्वयार्थ :- (जइ) यदि (पुरिसो) पुरुष (कहइ) किसी तरह (वित्तं) धन (चित्तं) मन और (पत्तं) सुपात्र (तिण्णि) तीनों को (पावेइ) पाता है (तो वि) तो भी (अनुकूलं) अनुकूल (सयणं) स्वजन (पुत्तं) पुत्र (कलत्तं) स्त्री को (ण लहइ) नहीं पाता।

अर्थ :- यदि पुरुष किसी तरह धन, मन और सुपात्र तीनों को पाता है, तब भी अनुकूल स्वजन, पुत्र और स्त्री का मिलना कठिन है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि यह मानव जीवन भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है,

Y X Y

(464)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
उसमें जैन कुल, सम्यक्त्व, गुरु इत्यादि बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुए हैं। यदि किसी के पास धन है, उसके पास मन नहीं है, मन है तो दान करने के लिए धन नहीं है और धन, मन, सुपात्र ये अनुकूल भी हो गये तो अनुकूल स्वजन, स्त्री, पुत्र का मिलना बड़ा कठिन है। आज देखा जाता है कि जिसके पास धन, पैसा, मकान, जायदाद सब कुछ है किन्तु पति की बात मानने वाली पत्नि नहीं है, अगर किसी के परिवार में देव-शास्त्र को मानने वाली स्त्री तो है किन्तु गुरुओं को नहीं मानती है जो कहा न पंथ वाले लोग हैं, उनके परिवार के लोग ना तो गुरुओं को नमस्कार करते हैं और ना ही उन्हें देखना पसंद करते। परिवार के लोग जब गुरु जी के पास जाने की बात करते तो आये दिन विरोध की स्थिति बनी रहती है। वह भी लोकलाज के लिए चौके में काम तो करवा लेगी किन्तु आहार के समय घर चली जायेंगी। एक सत्य घटना है। एक नगर में कमेटी वालों का आपस में विवाद हो गया। उस विवाद का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपने परिवार के सभी सदस्यों को मंदिर जाने से रोक दिया। ना तो स्वयं मंदिर जाता और ना किसी को मंदिर जाने देता है। उसके परिवार वाले बड़े दुखी रहते कि विवाद के कारण हमारा मंदिर जाना छूट गया। जहाँ विरोध विवाद की स्थिति होती है, वहाँ आये दिन झगड़े होते रहते हैं। कभी-कभी झगड़े का परिणाम बहुत भयंकर हो जाता है। इस प्रकार अनुकूल पुत्र, स्त्री, परिवार का मिलना अत्यंत दुर्लभ है। ऐसा ही वर्णन बारह भावना में मंगतराय जी ने किया।

धर्म दान में विघ्न डालना दुर्गति गमन का कारण

पडिकूलियाउ काउ, विघ्नं जो कुणइ धम्म दाणस्स।

उवएसंति दुबुद्धिं, दुग्गइ गमण कारया असुहा॥260॥

हो प्रतिकूल अशोभनीय कोई, धर्म दान में करते विघ्न।

दुष्ट बुद्धि दुर्गति का कारण, दें उपदेश होय उद्विग्न॥260॥

अन्वयार्थ :- (काउ) कोई (पडिकूलियाउ) प्रतिकूल व्यक्ति (धम्म दाणस्स) धर्म दान में (विघ्नं) विघ्न (कुणइ) करते हैं, (दुग्गइ गमण कारया) दुर्गति गमन को करने वाली (असुहा) अशुभ (दुबुद्धिं) दुष्ट बुद्धि का (उवएसंति) उपदेश करते हैं।

अर्थ :- कोई प्रतिकूल व्यक्ति धर्म दान में विघ्न करते हैं, दुर्गति गमन को करने वाली दुष्ट बुद्धि का उपदेश करते हैं, ऐसे व्यक्ति अशोभनीय हैं।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं कि धर्म की महिमा अवर्णनीय है। धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देवगति को प्राप्त हो जाता है। धर्म के प्रभाव से यह मानव अनंत पापों का क्षय करके अनंत सुख को प्राप्त कर लेता है। एक ओर धर्म है तो दूसरी ओर विषय सुख है। ये विषय सुख संसारी जीवों का महान्

Y X Y

Y X Y
 अहित करने वाले महाशत्रु हैं। जिस प्रकार से खुजली को खुजाते समय तो आनंद आता है किन्तु खुजाने के बाद जलन होती है जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। उसी प्रकार ये भोग भोगते समय तो जीव को अच्छे लगते हैं किन्तु भोग लेने के बाद शक्ति क्षीण हो जाने पर वीरान प्रतीत होते हैं। भोगी तो भोग में लीन रहता है किन्तु जरा सा निमित्त मिलने पर योगी बन जाता है। राजा भर्तृहरि जिसे अपनी छोटी रानी पिंगला पर बहुत प्रेम था। वह बहुत सुंदर थी। एक दिन एक ब्राह्मण को कहीं से अमरफल मिल गया जिसको खाने से कभी बुढ़ापा नहीं आता और भोगों में ही जीवन व्यतीत होता रहता है। ब्राह्मण ने फल पाकर मन में विचार किया कि यह फल मेरे किस काम का है? अगर राजा को दिया गया तो उससे सारी प्रजा को लाभ होगा। अतः ऐसा विचार करके उसने वह फल राजा को भेंट कर दिया। राजा रानी के प्रेम में पागल था अतः वह फल उसने रानी को दे दिया। रानी ने अपने एक अश्वपाल को सजधजकर घोड़े पर बैठा देखा तो वह उस पर मोहित हो गई। दासी द्वारा उस अश्वपाल को बुलाकर छिपकर उसके साथ व्यभिचार किया करती थी अतः रानी ने अमरफल स्वयं न खाकर अपने प्रेमी को दे दिया। उस अश्वपाल की मित्रता नगर की वेश्या से थी अतः उसने स्वयं न खाकर वेश्या को देना उचित समझा।

वेश्या ने वह फल अपने प्रेमी अश्वपाल के हाथ से ले तो लिया किन्तु सोचा कि मैं रात-दिन व्यभिचार के पाप करती हूँ अन्य पुरुषों को पथभ्रष्ट करती हूँ, अमरफल खाकर और अधिक पाप किया करूँगी। इससे मेरा और संसार का अहित होगा। ऐसा विचार करके वह फल तो राजा को देना ही चाहिये और उसने सभा में जाकर वह फल राजा को भेंट कर दिया। राजा ने वेश्या के हाथ में फल को देखा तो आश्चर्य चकित होकर पूछा कि तेरे पास यह फल कैसे आया। वेश्या ने कहा— मुझे आपके अश्वपाल ने दिया है। अश्वपाल से पूछा— सच-सच बताओ यह फल तुम्हारे पास कहाँ से आया, नहीं बताओगे तो प्राण दण्ड दिया जायेगा। अश्वपाल ने प्राणदण्ड के भय से सारी घटना सच-सच बता दी। तब राजा विचार करता है कि कैसी संसार की विचित्रता है कि मैं रानी पर, रानी किसी और पर आशक्त, धिक्कार है मेरे इस जीवन को। वैराग्य धारा में बहते हुए राजा जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर लेता है और मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

एक बार पत्नि ने पति को उदास देखकर पूछा—

पत्नी पूछे सूम से, काहे वदन मलीन।

या तो तुमरो कुछ गिर गयो, या काहू को दीन।।

पति बोलता है—

न मेरो कुछ गिर गयो, न काहू को दीन।

Y X Y

Y X Y

देतन देखत और को, तासौ वदन मलीन॥

पत्नि ने पति से पूछा स्वामी आज आप उदास क्यों है? क्या तुम्हारा कुछ गिर गया है।

पति कहता है नहीं भाग्यवान, न तो मेरा कुछ गिरा है और ना किसी को कुछ दिया है किन्तु औरों को देता देखकर चिन्तामग्न हूँ। आप लोभी की दशा जान सकते हैं।

इसलिए जो धर्म, दान, स्वाध्याय विघ्न में डालता है एवं पाप का उपदेश देता है वह पुरुष अशोभनीय है।

धर्मदान से विलग करने वाला स्वजन नहीं

सो किह सयणो मण्णइ, विग्घं जो कुणइ धम्मदाणस्स।

दाऊणद पावबुद्धिं, पाडइ दुक्खायरे णिरए॥261॥

धर्म दान में विघ्न करे जो, कैसे अपना स्वजन कहाय।

पाप बुद्धि वो देकर दुख की, खान नर्क में तुझे गिराय॥261॥

अन्वयार्थ :- (सो) वह (सयणो) स्वजन (कह) कैसे (मण्णइ) माना जाय (जो) जो (धम्म दाणस्य) धर्म दान में (विग्घं) विघ्न (कुणइ) करता है और (पाव बुद्धिं) पाप बुद्धि को (दाऊण) देकर (दुक्खायरे) दुख की खान (णिरए) नर्क में (पाडइ) गिराता है।

अर्थ :- वह स्वजन कैसे माना जाये, जो धर्म दान में विघ्न करता है और पाप बुद्धि को देकर, दुख की खान नर्क में गिराता है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् कहते हैं धर्म क्या है? किसे कहते हैं? जो वस्तु का स्वभाव है वही धर्म है, प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव है। अगर किसी सामान्य व्यक्ति को धर्म की ये परिभाषा समझाओ तो वह शीघ्रता से नहीं समझता है। इससे हमने विचार किया और बताया 'कर्तव्यमेव धर्मः' कर्तव्य ही धर्म है। ये परिभाषा हर किसी को शीघ्रता से समझ में आ जाती है। विद्यार्थी का कर्तव्य पढ़ना-लिखना, अध्यापक का कर्तव्य पढ़ाना, पुलिस का कर्तव्य अपराधों के प्रति लोगों को सजग करना, माँ का कर्तव्य बच्चों का ध्यान रखना, शिष्य का कर्तव्य गुरु की सेवा करना इत्यादि ये परिभाषा हर जगह, हर संप्रदाय में स्वीकार की जाती है। धर्म एक प्रकार का करंट है जिस प्रकार से करंट होने पर बिजली आती है उससे सुख सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार से धर्म से सब कुछ माँ, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, स्वजन परिजन सभी प्राप्त हो जाते हैं। स्वजन अर्थात् माता, पिता, भाई, बहिन आदि परिजन अर्थात् मौसी, मामा, नाना, नानी आदि। माता, पिता, भाई, बहिन इत्यादि कभी किसी का बुरा नहीं चाहते हैं।

Y X Y

Y X Y

धर्म में सहायक ही स्वजन

सो सयणो सो बंधू, सो मित्तो जो सहिज्जओ धम्मो।

जो धम्मविग्घयारी, सो सत्तु णत्थि संदेहो॥262॥

मित्र स्वजन बान्धव वह जानो, धर्म हेतु जो बनें सहाय।

निःसंदेह शत्रु है वह जो, विघ्न धर्म में करे कराय॥262॥

अन्वयार्थ :- (सो सयणो) वह स्वजन है (सो बंधू) वह बाँधव है (सो मित्तो) वह मित्र है, (जो धम्मो सहिज्जओ) जो धर्म में सहायक है (जो धम्म विग्घयारी) जो धर्म में विघ्न करने वाला है, (सो सत्तु) वह शत्रु है, (णत्थि संदेहो) इसमें संदेह नहीं है।

अर्थ :- वह स्वजन है, वह बाँधव है, वह मित्र है जो धर्म में सहायक है; जो धर्म में विघ्न करने वाला है, वह शत्रु है इसमें संदेह नहीं है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् धर्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं पूर्व पुण्य के उदय से आज जैनधर्म मिला है। किसी भी धर्म में परमात्मा बनने की बात नहीं कही जाती है। किन्तु जैनधर्म में स्वयं परमात्मा बनने की बात कही जाती है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है। बस आवश्यकता है दृष्टिकोण बदलने की, दिशा के बदलते ही दशा बदल जाती है। हमारी दिशा परपदार्थों की ओर बदल गई है। हम परिवार, मित्र, धन संपत्ति को ही अपना मानते हैं किन्तु जो हमारा है वह दिखाई नहीं देता है। जो दिखाई देता है वह अपना नहीं है इसलिए निरंतर धर्म की भावना से कार्य करते रहने से विशद शाश्वत् सुख की प्राप्ति होगी। सबसे बड़ा धर्म दूसरों की सहायता करना एवं परोपकार करना। यह जीवन अमूल्य है इसकी कीमत हम कभी नहीं कर सकते हैं क्योंकि एक बार जाने के बाद मिलना बहुत कठिन है। एक नगर में एक राजा शिकार करने के लिए वन में गया। वह अपने साथियों से बिछुड़ गया। रास्ता भी भूल गया। दैवयोग से उसकी भेंट एक लकड़हारे से हुई। उसने राजा को खाना खिलाया और शहर का रास्ता बता दिया। राजा ने उसका उपकार माना और कहा कि जब भी तुझे सहायता की जरूरत पड़े तो मेरे पास आ जाना। एक बार लकड़हारा इतना दुखी रहने लगा कि कड़ी मेहनत करने के बाद भी उसका पालन पोषण करना मुश्किल हो गया। वह सहायता के लिये राजा के पास पहुँचा। राजा ने उसकी सारी बात सुनी और चंदन का वन उसे दान में दे दिया। लकड़हारा प्रसन्न होकर जंगल में लकड़ी काटता और कुछ कोयला भी बनाकर बेचता जिससे उसके परिवार का लालन पालन अच्छे से होने लगा। जब चंदन के वन का काफी भाग नष्ट हो चुका तो एक दिन अचानक ही राजा का वहाँ से

Y X Y

(468)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
निकलना हुआ। वहाँ जो कुछ हो रहा था, राजा ने उसे ध्यान से देखा। राजा बहुत दुखी हुआ। राजा ने कहा— जाओ इस छोटी सी लकड़ी को बाजार में जाकर बेचकर आओ। बाजार में उसकी कीमत बहुत अधिक थी। अब लकड़हारा पछताने लगा कि मैंने अपने परिवार का भविष्य बिगाड़ दिया। मुझे जो सुनहरा अवसर मिला था उसका पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सका यूँ ही जीवन बर्बाद कर दिया।

यह मनुष्य जीवन भी चंदन के वन की तरह बहुमूल्य है। चंदन की लकड़ी की तरह किसी की 80 वर्ष, किसी की 60 वर्ष, किसी की 40 वर्ष की उम्र कट गई है किन्तु चंदन लकड़ी की कीमत नहीं पहचानी थी उसी प्रकार जीवन की कीमत नहीं करने वालों की स्थिति है तो व्यर्थ में ही समय गुजर गया। इसलिए हे भव्य जीवो! समय रहते ही धर्म कार्यों को कीजिए क्योंकि जैसा हम कार्य करेंगे वैसे ही हमारे घर, परिवार, स्वजन, परिजन, धार्मिक कार्यों में सहयोगी बनेंगे।

सुपात्र को दान देने वाले धन्य हैं

ते धण्णा लोयतए, तेहिं णिरुद्धाइं कुगइ गमणाइं।

वित्तं चित्तं पत्तं, पाविय जेहिं दिण्णं दाणाइं॥263॥

कुगति गमन का रोध किए जो, वे हैं तीन लोक में धन्य।

जिनने धन मन पात्र को पाके, दान दिया वे नहीं हैं अन्य॥263॥

अन्वयार्थ :- (लोयतए) तीनों लोकों में (ते धण्णा) वे धन्य हैं, (तेहिं) उन्होंने ही (कुगइ गमणाइं) कुगति गमन के कारणों को (णिरुद्धाइं) निरोध किया है (जेहिं) जिन्होंने (वित्तं) धन (चित्तं) मन (पत्तं) पात्र को (पाविय) पाकर (दाणाइं) आहारादि दानों को (दिण्णं) दिया है।

अर्थ :- वे तीनों लोकों में धन्य हैं, जिन्होंने कुगति गमन के कारणों का निरोध किया है और जिन्होंने धन, मन व पात्र को पाकर आहार आदि दानों को दिया है।

विशदार्थ :- आचार्य भगवन् दाता की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे दाता धन्य हैं जो निरंतर दान देने की भावना रखते हैं और निरंतर दान देते रहते हैं। जो मनुष्य दान नहीं देते उनका जीवन बकरे के समान है जो सदा घास पत्ते खाया करता है और किसी दिन कसाई की छुरी से मारा जाता है। ईद के दिन सारे विश्व में मुस्लिम लोग बकरे को सजाधजा कर उसको मारने में ही पुण्य मानते हैं और लाखों करोड़ों जीवों को मारकर पाप का बंध करते हैं।

राजा श्रीषेण पात्र दान करने की भावना से वन को गया था। उसको तो अकस्मात् चारण ऋद्धिधर मुनि सौभाग्य से प्राप्त हो गये, उनको दान देकर उसने जब श्रेष्ठ फल प्राप्त किया तो जो व्यक्ति पात्र दान

Y X Y

Y X Y
 के लिये सत्पात्रों को ढूँढने का श्रम करते हैं। सत्पात्र मिल जाने पर उन्हें दान देकर संतुष्ट होते हैं, उनके फल के विषय में तो कहना ही क्या है। जिस तरह भूमि को पत्थर आदि हटाकर शुद्ध कर लेने पर उसमें खाद डालने के अनंतर ठीक रीति से यदि बीज बोया जावे और आवश्यकतानुसार उसमें जल डाला जावे तो क्या वह भूमि बिना फल दिये रहेगी? अर्थात् नहीं इसी तरह सुपात्रों को दिया गया दान अवश्य ही फलदायी होता है।

सत्पात्रों को दिया दान परंपरा से स्वर्ग और मोक्ष का कारण है जो भव्य जीव अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं उन्हें खेत में बीज तो अवश्य ही डालना होगा। जिस प्रकार से खेत में बीज थोड़ा सा डालते हैं और फसल अधिक प्राप्त होती है। इसी प्रकार से पात्रों को दान में थोड़ी सी वस्तु देते हैं किन्तु फल अधिक प्राप्त होता है। इसलिए सभी जीवों को दान अवश्य करना चाहिए। भरत चक्रवर्ती जैसा महान् सम्राट जब दान देता है तो हर्षित होकर दान देता है और जिस दिन दान नहीं देता है वह दुखी होता है। इतने व्यस्त जीवन में वह सत्पात्रों को अपने आवश्यक कर्तव्यों को पूरा करने में संलग्न रहता है। एक दिन की घटना है कि राज्य में कोई साधु नहीं आये तब वह बहुत निराश हुए। मंत्रियों ने पूछा राजन् क्या बात है आप परेशान क्यों हैं? क्या राज्य में कोई हम लोगों से गलती हो गई या राज्य व्यवस्था ठीक नहीं चल रही है। तब राजा ने कहा नहीं मंत्रिवर ऐसी बात नहीं है। आज मेरे हाथ मुझे लट्टे जैसे लग रहे हैं। नहीं राजन् आप ऐसा क्यों बोल रहे हो? तब उन्होंने कहा आज हमारे इन हाथों से किसी साधु को आहार दान नहीं दिया गया है। विचार कीजिये जब राजा ऐसा सोच सकता है तब हम और आपके पास तो ऐसे कोई कार्य नहीं है फिर भी हम दान को तत्पर नहीं होते हैं क्योंकि हमारे पास समय नहीं होता है। समय तो बहुत है किन्तु उसका हम सदुपयोग नहीं कर पा रहे। इसलिए समय हमें नहीं बल्कि हम समय को काट रहे हैं।

आहारदान, तपश्चरण व सन्यास में लगा जीवन ही सार्थक

मुणिभोयणेण दब्बं, जस्स गयं जोवणं च तवयरणे।

सण्णासेण य जीवं, जस्स गयं किं गयं तस्स ॥264॥

द्रव्य सुमुनि आहार दान में, यौवन तप में गया महान।

जीवन गया सन्यास हेतु यह, नहीं गया कुछ उसका मान॥264॥

अन्वयार्थ :- (जस्स दब्बं) जिसका द्रव्य॥धन॥ (मुणि भोयणेण गयं) मुनियों के आहार दान में गया (च) और (जोवणं) यौवन (तवयरणे) तपश्चरण करने में व्यतीत हुआ (य जस्स

Y X Y

(470)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

जीवं) और जिसका जीवन (सण्णासेण) सन्यास में गया (तस्स) उसका (किं गयं) क्या गया?

अर्थात् कुछ भी नहीं गया।

अर्थ :- जिसका द्रव्य मुनियों के आहार दान में गया और जिसका यौवन तपश्चरण करने में व्यतीत हुआ और जिसका जीवन सन्यास में गया, उसका क्या गया? अर्थात् कुछ भी नहीं गया।

विशदार्थ :- तप तपते यौवन गया, द्रव्य गया मुनि दान।

प्राण गये सन्यास में, मानो गये न जान।।

आचार्य भगवन् कहते हैं कि श्रावक वह है जो अपने कर्तव्यों का पालन करे। कर्तव्य विहीन श्रावक नाम का श्रावक हो सकता है। द्रव्य से श्रावक हो सकता है, भाव से नहीं, वास्तविक नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कर्तव्य विहीन श्रावक व साधक के लिए बिना सींग और पूँछ का पशु कहा है क्योंकि पशु मनुष्यों के समान जिनाभिषेक जिन मंदिर निर्माण पूजन आदि नहीं कर सकते। यह अधिकार मुख्यता से देव व मनुष्यों को ही प्राप्त है। देव तो अपने कर्तव्य बखूबी निभाते हैं। देव गति में नियोग है कि इन्द्र की आज्ञा का पालन सभी देव करते हैं किन्तु मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करने में पीछे रह जाते हैं। अतः श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार ग्रन्थ में कहा है-

दाणं पूयामुक्खं, सावय धम्मो न तेण बिणा, झाणं भयाणं मुक्खं साहू धम्मो ण तहा सो वि। दान और पूजा से विहीन श्रावक का धर्म नहीं हो सकता है और ध्यान अध्ययन से रहित साधू का धर्म नहीं हो सकता। श्रावक और साधू नहीं कहा जा सकता है। श्रावक का मुख्य धर्म दान कहा है, यही मुख्य धर्म है। दान के चार भेद कहे हैं- आहार दान, औषधि दान, ज्ञान दान, अभय दान। जिनमें आहार दान ऐसा दान है जिसमें चारों दान समाहित हैं। आहार दान तो है ही, यदि आहार दाता के सप्त गुण पूर्वक विज्ञान गुण के साथ दिया जाय तो वह औषधि दान का काम करता है।

एक बार एक गरीब व्यक्ति जिसके घर में सभी प्रकार की वस्तुओं का अभाव था। एक बार किसी प्रकार उसके लिए दूध-चीनी का इन्तजाम होने से उसने कुटू के चावल की खीर तैयार की। उस समय भावना भाई किसी साधू के लिए आहार दान देकर ही भोजन करेंगे और मुनिराज को आहारदान दिया। सर्दी का समय था, मुनिराज के लिए शीत ज्वर था जो गरम-गरम कुटू की खीर खाने से ठीक हो गया। मुनिराज स्वस्थ हो जाते हैं तब उस स्थान के रक्षक देव ने पञ्चाश्चर्य (रत्न) वृष्टि की जिससे वह व्यक्ति मालामाल हो गया। आहार ही औषधि बन गया तथा आहार होने से शरीर में शक्ति आणी जिससे ज्ञानाध्ययन होना सम्भव है इसलिए ज्ञान दान भी हो जाता है तथा इन्सान का जीवन अन्न जल से ही चलता है। यदि साधू के लिए आहार दिया तो उनका जीवन चलेगा। इस प्रकार जीवन दान यानि

Y X Y

Y X Y
अभयदान प्राप्त हो जाएगा। कितनी बड़ी बात है साधू को दान देना यानि जीवन दान देना है। सिद्ध है कि दान संयम, तप विहीन इन्सान का जीवन व्यर्थ है। अतः जीवन पाकर विशद कार्य करके जीवन सफल बनाना चाहिए।

दान न देना, पूजा न करने का फल

जेहि ण दिण्णं दाणं, ण च वि पुज्जा किया जिणिंदस्स।

ते हीण दीण-दुग्गय, भिक्खं ण लहंति जायंता॥265॥

जिनने जिन पूजा ना की है, नहीं कभी भी किया है दान।

दीन हीन होके दरिद्र दुख, भिक्षा भी ना पावें मान॥265॥

अन्वयार्थ :- (जेहि दाणं ण दिण्णं) जिन्होंने दान नहीं दिया (च ण वि) और न ही (जिणिंदस्स पुज्जा किया) जिनेन्द्र भगवान की पूजा की (ते) वे (दीण-हीण) दीन-हीन-दरिद्र (जायंता) होते हुए (दुग्गय) दुःख को प्राप्त (भिक्खं ण लहंति) भिक्षा को भी नहीं पाते हैं।

अर्थ :- जिन्होंने दान नहीं दिया और न ही जिनेन्द्र भगवान की पूजा की, वे दीन हीन-दरिद्र होते हुये, दुःख को प्राप्त, भिक्षा को भी नहीं पाते हैं।

विशदार्थ :- आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने रयणसार ग्रन्थ में कहा है- पत्त विणा दाणं च सुपुत्त विणावहु धणं महावेत्तं, चित्तविणा वयगुण चारितं णिकारणं जाणे अर्थात् सुपात्र के बिना दान एवं सुशील पुत्र के बिना बहुत धन और जमीन व्यर्थ है तथा भावों के बिना व्रत चारित्र गुण व्यर्थ हैं। इससे सिद्ध है कि जो जिन पूजा एवं मुनि दान से रहित है, उनका जीवन पाना बेकार है, वे वासी खा रहे हैं। पूर्व पुण्य के फल का भोग कर रहे हैं किन्तु पुण्यक्षीण होने के बाद दुर्गति के भाजन बनकर अनेक दुखों को भोगना पड़ता है और दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है। रयणसार में कहा भी है-

णहि दाणं णहि पूया, णहि सीलं णहि गुणं ण चारितं।

जे जइणा भणिया ते, णहय या होंति कुमाणुसातिरिया।

आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कितनी बड़ी बात कह दी जो मनुष्य कभी ना दान देता है ना पूजा करता है न ही शील गुण चारित्र पालते हैं वे नर भी कुमानुष और तिर्यञ्च होते हैं। ठीक ही कहा है-

‘धर्महीन नर-पशु समाना’ अर्थात् धर्म से हीन नर पशु के समान है। पशु वृत्ति का फल उच्च तो हो नहीं सकता निम्न ही होगा। कई बार लोग पात्र-अपात्र की योग्यता के बिना मात्र द्रव्य दान करके संतुष्ट

(472)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
हो लेते, उनका वह दान व्यर्थ चला जाता है। एक बार की घटना है संत का प्रवचन चल रहा था जो पाप करता वह कर्म बन्ध करके नरकादि दुर्गतिओं में जाता है। एक नगरवधु (वेश्या) ने यह उपदेश सुना तो पाप धोने के लिए गंगा स्नान को गई और दान देने की भावना की। तब एक व्यक्ति से गुप्त रूप में पूछा कि हम कुछ दान करना चाहते हैं तो उस व्यक्ति ने छल से स्थान बता दिया और भेष बदल कर बैठ गया। वेश्या स्नान करके सुन्दर खीरादिक तैयार करके उस स्थान पर जाकर भेषधारी साधू के पास जाकर बड़ी भक्ति भाव से भोजन कराती है। पश्चात् दक्षिणा प्रदान करती है। फिर पूछती है स्वामी जी हमारे पाप धुल गये होंगे ना। तब उस भेषधारी साधू ने कहा—

गंगा जी के घाट पे, खाई खीर व खाण्ड।

जैसो धन वैसो गयो, तू वेश्या मैं भाण्ड॥

इससे सिद्ध है कि जो व्यक्ति धर्म भावना से रहित है उसका द्रव्य पहले तो निकलता नहीं है। कहा भी है ‘चमड़ी जाय पर दमड़ी ना जाय’ यदि कदाचित निकलता है तो जैसा आता है वैसा ही चला जाता है। अतः जीवन में शुभ भाव बनाकर विशद जीवन व्यतीत कर भविष्य का निर्माण करना चाहिए। भेषधारी ब्राह्मण ने कहा गंगाजी के घाट पे जो खीर और खांड खाई वह भी बनावटी ब्राह्मण था तो तूने जैसा अनीत का व्यापार कर धन कमाया वैसे ही चला गया।

पुण्य का फल

पुण्णेण कुलं विउलं, कित्ति पुण्णेण भमइ तियलोए।

पुण्णेण रूवमतुलं, सोहगं जोव्वगं तेयं॥266॥

पुण्य से उत्तम कुल में जन्में, पुण्य से पाये कीर्ति महान।

अनुपम रूप सौभाग्य सुयौवन, तेज पुण्य से होय प्रधान॥266॥

अन्वयार्थ :-(पुण्णेण विउलं कुलं) पुण्य से विशाल विपुल कुल में जन्म होता है, (पुण्णेण तियलोए) पुण्य से तीनों लोकों में (कित्ति भमइ) कीर्ति फैलती है, (पुण्णेण अतुलं रूवं) पुण्य से अतुल अनुपम रूप (सोहगं) सौभाग्य (जोव्वगं) यौवन और (तेयं) तेज की प्राप्ति होती है।

अर्थ :- पुण्य से विशाल विपुल कुल में जन्म होता है, पुण्य से तीनों लोकों में कीर्ति फैलती है; पुण्य से अतुल अनुपम रूप, सौभाग्य, यौवन और तेज की प्राप्ति होती है।

विशदार्थ :- ‘पुनात्यात्मान-मिति पुण्यं’ – जो आत्मा को पवित्र करे, वह पुण्य है।

आचार्य भगवन् पुण्य की विशदता का विशद वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीव! इस

Y X Y

Y X Y
पुण्य के फल से इस मानव पर्याय में जन्म मिला है। जैन धर्म, जैनकुल सब कुछ हमें प्राप्त हुआ। किंतु पुण्य को प्राप्त करके पुण्य को बढ़ाने का कार्य नहीं करते हैं, उसे पाप की क्रियाओं में व्यतीत करते हैं। कहा भी है—

हरदम है तैयार तू पाप कमाने के लिए, कुछ तो समय निकाल प्रभु गुण गाने के लिए।
इन्सान पूर्व के संस्कार वशात् कहें या मोहनीय कर्म वशात्। इन्द्रियों की चाहत में निरन्तर पाप वृत्ति में लगा रहता है, जानते हुए पर भी कि संसार की सारी दौलत यहीं पर पाई, यहीं पर रह जाएगी अथवा जब तक पुण्य नहीं होगा तब तक वह दौलत भी प्राप्त होने वाली नहीं है। फिर भी सुबह से लेकर शाम तक पापों में ही प्रवृत्ति करता है। कोई धर्म की बात करे तो उल्टा जवाब दिया जाता। एक युवा से कहा बेटा—मंदिर जाना चाहिए तो वह उत्तर देता है। हम थोड़े ही कोई पाप करते हैं जो मंदिर जावें। कितना बेहूदा जवाब है। हम पूछते हैं कि क्या ये मंदिर पापियों के लिए बने हैं? क्या मंदिर पापी लोग जाते हैं? नहीं—मंदिर पापियों के लिए नहीं, मंदिर पापी नहीं धर्मात्मा लोग जाते हैं और तू कह रहा हम थोड़े पाप करते जो पाप करते वे मंदिर जावें। इसका मतलब धर्मात्मा तो हुआ नहीं अब स्वयं ही सोच तू क्या है? पापी है कि नहीं।

पाप कमाया रात दिन, किया न प्रभु से नेह।

दुर्गति में वह जाएगा, तज मानव की देह।।

अपने पापों को गिनो—प्रथम प्रातः उठकर नित्य क्रिया करना, स्नान करना इसमें कितना पानी फैंकते हो जबकि जल की एक बूँद में 36450 जीव विज्ञान के आधार पर बताये गये हैं तथा जैनागम के आधार पर असंख्यात जीव हैं। क्या यह पुण्य है रसोई में अग्नि, वायु वनस्पति का प्रयोग करते क्या पुण्य है? तथा प्रश्न है कि पाप कितने हैं तो उत्तर मिलता है 5 पाप हैं— (1) हिंसा, (2) झूठ, (3) चोरी, (4) कुशील, (5) परिग्रह। तो क्या मात्र हिंसा ही पाप है। सुबह से शाम तक अनेक बार झूठ बोलते हैं यह पाप नहीं, जहाँ राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य के लिए परिवार को बेच दिया था, स्वयं बिक गये थे किन्तु झूठ नहीं बोला। आज लोग बात-बात में झूठ बोलते हैं तथा यहाँ तक कि 1 अप्रेल झूठ का पर्व ही बना लिया। चोरी—लोग सुबह से शाम तक अनेक प्रकार से चोरी के कर्म करते हैं। कौन यह पाप मान रहा चोरी पकड़े जाने पर बुरी तरह से दण्डित किया जाना। कुशील— आये दिन रास्ते चलते लोग स्त्री-पुरुष के ऊपर नजर डालते हैं मन में विकार पैदा करते हैं क्या यह पाप नहीं है? परिग्रह—जो सबसे बड़ा पाप है उसे लोगों ने पुण्य फल मानकर शान से जीने का साधन मान रखा है। जबकि इसमें पाँचों पाप समाहित है।

Y X Y

सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य नियम से मोक्ष का हेतु।

सम्मादिट्ठी पुण्णं, ण होइ संसारकारणं णियमा।

मोक्खस्स होइ हेउ, जइ वि णिदाणं ण सो कुणई॥267॥

सम्यक्त्वी का पुण्य नियम से, है संसार का कारण नाहिं।

मोक्ष का कारण कहा गया है, यदि निदान जो नहीं कराहिं॥267॥

अन्वयार्थ :- (सम्मादिट्ठी पुण्णं) सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य (णियमा) नियम से (संसार कारणं ण होइ) संसार का कारण नहीं होता है। (मोक्खस्स हेउ होइ) बल्कि मोक्ष का कारण ही होता है (वि) तथा (जइ) यदि (सो) वह (णिदाणं ण कुणई) निदान नहीं करता है।

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता, बल्कि मोक्ष का ही कारण होता है तथा यदि वह निदान नहीं करता ऐसा जानना चाहिए।

विशदार्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य संसार का कारण नहीं बल्कि मोक्ष का कारण होता है। यदि निदान से रहित है तो निदान कितनी खतरनाक चीज है जो पुण्य हमारे शाश्वत सुख मोक्ष मार्ग में साधक था वह बाधक बन जाता है। यदि पूर्ण नहीं तो आंशिक बाधक, कुछ काल के लिए तो बनता ही है। आगम में कथन है कि नारायण पूर्व भव में निदान करते हैं जिसके फल से तीन खण्ड का आधिपतित्व तो प्राप्त होता ही है जिस भोग के फलस्वरूप अगले भव में नरक गति का भाजन होना पड़ता है फिर कहीं सम्यक्त्व की प्राप्ति हो अथवा पुण्य प्राप्त हो जिसके फल से सकलचारित्र को प्राप्त कर मोक्ष का राही बनता है।

सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक क्रिया आत्म कल्याण की साधना के लिए होती है क्योंकि वह जानता है कि शरीर मैं नहीं हूँ, मेरा नहीं है। मैं आत्मा हूँ, आत्मा मेरा स्वभाव है। वह प्रकट करने के लिए सतर्क रहकर क्रिया करता है। इससे सिद्ध है कि जो जिस प्रयोजन से कार्य करेगा वह फल भी उसी प्रकार से प्राप्त करेगा। कहा भी है—

अविद्याभि-दुरं ज्योतिः, परं ज्ञान मयं-महत्।

तद्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद्दृष्टव्यं मुमुक्षु भिः॥३.49॥

अर्थात् अज्ञान की खोटी प्रवृत्ति के नाश होने पर श्रद्धान, ज्ञान का दीप प्रकाशित होता है। अतः ज्ञानी जीव उस आत्मा के बारे में ही पूछता है, आत्मा को ही देखता है और आत्मा को ही इष्ट मानकर उसी अनुसार कार्य करता है। क्योंकि वह जानता है कि शरीर अचेतन है बारम्बार नष्ट होने वाला है और

Y X Y
जीव चेतन है अजर-अमर है। एक बार निज स्वरूप को प्राप्त होने पर कभी परिवर्तित नहीं होगा, वह विचार करता है- हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम। मैं हूँ वह है भगवान।

सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य के प्रभाव से देव लोक में उत्पन्न होता

अकय निदाणो सम्मो, पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो।

उप्पज्जइ दिविलोए, सुहपरिणामो सुलेसो वि॥268॥

सम्यक्त्वी विरहित निदान से, ज्ञानाचरण में स्थित जोय।

पुण्य से शुभ परिणाम सुलेश्या, सहित देव गति जन्में सोय॥268॥

अन्वयार्थ :- (अकय निदाणो सम्मो) जिसने निदान नहीं किया, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव (णाणचरणट्ठो) ज्ञान चारित्र में स्थित होता हुआ (पुण्णं काऊण) पुण्य करके (सुहपरिणामो वि सुलेसो) शुभ परिणाम एवं शुभ लेश्या से सहित (दिविलोए) देवलोक में (उप्पज्जइ) उत्पन्न होता है।

अर्थ :- जिसने निदान नहीं किया, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान चारित्र में स्थित होकर पुण्य करके शुभ परिणाम एवं शुभ लेश्या से सहित देव लोक में उत्पन्न होता है।

विशदार्थ :- तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्यश्री उमा स्वामी जी ने देव आयु के आस्रव के हेतु बताते हुए कहा है- 'सराग संयम-संयमासंयम बाल तपांसि देवस्य, एवं सम्यक्त्वं च' अर्थात् सराग संयम के धारी मुनि महाव्रती, संयमासंयम पालन करने वाले देशव्रती श्रावक तथा बाल तप अर्थात् अज्ञानपूर्वक तप करने वाले जीव स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। अर्थात् देव आयु का बंध करते हैं साथ ही अगले सूत्र में कहा है- 'सम्यक्त्वं च' अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त जीव भी देवायु को प्राप्त होते किन्तु यह समझ में नहीं आता कि इसका अलग से सूत्र क्यों बनाया गया। क्या इसलिए कि आयु बन्ध होने पर सम्यक्त्व हो तो अन्य गतियों में भी जा सकता है अथवा सम्यक्त्वी सिर्फ स्वर्ग के वैमानिक देवों में ही जन्म लेगा यदि ऐसा है तो सराग एवं देशव्रती भी स्वर्ग में जन्म लेंगे फिर क्या कारण है कि सम्यक्त्वं च

gā`ŠāHb\$A\Mrā

eŠāngyú m\XVībāwHšāSjmršMrje @g&

{d\MrHšāMgnMgnYzrS, earao _{bZoVhr&

àeSgnY`XāenS ~nMn, _Zgm.MVĒgSīVd:&

gā`1/āāio>āMMang²-Ē`nā` nām_Zr\g{^:&&

gūm\Xāāh/_eŠān,MrDgūm\HšāM\$Sj, YrQāāSgā/mZ, A`{īnāāi>m\Hš

àeSgnMn_ZgCāh\āVng_Pm`ogā`1/āāio>āMMang²-Ē`nā` nām_Zr\g{^:&&

Y X Y

(476)

तत्त्व विचार सार

Y X Y
सूत्र अलग से दिया गया। इसका समाधान रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक से होता है।

विद्या वृत्तस्य संभूति, स्थिति वृद्धि फलोदयाः।

ना सत्-यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव॥32॥

अर्थात् विद्या यानि ज्ञान, वृत्ति यानि चारित्र की उत्पत्ति वृद्धि स्थिति और फलोदय सम्यक्त्व के बिना सम्भव नहीं है जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की ना उत्पत्ति हो सकती है, ना स्थिति सम्भव है, और ना वृद्धि सम्भव है। जब वृक्ष ही नहीं उगेगा, स्थित नहीं होगा, वृद्धि नहीं होगी तो फल की प्राप्ति किसी काल में किसी अपेक्षा से सम्भव नहीं है अर्थात् बीज का जो महत्व है वही सम्यक्त्व का महत्व बताया गया है। इसीलिए शायद वृक्ष से बीज का सम्बन्ध है किन्तु भिन्न है। उसी प्रकार सम्यक्त्व का सम्बन्ध भी स्वर्ग मोक्ष से है किन्तु भिन्न है। धर्म का फल बताते हुए आचार्यश्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं—

श्वापि देवोपि देवाः स्वा, जयते धर्म किल्बिशात्,

कापिनाम भवे दन्या सम्पद्धर्माक्षरीरि णाम॥29॥

अर्थात् धर्म के फल से कुत्ता भी देव पद को प्राप्त होता है। सभी जानते हैं कि जीवन्धर कुमार ने मरते हुए कुत्ते को णमोकार मंत्र सुनाया था जिसके प्रभाव से कुत्ता देवपद को प्राप्त हुआ था यह तो उदाहरण मात्र है। कहने का अर्थ यह है कि धर्म के प्रभाव से पशु जैसा अज्ञानी जीव भी उत्तम गति को प्राप्त कर लेता है और अधर्म के फल से देव भी कुत्ता अर्थात् पशु पर्याय में जन्म प्राप्त कर जीवनभर पराधीनता क्षुधा भार वहन इत्यादि के दुख सहन करते रहते हैं। अतः अपने जीवन में विशद धर्म को धारण करना चाहिए।

पुण्य कर्म के प्रभाव से दिव्य शरीर की प्राप्ति

अंतरमुहुत्तमज्ज्ञो देहं, चङ्गुण माणुसं कुणिमं।

गेणहइ उत्तमदेहं, सुचरिय कम्माणु भावेण॥269॥

अन्तर्मुहूर्त में पुण्य के फल से, अपवित्र यह मानव देह।

छोड़ के उत्तम दिव्य देह शुभ, ग्रहण करे तू निःसंदेह॥269॥

अन्वयार्थ :- (सुचरियकम्माणुभावेण) समाचरित पुण्य कर्म के प्रभाव से (अंतरमुहुत्तमज्ज्ञो) अंतर मुहूर्त मात्र में (कुणिमं माणुसं देहं) अपवित्र मनुष्य देह को (चङ्गुण)

Y X Y

Y X Y
छोड़कर (उत्तमदेहं) देवीय दिव्य उत्तम शरीर को (गेणहइ) ग्रहण करता है।

अर्थ :- सुचारित पुण्य कर्म के प्रभाव से, अंतर मुहूर्त मात्र में, अपवित्र मनुष्य देह को छोड़कर, देवीय दिव्य उत्तम शरीर को ग्रहण करता है। कहा भी है—

विशदार्थ :- पाप पुण्य का फल पृथक्, एक नरक एक नाक।

इसलिये अन्तर बड़ा इन दोनों में आँक।।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि पुण्य के फल से दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है किन्तु प्रश्न है कि पुण्य क्या है? कैसे होता है? तो उत्तर प्राप्त होता है— शुभ भाव और शुभ क्रिया ही पुण्य है, वह शुभ क्रिया ही चारित्र है। चारित्र का फल नियम से दिव्य भोग और दिव्य ऐश्वर्य प्रदान कराता है। कहा भी है—

पञ्चाणुव्रत निधिया, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।

यत्राऽवधि-रष्ट गुणा, दिव्य शरीरं च लभ्यन्ते॥63॥

अर्थात् पञ्च अणुव्रत महान् सुनिधि है जो जीव पञ्च अणुव्रत रूप निधि को प्राप्त करता है वह भी निरतिचार पूर्वक तो वह जीव अष्ट ऋद्धि रूप महान वैभव को प्राप्त होता है वे अष्ट ऋद्धियाँ (1) **अणिमा ऋद्धि**— जिसके फल से जीव छोटा रूप बना लेता है जैसा कि हरिवंश पुराण में आया कि पाण्डु ने मंत्रित अंगूठी पाकर छोटा रूप बनाकर कुन्ती के कक्ष में प्रवेश किया था। (2) **महिमा ऋद्धि**— जिसके प्रभाव से जीव बृहद् रूप बना लेता है। (3) **लघिमा ऋद्धि**— जिसके प्रभाव से जीव लघु अर्थात् छोटा लघु अर्थात् आक तूल सम हल्का होता है। (4) **गरिमा ऋद्धि** से इतने भारी हो जाना कि कोई भी भार को सहन नहीं कर पाता है जैसे कि पद्मपुराण में कहा गया है कि रावण ने वृषभाचल पर्वत पर विराजमान बाली मुनि को पलटने की कोशिश की तब गरिमा ऋद्धिधारी बाली मुनिराज ने अँगूठे से पर्वत को दबाया जिसके भार को सहन नहीं कर पाया और रोने लगा इसी कारण उसका नाम रावण पड़ा। (5) **प्राप्ति ऋद्धि**— इसके प्रभाव से मनुष्य जमीन पर खड़े रहकर भी चंद्र—सूर्य का स्पर्श कर लेता है। (6) **प्राकाम्य ऋद्धि**— इसके प्रभाव से मनुष्य इच्छित पदार्थ प्राप्त करता है। (7) **ईशत्व ऋद्धि**— के प्रभाव से मनुष्य राजा के समान वैभव का धारी होता है तथा आज्ञा ऐश्वर्य प्राप्त कर ईश बनकर जीता है। (8) **वशित्व ऋद्धि**— के प्रभाव से मनुष्य किसी को भी वश में कर लेता है, इत्यादि अनेक वैभव को प्राप्त करने वाले दिव्य शरीर के धारी स्वर्ग में दीर्घ काल तक इन्द्रिय सुखों का भोग करते हैं। यह दिव्यता ही जीवन के लिए सद्ग्राह की ओर बढ़ने में साधक होती है। यदि जीव सद्ग्राह पर बढ़ गया तो एक न एक दिन शिव का राही बनकर विशद सुख का भोगी होता है।

Y X Y

(478)

तत्त्व विचार सार

Y X Y

देवों के शरीर का वर्णन

चम्मं रुहिरं मंसं, मेहं अट्टिं तह वसा सोक्कं।

सेम्मं पित्तं अत्तं, मुत्तं पुरिसं च रोमाणि॥270॥

चर्म रुधिर हड्डी मेदा अरु, चर्बी शुक्र श्लेष्मा मांस।

उदर पित्त मल मूत्र रोम अरु, आंत देह में ना हैं खास॥270॥

अन्वयार्थ :- (चम्मं) चर्म (रुहिरं) रुधिर/खून (मंसं) मांस (मेहं) मेदा (अट्टिं) अस्थि / हड्डी (तह) तथा (वसा) चर्बी (सोक्कं) शुक्र / वीर्य (सेम्मं) श्लेष्मा / कफ (पित्तं) पित्त (अत्तं) आंत (मुत्तं) मूत्र (पुरिसं) मल (च) और (रोमाणि) रोम-

अर्थ : चर्म, रुधिर (खून), मांस / गोश्त, मेदा, अस्थि / हड्डी तथा चर्बी, शुक्र (वीर्य) श्लेष्मा / कफ, पित्त, आंत, मूत्र, मल और रोम-

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

णह दंत सिरणहारु, लाला सेयं च णिमिस आलस्स।

णिद्धा तण्हा य जरा, अंगे देवाण ण हु अत्थि॥271॥

दाँत शिराएँ लार पसीना, पलक झपकाना या नाखून।

नाक का मल आलस्य पसीना, नींद से देव का तन है सून॥271॥

अन्वयार्थ :- (णह) नख (सिरणहारु) शिरायें या नाक मल (दंत) दाँत (लाला) लार (सेयं) पसीना (णिमिस) पलकों का झपकना (च) और (आलस्स) आलस्य (णिद्धा) नींद (तण्हा) प्यास (य) और (जरा) बुढ़ापा (देवाण अंगे) देवों के शरीर में (हु) नियम में से सब (ण अत्थि) नहीं होते हैं।

अर्थ :- नख (नाखून) दाँत, शिरायें, (नाड़ी, नसें नारु) या नाक का मल, लार, पसीना, पलकों का झपकना (नेत्रों की टिमकार) आलस्य, नींद और बुढ़ापा ये देवों के शरीर में नियम से नहीं होते हैं।

अगली गाथा के साथ पढ़ें-

सुइ अमलो वरवण्णो, देहो सुहफासगंधसंपण्णा।

वालरवितेज सरिसो, चारुसरूवो सया तरुणो॥272॥

श्रेष्ठ वर्ण शुचि निर्मल है शुभ, गंध और स्पर्श संयुक्त।

बाल सूर्य सम तेज सुसुन्दर, शुभ स्वरूप तारुण संयुक्त॥272॥

Y X Y

अन्वयार्थ :- (सुइ अमलो) शुचि निर्मल (वरवण्णो) श्रेष्ठ वर्ण (सुहफासगंधसंपण्णा) शुभ स्पर्श, शुभ गंध से सहित (देहो) शरीर (वालरवितेजसरिसो) प्रातःकालीन सूर्य के तेज के समान (चारुसरूवो) सुन्दर स्वरूप (सया तरुणो) सदा तरुण-

अर्थ :- शुचि निर्मल, श्रेष्ठ वर्ण, शुभ स्पर्श, शुभ गंध से सहित शरीर, प्रातः कालीन सूर्य के तेज

प्रकाशित विधान

Y X Y

खण्ड-3 (व्रत, पर्व)

60. त्रिकाल चौबीसी (लघु)
61. तीस चौबीसी (लघु)
62. तत्त्वार्थ सूत्र विधान (लघु)
63. तत्त्वार्थ सूत्र विधान (शुभचन्द्राचार्य)
64. प्रतिष्ठा विधान + विधि
65. यागमण्डल विधान (बृहद्)
66. पंचकल्याणक विधान
67. यागमण्डल + पंचकल्याणक विधान
68. यागमण्डल + प्रतिष्ठा तिलक
69. अक्षय्य तृतीया विधान
70. मुकुट सप्तमी विधान
71. आचार्य विमल सागर विधान
72. आचार्य विराग सागर विधान
73. आचार्य विशद महाअर्चना विधान
74. आचार्य बिंब विधान

1. सामाहिकी (लघु)
2. ऋद्धि विधान (संस्कृत)
3. ऋद्धि विधान (हिन्दी)
4. श्रायक नव लब्ध विधान
5. देवशास्त्र गुरु विधान(लघु)
6. सिद्ध परमेष्ठी
7. अर्हत महिमा
8. चतुर्विंशति तीर्थंकर विधान
9. पंच परमेष्ठी विधान
10. पंच परमेष्ठी विधान (लघु)
11. अर्हत धर्मचक्र विधान
12. जम्बू द्वीप लघु विधान
13. रक्षाबंधन विधान
14. रक्षाबंधन अर्घ्यावली
15. दीपावली पूजन
16. दीपावली पूजन (लघु)
17. धन तेरस पूजन
18. क्षेत्रपाल विधान
19. पद्मावती सहस्रनाम (108 नाम)
20. पद्मावती सहस्रनाम (1008 नाम)
21. आचार्य परमेष्ठी विधान
22. लोक मंगल विधान
23. लघु तत्त्वार्थसूत्र विधान
24. लघु स्वयंभू स्तोत्र विधान
25. अनंत व्रत विधान
26. विजय श्री विधान
27. लक्ष्मी प्राति विधान
28. स्वर्ग लोक जिनालय विधान

1. संबोध पंचास्तिकाय (मोक्ष के सेतु)
2. चतुर्विंशति तीर्थंकर आराधना
3. सुभाषित रत्नावली
4. तत्त्व विचार सार
5. षोडश अनुप्रेक्षा (सोलह कारण भावना)
6. योग सार (आचार्य अमृतगति)
7. अभिनंदन ग्रंथ (विशद ज्ञान वारिधि)
8. ध्यान स्तव
9. ध्यान शतक
10. तत्त्व भावना
11. भावना शतक
12. धम्म रसायण
13. पंचागम
14. शास्त्र सार संग्रह
15. निजात्म श्रद्धि

- Y X Y

